

भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

पूर्व-औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का इतिहास लेखन : प्राचीन काल

1

प्रस्तावना

प्राचीन भारत की अर्थव्यवस्था को जानने के लिए जो सामग्री या पुस्तकें हमें उपलब्ध हैं उनके मुख्य विषय भूमि पर अधिकार, गाँव के जीवन से लेकर शहरीकरण तक, शिल्प, मुद्रा आदि ही प्रमुख रहे, लेकिन यही पर्याप्त नहीं था, लोगों की अर्थव्यवस्था के बारे में जानने के लिए जब अधिक जिज्ञासा बढ़ी और इसको बढ़ावा दिया एक नये लेखन ने, जिसमें अब राजनैतिक या राजवंशों के इतिहास से हटकर भौतिक संस्कृति और आर्थिक जीवन पर जोर दिया गया। इस प्रकार के लेखन में डी.डी. कोसांबी और आर.एस. शर्मा का लेखन-कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय कहा जा सकता है। प्राचीन भारत के इतिहास को मूलतः दो चरणों में विभाजित किया जा सकता है—पूर्व ऐतिहासिक काल, जो गुप्त काल तक फैला हुआ है। दूसरा, पूर्व मध्यकाल, जिसमें छः से सात शताब्दियों के इतिहास को शामिल किया जाता है।

प्राचीन भारत के आर्थिक इतिहास को समझने व उसकी व्याख्या करने के लिए दृष्टिकोणों में परिवर्तन भी आया। पुरातात्विक खोजों से यह पता लगाया गया कि तकनीकी और समाज के विकास के विभिन्न स्तरों पर संस्कृतियों का सहअस्तित्व रहा। प्रारम्भिक भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास को उत्तरी भारत की गंगा घाटी के क्षेत्र व इसके आसपास के क्षेत्र में विकसित होना भी पुरातात्विक खोजों ने प्रमाणित किया। मौर्य काल के बाद शहरी विकास व गंगा घाटी के बाहर राज्यों की संरचना, कृषि विस्तार, व्यापार, मौद्रिक अर्थव्यवस्था एक तत्त्व के रूप में कायम होने लगी, जो पहली बार एक बड़े परिवर्तन को इंगित करती है और प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्था के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान

रखती है। यही वह समय था जहाँ से हम भारतीय अर्थव्यवस्था के इतिहास को एक इतिहास के रूप में देखने लगे। इसे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि इससे पहले प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्था का अस्तित्व नहीं था, पर वह इतना महत्व नहीं रखता।

विचार एवं अर्थव्यवस्था

प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्था को जानने के लिए हमारे पास जो स्रोत हैं, उनके आधार पर प्राचीन भारतीय कृषि के बारे में जानने के लिए हम संस्कृत व पाली साहित्य से भी जानकारी प्राप्त करते हैं, जो अपने आप में अति महत्वपूर्ण हैं व प्राचीन कृषि को जानने व उसके लिए प्रयुक्त प्रचलित शब्दों को बताते हैं। यहाँ हम कुछ जो शब्द कृषि के लिए प्राचीन काल में प्रचलित रहे, को समझने का प्रयास करेंगे। उदाहरण के लिए, ईसा पूर्व पहली शताब्दी में संस्कृत व पाली साहित्य में जौ, धान, तिल, गन्ना, केला, दाल, सरसों, गेहूँ, आम आदि फसलों का उल्लेख पाते हैं। सालि धान की एक प्रजाति थी। पौधों को लगाने को रोपण कहते हैं, जो आज भी प्रचलित शब्द है। तैयार कृषि भूमि को केदार कहा जाता था। बौद्ध ग्रन्थ 'सुत्तनिपात' में उल्लिखित शब्द अन्नदा, बन्नदा, सुखदा क्रमशः अन्नदाता, सौंदर्यदाता, सुखदाता को इंगित करते हैं और ये शब्द पशुओं के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इससे पता चलता है कि अब कृषि में पशुओं का महत्व बढ़ने लगा था व बलि प्रथा (क्योंकि यज्ञों में पशुओं की बलि दी जाती थी) के खिलाफ पशुओं की रक्षा करना प्रदर्शित करता है। ऋग्वैदिक काल में प्रचलित गो शब्द अति महत्वपूर्ण था, क्योंकि यहाँ प्रचलित शब्दों में ज्यादातर गो शब्द ही जुड़ा हुआ है, जो गाय की महत्ता को प्रदर्शित करते हैं।

2 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास लेखन में अर्थशास्त्र में महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध है, जिसमें कृषि को राज्य के राजस्व का एक महत्वपूर्ण आधार माना गया है और शूद्रों को कृषि करने की इजाजत दी गयी है। इसमें कहा गया है कि शूद्रों का कृषि योग्य जमीन को आबाद कराने या अनुपयोगी जमीन पर बसाने के लिए अधिक पसंद किया जाता था, क्योंकि वे कड़ी मेहनत और शोषण के आदी थे। गैरकृषि उत्पादों—उत्खनन, व्यापार आदि पर राज्य का नियन्त्रण था, जिससे राज्य की आय में बढ़ोत्तरी होती थी।

मौर्यकालीन ग्रन्थों में शिल्पकारों व व्यापारिक संगठनों की श्रेणियों व अन्तरक्षेत्रीय सामुद्रिक व्यापार का उल्लेख मिलता है।

बुद्ध काल व उसके बाद का समय कृषकों एवं श्रमिकों, व्यापारियों की महत्ता व उनकी आवश्यकता को दर्शाता है, क्योंकि इस समय कृषि व व्यापार का अधिक विस्तार होने लगा था, जिसका कारण था—लोहे की खोज। लोहे की खोज ने कृषि व व्यापार में बहुत योगदान दिया।

भारत के आर्थिक इतिहास लेखन में गुप्त काल के भूमि अनुदानों से सम्बन्धित शिलालेख भी, महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनसे हमें महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है, जो उस समय की कृषि के लिए प्रचलित शब्द व गुप्त काल और उत्तर गुप्त काल में व्यापार के हास, नगरों के पतन, मुद्रा के अभाव आदि के बारे में विशेष जानकारी देने के कारण इतिहास लेखन में सहयोग करते हैं।

सन् 1950 के दशक से पूर्व इतिहास लेखन की प्रवृत्तियाँ

बीसवीं शताब्दी के मध्य तक प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास लेखन मुख्यतः साहित्यिक कृतियों पर आधारित था। इनमें शिलालेखों के संदर्भ भी दिये गये, परन्तु इनका एक दोष यह था कि इनमें समय और स्थान की सीमाओं का ध्यान नहीं रखा जाता था, जिसके कारण उस समय में या उस समय की अर्थव्यवस्था में हो रहे परिवर्तनों का पता हम सही-सही नहीं लगा सकते। इस प्रकार की कृतियों में हम यू.एन. घोषाल की 'एग्रिय सिस्टम ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया' एवं ए.एन. बोस की कृति 'सोशल एण्ड रूरल इकॉनामी ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया' (ई.पू. 600 से 200 ईस्वी) की चर्चा कर सकते हैं।

परन्तु 1950 के दशक के मध्य से आरम्भिक भारत के परिप्रेक्ष्य में महत्वपूर्ण परिवर्तन आये। अब इतिहास लेखन का केन्द्रबिन्दु आर्थिक हो गया। अब इतिहास लेखन राजवंशों की लड़ाइयों से निकलकर समाजिक-आर्थिक विकास के विभिन्न चरणों को देखता हुआ आगे बढ़ने लगा। अब लोगों की जिज्ञासा भी आर्थिक इतिहास में बढ़ने लगी; जैसे—लोहे की खोज का क्या प्रभाव हुआ? क्या वैदिक काल में लोहे की उपलब्धता थी? हड़प्पा सभ्यता में क्या दो फसलों को एक साथ बोया जाता था?—जैसे सवाल के समाधान खोजने की कोशिश की गई।

1950 के दशक से पूर्व इतिहास लेखन में एक बड़ा आमूलचूल परिवर्तन और आया और इसके कारण पहले से स्थापित कुछ तथ्यों को चोट अवश्य लगी। इस समय के इतिहास लेखन में राजा और राजवंशों के इतिहास से अलग जनसाधारण को महत्व दिया जाने लगा। उस समय के जनसाधारण के जीवन की सामाजिक-आर्थिक गतिविधियाँ क्या थीं? लोग अपना जीवन कैसे बिताते थे? उस समय व्यापार के लिए क्या साधन थे? लोग अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार करते थे या देश के बाहर भी व्यापार था? आदि बातों पर ज्यादा जोर दिया जाने लगा। मौर्य काल में व्यापार की विभिन्न गतिविधियों का प्रकाश में आना मौर्य काल के व्यापार और आर्थिक जीवन की उन्नति को दर्शाता है। वहीं गुप्त काल के आपेक्षिक पतन या ठहराव की बात गुप्त काल के स्वर्णिम युग होने पर प्रश्न चिह्न लगा देती है। इस समय इतिहास में जनसाधारण को लेकर ज्यादा लिखा जाने लगा, जो 1950 के पूर्व इतिहास लेखन की एक महत्वपूर्ण विशेषता कही जा सकती है।

नव-इतिहास लेखन

1960 एवं 1970 का दशक नव-इतिहास लेखन का समय कहलाता है। जिस प्रकार 1950 के दशक से पूर्व के इतिहास लेखन में कुछ परिवर्तन हुए थे, स्वाभाविक है कि इन दशकों में भी परिवर्तन अवश्य हुए होंगे और वे परिवर्तन थे—तकनीकी और आर्थिक इतिहास पर अधिक बल देना। पूर्व-ऐतिहासिक काल का समाज कई स्तरों में विभाजित था। उत्पादन की जिम्मेदारी वैश्य व शूद्र वर्ग के कंधों पर डाल दी गयी। आरम्भिक मध्यकाल, जिसकी प्रमुख विशेषता उसका सामंती होना था और इस सामंतवादी रूप में सामुद्रिक व्यापार तथा नगरों के पतन, मुद्रा में कमी सत्ता का विकेन्द्रीकरण, शिल्पों का स्थानीयकरण, कृषकों की गतिहीनता, सीमित आर्थिक रूप में देखा जाता है। इस सबका एक महत्वपूर्ण योगदान यह रहा कि कृषि संघर्ष और ग्राम्य आन्दोलन की पृष्ठभूमि तैयार हो गयी और इसको तैयार करने का श्रेय लगान वसूल करने वाले भूमिपति वर्ग और दलित कृषक वर्ग को जाता है।

पूर्व-मध्यकाल के इतिहास में हमें परिवर्तन के कुछ चिह्न अवश्य दिखाई देते हैं। जैसे—कृषि कार्य का विस्तार, जनजातियों का कृषक बनना, छोटे-छोटे स्थानीय राज्यों का उदय, राज्य-केन्द्रित समाज (State Society) का विस्तार। कृषि का विस्तार हम इन्हीं परिवर्तनों के कारण मान सकते हैं। समय के साथ क्षेत्रीय विविधता भी पूर्व-मध्यकालीन इतिहास में दिखाई देती है। ग्राम पल्लि घोष (गड़रियों का गांव) आदि कई प्रकार की बस्तियाँ पायी जाती हैं। परन्तु सभी गांवों में आवश्यकता की सभी वस्तुएँ उपलब्ध होती थीं, ऐसा नहीं था। इस समय के गाँवों में तालाब, मन्दिर श्मशान आदि का अभाव दिखाई देता है। समय के साथ गाँवों की बस्तियों में परिवर्तन भी दिखाई देता है। पर पदानुक्रम में ऊँच-नीच के

सम्बन्ध बाधित नहीं थे। गाँव राजाओं के लिए राजस्व के स्रोत होते थे, क्योंकि वे कई रूपों में काम करते थे; जैसे—विनिमय केन्द्र जिनको हाट कहा जाता था, वाणिज्य केन्द्र जिनको उत्तर भारत में मड़पिका और दक्षिणी भारत में पेट कहते थे, के रूप में इस समय के गाँव काम करते थे और राज्य इनसे अच्छ-खास राजस्व वसूली करते थे। कई प्रकार के व्यापारी हुआ करते थे व कई व्यापारिक श्रेणियाँ थीं; जैसे—श्रेष्ठि (सम्पन्न व्यापारी), बंजारा (फेरी वाले), सार्थवाह (कारवाँ व्यापारी)। यह कारवाँ का प्रमुख होता था। वणिज्य छोटे स्तर के व्यापारियों की श्रेणी होती थी। पूर्व-मध्यकालीन भारत के इतिहास लेखन में एक नयी बात यह दिखाई देती है कि इस समय के व्यापार और शहरी केन्द्रों के हास को नयी दृष्टि से देखने का प्रयास किया गया, जो इस समय के इतिहास की विशेषताओं को जानने में सहायक है।

हाल के शोध

पत्थर के औजार एवं मिट्टी के बर्तनों, संसाधनों के उपयोग एवं आबादी के इतिहास, पूर्व मध्यकालीन दक्षिणी भारतीय शिलालेखों का उपयोग करके प्राचीन भारत के आर्थिक इतिहास पर हुए शोधों ने एक बेहतर इतिहास लेखन में और हमारी समझ बढ़ाने में महत्वपूर्ण कार्य किया है। लेकिन इन सबके बावजूद भी ऐतिहासिक स्रोतों की प्रवृत्तियों को देखते हुए किसी प्रकार का ठोस निर्धारण करना कठिन है, क्योंकि इनमें अधिकतर अनुमान ही लगाये जा सकते हैं, जो स्रोतों की अस्पष्टता के कारण हैं।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि प्राचीन भारतीय इतिहास में सहअस्तित्व के साक्ष्य मिलते हैं, जो तकनीकी और आर्थिक विकास के विभिन्न समुदायों पर आधारित हैं। इसमें हम नवपाषाणयुगीन पशुपालक और मध्यपाषाणयुगीन शिकार संग्राहक वर्ग व हड़प्पायुगीन कृषक एवं शिल्पकारों के सहअस्तित्व के साक्ष्य देख सकते हैं। ये दोनों वर्ग साथ-साथ रहे। हड़प्पा में शिल्पकारों का बड़ा महत्व था और वहाँ मनके बनाने का उद्योग बड़ा विकसित था। शिल्पकारों का जीवनस्तर भी अच्छा था। पर ऐसा नहीं है कि कृषकों को नगण्य माना जाता था। वहाँ कृषकों का भी अपना महत्व था और दोनों का सहअस्तित्व भी था। मौर्य काल की प्रगति गंगा घाटी एवं उससे सटे क्षेत्रों तक सीमित थी। मौर्योत्तर कालीन दक्षिणी भारत में देखें तो आंध्र क्षेत्र व मध्य भाग (तेलंगाना) में हमें आन्ध्र क्षेत्र कृषि से सम्पन्न दिखाई देता है, तो तेलंगाना शिल्प व्यापार से समृद्ध दिखाई देता है। यहाँ लोहा पिघलाने की भट्टियाँ इस बात का सबूत हैं कि लोहे को गलाकर उपकरण तैयार किये जाते थे।

पुरातात्विक शोधों के आधार पर काले एवं लाल मृदभांडों के प्रयोगकर्ता व गेरूए रंग के मृदभांडों के प्रयोगकर्ता के बीच सम्पर्क और आपसी लेन-देन था। इस आधार पर यह तो मानना पड़ेगा कि

पूर्व-औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का इतिहास लेखन : प्राचीन काल / 3

परिवर्तन की व्याख्या आक्रमण और उपनिवेशीकरण के आधार पर नहीं की जा सकती; क्योंकि केवल यह मान लेना कि एक वर्ग ने दूसरे वर्ग पर आक्रमण किया और वहाँ अपना उपनिवेश बनाया और वहाँ कब्जा किया—ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि दोनों के बीच आपसी लेन-देन हमें सिर्फ यही मानने को मना करता है। इतिहासकार कृषि की उत्पत्ति और कृषि समुदाय के उद्भव को लौह युग से पूर्व का मानते हैं। इसके कारण वे लोहे की भूमिका पर भी प्रश्नचिह्न लगाते रहे कि जब कृषि की उत्पत्ति और समुदाय का अस्तित्व पहले से था, तो फिर लोहे की क्या विशेष भूमिका रही। इसी कारण अतिरिक्त उत्पादन करने वाले कृषक समुदाय के विषय में आज एक बहस छिड़ी हुई है।

सारांश

आर्थिक इतिहास लेखन इतिहास के एक अंग के रूप में माना जाता है और इससे अलग करके इतिहास के महत्व को नहीं देखा जा सकता। आर्थिक इतिहास एक नयी सोच और नये ढंग से इतिहास लेखन को बढ़ावा देता है, क्योंकि समय के साथ-साथ समाज में परिवर्तन और परिवर्तनों से बदलता इतिहास एक नयी जिज्ञासा पैदा कर देता है। समाज के किसी एक आयाम का अध्ययन करने के लिए अन्य आयामों को छोड़ देना सम्भव नहीं है। क्योंकि ये परस्पर एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं और एक-दूसरे से बहुत गहरा सम्बन्ध रखते हैं और उन पर असर भी डालते हैं। जैसे—किसी राज्य के उद्भव हेतु कृषि, आबादी, सामाजिक वर्गीकरण आवश्यक होते हैं। ये तत्त्व किसी राज्य का निर्माण करते हैं। यदि हम इनमें से सिर्फ सामाजिक वर्गीकरण को लेकर इतिहास लिखें, तो यह सम्भव नहीं हो पाएगा, क्योंकि उसके लिए यह जानना जरूरी है कि सामाजिक वर्गीकरण की आवश्यकता क्यों पड़ी। शायद कृषि के उत्पादन ने कुछ वर्गों को सम्पन्न, शोषक व शोषणकर्ता बना दिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इतिहास लेखन का हर पहलू एक-दूसरे से जुड़ा हुआ है और जिसमें आर्थिक इतिहास अपना अलग ही महत्व रखता है।

प्रश्न-अभ्यास

प्रश्न 1. प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास पर समकालीन विचारों की विवेचना करें।

उत्तर—प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास पर समकालीन विचारों की विवेचना उस समय के ग्रन्थों में उपलब्ध जानकारी के आधार पर की जा सकती है। कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ हमें उस समय के आर्थिक इतिहास से अवगत कराते हैं, जिसमें संस्कृत व पाली साहित्य का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। ये ग्रंथ ईसा पूर्व पहली शताब्दी के मध्य की फसलों के बारे में हमें जानकारी देते हैं। जैसे—इन ग्रन्थों में जौ, गेहूँ, धान, तिल, सरसों, दाल, गन्ना, केला

4 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

आदि का उल्लेख मिलता है। इन ग्रन्थों से हम उस समय की फसलों के लिए प्रचलित शब्दों को भी जान पाते हैं। जैसे—सालि उस समय धान की एक प्रजाति थी। केदार कृषि हेतु तैयार भूमि को कहा गया है। भूमि और कृषि में लोगों का लगाव था जो इस बात से स्पष्ट होता है कि भूमि का वर्गीकरण किया गया था। उसे ऊसर, खेत, गोचर आदि श्रेणियों में बाँटा गया था। ऋग्वैदिक काल में पशु-पालन का महत्त्व रहा है, तो बुद्ध काल में आर्थिक परिस्थितियाँ बदलीं और भूमि का कृषि के रूप में बहुत महत्त्व दिखाई देता है।

कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र भी आर्थिक इतिहास के लेखन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इससे पता चलता है कि गाँव की आबादी एवं कृषि कर्म राज्य के राजस्व का एक महत्वपूर्ण स्रोत थे। शूद्रों को उनकी श्रम श्रेष्ठता के कारण कृषि भूमि को आबाद करने के कार्य में लगाया जाने लगा। राजस्व के अन्य स्रोतों के रूप में राज्य गैरकृषि उत्पादों पर कर लगता था। धातु कर्म एवं व्यापार पर राज्य का नियंत्रण हमें अर्थशास्त्र में देखने को मिलता है। मौर्य काल के बाद तो यह बात स्पष्ट रूप से सामने आयी कि भूमि उसी की है, जो उसे कृषि योग्य बनाता है। यह बात मनुस्मृति और मिलिंदपण्हों में उल्लिखित है। उत्तर मौर्यकालीन ग्रन्थों में नाना प्रकार की श्रेणियों, पेशों एवं श्रमिकों का वर्णन है। मथुरा, साँची एवं अन्य स्थानों से प्राप्त शिलालेख दानकर्त्ताओं के नाम और उनके पेशों की चर्चा करते हैं, जो उनके आर्थिक रूप से सक्षम होने का प्रमाण हैं।

उस समय के ग्रंथ गुप्त काल के व्यापार के हास, नगरों धात्विक मुद्रा के अभाव के बारे में भी जानकारी उपलब्ध कराते हैं। हर्षचरित से हम उस समय के आर्थिक इतिहास के बारे में जान पाते हैं। इस समय के अभिलेख भी आर्थिक इतिहास की महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान करते हैं। इस प्रकार आर्थिक इतिहास लेखन में उस समय की साहित्यिक सामग्री और अभिलेखों का महत्वपूर्ण स्थान है, जो हमें उस समय की आर्थिक गतिविधियों के बारे में जानकारी देते हैं।

प्रश्न 2. प्राचीन भारत के आर्थिक इतिहास पर समकालीन विचार विकास या स्थिरता में से क्या इंगित करते हैं?

उत्तर—प्राचीन भारत के आर्थिक इतिहास पर समकालीन विचार विकास और प्रगति को इंगित करते हैं। उस समय के आर्थिक इतिहास में विकास निरन्तर देखने को मिलता है। व्यापार में वृद्धि, राजस्व के स्रोत बढ़ाने के लिए राज्य के क्रियाकलाप और भूमि को उत्पादन हेतु उपयुक्त बनाने और उस पर कृषि आदि विकास को ही प्रदर्शित करते हैं। भूमि का वर्गीकरण, फसलों की किस्में, सोने, चाँदी, तौबे और यहाँ तक कि पोटीन की मुद्राओं का ढाला जाना भी उस समय के आर्थिक इतिहास में विकास का ही द्योतक है। भूमि अनुदान, व्यापारी, श्रेष्ठी आदि उस समय के आर्थिक विकास को प्रदर्शित करते हैं। श्रेष्ठी एक स्थान से दूसरे

स्थान पर व्यापार करने जाते थे। श्रेष्ठी के अपने अलग नियम होते थे। राजा उनके काम में दखल नहीं देता था। भूमि अनुदान से कृषि को ज्यादा बढ़ावा मिला। वैदिक काल में पशुपालन का महत्त्व है, तो बुद्ध काल में कृषि को महत्त्व दिया जाने लगा। मौर्य काल में राज्य व्यापार में भी रुचि लेने लगा और कृषि के अतिरिक्त गैर-कृषि उत्पादों पर भी राज्य कर लगाने लगा, जिससे राज्य की आय बढ़ी। ये सब विकास को प्रदर्शित करते हैं।

अतः हम से उपर्युक्त विवरण के आधार पर कह सकते हैं कि प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास विकास को इंगित करता है। निरन्तर विकास में गुप्त व गुप्तोत्तर काल में थोड़ा ठहराव जरूर आया, परन्तु इससे ऐसा नहीं है कि विकास फिर आगे हो ही नहीं पाया या इसके बाद विकास रुक गया। अतः आर्थिक इतिहास विकास को इंगित करता है न कि स्थिरता को।

प्रश्न 3. सन् 1960 के दशक के दौरान इतिहास लेखन के रुझानों का विश्लेषण करें।

उत्तर—1960 के दशक का इतिहास लेखन नव-इतिहास लेखन को प्रदर्शित करता है। यही वह समय था जब अर्थव्यवस्था को मौद्रिकीकरण के रूप में देखा गया। यह समय नयी दृष्टि से इतिहास लेखन को प्रदर्शित करता है। 1960 के दशक में तकनीकी और आर्थिक परिवर्तन पर बड़ा बल दिया गया। इस समय के इतिहास से पता चलता है कि किस प्रकार राज्य की आय को बढ़ावा देने के लिए भूमि व उत्पादक वर्ग में परिवर्तन हुए।

उत्पादन की जिम्मेदारी प्रमुख करदाता वर्ग वैश्य और शारीरिक श्रम का दायित्व शूद्रों के कन्धों पर डाल दिया गया। आरम्भिक मध्यकाल जिसकी एक प्रमुख विशेषता उसका सामन्ती स्वरूप था, को सामुद्रिक व्यापार, नगरों के पतन, मुद्रा में कमी, वैश्यों व शूद्रों की दशा में परिवर्तन, सीमित आर्थिक इकाइयों के रूप में उल्लिखित किया गया। मध्यकालीन भारत में कुछ क्षेत्रों में कृषि विस्तार की बात तो स्वीकार की जाती है। इतिहास लेखन में एक प्रकार से सर्वव्यापी हास का विचार व्याप्त दिखाई देता है। इस समय के इतिहास लेखन में क्षेत्रीय विविधता और परिवर्तन दिखाई देते हैं। जैसे—कई प्रकार की ग्रामीण बस्तियों का पाया जाना और इन गाँवों की सामाजिक संरचना भी समय के साथ-साथ बदलती रही। ग्रामीण बस्तियों का स्वरूप भी समय के साथ-साथ बदला। गाँव राज्य की आय के प्रमुख साधन के रूप में सामने आये। क्योंकि ये कई प्रकार के स्वरूप को प्रदर्शित करते थे—कभी विनिमय केन्द्र, तो कभी वाणिज्य केन्द्र आदि के रूप में। और राज्य इन पर कर लगाता था, जिसके कारण इनकी आय में वृद्धि होती थी। इतिहासकारों ने उस समय की विशेषताओं और कुरीतियों दोनों का ही विश्लेषण किया है। सामाजिक कुरीतियों के तहत नीची जातियों का शोषण किस प्रकार किया जाता था, महिलाओं के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाता था आदि। 1960 के दशक में ये इतिहासकारों के लिए विश्लेषण के मुद्दे बने। पदानुक्रम पर

पूर्व-औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का इतिहास लेखन : प्राचीन काल / 5

आधारित विभिन्न वर्गों का समायोजन आदि जैसी कुछ घटनाओं ने इतिहासकारों का ध्यान अपनी ओर आकृषित किया। गाँव के रहन-सहन, मनोरंजन, रीति-रिवाज आदि पर इतिहासकारों ने अपने विचार प्रकट किये। पूर्व-मध्यकालीन भारत में व्यापारियों की कई श्रेणियाँ; जैसे-वणिक, बंजारा, सार्थवाह, श्रेष्ठ और राजश्रेष्ठी आदि का वर्णन भी इस समय के इतिहास में दृष्टिगोचर होता है। पूर्व-मध्यकालीन भारत में व्यापार एवं शहरी केन्द्रों के पतन को भी नई दृष्टि से देखने का प्रयास किया गया।

अतः हम कह सकते हैं कि 1960 का दशक नव-आर्थिक इतिहास लेखन का काल था। क्योंकि इस समय तकनीकी और आर्थिक इतिहास तो इतिहासकारों के केन्द्रबिन्दु के रूप में रहे। उन्होंने इससे जुड़े सभी पहलुओं को जानने का प्रयास किया और इन पर लिखा भी।

प्रश्न 4. 1950 के दशक के उत्तरार्ध में आर्थिक इतिहास लेखन किस प्रकार 20वीं सदी के आरंभ के इतिहास लेखन से भिन्न है?

उत्तर-1950 के दशक के इतिहास में हम समय व स्थान की सीमा का अभाव पाते हैं, जिसके कारण परिवर्तन की प्रक्रिया को समझना कठिन हो जाता है। आर्थिक जीवन और उससे जुड़ी गतिविधियों के बारे में भी हम स्पष्ट रूप से जानकारी प्राप्त नहीं कर सकते, लेकिन 1950 के मध्य से 20वीं सदी के आरम्भ के इतिहास में समाज एवं राजनीतिक व्यवस्था आर्थिक इतिहास के केन्द्रबिन्दु हो गये। अब राजवंशों की लड़ाई इतिहासकारों के लिए इतनी महत्वपूर्ण नहीं रही, जितना कि सामाजिक-आर्थिक विकास। इस ओर इतिहासकारों ने अपना ध्यान केन्द्रित किया और इस पर बड़ी सजगता से अपने विचार प्रकट किये।

अब इतिहासकारों के नजरिये में एक नया परिवर्तन आया। अब वे सामाजिक-आर्थिक विकास के क्रम की व्याख्या करने लगे। जनसाधारण पर विशेष ध्यान दिया गया। राजवंशों के बारे में अधिक न लिखकर जनसाधारण के जीवन पर ध्यान दिया गया। जनसाधारण की आर्थिक गतिविधियाँ, राज्यों को उनका सहयोग, उनका अपना जीवन इतिहासकारों के लिए नये मुद्दे बने। हालाँकि इस क्रम में पहले से स्थापित मुद्दों को ठेस पहुँची। किसी भी प्रकार के परिवर्तन के कारण को राजनीतिक रूप में न देखकर विकास के रूप में देखा जाने लगा।

20वीं सदी के आरम्भ के इतिहास लेखन और 1950 के मध्य के इतिहास लेखन में व्यापक भिन्नता है। 20वीं सदी के आरम्भ में इतिहासकारों ने जनसाधारण की जीवन-शैली, रहन-सहन, खान-पान आदि के सम्बन्ध में जाना व इस पर लिखा, जबकि 1950 के मध्य दशक से पहले राजा व राजवंश ही इतिहास के केन्द्रबिन्दु हुआ करते थे। 20वीं शताब्दी के आरम्भ में लोगों में भी इस इतिहास को जानने की जिज्ञासा बढ़ी और शोधों द्वारा नये-नये प्रश्नों के उत्तर खोजने की ओर ध्यान दिया गया।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 1950 के दशक के उत्तरार्ध में आर्थिक इतिहास लेखन 20वीं शताब्दी के आरम्भ के इतिहास लेखन से न सिर्फ भिन्न था, बल्कि इसमें आमूल-चूल परिवर्तन हुआ और इसने इतिहासकारों को एक नयी दिशा में सोचने के लिए बाध्य किया। इसने जनसाधारण को विशेष महत्व का बना दिया गया। आर्थिक इतिहास को भी जनसाधारण से जोड़कर देखा जाने लगा। उसका क्या रूप था; उसने किस प्रकार राज्य और उस समय के समाज को प्रभावित किया-इस इतिहास लेखन की अपनी विशेषता है, जो उसे 1950 के इतिहास लेखन से अलग करता है। इस इतिहास लेखन ने मौर्य काल की व्यापारिक-आर्थिक गतिविधियों को प्रकाशित किया, तो दूसरी ओर गुप्त काल के अपेक्षित पतन व ठहराव की बात को सामने लाकर गुप्तकाल के स्वर्णिम युग होने की धारणा को मलिन किया।

प्रश्न 5. प्राचीन भारत के आर्थिक इतिहास लेखन की आधुनिक प्रवृत्तियों का लेखा-जोखा दें।

उत्तर-यू.एन. घोषाल की कृति 'एग्रेरियन सिस्टम ऑफ नार्दन इंडिया' एवं ए.एन. बोस की कृति 'सोशल एंड रूरल इकॉनॉमी ऑफ नॉर्दन इंडिया' (ई.पू. 600 से 200 ईस्वी) अनिवार्यतः साहित्यिक संदर्भों तथा आधुनिक प्रवृत्तियों पर आधारित है। दोनों पुस्तकें सतत शोधों के बाद सामने आईं। प्राचीन भारत के आर्थिक परिदृश्य को स्पष्ट करने के लिए वैज्ञानिक शोधों का सहारा लिया गया। हालाँकि इनमें शिलालेखों के आंकड़ों का भी उपयोग हुआ है। इस प्रकार की अधिकांश कृतियाँ विभिन्न स्रोतों से ग्रहण किए गए तथ्यपरक विवरणों को प्रस्तुत करती हैं। इस प्रस्तुति में समय और सीमाओं का कोई ध्यान नहीं रखा गया। इसके परिणामस्वरूप संस्था विशेष की पृष्ठभूमि में परिवर्तन की प्रक्रियाओं को समझना कठिन हो गया। आर्थिक गतिविधि की परिकल्पनाओं में आर्थिक जीवन एवं संस्थानों का विश्लेषण एवं उसकी व्याख्या अज्ञात ही बनी रही। संक्षेप में कहें तो पूरे परिप्रेक्ष्य में ही आमूल-चूल परिवर्तन आ गया था। हालाँकि इस क्रम में कुछ संजोए हुए प्रतिष्ठित विचारों में उथल-पुथल हुई, जो अवश्यभावी था। मौर्य काल के पश्चात् नाना प्रकार की आर्थिक गतिविधियों का प्रकाश में आना तथा गुप्तकाल में आपेक्षिक पतन या ठहराव की बात गुप्तकाल के स्वर्णिम युग होने की धारणा को चोट पहुँचाती है और इस प्रकार राजवंशों के इतिहास से परे, आर्थिक इतिहास पर जनसाधारण वर्ग का प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा। इस इतिहास ने राजा एवं राजाओं की बजाय जनसाधारण को महत्व दिया। ऐसा अनिवार्यतः न केवल नए आंकड़ों की उपलब्धियों के कारण हुआ, बल्कि मोटे तौर पर नए परिप्रेक्ष्यों एवं नए प्रश्नों की उत्पत्ति के कारण हुआ। ये प्रश्न प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर खड़े होते रहे हैं। इसके अतिरिक्त शिलालेखों एवं अभिलेखों से प्राप्त स्रोतों से भी इतिहासकारों को बड़ी सहायता प्राप्त हुई है। आर्थिक इतिहासकारों द्वारा प्राचीन भारत में उत्पादन,

6 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

मूल्य, कृषि विस्तार, दान में दी गई भूमि एवं कृषि में उसका अनुपात आदि का मात्रात्मक आकलन अधिक से अधिक एक अनुमान मात्र रह जाता है। तकनीकी एवं आर्थिक विकास के विभिन्न स्तरों के समुदायों के सहअस्तित्व के साक्ष्य भारतीय इतिहास में मिलते हैं। दक्खन के नवपाषाणयुगीन पशुपालक वर्ग, मध्यपाषाणयुगीन आखेटक-संग्राहक (लंघनाज, गुजरात) और हड़प्पाकालीन कृषकों एवं शिल्पकारों का सहअस्तित्व रहा है; उनमें प्रायः सहजीविता का सम्बन्ध रहा है। भारतीय पुरातत्त्व भी प्रागैतिहासिक काल से विकास की विविधतापूर्ण शैलियों का साक्ष्य देता है। जैसा की ऊपर उल्लिखित किया गया है, मध्यकाल में भी प्रगति मोटे तौर पर उत्तर भारत के गंगा के मैदानों एवं उससे सटे क्षेत्रों तक सीमित थी। प्रायद्वीपीय भारत के विभिन्न भागों में मौर्य एवं उत्तर-मौर्यकाल में विकास की तुलना की जा सकती है। पुरातात्विक शोधों की जानकारी से कृषि, शहरीकरण, शिल्पकारी, मुद्रा एवं व्यापार के विस्तार सम्बन्धी नए-नए प्रश्न उभरने लगे और इस प्रकार प्राचीन भारत की हमारी समझ विकसित हुई। दूसरी सहास्राब्दी के उत्तरार्द्ध एवं पहली सहस्राब्दी ई.पू. के मध्य में कई पुरातात्विक विशेषताओं वाली परिस्थितियों (जैसे-काले एवं लाल मृदभांड, गेरुए रंग के मृदभांड, तांबे का भण्डार, रंगीन धूसरपात्र) आदि के प्रमाण मिलते हैं और ये सभी आधुनिक तकनीक एवं वैज्ञानिक शोधों से प्रतिपादित होते हैं और इतिहासकारों द्वारा इनका बखूबी चित्रण हुआ है।

निर्देश: नीचे दिये गये विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें:

1. कृषि की उत्पत्ति एवं कृषि समुदायों का उद्भव लौह युग के आगमन से पूर्व माना गया है।

2. प्राचीन भारत के आर्थिक इतिहास पर हुए हाल के शोधों ने अतीत की हमारी समझ को बेहतर और पुष्ट किया है।

उत्तर-1. कृषि की उत्पत्ति एवं कृषि समुदायों का उद्भव लौह युग के आगमन से पूर्व माना गया है-भारत के ऐतिहासिक काल को उसका स्वरूप देने में लोहे की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। लेकिन भारतीय उपमहाद्वीप में हड़प्पा सभ्यता से भी पहले हम कृषक वर्ग के गठन के संकेत पाते हैं। ये कृषक वर्ग हमें पुरापाषाण काल और नवपाषाण काल में देखने को मिलते हैं। इन वर्गों ने कई प्रकार की फसलें उगानी आरंभ की व पशुपालन शुरू किया। इनके द्वारा उत्पादित प्रमुख फसलों में गेहूँ, जौ, बाजरा आदि महत्वपूर्ण हैं। भेड़-बकरी पालन भी इन्होंने शुरू कर दिया था, जो कि लोहे की खोज से पूर्व का काल है। शिल्पकला भी प्रागैतिहासिक काल से शुरू मानी जाती है। खुदाई से मध्यपाषाण युगीन लौहे समेत बहुमूल्य वस्तुएँ की उपस्थिति के संकेत मिलते हैं, जो आरम्भिक लौहयुगीन संस्कृति से विभेद बताती हैं। उत्तर भारत और दक्षिण भारत में शिल्पकला, विनिमय, सामाजिक संगठन आदि के

उल्लेख में प्रागैतिहासिक काल की महत्ता को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारत में कृषि समुदायों और कृषि की उत्पत्ति के साक्ष्य लोहे की खोज से पूर्व भी दिखाई देते हैं, जिनकी महत्ता को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता।

2. प्राचीन भारत के आर्थिक इतिहास पर हुए हाल के शोधों ने अतीत की हमारी समझ को बेहतर और पुष्ट किया है।

प्राचीन भारत के आर्थिक इतिहास पर हुए हाल के शोधों ने अतीत की हमारी समझ को बेहतर बनाया है और इतिहास को समझने के लिए हमें एक नया दृष्टिकोण दिया है। इसने नये आर्थिक इतिहास लेखन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उस समय के मिले साक्ष्यों ने जिसमें हम मिट्टी के बर्तन, पत्थर के औजार आदि का जिक्र कर सकते हैं, इन साक्ष्यों पर उठने वाले सवालों और उनके विश्लेषण ने इतिहास लेखन को समझने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। शिलालेखों, अभिलेखों तथा सिक्कों का उपयोग करके उसके समय तथा स्थान बता पाना सरल हो गया। क्योंकि जब तक अशोक के अभिलेख नहीं पढ़े गये थे, वह एक एक अज्ञात राजा ही था और जब 1815 ई. में जेम्स प्रिंसेप ने उसके अभिलेखों को पढ़ा और उसके बारे में लिखा, तो अशोक कितना महान राजा था, ये साक्ष्य हमारे सामने आये।

शहरीकरण, शिल्पीकरण, मुद्रा, व्यापार आदि के बारे में नये शोधों से इतिहास लेखन में सरलता आयी और हमारी समझ बढ़ी। उस समय के मृदभांड कैसे थे; लोग इसका किस प्रकार व्यवहार करते थे; लोगों का व्यापार कितना विस्तृत था; मुद्रा किस प्रकार की होती थी, कौन-सा राजा किस क्षेत्र पर राज्य करता था और उसके राज्य का कितना विस्तार था आदि की समझ नए शोधों ने प्रदान की। नये शोधों ने हमारी समझ को बेहतर बनाया, क्योंकि पहले इतिहास लेखन में समय और स्थान पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था।

आधुनिक इतिहास में राजा तथा राजवंशों से अलग जनसाधारण को महत्व दिया जाने लगा। आधुनिक इतिहास में जनसाधारण तथा उसकी गतिविधियों का वर्णन किया गया। यह एक नयी दिशा में इतिहास लेखन की पहल थी। अब राजा-महाराजाओं की लड़ाइयों से अलग इतिहास लिखा जाने लगा। जनसाधारण को महत्व देना, उसकी जीविका के साधन, मनोरंजन, दैनिक जीवन की गतिविधियों के बारे में लिखना इतिहास का एक नया रूप था, जिसने हमारी समझ को अधिक बेहतर बनाया। अतः हम कह सकते हैं कि प्राचीन भारत के आर्थिक इतिहास लेखन पर हुए हाल के शोधों ने अतीत की हमारी समझ को बेहतर बनाया है।



पूर्व-औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का इतिहास

लेखन-मध्य काल



प्रस्तावना

यह अध्याय ग्राम समुदाय, करों की प्रवृत्ति, राज्य की भूमिका, कृषकों का जीवन, शहरी-ग्रामीण सम्पर्क के प्रभाव आदि मुद्दों पर केन्द्रित है। पूर्व औपनिवेशिक भारतीय अर्थव्यवस्था में मध्य काल में क्या परिवर्तन हुए, लोगों का जीवन, कृषकों का जीवन, राज्य की आय आदि के बारे में इस अध्याय में चर्चा की गई है। 1950 के दशक तक इतिहास पर मुख्यतः अर्थशास्त्रियों ने लिखा, क्योंकि इस समय तक इतिहास को अलग विषय के रूप में नहीं देखा जाता था। इस समय के इतिहासकारों ने राजवंशों के इतिहास और उनके बदलाव पर ही अधिक ध्यान दिया। समाज, समाज की उत्पादन क्षमता, रहन-सहन, मनोरंजन आदि विषय इस समय तक अछूते ही रहे और उन पर अधिक नहीं लिखा जा सका।

औपनिवेशिक अवधारणा

उपनिवेश पूर्व भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रवृत्ति को समझना भारत में अंग्रेजी शासन की उपलब्धियों को गिनना मात्र था। वे भारतीय अर्थव्यवस्था पर लिखकर यह दर्शाना चाहते थे कि अंग्रेज भारत को कितनी भली-भाँति समझते हैं। इस समय भारतीय अर्थव्यवस्था को जानने और समझने का सबसे महत्वपूर्ण प्रयास डब्ल्यू.एच. मोरलैण्ड ने किया, जो निःसन्देह उल्लेखनीय है। उन्होंने दिल्ली सल्तनत एवं मुगल काल की अर्थव्यवस्था और उस दौरान होने वाले परिवर्तनों पर लिखा। उन्होंने आम लोगों के जीवन को समझने का प्रयास किया कि दिल्ली सल्तनत व मुगल काल में लोगों की आय के क्या स्रोत थे? सुल्तान उन पर किस प्रकार नियन्त्रण रखते थे? मोरलैण्ड की प्रमुख कृतियाँ हैं—*इंडिया एट द डेथ ऑफ अकबर, एन इकॉनॉमिक स्टडी* (1920), *फ्रॉम अकबर टू औरंगजेब: ए स्टडी इन इंडियन इकॉनॉमिक हिस्ट्री, एंग्रेयन सिस्टम ऑफ मुस्लिम इंडिया* (1929)।

मोरलैण्ड एक उपनिवेशवादी इतिहासकार थे। उन्होंने मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था पर लिखा। उन्होंने बताया कि इस समय के शासक वर्ग का मुख्य मकसद आडम्बरपूर्ण जीवन जीना व

सुख-सुविधाओं का उपभोग करना था। इसके लिए वह किस प्रकार उत्पादक वर्ग की आय पर कब्जा करता था और किस प्रकार के कर लगाता था, आदि की चर्चा की। हालाँकि वह इसमें भी एक सकारात्मक रूप देखते हैं कि इसने उत्पादन को बढ़ावा दिया, क्योंकि वह एक उपनिवेशवादी लेखक हैं।

उपनिवेशवादी दृष्टिकोण की आलोचना

उपनिवेशवादी लेखकों द्वारा अपनाये गये नकारात्मक दृष्टिकोण को भारतीय इतिहासकार अस्वीकार करते हैं। इस निराशाजनक दृष्टिकोण के विरुद्ध पहला महत्वपूर्ण प्रयास इरफान हबीब का माना जाता है। उन्होंने मोरलैण्ड द्वारा बताये गए मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था के पिछड़ेपन को सिरे से खारिज किया। उनकी कृतियाँ हैं '*एंग्रेयन सिस्टम ऑफ मुगल इण्डिया* (1963), *पोर्शियलीटिज ऑफ कैपिटलिस्टिक डेवलपमेंट इन द इकॉनामी ऑफ मुगल इण्डिया* (1969)। इरफान हबीब के इन शोधों से मध्यकालीन अर्थव्यवस्था के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है और इसे उस समय की अर्थव्यवस्था में एक सकारात्मक दृष्टिकोण लाने का प्रथम प्रयास कहा जा सकता है। वे अपने शोधों के माध्यम से बताते हैं कि मध्यकालीन अर्थव्यवस्था में निजी और पृथक् भूस्वामित्व की अवधारणा थी। पट्टेदारों का भी भूमि पर अधिकार था। कृषि उत्पादों में राज्य हिस्सेदारी करता था। नगरों का विकास, कारखानों का विकास, शिल्पियों का संगठित होना आदि इस समय की अर्थव्यवस्था की विशेषताएँ थीं। कारखाने राज-परिवार और निर्यात दोनों के लिए उत्पादन करते थे। बड़े पैमाने पर व्यापार होता था, जो यूरोपियन कम्पनियों के माध्यम से होता था या फिर सीधे दक्षिण-पूर्व और पश्चिमी एशिया जाता था। बंगाल व मालाबार तट से चावल निर्यात होता था, जो यह दर्शाता है कि केवल ऐशो-आराम की वस्तुओं का ही निर्यात नहीं होता था, बल्कि हस्तशिल्प व कृषि उत्पादों का भी निर्यात होता था। इस प्रकार इरफान हबीब अपने शोधों में मध्यकालीन अर्थव्यवस्था को विकासशील अर्थव्यवस्था के रूप में देखते हैं व पिछड़ेपन को नकारते हैं। 1960 के दशक में सामने आयी कृतियों ने भी इसका समर्थन किया है और विकास की बात पर आम सहमति बनी।

8 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

17वीं शताब्दी में भारतीय अर्थव्यवस्था की विशेषताओं को निम्न रूप में देखा जा सकता है :

1. **व्यापक व्यवसायीकरण**—उत्पादन का मुख्य उद्देश्य बाजार था और इसमें तटवर्ती समुदाय के लोग तो सिर्फ बाजार के लिए ही उत्पादन करते थे। यानी उत्पादन का व्यवसायीकरण हुआ। लोग उत्पादन को आमदनी के रूप में देखने लगे थे।
2. **मुद्रा व्यवस्था**—मुद्रा मुख्यतः तीन धातुओं पर आधारित थी—सोना, चाँदी, ताँबा। मुद्रा व्यवस्था आधुनिक वित्तीय व्यवस्थाओं की भाँति भी थी; हुंडी (ड्राफ्ट उस समय हुंडी कहलाता था) के माध्यम से पूरे देश में व्यापार सरल हुआ क्योंकि इनको कहीं भी भुनाया जा सकता था। अब पैसों को साथ लेकर चलने का जोखिम कम हुआ और व्यापार को बढ़ावा मिला।
3. बड़ी संख्या में जहाँ लोग रहते थे, वहाँ नगरों का विकास हुआ। नगरों के विकास ने लोगों को जाति-पाति से ऊपर उठाकर उत्पादन और व्यापार के विकास का मार्ग प्रशस्त किया।
4. निजी स्वामित्व पर आधारित कृषि व्यवस्था का उदय हुआ जिसमें अब जमीन की खरीद व बिक्री के लिए एक बड़ा बाजार उपलब्ध था।
5. अच्छी उर्वरक उत्पादक भूमि जिससे प्रति एकड़ उत्पादन में बढ़ोत्तरी हुई।
6. एक राजनीतिक व्यवस्था जिसमें नकद वेतन की प्राप्ति हुई।
7. व्यापारी समुदाय का उदय हुआ, जो व्यापार विशेष में संलग्न रहते थे। वे स्थानीय स्तर और यूरोपियन कम्पनियों के साथ भी लेन-देन करते थे।

मुख्य विचारधाराएं

मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास का क्या विशेष कारण था, इसकी प्रकृति व दिशा क्या थी; इन मुद्दों पर भारतीय इतिहासकारों में आम सहमति नहीं है। मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था की विशेषताओं में समय, अर्थव्यवस्था की विशेषता व उस पर यूरोप का प्रभाव आदि घटकों को लेकर मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था का पुनः निर्माण किया गया। इसमें सबसे पहले व्यापार के क्षेत्र में प्रभाव देखा गया कि उस समय यूरोपियनों के आगमन से व्यापार पर क्या प्रभाव पड़ा? इसमें देखा गया कि यूरोपीय प्रभाव के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था का हास हुआ।

पिछले 50 वर्षों के आर्थिक इतिहास को चार चरणों में बाँटकर देखा गया है, जिसमें एक राजकीय भाषा फारसी पर आधारित है। इसे तर्कों के आधार पर स्पष्ट परिवर्तन का दौर कहा जाता है। इस चरण में 13वीं से 17वीं शताब्दी तक की मध्यकालीन

अर्थव्यवस्था को शामिल किया जाता है। दूसरे चरण में 15वीं से 18वीं शताब्दी के आर्थिक इतिहास को शामिल किया जाता है जो यूरोपीय भाषाओं; जैसे—अंग्रेजी, पुर्तगाली, डच आदि पर व यूरोपीय भाषा के लेखों पर आधारित है। चूँकि यह इतिहास यूरोपियनों द्वारा लिखे गये लेखों पर आधारित था, अतः इसमें व्यापार-वाणिज्य के सम्बन्ध में यूरोप और भारत के सम्पर्कों का वर्णन है। तीसरे चरण में क्षेत्रीय आर्थिक इतिहास है जो क्षेत्रीय भाषाओं पर ही आधारित है। चौथा चरण भारतीय अर्थव्यवस्था के हास का वर्णन करता है। यह मुगल काल के पतन से लेकर 18वीं शताब्दी तक का इतिहास है। इसमें किस प्रकार नये कर लगाये गये? उन करों की प्रवृत्ति क्या थी? उन करों के प्रभाव आदि विषय ही केन्द्र बिन्दु रहे और इसी के इर्द-गिर्द इतिहास लिखा गया। इस प्रकार 50 वर्षों के इतिहास को अलग-अलग बाँटकर देखा गया, जिसने भारतीय अर्थव्यवस्था को अलग-अलग दृष्टिकोण से देखा और इसने मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था के इतिहास को लिखने के लिए कई दृष्टिकोण प्रदान किये, लेकिन मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था को समझने के लिए जिन मुख्य दृष्टिकोणों को अपनाया जाता है; उनमें से मुख्यतः

तीन ही हैं :

1. राष्ट्रवादी दृष्टिकोण
2. मार्क्सवादी दृष्टिकोण
3. संशोधनवादी दृष्टिकोण

उपर्युक्त तीनों दृष्टिकोणों में सबसे लम्बे समय तक राष्ट्रवादी दृष्टिकोण चला। संशोधनवादी दृष्टिकोण सबसे नया है। इसकी आलोचना राष्ट्रवादी एवं मार्क्सवादी दोनों ही इतिहासकार करते हैं। यहाँ हम तीनों दृष्टिकोणों से इतिहास लेखन का वर्णन करेंगे।

राष्ट्रवादी इतिहास लेखन

19वीं शताब्दी में औपनिवेशिक साम्राज्यवादी अवस्करण के विरोध में एक नयी विचारधारा सामने आयी, जिसने पहले से स्थापित और परिवर्तनविहीन विचारों को बदलने का प्रयास किया। इस विचारधारा की उत्पत्ति का एक ही मकसद था—मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था के एकीकृत स्वरूप को सामने लाना। यह विचारधारा पूर्णतः राष्ट्रवादी थी और मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था के पतन के लिए सीधे तौर पर औपनिवेशिक शासन को जिम्मेदार ही नहीं मानती थी, बल्कि यह बताती थी कि यदि औपनिवेशिक शासन द्वारा भारत का शोषण न हुआ होता, तो भारत एक आर्थिक महाशक्ति होता। इसके पीछे राष्ट्रवादी तीन मुद्दों को आधार बनाकर औपनिवेशिक शासन की आलोचना करते हैं। ये तीन मुद्दे हैं :

- (1) मुगल भारतीय राज्य,
- (2) देश के सम्पन्न प्राकृतिक संसाधन,
- (3) भारतीय उत्पादक क्षमता।

राष्ट्रवादी मानते हैं कि इन तीनों ने ही मध्यकाल एवं पूर्व-आधुनिक काल को केन्द्रीय संक्रमण प्रक्रिया का आधार बना दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रवादियों ने मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था को एकीकृत करने के लिए ठोस तथ्य सामने रखे और भारत के आर्थिक शोषण के लिए औपनिवेशिक शासन को जिम्मेदार ठहराया, जो सही है।

मार्क्सवादी इतिहास लेखन

मार्क्सवादी इतिहासकारों ने यद्यपि बहुत गहराई तक जाकर इतिहास लेखन किया है, परन्तु इसमें भी इतिहासकार अपने को संशय की स्थिति से नहीं बचा पाये हैं और कुछ इतिहासकार राष्ट्रवादियों का समर्थन करते नजर आते हैं, जबकि कुछ इस विचारधारा से असहमति जताते हैं। जो इतिहासकार राष्ट्रवादियों से सहमति रखते हैं, वे राष्ट्रवादियों के इस तर्क का समर्थन करते हैं कि यदि 17वीं शताब्दी में ब्रिटिश शासन ने भारत का आर्थिक शोषण न किया होता, तो भारत औद्योगिक क्रान्ति के दरवाजे तक जरूर पहुँच जाता, जबकि इसी विचारधारा के दूसरे इतिहासकार इस बात से असहमति जताते हुए इस बात पर जोर देते हैं कि मध्यकालीन भारतीय उत्पादक वर्ग दोहरे शोषण का शिकार हो रहा था। जहाँ एक तरफ तानाशाही व्यवस्था यानी राजनीतिक एवं भूमिपति गठबंधन की मार उत्पादन वर्ग पर पड़ रही थी, वहीं दूसरी ओर सूदखोर व्यापारी पूँजी की मार भी उत्पादक वर्ग झेलने को मजबूर था। दोनों ही वर्ग उत्पादक के अधिशेष उत्पादन पर कब्जा करके उसे गैरउत्पादक मर्दों में व्यय करते थे अर्थात् अपने ऐशो-आराम में यह पैसा खर्च करते थे न कि भूमि का उत्पादन बढ़ाने में। इस प्रकार मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था का खर्च तो बढ़ा, परन्तु उत्पादन नहीं बढ़ पाया। इस तरह मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था चरमरा गई। इतिहासकारों ने इस समय की अर्थव्यवस्था को न तो संक्रमणकालीन माना है और न ही आर्थिक क्रान्ति की संभावना को माना है। 18वीं शताब्दी में तो मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था की दशा और दयनीय हो गयी, जब पहले से शोषण झेल रहे उत्पादकों पर एक और शोषण की मार पड़ी और वह था उपनिवेशवाद का आगमन। नये करों, नयी व्यवस्था व एकतरफा धन निकासी ने पूरे तन्त्र का सत्यानाश कर दिया।

मार्क्सवादी विचारधारा इस विकास को विखंडित प्रक्रिया के रूप में देखती है, जिसमें एक ओर शासक वर्ग अधिक से अधिक लाभ के भाग पर कब्जा किये हुआ था, तो दूसरी ओर सूदखोर महाजन भी अपनी पूँजी की बढ़ोत्तरी में लगे थे। मार्क्सवादी दृष्टिकोण में मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था की बागडोर उत्पादकों के नियन्त्रण में नहीं, बल्कि शासक वर्ग के हाथों में थी और यहाँ तक कि वाणिज्यिक विकास भी स्वाभाविक न होकर आरोपित था। मार्क्सवादी इतिहास लेखक और राष्ट्रवादी इतिहासकार दोनों मध्यकालीन

पूर्व-औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का इतिहास लेखन : मध्य काल / 9

अर्थव्यवस्था की प्रकृति को लेकर एक-दूसरे से विपरीत विचार रखते हैं। लेकिन मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था के केन्द्रीय स्वरूप पर दोनों पूर्णतः सहमत नजर आते हैं। दोनों ही मानते हैं कि केन्द्र ही आर्थिक गतिविधियों की धुरी था। दोनों ही विचारधाराएँ मानती हैं कि मध्यकालीन अर्थव्यवस्था विस्तारवादी थी, जिसमें मुद्रा का चलन बढ़ा। वाणिज्यिक कारोबार में जटिलता आयी। मुगल सत्ता के पतन के कारण आर्थिक विकास पिछड़ा। इस बात पर भी दोनों विचारधाराएँ समानता रखती हैं।

मार्क्सवादी राज्य की केन्द्रीय भूमिका को ध्यान में रखकर यह विचार प्रतिपादित करते हैं कि मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास राज्य की वित्तीय आपूर्ति करने के लिए हुआ, जिसकी पुष्टि इस बात से हो जाती है कि मध्यकालीन शासन में कुल कृषि उत्पाद का 40% से अधिक भाग राजस्व के रूप में वसूल कर लिया जाता था, जो नकद होता था। इस राजस्व को शासक वर्ग दिखावे व फिजूलखर्ची पर व्यय करते थे। हाँ इससे एक अच्छी बात यह हुई कि इस संचित धन का व्यय लेन-देन, मौद्रिकीकरण व बाजार मुद्रा के विस्तार पर हुआ। राजस्व व अन्य करों के बोझ ने अच्छी किस्मों की फसलों का विकास नहीं होने दिया। इससे ग्रामीण क्षेत्र में व्यापक गरीबी बढ़ी, जो स्वाभाविक भी थी।

जहाँ राष्ट्रवादी दृष्टिकोण मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था में स्थायित्व संतुलन की पृष्ठभूमि में आर्थिक विकास देखता है, वहीं मार्क्सवादी इस विकास को विघटित प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। राष्ट्रवादी व मार्क्सवादी इतिहासकारों में कुछ विषयों पर मतभेद, तो कुछ विषयों पर सहमति नजर आती है। मार्क्सवादियों ने मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था की बारीकियों को बखूबी समझा है। मार्क्सवादियों और राष्ट्रवादियों दोनों के ढाँचों पर शोम्बर 'कैम्ब्रिज इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' (खण्ड-1) 1982 में प्रकाशित हुई। यह पुस्तक भारतीय आर्थिक इतिहास के कई महत्वपूर्ण विषयों के अध्ययन के लिए आधार पुस्तक कही जाती है।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण की आलोचना

मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था को अत्यंत संक्षेप में समेट देना, स्पष्ट व दिशासूचक तिथिक्रम न होना, मध्यकाल की शुरूआत की तिथि सही न होना, इसे 1206 से शुरू करना व 1750 ई. तक खत्म कर देना, मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था के विषय में कुछ ठोस व विचारात्मक सामग्री न होना—ये सब वे बिन्दु हैं जिनकी 'कैम्ब्रिज इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' में आलोचना की गई है। इस आलोचना का मुख्य कारण है मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न तिथिक्रमों पर इतिहासकारों का पुनः विचार, क्योंकि अब ये इतिहासकार भारतीय अर्थव्यवस्था को एक निश्चित तिथिक्रम देना चाहते थे, क्योंकि 'कैम्ब्रिज इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' में इसका अभाव था, जिसे इतिहासकार पूरा करना चाहते थे और

10 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

एक व्यवस्थित क्रम देना चाहते थे। *कैम्ब्रिज इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया-1* के आलोचना का एक पक्ष यह भी है कि इसने मध्यकालीन भारत के मुख्यतः उस वर्ग पर जोर दिया, जो सुविधा सम्पन्न था। इसने मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था को कुलीनों द्वारा व्यतीत किए गए सुख-सुविधा पूर्ण जीवन और उसके वित्तीय विस्तार को ही मुख्य आधार माना और इसकी पृष्ठभूमि में यह देखा कि किस प्रकार यह वर्ग राजस्व का 40-50% अंश ग्रहण करने में सफल रहा। यह पुस्तक मध्यकालीन ग्रामीण भारत में व्यापार केन्द्रों की बढ़ती संख्या, राजस्व मुक्त भूमि प्राप्त वर्गों की बढ़ती संख्या के बारे में पर्याप्त एवं विश्लेषणात्मक जानकारी उपलब्ध नहीं कराती, जो इसकी आलोचना का कारण बना। यह मुख्यतः कुलीन वर्ग के रहन-सहन और उसकी आर्थिक गतिविधियों की जानकारी ही उपलब्ध कराती है।

कैम्ब्रिज इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया (खण्ड-1) में छः सदियों के मध्यकालीन भारतीय इतिहास को गतिशील माना गया है। इसमें 13वीं से 18वीं सदियों के राज्यों के निर्माण को दो चरणों में बाँटकर देखा गया है—पहला 13वीं एवं 14वीं शताब्दी का दूसरा 16वीं से 17वीं शताब्दी का। दोनों चरणों में राज्यों हेतु करारोपण में सुधार का आधार माना गया। फिर भी दोनों ही चरण सामाजिक शोषण को बताते हैं। कृषि में सुधार न के बराबर हुआ। ग्रामीण क्षेत्रों में अमीरी-गरीबी की खाई और गहरी होती चली गयी। कुल मिलाकर यह पुस्तक एक ऐसे देश की तस्वीर प्रस्तुत करती है, जो मूलतः क्षीण होती कृषि व्यवस्था पर आधारित था। जितना परिवर्तन हुआ, उससे अधिक अपरिवर्तनीय बना रहा।

मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था पर जब इतिहासकारों द्वारा पुनर्विचार किया गया, तो '*कैम्ब्रिज इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया*' की खामियाँ नजर आयीं। लेकिन वहीं दूसरी ओर इसने राज्य एवं अर्थव्यवस्था के बीच के सम्बन्धों को समझने में सहायता की।

संशोधनवादी

'*कैम्ब्रिज इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया*' (खण्ड-1) में वर्णित मध्यकालीन अर्थव्यवस्था के आलोचकों को संशोधनवादी कहा जाता है। क्रिस बेली द्वारा लिखित पुस्तक '*रूलर्स टाउन्समैन एंड बाजास*' को संशोधनवादी इतिहास लेखन में मील का पत्थर कहा जाता है। इस पुस्तक में उपनिवेश पूर्व समाज की समस्याओं को एक अलग दृष्टिकोण से देखा गया है। फारसी भाषा के मौजूद स्रोतों, क्षेत्रीय भाषाओं के अभिलेखों, यूरोपीय भाषा से प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर स्वतंत्र इतिहासकार मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था को राज्य प्रभुतापूर्ण कहने पर सवालिया निशान लगाते हैं और संशोधनवादी इतिहासकारों का दृष्टिकोण भी इन्हीं साक्ष्यों के मद्देनजर सामाजिक व आर्थिक इतिहास को बताता है।

संशोधनवादी दृष्टिकोण तीन मुख्य मुद्दों पर अन्य विचारधाराओं से अलग है और उनकी आलोचना करता है। ये प्रमुख तीन मुद्दे हैं :

- (a) मध्यकालीन भारत में केन्द्रीय सत्ता का प्रभाव
- (b) मध्यकालीन भारत में वाणिज्यिक गतिविधियाँ
- (c) मध्यकालीन भारत में व्यापारियों की स्थिति

केन्द्रीय सत्ता को संशोधनवादी ग्रामीण, क्षेत्रों के प्रभावी भूसम्पन्न वर्ग व कुलीन लोगों के बीच एक समझौता मात्र मानते हैं। इसको प्रमाणित करने के लिए वे उदाहरण देते हैं कि ग्रामीण क्षेत्रों में राजस्व उगाही के ह्रास को रोकने में मुगलकालीन सशक्त व्यवस्था भी नाकाम रही और इसे स्पष्ट करने के लिए हम कह सकते हैं कि मुगल शासक भी अनुमानित राजस्व (जमा) और वास्तविक प्राप्ति (हासिल) में आई खाई को खत्म करने में नाकाम रहे, क्योंकि हमेशा वास्तविक प्राप्ति (हासिल) अनुमानित राजस्व (जमा) से कम होती थी। संशोधनवादी दृष्टिकोण राज्य की संरचनात्मक अक्षमताओं को भी उजागर करता है। इसके वह वित्त व्यवस्था व सैन्य व्यवस्था के बारे में बताता है कि वह भी संकट में पड़ गई, जब मवास व जोरतलब (राजस्व के मामले में राज्य की सदैव अवमानना करने वाले क्षेत्र तथा सीर-ए-हासिल राजस्व देने वाले क्षेत्र) दोनों एक साथ मौजूद थे, जिससे वित्त व सैन्य व्यवस्था दोनों पर संकट उमड़ा। क्योंकि जोरतलब क्षेत्र राजस्व नहीं देते थे और इसकी वसूली के लिए सैन्य बल का प्रयोग करना पड़ता था। राजस्व की हानि होती थी वह अलग। सीर-ए-हासिल राजस्व दे तो देते थे, लेकिन जोरतलब क्षेत्रों को देखते हुए वे भी अड़चनें पैदा करने लगे; इसमें सन्देह नहीं है।

राज्य की भूमिका? राज्य की पहुँच?—आदि प्रश्नों की तलाश अर्थव्यवस्था के अधिक विविधतापूर्ण दृष्टिकोण से होती है। यह दृष्टिकोण कहता है कि वाणिज्यिक विकास महज शासक के विलासपूर्ण जीवन का परिणाम न था। ग्रामीण शहर, विपणन केन्द्र जो छोटे होते थे और इनकी स्वायत्तता से अर्थव्यवस्था में गतिशीलता के तत्त्व देखे जा सकते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में विकसित हो रहे विपणन क्षेत्र अर्थव्यवस्था के विकास को दर्शाते हैं। मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था में शिल्पियों और कुलीन वर्ग को सक्रिय व सकारात्मक भूमिका निभाते हुए देखा जा सकता है। शिल्पियों ने गैर-कृषि उत्पादन का विस्तार किया, जिन्हें व्यापारी पूँजी देते थे और इससे निर्यात को प्रोत्साहन मिला। दूसरा वर्ग था कुलीन वर्ग, जो अब कृषि कार्यों को पुनः प्रोत्साहन देने, आवश्यक संसाधन जुटाने तथा कृषि विपणन केन्द्र स्थापित करने में पूँजी निवेश कर रहा था। इसी कारण 17वीं सदी के अन्त में कृषि क्रान्ति कुलीन भूसम्पन्न वर्ग की सम्पन्नता का सूचक है।

संशोधनवादी इतिहासकार भारतीय इतिहास के बारे में कही जाने वाली बात कि यहाँ का समुद्री व्यापार 17वीं एवं 18वीं

शताब्दी में दूसरों पर निर्भर था, को नकारते हैं। वे 1950 के दशक के इतिहास में प्रचलित बात कि भारतीय व्यापारी महज फेरी लगाने वाले थे, का भी खंडन करते हुए कहते हैं कि विलासिता की वस्तुओं के साथ भारतीय व्यापारी अनेक प्रकार की वस्तुओं का व्यापार करते थे और यह व्यापार इतना व्यापक था, जिसमें राजकुमारों से लेकर फेरीवाले तक शामिल थे।

मध्यकालीन व्यापारी वर्ग अब अधिक गतिशील व विकासशील होकर उभरा और अधिक प्रगति की राह की तलाश करने लगा। इस वर्ग में (खासकर राजकुमार व्यापारी) का पूरा प्रभाव राज्य व्यवस्था पर दिखाई देता है। इस वर्ग में से कुछ को प्रशासन में कुलीन वर्ग में शामिल कर लिया गया। वे राज्य से अलग भी निवेश करने लगे और यह निवेश राज्य की वित्त व्यवस्था में दखल था। मध्यकालीन अर्थव्यवस्था में इस दखल को दो प्रकार से देखा जाता है—राजस्व (इजारा) उगाही को ठेकेदारी पर देना और केन्द्र हेतु प्रान्तों से खिराज वसूल करना। राज्य यदि इसे नजरअन्दाज करना चाहता भी, तो यह उसके लिए संकट उत्पन्न कर सकता था। सिक्के ढालने का काम एवं सोने-चाँदी का विनिमय तो व्यापारियों के विशेष वर्ग का काम था और राज्य इसमें दखलंदाजी नहीं करता था।

संशोधनवादियों के दृष्टिकोण ने इतिहास लेखन को एक नया दृष्टिकोण दिया और उसने बताया कि मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था में वाणिज्यिक एवं प्रशासनिक कार्यों में गैर-कृषि समुदाय की भूमिका बड़ी महत्वपूर्ण साबित हुई, जो इस समय की अर्थव्यवस्था में गतिशीलता की परिचायक बन गयी। संशोधनवादियों ने ही इस पहले से प्रचलित धारणा को गलत साबित किया कि भारतीय व्यापार सिर्फ फेरीवाला के स्तर पर न होकर एक व्यापक और वृहत स्तर पर था, जिसमें उच्च से लेकर निम्न वर्ग तक शामिल था और सभी उसको गतिशील बनाने में संलग्न थे।

नई प्रवृत्तियाँ

नई प्रवृत्तियों के अन्तर्गत हम मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था को आधुनिक दृष्टिकोण से देखने का प्रयास करते हैं और उस समय के इतिहास लेखन में आज के दृष्टिकोण से संशोधन करते हुए लिखा जा रहा है; जैसे—सामाजिक मनोविज्ञान, सामाजिक-सांस्कृतिक प्रवृत्तियों, आर्थिक अवधारणा का प्रयोग करके मध्यकालीन अर्थव्यवस्था को एक नया रूप दिया जा रहा है। इसी के लिए जातीय इतिहास (Ethno History) का भी प्रयोग किया जा रहा है, जिसका प्रयोग सबसे पहले उपनिवेश-पूर्व उत्तरी अमेरिका के इतिहासकारों ने किया था। जातीय इतिहास का उद्देश्य होता है अतीत का पुनर्निर्माण जो दक्षिण एशियाई परम्परा को पहले ध्वस्त करता है। फिर अतीत को मानने वाले ऐतिहासिक पात्रों के मूल्यों

पूर्व-औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का इतिहास लेखन : मध्य काल / 11

एवं समझ को अधिक विकसित करके अतीत का पुनर्निर्माण करता है। जातीय इतिहास का हम एक सकारात्मक रुख देखते हैं। यह भारतीय इतिहास को संकीर्ण दायरे में कैद न करके इसे संस्थानों के रूप में देखता है। जो पहले मध्यकालीन भारतीय इतिहास था; जिसका दायरा अधिकतर जाति, ग्रामीण समुदाय, जजमानी व्यवस्था आदि थी, जातीय इतिहास ने उसे तोड़ा है और इससे आगे निकलकर क्षेत्र विशेष की सामाजिक-आर्थिक संरचना को सकारात्मक रूप में देखा है। मानव जातीय इतिहास ने बड़े समूहों के आर्थिक जीवन की ओर, समुदायों के विभिन्न स्वरूपों एवं संरचनाओं के बीच निकट सम्बन्ध की ओर ध्यान खींचा है व समुदायों का इतिहास लिखन को एक नया दृष्टिकोण दिया है।

उपर्युक्त तथ्यों ने इतिहासकारों को एक नयी दिशा प्रदान की है। विशेष तौर से दक्षिणी और पश्चिमी भारत के इतिहासकारों ने इस ओर विशेष ध्यान दिया है। उन्होंने अपने इतिहास लेखन में सामुदायिक संस्थानों के निर्माण, उनका विलय या परिवर्तन, आर्थिक परिवर्तन का क्रम आदि मुद्दों पर जोर दिया। इन इतिहासकारों ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार इन समुदायों से लोगों को लाभ मिला। अल्प साधनों से ही इन्होंने आपस में मिलकर अधिक लाभ कमाया और आर्थिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया। विपरीत परिस्थितियों में उन्होंने कैसे अपने-आप को लाभान्वित किया। संसाधनों का बँटवारा व उसका पुनर्वितरण का अवसर जुटाया। अतः ये समुदाय बने तो इनका लोगों को क्या फायदा हुआ; यह इन इतिहासकारों ने दर्शाने का काम किया है। उदाहरण के लिए उत्तर भारत, बंगाल, हैदराबाद का अध्ययन करने से यह पता चलता है कि 17वीं एवं 18वीं शताब्दी में इन क्षेत्रों में बड़े घरानों का राज था, जिनकी तत्कालीन वाणिज्यिक एवं राजनैतिक गतिविधियाँ बड़ी महत्वपूर्ण थीं। शिक्षित वर्ग का उदय हुआ, यहाँ तक कि वकील और दुभाषिये तो यूरोप और भारतीय व्यावसायिक जीवन के बीच की महत्वपूर्ण कड़ी माने जाते थे। पूर्व-औपनिवेशिक काल में भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रक्रिया को इतिहास लेखन ने किस प्रकार एक नयी दिशा दी, इसका पता मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था में उत्पादन के सम्बन्ध, बाजार और बाजारीकरण, मौद्रिकीकरण आदि का पता गहराई से अध्ययन करने से चलता है।

अर्थव्यवस्था में उत्पादन सम्बन्धों पर पुनः विचार किया गया। ग्रामीण क्षेत्रों में एक विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग सम्पन्न एवं खेतिहर गरीब भूमिहीन नौकर एक साथ रहते थे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जो पूँजी निवेश की जाती थी, वह स्वतंत्र दायरों में होती थी। श्रम के लिए इस पूँजी का निवेश भी स्वतंत्र था। उत्पादन में बदलाव बाजार एवं मूल्यों में परिवर्तनशीलता पर निर्भर था। ग्रामीण श्रमिकों में शिल्पकार थे या वे जो पशुपालन एवं वनों के दोहन आदि कार्यों में लगे हुए थे।

12 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

औपनिवेशिक भारत में पशुओं की अधिकता थी तथा ये कृषि कार्य में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। कृषि कार्य में उपजाऊ कृषि भूमि का प्रयोग होता था और इसकी उर्वर क्षमता बरकरार रहे, इसलिए तकनीकी का भी प्रयोग होता था। इसमें पशुओं की भूमिका महत्वपूर्ण थी।

राजस्व की वसूली और उसके व्यय के परिणामस्वरूप बाजारों का जो विकास हुआ, उसके जरिये को मध्यकालीन एवं आधुनिक भारत के बाजारों को एक अलग दृष्टिकोण से देखा जाना चाहिए। जैसा कि हम जानते हैं सैनिक शिवियों, दरबारियों, पुरोहितों, व्यापारियों, शिल्पियों आदि के कारण बड़े-बड़े शहरों और बाजारों का विकास हुआ, लेकिन छोटे-छोटे शहरों को इससे अलग नहीं किया जा सकता। इनकी भूमिका भी बाजारवाद के विकास में महत्वपूर्ण है। कस्बे एवं गाँव जो पूरे भारत में उत्पादन के केन्द्र थे, पूरे देश में व्यावसायिक मार्गों पर बसे हुए थे। इससे ग्रामीण-शहरी मिली-जुली एक अर्थव्यवस्था का विकास हुआ। अतः हम कह सकते हैं कि बाजार के विकास में छोटे शहरों (कस्बों), गाँव की भूमिका नगण्य नहीं थी। परन्तु उसने बड़े शहरों के विकास में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

मध्यकालीन भारत में मुद्रा के विकास के विषय में हम राजस्व उगाही को ही महत्वपूर्ण मानते हैं, क्योंकि मध्यकालीन भारत में राजस्व उगाही विभिन्न साधनों से होती थी और अधिक से अधिक राजस्व का मुद्रा के रूप में उगाही होने कारण मौद्रिकीकरण को बढ़ावा मिला, टकसालों पर केन्द्रीय नियन्त्रण व उनकी संख्या इस बात की पुष्टि करती है। लेकिन दिल्ली सल्तनत के इतिहास को देखें, तो यह स्पष्ट होता है कि दिल्ली सल्तनत के आरम्भिक वर्षों में जब राज्य निर्माण हो ही रहा था, मुद्रा की प्रचुर मात्रा नहीं थी अर्थात् मध्यकालीन राज्यव्यवस्था में विद्यमान मुद्रा इसके विकास की कहानी तो कहती है, पर उसकी उत्पत्ति की दास्तान नहीं बयां नहीं करती।

10वीं-12वीं शताब्दी में फारस और भारत में मुद्रा का घोर संकट दिखाई पड़ता है। भारत से लूटपाट के कारण ही खजाना इस्लामी दुनिया में पहुँचा था। 13वीं शताब्दी में लूटपाट के धन के कारण ही सल्तनत में मुद्रा का उपयोग और विस्तार बढ़ा, परन्तु 14वीं शताब्दी के सिक्के इस समय मुद्रा के हास को बताते हैं। 15वीं शताब्दी में चाँदी का अकाल पड़ गया था, लेकिन 16वीं एवं 18वीं शताब्दी में फिर मुद्रा का प्रचलन बढ़ा। यह बात महत्वपूर्ण है कि भारत में कभी भी बहुमूल्य धातुओं (चाँदी) के प्राकृतिक संसाधनों से सम्पन्न नहीं रहा, लेकिन 17वीं एवं 18वीं शताब्दी के व्यापार के कारण भारत में धात्विक मुद्रा में वृद्धि हुई।

16वीं सदी के उत्तरार्ध एवं 18वीं सदी में भारतीय अर्थव्यवस्था में विस्तार हुआ, परन्तु इसमें संकट भी उत्पन्न हुआ, जिसे इतिहासकारों

ने महज एक संयोग (conjuncture) ही कहा है। मुगल साम्राज्य की केन्द्रीय व हस्तक्षेप की नीति, दूसरी ओर भूमध्यसागरीय देशों-पूर्वी अफ्रीका, चीन, जापान के साथ व्यापार तथा 17वीं शताब्दी में यूरोपीय कम्पनियों के साथ व्यापार, दोनों ने मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था को कमजोर किया। हाँ, इसे विस्तृत जरूर किया। इसके दो कारण थे-पहला प्रत्येक निर्यात क्षेत्र में स्थानीय व्यापारियों का ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधीनस्थ हो जाना, दूसरा आयात-निर्यात का एक ही माध्यम बन जाना, जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी थी। अब तक जो मुक्त व्यापार विभिन्न बंदरगाहों से भूमध्यसागरीय देशों को होता था, अब ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रभाव में आ गया और उस पर कम्पनी का नियन्त्रण हो गया। इससे स्वतंत्र भारतीय व्यापारियों की भूमिका लगभग खत्म हो गयी थी, जो मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ।

सारांश

उपनिवेशवादी इतिहासकारों ने भारत की उपनिवेश पूर्व की अर्थव्यवस्था को पिछड़ेपन की अर्थव्यवस्था कहा है व इसके सम्बन्ध में अपनायी गयी औपनिवेशिक नीतियों का समर्थन किया है। लेकिन मार्क्सवादी इतिहासकारों ने उपनिवेश-पूर्व भारतीय अर्थव्यवस्था को एक जीवंत आर्थिक जीवन कहकर औपनिवेशिक धारणा को गलत साबित किया कि उस समय भी भारतीय अर्थव्यवस्था में विकास हो रहा था। लेकिन मार्क्सवादियों का इतिहास लेखन राज्यव्यवस्था पर आधारित था। उसने सिर्फ राज्यव्यवस्था केन्द्रित इतिहास लिखा। लेकिन संशोधनवादियों ने एक नये दृष्टिकोण से इतिहास लिखा और क्षेत्रों का इतिहास लिखा व अर्थव्यवस्था के विकास में क्षेत्रों की भूमिका को उजागर किया और इसे जातीय इतिहास से जोड़ने का प्रयास भी किया।

प्रश्न-अभ्यास

प्रश्न 1. मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था के अध्ययन हेतु विभिन्न दृष्टिकोणों की चर्चा करें।

उत्तर-मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था को समझने के लिए इतिहासकारों ने जिन मुख्य दृष्टिकोणों को अपनाया है, उन्हें तीन भागों में बाँटा जा सकता है :

- (1) राष्ट्रवादी दृष्टिकोण
- (2) प्रभाव-केन्द्रित दृष्टिकोण / मार्क्सवादी दृष्टिकोण
- (3) संशोधनवादी दृष्टिकोण

उपर्युक्त तीनों दृष्टिकोणों में राष्ट्रवादी दृष्टिकोण सबसे अधिक समय तक चला। प्रभाव-केन्द्रित दृष्टिकोण को मार्क्सवादी इतिहासकारों ने अपनाया। इसमें सबसे नया दृष्टिकोण संशोधनवादियों का दृष्टिकोण है, जिसकी आलोचना राष्ट्रवादी व मार्क्सवादी दोनों ही करते हैं।

(1) **राष्ट्रवादी दृष्टिकोण**—इस दृष्टिकोण की उत्पत्ति एक प्रतिक्रिया के रूप में हुई, जब 19वीं शताब्दी में उपनिवेशवादी इतिहासकारों ने उपनिवेश पूर्व भारतीय अर्थव्यवस्था को पिछड़ी हुई और यहाँ तक कि जड़ कहकर सम्बोधित किया। इसी अवधारणा की आलोचना करने के लिए राष्ट्रवादी दृष्टिकोण सामने आया। यह दृष्टिकोण भारतीय अर्थव्यवस्था को अधिक भारतीय एकीकृत स्वरूप में स्थापित करना चाहता है और इसके लिए राष्ट्रवादी इतिहासकार ठोस मुद्दे उठाते हैं एवं उपनिवेशवादी इतिहासकारों की जमकर आलोचना करते हैं। अपनी इस आलोचना में वे तीन मुद्दों को मुख्य रूप से अपनाते हैं :

- (a) मध्यकालीन राज्य
- (b) देश में सम्पन्न प्राकृतिक संसाधन
- (c) भारतीय उत्पादक क्षमता

मध्यकालीन इतिहास भारतीय अर्थव्यवस्था की एकीकृत व्यवस्था की गतिशील प्रकृति पर बल देता है और राष्ट्रवादी इस गतिशीलता व एकीकृत व्यवस्था के पतन का कारण औपनिवेशिक शासन को ही मानते हैं। उनके अनुसार औपनिवेशिक शोषणकारी नीतियों ने इस व्यवस्था की जड़ें हिला दी, जिससे यह चरमरा गयी। राष्ट्रवादी इतिहासकारों के अनुसार यदि औपनिवेशिक शोषण का दौर न होता, तो भारत एक आर्थिक शक्ति के रूप में सामने आता।

(2) **प्रभाव-केन्द्रित दृष्टिकोण/मार्क्सवादी दृष्टिकोण**—हालाँकि मार्क्सवादी दृष्टिकोण पिछले 50 वर्षों में बहुत गहराई तक पहुँच गया और इसने इतिहास लेखन में एक नयी समझ को विकसित किया है। परन्तु यह दुविधापूर्ण हो गया है। इसके समर्थक इतिहासकारों में मतभेद है। कुछ इतिहासकार राष्ट्रवादी दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं और कहते हैं कि भारत ने 16वीं एवं 17वीं शताब्दी में उत्पादन के उस स्तर को प्राप्त कर लिया था, जो भारत को औद्योगिक क्रान्ति के दरवाजे तक पहुँचा देता, परन्तु ब्रिटिश शासन ने इसको नष्ट कर दिया। वहीं इसी दृष्टिकोण के दूसरे इतिहासकार इस बात का समर्थन नहीं करते और इसके विपरीत विचार रखते हैं। वे कहते हैं कि भारतीय उत्पादक वर्ग दोहरे शोषण की मार झेल रहा था। एक तरफ तानाशाही शासन व्यवस्था थी और दूसरी ओर भूमिपतिवर्ग की। दोनों ही उत्पादन की मात्रा पर अधिक से अधिक कब्जा करना चाहते थे और इस अर्जित धन को फिजूलखर्ची व अनुत्पादक कार्यों (विलासता की मदों पर) में खर्च किया जाता था, जिसने अर्थव्यवस्था को पतन के गर्त में धकेलने में सहयोग दिया। इतना ही नहीं, 18वीं शताब्दी में जब औपनिवेशिक शासन का आगमन हुआ, तो उत्पादक वर्ग पर मुसीबतों का पहाड़ टूट पड़ा, और इसने भी शोषण करना शुरू कर दिया।

मार्क्सवादी इस समय की शासन व्यवस्था को परजीवी की संज्ञा देते हैं और बताते हैं कि किस प्रकार शासक वर्ग उत्पादकों के ऊपर निर्भर थे और उनके उत्पादन पर कब्जा कर लेते थे।

पूर्व-औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का इतिहास लेखन : मध्य काल / 13

अर्थव्यवस्था पर भी उत्पादक वर्ग का नियन्त्रण नहीं था, बल्कि शासक वर्ग का नियन्त्रण था। वह वितरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता था। मार्क्सवादी इतिहासकार कहते हैं कि मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास तात्कालिक राज्य की वित्तीय जरूरतें पूरी करने के लिए हुआ और वे इसे 'बलात् वाणिज्यीकरण' की संज्ञा देते हैं, क्योंकि उस समय राजस्व की दर 40% तक थी और यह नकद होता था। शासक वर्ग इस धन का अपव्यय करता था। इससे लेन-देन, मौद्रिकीकरण, बाजार एवं मुद्रा का प्रचलन हुआ, जो बलात् वाणिज्यीकरण से अधिक कुछ नहीं था।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण ने इतिहास की गहराई तक झाँका, परन्तु वह दुविधा में भी फँस गया, क्योंकि इसके इतिहासकारों में ही मतभेद नजर आते हैं। लेकिन मार्क्सवादियों ने इतिहास लेखन में एक नया दृष्टिकोण जरूर अपनाया। इस दृष्टिकोण में उन्होंने यह बताने की कोशिश की है कि किस प्रकार मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास बलात् वाणिज्यीकरण था, किस प्रकार उत्पादक वर्ग का शोषण हुआ और उस पर दोहरी मार पड़ी। अर्थव्यवस्था के नियन्त्रण में राज्य किस प्रकार उत्पादन पर कब्जा करके नियन्त्रण रखता था, आदि मुद्दे विशेष तौर से उल्लेखनीय हैं।

(3) **संशोधनवादी दृष्टिकोण**—1983 में क्रिस बेली की पुस्तक 'रूलर्स टाउन्समैन एंड बाजार्स' संशोधनवादियों के इतिहास लेखन में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें उपनिवेश पूर्व भारतीय राज्य और समाज की समस्याओं को अलग दृष्टिकोण से देखा गया। संशोधनवादियों ने तत्कालीन स्रोतों, जो कई भाषाओं में उपलब्ध थे, को आधार मानकर मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास रचने की कोशिश की है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण अन्य दृष्टिकोणों से तीन मुद्दों पर अलग व असहमत नजर आता है। ये तीन मुद्दे हैं:

- (a) मध्यकालीन भारत में केन्द्रीय सत्ता का प्रभाव
- (b) मध्यकालीन भारत में वाणिज्यिक गतिविधियाँ
- (c) व्यापारियों की पूँजी का प्रभाव

संशोधनवादी इतिहासकार राज्य को एक समझौता मानते हैं और कहते हैं कि राज्य केन्द्रीय प्रवृत्ति का न होकर ग्रामीण क्षेत्रों के भूस्वामियों व कुलीनों के दबावों का समझौता मात्र था। संशोधनवादी मार्क्सवादी दृष्टिकोण की इस बात को नकारते हैं कि मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था में वाणिज्यिक विकास महज शासक वर्ग के अपव्यय का नतीजा था। वे इसे अधिक स्वतंत्र रूप में विकसित हुआ मानते हैं, जो छोटे-छोटे ग्रामीण शहरों और विपणन केन्द्रों के रूप में विकसित हुआ। शिल्पियों द्वारा गैर-कृषि उत्पादन करके वाणिज्य के विकास में सहयोग दिया गया, जो व्यापारियों से पूँजी प्राप्त करते थे। संशोधनवादियों ने तात्कालिक भूसम्पन्न कुलीन वर्ग को नकारात्मक रूप में न देखकर उनकी

14 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

सकारात्मक भूमिका को देखा। इस वर्ग ने मध्यकालीन अर्थव्यवस्था के विकास में सहयोग दिया। इस वर्ग ने कृषि व्यवस्था को पुनः जीवित करने, आवश्यक उपकरण, संसाधन आदि जुटाने के साथ-साथ पूँजी निवेश में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। संशोधनवादी दृष्टिकोण ने 1950 के दशक की यह धारणा कि भारतीय व्यापारी महज फेरी लगाने वाले थे, को सिरे से खारिज कर दिया। संशोधनवादियों के अनुसार तात्कालिक व्यापार इतना विस्तृत था कि इसमें राजकुमारों से लेकर फेरी लगाने वाले तक शामिल थे, यह सिर्फ विलासिता की वस्तुओं का व्यापार न होकर विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का व्यापार था। 16वीं एवं 17वीं शताब्दी की एशियाई व्यापार क्रान्ति की धारणा इसी पर आधारित है। भारतीय व्यापारियों की पूँजी का जितना प्रभाव दिल्ली और आगरा में था, उतना ही अफ्रीका एवं दक्षिण पूर्व एशिया और यूरोप में भी था।

संशोधनवादी व्यापारी को भी समझदार बताते हैं, जो अपने भाग्य का स्वयं निर्माता था। सिक्के ढालने का काम एवं सोने-चाँदी का विनिमय व्यापारियों के एक विशेष वर्ग का विशेषाधिकार था, जिसमें राज्य हस्तक्षेप नहीं करता था। व्यापार का नेटवर्क ग्रामीण क्षेत्रों की आंतरिक गतिविधियों के कारण ही बन पाया। वाणिज्यिक एवं प्रशासनिक कार्यों में गैर-कृषि समुदाय के लोगों ने सहयोग दिया। शहरों में रहने वाले व्यापारी एजेंट के रूप में भी काम करते थे, जो या तो गाँव में रहकर फसल खरीदते या फिर फसल तैयार होने के समय गाँव में आकर फसल खरीदते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संशोधनवादी दृष्टिकोण मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था को सकारात्मक रूप में देखता है और भारतीय व्यापार के सम्बन्ध में प्रचलित धारणा कि वह राज्य की केन्द्रीय प्रवृत्ति को नहीं मानता, को गलत साबित करता है।

प्रश्न 2. मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था के अध्ययन में मार्क्सवादी दृष्टिकोण का वर्णन करें।

उत्तर—मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था के इतिहास लेखन में तीन दृष्टिकोणों को अपनाया गया है, जिसमें एक मार्क्सवादी दृष्टिकोण भी है। इसे प्रभाव-केन्द्रित दृष्टिकोण भी कहते हैं। मार्क्सवादियों ने मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था का अधिक गहराई तक विश्लेषण करके इतिहास लिखने की कोशिश की है, परन्तु वे दुविधा से नहीं बच पाये हैं। इसके इतिहासकारों में मतभेद हैं। कुछ इतिहासकार राष्ट्रवादी दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं और कहते हैं कि भारत ने 16वीं 17वीं शताब्दी में उत्पादन के उस स्तर को प्राप्त कर लिया था, जो उसे औद्योगिक क्रान्ति के दरवाजे तक पहुँचा सकता था; यदि ब्रिटिश शासन ने इसे नष्ट न किया होता। वहीं दूसरे इतिहासकार इससे भिन्न मत रखते हैं। वे कहते हैं कि भारतीय उत्पादक वर्ग दोहरे शोषण की मार झेल रहा था। एक तरफ तानाशाही शासन व्यवस्था थी और दूसरी तरफ भूमिपति वर्ग था।

दोनों ही उत्पादन की अधिक से अधिक मात्रा पर कब्जा करना चाहते थे और इस अर्जित धन का अपव्यय करते थे, जिसने अर्थव्यवस्था को पतन के गर्त में धकेल दिया। इतना ही नहीं, यह पतन और तेज तब हो गया जब 18वीं शताब्दी में औपनिवेशिक शासन का आगमन हुआ। इस नई शासन व्यवस्था ने भारतीय अर्थव्यवस्था के पतन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

मार्क्सवादी इतिहासकार इस समय की शासन व्यवस्था को परजीवी की संज्ञा देते हैं। वे बताते हैं कि किस प्रकार शासक वर्ग उत्पादक वर्ग पर निर्भर थे और उसके उत्पादन पर कब्जा कर लेते थे। उत्पादन पर नियन्त्रण भी उत्पादकों का नहीं था। शासक वर्ग की नीतियां उत्पादन के वितरण पर भी नियंत्रण रखती थीं। मार्क्सवादी मानते हैं कि मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास राज्य की वित्तीय जरूरतों को पूरा करने के लिए हुआ और वे इसे 'बलात् वाणिज्यीकरण' की संज्ञा देते हैं, क्योंकि उस समय राजस्व की दर उत्पादन का 40% था, जो नकद लिया जाता था। शासक वर्ग इसका अपव्यय करते थे। वे इससे विलासिता की वस्तुएँ खरीदते थे जिसने मौद्रिकीकरण, लेन-देन बाजार एवं मुद्रा के विकास में सहयोग दिया, जो एक 'बलात् वाणिज्यीकरण' से अधिक कुछ नहीं था।

मार्क्सवादियों ने इतिहास की गहराई तक झाँका, परन्तु इससे वे दुविधा में भी फँस गए, क्योंकि उस मत के समर्थक इतिहासकारों में मतभेद नजर आता है, लेकिन मार्क्सवादी इतिहास लेखन से इतिहास लेखन को एक नया दृष्टिकोण जरूर मिला। 1882 में *क्रेमिज इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया (सी.ई.एच.आई.)* खंड-1 प्रकाशित हुई। इसने मार्क्सवादी/राष्ट्रवादी दृष्टिकोणों पर शोध का सार संक्षेपण प्रस्तुत किया। यह पुस्तक भारतीय आर्थिक इतिहास के महत्वपूर्ण मुद्दों पर विश्लेषण करने का आधार बनी।

प्रश्न 3. मार्क्सवादी दृष्टिकोण की समीक्षा कीजिए।

उत्तर—मार्क्सवादी दृष्टिकोण ने मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था के इतिहास के सम्बन्ध में जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, वह अति महत्वपूर्ण है। मार्क्सवादी तत्कालीन शासन व्यवस्था को परजीवी के रूप में देखते हैं और बताते हैं कि किस प्रकार वह उत्पादक वर्ग पर निर्भर था। राष्ट्रवादी दृष्टिकोण मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था में स्थायित्वपूर्ण सन्तुलन पर आधारित आर्थिक विकास को मानता है। वहीं मार्क्सवादी इस बात का खण्डन करते हैं। राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी इतिहास लेखक राज्य की प्रकृति को लेकर भी मतभेद रखते हैं। परन्तु उसकी सामान्य मौलिक धारणा को दोनों स्वीकार करते हैं। दोनों दृष्टिकोण राज्य की केन्द्रीय प्रवृत्ति को मानते हैं और उसे सारी आर्थिक गतिविधियों का केन्द्रबिन्दु मानते हैं। दोनों ही दृष्टिकोण मानते हैं कि मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था विस्तारवादी

थी और दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि मुगल साम्राज्य के पतन के कारण देश का आर्थिक विकास पिछड़ गया।

अतः हम कह सकते हैं कि राष्ट्रवादी एवं मार्क्सवादी भले ही राज्य की प्रवृत्ति पर मतभेद रखते हों, परन्तु उसकी सामान्य मौलिक धारणा में साम्यता रखते हैं। मार्क्सवादी दृष्टिकोण ने औपनिवेशिक इतिहास लेखन का खण्डन किया है। 1882 में *क्रेम्विज इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया-I* ने मार्क्सवादियों/राष्ट्रवादियों के शोध का सार प्रस्तुत किया। यह पुस्तक कई मुद्दों का आधार बनी, जिनका विश्लेषण करना आसान हुआ। जैसे—राज्य व अर्थव्यवस्था के मध्य सम्बन्ध, कृषि एवं गैर-कृषि उत्पादन का मुद्दा, आन्तरिक व्यापार आदि।

इतिहासकारों को *क्रेम्विज इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया-I* ने कई महत्वपूर्ण मुद्दों के विश्लेषण में मदद की परन्तु, इसकी अवधारणा एवं निष्कर्षों के लिए इसकी आलोचना भी की जाती है।

1960 के दशक के पूर्वार्द्ध में पहली बार मार्क्सवादी इतिहासकारों ने, जिसमें विशेष तौर पर इरफान हबीब का नाम आता है, उपनिवेशवादी इतिहास लेखन की आलोचना की व उसके मिथकों का खण्डन किया। मार्क्सवादियों ने उपनिवेशवादी इतिहासकारों की इस धारणा का जोरदार खण्डन किया कि भारतीय अर्थव्यवस्था उपनिवेश से पूर्व जड़ थी। वे कृषि के वाणिज्यीकरण को आधार मानकर यह साबित करते हैं कि उपनिवेश पूर्व भारतीय अर्थव्यवस्था किस प्रकार जीवंत थी। मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था का मार्क्सवादी दृष्टिकोण राज्य-केन्द्रित रहा।

मार्क्सवादियों ने यह बताया कि किस प्रकार अधिक राजस्व वसूल करके शासक वर्ग इसका अपव्यय करते थे और उत्पादकों का शोषण करते थे। परन्तु इस अपव्यय से मौद्रिकीकरण, लेन-देन, एवं मुद्रा को बढ़ावा मिला। मार्क्सवादियों ने इसे 'बलात् वाणिज्यीकरण' कहा। मार्क्सवादियों के अनुसार मध्यकालीन अर्थव्यवस्था का विकास राज्य की वित्तीय गतिविधियों को पूरा करने के लिए हुआ।

प्रश्न 4. पूर्व-औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के अध्ययन के संशोधनवादी दृष्टिकोण का संक्षिप्त विवरण दें।

उत्तर—संशोधनवादी दृष्टिकोण की उत्पत्ति हाल ही में हुई है। इसकी आलोचना राष्ट्रवादी एवं मार्क्सवादी दोनों मतों के इतिहासकारों ने की है। संशोधनवादी दृष्टिकोण ने क्षेत्रों के इतिहास लेखन पर अधिक जोर दिया है। *क्रेम्विज इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया* में मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था का जो विवरण मिलता है, उसके आलोचकों को संशोधनवादी कहते हैं। 1983 में क्रिस बेली की पुस्तक '*रूलर्स, टाउन्समैन एंड बाजार्स*' सामने आयी। इसने संशोधनवादी इतिहासकारों को एक नये दृष्टिकोण से इतिहास लिखने की समझ दी। इस पुस्तक ने राज्य प्रभुसत्ता पर प्रश्नचिह्न लगाया।

पूर्व-औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का इतिहास लेखन : मध्य काल / 15

यह दृष्टिकोण अन्य विचारधारों से कुछ मुद्दों पर अलग व उनका आलोचक है। यह मध्यकालीन भारत में केन्द्रीय सत्ता के प्रभाव पर सहमति नहीं रखता। यह राज्य को केन्द्रीय राज्य न मानकर उसे समझौता बताता है। इस दृष्टिकोण के इतिहासकार बताते हैं कि राज्य केन्द्रीय प्रवृत्ति का नहीं था, बल्कि एक ओर यह ग्रामीण क्षेत्रों के प्रभावी भूसम्पन्न वर्ग और दूसरी ओर कुलीनों के दबावों का समझौता था।

इस दृष्टिकोण के अनुसार राज्य की वाणिज्यिक गतिविधियों का विकास शासक वर्ग के आडम्बरपूर्ण जीवन के कारण नहीं हुआ था, बल्कि छोटे-छोटे ग्रामीण शहरों और विपणन केन्द्रों के रूप में यह विकास दिखाई देता है। संशोधनवादी भूसम्पन्न कुलीन वर्ग को भी सकारात्मक रूप में देखते हैं, जिसने मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास में सहयोग दिया। इसने कृषि व्यवस्था को पुनः जीवित करके आवश्यक उपकरण, संसाधन आदि जुटाने में सहयोग दिया व पूँजी का निवेश किया। इस दृष्टिकोण ने व्यापार के सम्बन्ध में भी सकारात्मक सोच विकसित की और 1950 के दशक की धारणा का खण्डन किया कि उपनिवेश-पूर्व भारतीय व्यापारी महज फेरी वाले थे। संशोधनवादी बताते हैं कि उस समय भारतीय व्यापार कितना सम्पन्न व विकसित था, जिसमें राजकुमार से लेकर फेरीवाले तक संलग्न थे और व्यापार के विकास में अपना सहयोग देते थे। केवल विलासिता की वस्तुओं का व्यापार न होकर विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का व्यापार होता था। यह दृष्टिकोण राज्य की अक्षमताओं को दर्शाता है कि किस प्रकार उन दिनों देश के हर क्षेत्र में कुलीन वर्ग का प्रभुत्व था। केन्द्र में भी कुलीन वर्ग था, परन्तु राज्य ने कभी भी सामान्य और कुलीन वर्ग को आपस में मिलाने के लिए कदम नहीं उठाये और यह दूरी निरन्तर बढ़ती चली गई। संशोधनवादियों के इतिहास लेखन के क्रम में एक अन्य बात सामने आती है, वह यह कि भारतीय अर्थव्यवस्था के माध्यमिक स्तर पर व्यापारियों की गतिविधियाँ, मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था में मध्य स्तर पर इन व्यापारियों और बाजारों ने आन्तरिक व अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार को विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। बाजारों का यह कारवाँ दूर-दूर तक व्यापार में जाता था।

व्यापार में संलग्न इन व्यापारियों को सिक्के ढालने व सोने-चाँदी के विनिमय का अधिकार था। राज्य इसमें हस्तक्षेप नहीं करता था।

अतः हम कह सकते हैं कि संशोधनवादी दृष्टिकोण मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए अलग दृष्टिकोण रखता है। इस दृष्टिकोण की आलोचना मार्क्सवादी व राष्ट्रवादी दोनों ही करते हैं। इस दृष्टिकोण ने राज्य की केन्द्रीय प्रवृत्ति को नकार दिया है और उसको समझौतावादी बताया है, जबकि अन्य दृष्टिकोण ऐसा नहीं कहते। इस संशोधनवादी दृष्टिकोण ने व्यापारियों की भूमिका को

16 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

भी विस्तृत रूप में देखा व उन्हें महज फेरीवाला न समझने के लिए अपने तर्क दिये। व्यापारियों के क्या अधिकार थे, यह भी संशोधनवादी इतिहासकार बताते हैं। भूसम्पन्न कुलीन वर्ग की भूमिका में भी यह संशोधन महत्वपूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

प्रश्न 5. राष्ट्रवादी एवं मार्क्सवादी दृष्टिकोणों में मध्यकालीन अर्थव्यवस्था की प्रकृति की व्याख्या को लेकर मतभेद है, परन्तु सामान्य मौलिक धारणाओं को दोनों मानते हैं। स्पष्ट करें।

उत्तर—राष्ट्रवादी विचारधारा की शुरुआत एक प्रतिक्रिया के रूप में हुई। उपनिवेशवादी इतिहासकारों द्वारा भारतीय अर्थव्यवस्था को जड़ बताए जाने के प्रतिक्रियास्वरूप 19वीं सदी में राष्ट्रवादी दृष्टिकोण की उत्पत्ति हुई। इसका उद्देश्य था मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था के अखिल भारतीय एकीकृत स्वरूप को विकसित करना। इसने इस अर्थव्यवस्था के पतन के लिए औपनिवेशिक शासन को जिम्मेदार ठहराया। यह दृष्टिकोण कहता है कि औपनिवेशिक शासन के शोषण का यह दौर न होता, तो भारत आर्थिक महाशक्ति बन गया होता।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण के इतिहासकार आपस में समन्वय नहीं बैठा पाये और वे दुविधा में फंस गये। कुछ इतिहासकार राष्ट्रवादी इतिहासकारों का इस बात पर समर्थन करते हैं कि यदि औपनिवेशिक शासन भारत का शोषण न करता, तो भारत एक आर्थिक महाशक्ति बन जाता। जबकि अन्य मार्क्सवादी इतिहासकार इससे साम्य नहीं रखते और वे मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था के पतन के लिए इसके शासक वर्ग और भूसम्पन्न कुलीन वर्ग को जिम्मेदार ठहराते हैं। उनके अनुसार जो कसर इसके पतन में बाकी रह गई थी, उसे 19वीं शताब्दी में औपनिवेशिक शासन ने पूरा कर दिया। अतः भारत का शोषण तीन ओर से हुआ, जो इसकी अर्थव्यवस्था के हास का कारण बना।

राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी दोनों मतों के इतिहासकार सामान्यतः मानते हैं कि राज्य समस्त आर्थिक गतिविधियों का केन्द्र था और सारी आर्थिक गतिविधियाँ इसके चारों ओर ही घूमती थीं। चाहे वह व्यापार हो, राजस्व हो या अन्य आर्थिक गतिविधियाँ हों; राज्य उसका केन्द्र होता था। दोनों दृष्टिकोण मानते हैं कि मध्यकालीन

भारतीय अर्थव्यवस्था विस्तारवादी थी, जिसमें मुद्रा का चलन बढ़ा व आर्थिक गतिविधियाँ तेज हो गयीं और व्यापार को बढ़ावा मिला। दोनों विचारधाराओं के लोग मानते हैं कि मुगल काल के पतन ने मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था के पतन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की और इसके पतन से भारतीय अर्थव्यवस्था पिछड़ गई।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मार्क्सवादी और राष्ट्रवादी दोनों मतों के इतिहासकार मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रकृति में मतभेद रखते हैं, परन्तु सामान्य मौलिक धारणाओं में साम्यता रखते हैं।

प्रश्न 6. पूर्व-औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के इतिहास लेखन में औपनिवेशिक अवधारणा को स्पष्ट करें।

उत्तर—उपनिवेश-पूर्व भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रकृति को समझने के लिए इस अवधारणा के लेखकों ने ब्रिटिश शासन की उपलब्धियों का ही गुणगान किया है। इस दिशा में सबसे महत्वपूर्ण प्रयास मोरलैण्ड का था। मोरलैण्ड ने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि उन दिनों लोगों की आय के साधन क्या थे और लोग इसे किस प्रकार व्यय करते थे।

इस समय की अर्थव्यवस्था में शासक वर्ग की पकड़ मजबूत थी और वह उत्पादन का ज्यादा से ज्यादा हिस्सा हड़पना चाहता था, ताकि उसके विलासितापूर्ण और आडम्बरपूर्ण जीवन को जीने में कोई बाधा न आये। यह विचारधारा मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था के बारे में नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाती है, क्योंकि मोरलैण्ड का मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था को पिछड़ी अर्थव्यवस्था कहना व्यावहारिक नहीं लगता। यह अवधारणा मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था की हर क्षेत्र में आलोचना करती है। जैसे—भारतीय मध्यकालीन अर्थव्यवस्था में एकीकृत मुद्रा प्रणाली नहीं थी, व्यापार विकसित नहीं था। वे भूमि के सम्बन्ध में भी आलोचना करते हैं, क्योंकि इस विचारधारा की उत्पत्ति उपनिवेशवादी इतिहासकारों द्वारा हुई। अतः यह मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था को जड़ और पिछड़ा हुआ बताता है।

इस अवधारणा की आगे चलकर जमकर आलोचना की गई और इसके द्वारा बनायी गयी पिछड़ेपन की अवधारणा का खण्डन राष्ट्रवादी, मार्क्सवादी, संशोधनवादी आदि दृष्टिकोणों से किया गया।



औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का इतिहास लेखन

3

प्रस्तावना

भारत में ईस्ट इण्डिया कंपनी का शासन स्थापित हो जाने के साथ ही भारतीय अर्थव्यवस्था का आर्थिक विश्लेषण शुरू होता है। भारतीय उत्पादकों की महत्ता को इंग्लैंड के अर्थशास्त्रियों ने भली-भाँति समझा और इसके उपयोग को भी भली-भाँति जान लिया। एडम स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'वेल्थ ऑफ नेशंस' ने इसे स्वीकार किया। जब 18वीं शताब्दी में कम्पनी के शासन की आलोचना ब्रिटिश संसद में भी होने लगी, तो लोगों का कंपनी शासन की बुराइयों की ओर ध्यान गया व धन निकासी की बात लोगों की समझ में आने लगी। 19वीं एवं 20वीं शताब्दी में राष्ट्रवादी लेखकों ने इस औपनिवेशिक शासन की आलोचना की। इनमें मुख्य रूप से दादाभाई नौरोजी, महात्मा गाँधी, आर.सी. दत्त एवं रामकृष्ण मुखर्जी जैसे मार्क्सवादी भी शामिल थे। उदारवादी और नव-उदारवादियों द्वारा औपनिवेशिक शासन पर लिखा गया और वामपंथी और राष्ट्रवादी लेखकों ने इसमें संशोधन व विकास किया। इस सम्बन्ध में लिखी गई पुस्तकों में विशेष उल्लेखनीय हैं—विपिन चंद्रा की 'इण्डियाज स्ट्रगल फॉर इंडिपेंडेंस' एवं 'मार्डन इण्डिया'। 19वीं व 20वीं शताब्दी के इतिहासकारों ने ईस्ट इण्डिया कंपनी के शासन की आलोचना भारत से धन बाहर भेजने के लिए की। इन इतिहासकारों ने इस बात को समझा एवं अपनी बात को आम लोगों तक पहुँचाने की कोशिश की।

मुख्य प्रवृत्तियाँ

औपनिवेशिक दृष्टिकोण—औपनिवेशिक दृष्टिकोण के लेखकों ने ब्रिटिश शासन के समर्थन में लिखा। उन्होंने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि ब्रिटिश शासन भारतीयों के लिए वरदान है और ब्रिटिश शासन के द्वारा ही भारत में आर्थिक प्रगति हुई है और भारत पिछड़ेपन से निकलकर आधुनिक बना है। औपनिवेशिक दृष्टिकोण के इतिहासकारों ने भारत में शांति और अच्छा प्रशासन कायम करने में ब्रिटिश शासन का बहुत बड़ा योगदान है, क्योंकि पहले ये छोटे-छोटे राज्य आपस में लड़ते रहते थे। ब्रिटिश शासन ने इन्हें

जीतकर एक-सा शासन दिया, क्योंकि ये मानते हैं कि भारत में इससे पहले कोई निश्चित शासन पद्धति नहीं थी। ब्रिटिश शासन के परिणामस्वरूप ही भारत में संचार के साधनों का विकास हुआ। रेलों द्वारा यातायात सुलभ हुआ, जो ब्रिटेन की ही देन है। भारत की अर्थव्यवस्था को विकसित करने के पीछे ये ब्रिटेन का ही हाथ मानते हैं, क्योंकि उसने सिंचाई के साधन, रेल तन्त्र आदि को विकसित किया, जिससे अर्थव्यवस्था को विकसित होने का मौका मिला। ब्रिटिश शासन ने शिक्षा का आधुनिकीकरण किया। कुल मिलाकर ये विद्वान ब्रिटिश शासन को भारत के लिए लाभकारी मानते हैं और हर प्रकार से राष्ट्रवादियों के विचारों का खण्डन करते हैं। ब्रिटिश शासन को भारत में कायम रखने के लिए इन लोगों ने ब्रिटेन के समर्थन में लिखा।

राष्ट्रवादी दृष्टिकोण—राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने यह दिखाने का प्रयास किया कि किस प्रकार ब्रिटिश शासन भारत पर बोझ है और हर क्षेत्र में उसका शोषण कर रहा है। राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने भारत से किस प्रकार धन बाहर जा रहा है, जिससे भारत को यह दिखाया कि नुकसान उठाना पड़ रहा है। इसे इन राष्ट्रवादियों ने धन के निकास (Drain of Wealth) की संज्ञा दी। इसके समर्थकों में हम दादाभाई नौरोजी, महादेव गोविन्द रानाडे, जे.वी. जोशी आदि राष्ट्रवादी अर्थशास्त्रियों के नाम ले सकते हैं। दादाभाई नौरोजी ने अपनी पुस्तक "पावर्टी एंड अन ब्रिटिश रूल इन इण्डिया" में इस सिद्धान्त को विकसित किया और यह तर्क सामने रखा कि किस प्रकार ब्रिटेन भारत का निरंतर शोषण कर रहा है। उन्होंने बताया कि ब्रिटेन ने भारत की अर्थव्यवस्था को अपने इस्तेमाल के लिए अपने अधीनस्थ कर लिया। उन्होंने बताया कि भारत को हर क्षेत्र में ब्रिटिश शासन के द्वारा नुकसान उठाना पड़ रहा है। जैसे—उद्योगों का विनाश, भूमिहीन कृषकों की संख्या में वृद्धि, रोजगार में हास आदि।

यहाँ तक कि ब्रिटिश शासन में सुरक्षा व जन-प्रशासन पर जो धन खर्च किया जाता था, वह बहुत अधिक था और उसकी भरपाई भारत में राजस्व बढ़ाकर की जाती थी, जिसकी मार आम

18 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

जनता पर पड़ी, जिससे भारतीयों की आय में कमी हुई। प्रमुख राष्ट्रवादी अर्थशास्त्री आर.सी. दत्त ने वायसराय कर्जन से औपनिवेशिक शासन की प्रकृति के बारे में वाद-विवाद किया, जिससे हम कह सकते हैं ये राष्ट्रवादी अर्थशास्त्री अपने तर्कों को कितने सशक्त ढंग से रखते थे और उनमें सच्चाई होती थी।

कृषि के क्षेत्र में ब्रिटिश शासन का जो प्रभाव भारत पर पड़ा, वह बड़ा बुरा साबित हुआ। कृषि का वाणिज्यीकरण किया गया जिनके परिणामस्वरूप कृषक कई वर्गों में बंट गए—बटाईदार, काश्तकार या पट्टेदार, भूमिहीन कृषक आदि। कृषकों की आय कम होती गई और वे महाजनों व सूदखोरों से सूद पर पैसा लेने लगे। समय पर रकम न चुका पाने के कारण इन लोगों पर व्यापारियों, सूदखोरों, महाजनों के अत्याचार बढ़ते चले गये। भुखमरी, महामारी व अकाल का जो दौर 19वीं शताब्दी में भारत आया, उसके लिए भी राष्ट्रवादी इतिहासकार ब्रिटिश शासन को ही जिम्मेदार मानते हैं, जो कि एकदम सही था। राष्ट्रवादियों ने कुछ मुख्य मुद्दों पर प्रहार किया, जैसे

(1) सार्वजनिक सिंचाई व्यवस्था का अभाव

(2) कृषि में निवेश का न होना

(3) देश में वैज्ञानिक और तकनीकी शिक्षा का अभाव आदि कुछ ऐसे मुद्दे थे, जिनको राष्ट्रवादियों ने उठाया और औपनिवेशिक विचारधारा के इतिहासकार जो ब्रिटिश प्रशासन का गुणगान करते नहीं थकते थे, उनके सामने ब्रिटिश शासन की कमियों को उजागर किया। राष्ट्रवादियों ने कहा कि भारतीय अर्थव्यवस्था को ब्रिटेन अपने फायदे के लिए इस्तेमाल कर रहा है। उन्होंने ब्रिटेन की मुद्रा, विनिमय, व्यापार आदि की आलोचना की और यह दर्शाने की कोशिश की कि वह किस प्रकार अधिक से अधिक कर लगाकर भारत का शोषण करने पर तुल्य हुआ है। वह भारत को हर क्षेत्र में अपना पिछलगू बनाना चाहता है। भारत का शोषण करने में वह कभी पीछे नहीं रहता है।

हम कह सकते हैं कि राष्ट्रवादियों ने औपनिवेशिक शासन की कमियों को लोगों के सामने रखा और बताया कि किस प्रकार ब्रिटेन भारत का शोषण कर रहा है और वह किस प्रकार भारतीय धन को बाहर भेज रहा है। राष्ट्रवादियों के अनुसार भारत में ब्रिटिश शासन स्थापित होने से भारत को हर दिशा में नुकसान झेलना पड़ रहा है और इतना होने पर भी ब्रिटिश शासन भारत को कुछ रियायतें व सुविधाएँ देने के बजाय उसका शोषण दिन पर दिन बढ़ाता चला जा रहा है जिससे भारतीय अर्थव्यवस्था निरंतर पिछड़ रही है।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण—मार्क्सवादी दृष्टिकोण मानता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के पीछे-पीछे रही। जैसे-जैसे ब्रिटिश अर्थव्यवस्था में परिवर्तन आए, भारतीय अर्थव्यवस्था

में भी परिवर्तन हुए, पर इनको विकास मानना गलत होगा। ब्रिटेन में जैसे-जैसे पूँजीवाद बढ़ा, इसने साम्राज्यवाद के लक्षणों को बढ़ावा दिया। इस पूँजीवाद को बढ़ाने के पीछे ब्रिटेन की यूरोप के बाहर साम्राज्यवाद व शोषण की नीतियाँ थीं। भारत में 1757 के प्लासी के युद्ध को मार्क्सवादी वह लड़ाई मानते हैं, जहाँ से भारतीय धन का बाहर की ओर अर्थात् ब्रिटेन में जाना शुरू हुआ। बंगाल के बाद अंग्रेजों ने विजयी शोषण शुरू कर दिया और उद्योगों को बढ़ाने के लिए यहाँ से पूँजी भेजने लगे।

राष्ट्रवादी एवं भारतीय मार्क्सवादी लेखक दोनों ही मानते हैं कि ब्रिटेन के शासन का भारत पर हमेशा ही नकारात्मक प्रभाव पड़ा, जिसका परिणाम भारतीय जनता का शोषण रहा। विपिन चन्द्र यह मानते हैं कि ब्रिटेन में पूँजीवाद के विकास के प्रारम्भिक चरण में भारत के शोषण के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था में मंदी आ गई, जिससे ब्रिटेन के विकास के आगे के चरण में भारत की उपयोगिता कम हुई। जिन मार्क्सवादी लेखकों ने ब्रिटिश शासन की जमकर की आलोचना की वे हैं—आर.सी. दत्त, रामकृष्ण मुखर्जी, इरफान हबीब आदि। राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी दोनों कई मुद्दों पर एक-दूसरे के समान विचार रखते हैं, तो कई मुद्दों पर एक-दूसरे से भिन्न विचार भी रखते हैं। राष्ट्रवादियों के मुकाबले मार्क्सवादियों ने अपने विचार ज्यादा आक्रामक व प्रभावी ढंग से रखे; विशेष तौर पर पूँजीवाद और साम्राज्यवाद जैसे शब्दों को इस्तेमाल करने में। राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी दोनों जिन बिन्दुओं पर साम्यता रखते हैं, वे निम्नलिखित हैं :

(1) ब्रिटेन की और धन का बहाव

(2) औद्योगिक विनाश

(3) कृषि का दमनकारी वाणिज्यीकरण

(4) आम जनता का अति शोषण आदि।

कई ऐसे बिन्दु हैं जिन पर राष्ट्रवादी व मार्क्सवादी दोनों औपनिवेशिक सत्ता की निंदा करते हैं। परन्तु दोनों मतों के समर्थक इतिहासकार कुछ बिन्दुओं पर एक-दूसरे से साम्यता नहीं रखते, विशेष तौर पर भारतीय पूँजीपतियों की भूमिका पर। इसमें आर्थिक विकास, भूमि सुधार, औपनिवेशिक शासन के दौरान आर्थिक एवं राजनीतिक विकास की सम्भावनाओं पर भी मार्क्सवादी राष्ट्रवादियों से भिन्न सोचते हैं।

लैटिन अमेरिकी अर्थशास्त्री एवं इतिहासकारों ने भी उपनिवेशवादी शासन पर लिखा, जो महत्वपूर्ण है। उन्होंने बताया कि अल्पविकास एक स्वाभाविक घटना न होकर बरसों से बनाये रखे जाने की प्रक्रिया है अर्थात् अल्पविकास जो गैर-यूरोपीय देशों का ब्रिटिश शासन के दौरान हुआ, वह उन देशों की अर्थव्यवस्था में स्वयं नहीं आया या ऐसा नहीं कि ये अर्थव्यवस्थाएँ स्वयं पिछड़ गईं। इनको अल्पविकास

की ओर ले जाने में ब्रिटेन का हाथ रहा है, जोकि वर्षों से इनका दोहन कर रहा है। इतिहासकार—गुडर फ्रैंक, सेल्सो, फुर्तादो आदि ने उपनिवेशवादी समझ को विकसित किया।

भारत में परजीविता की धारणा लोकप्रिय नहीं हुई, क्योंकि इसे मार्क्सवादी इतिहासकार नहीं मानते हैं। वे समझते थे कि यह धारणा उत्पादन के सम्बन्धों से अधिक विनिमय सम्बन्धों से पूँजीवाद को समझाती है। मार्क्सवादियों में विल वारेन की पुस्तक *इम्पीरियलिज्म: पायनियर ऑफ कैपिटलिज्म*, में भी परजीविता की अवधारणा की आलोचना की गई है।

मार्क्सवादी इतिहासकार यह बताते हैं कि किस प्रकार ब्रिटेन के पूँजीवाद और साम्राज्यवाद से भारत का शोषण बढ़ा और भारत की अर्थव्यवस्था में पिछड़ापन आया। भारतीयों के शोषण से ही ब्रिटेन में औद्योगीकरण का दौर आया। बंगाल पर प्रभुत्व जमाने के बाद भारत के धन का बहाव ब्रिटेन की ओर होने लगा।

उदारवादी एवं नव-उदारवादी व्याख्या

1980 के दशक में आंग्ल-अमेरिकी विश्व में आर्थिक इतिहास में क्रान्ति-विरोधी आवाज उठी। पूँजीवादी सिद्धान्तों द्वारा ब्रिटेन व अन्य देशों के आर्थिक इतिहास पर पुनः विचार किया गया। साम्राज्यवाद का भी पुनः मूल्यांकन किया गया। इस विचारधारा के विद्वानों ने मार्क्सवादियों एवं वामपंथी-उदारवादी विद्वानों की उपनिवेशवादी विचारधारा से अलग हटकर लिखा और इनकी विचारधारा पर प्रश्नचिह्न खड़ा किया। ऐसे विद्वान थे—कैन एवं हॉपकिन्स, पैट्रिक ओ ब्रायन, डेविस, आदि। इन विद्वानों ने बताया कि ब्रिटिश उपनिवेश उतना शोषक नहीं था, जितना कि मार्क्सवादी व वामपंथी या राष्ट्रवादी बताते हैं। ये लोग एक ही दृष्टिकोण रखते हैं और कहते हैं कि ब्रिटिश उपनिवेश उतना शोषक नहीं था, क्योंकि यह शोषण उसके अपने हित में भी नहीं था। ब्रिटिश उद्योग एवं पूँजी निवेश के लिए खुले पड़े औपनिवेशिक बाजार के परिणामस्वरूप घरेलू निवेश पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा। ब्रिटेन के नये उद्योगों का विकास भी अवरुद्ध हुआ। कुछ इतिहासकार यह मानते हैं कि ब्रिटेन यदि एक निश्चित समय पर अपना साम्राज्य छोड़ देता, तो उसकी हालत अच्छी होती।

हाल ही में सामने आयी उदारवादी और नव-उदारवादी आदर्श साम्राज्य की अर्थव्यवस्था पर कठोर नजरिया मात्र नहीं था। औपनिवेशिक भारत में निरौद्योगीकरण के मुद्दे पर तीर्थकर राय के विचार एडम स्मिथ से मिलते हैं। ग्रेगरी क्लार्क भारतीय मिलों में श्रमिकों की उत्पादन क्षमता को ब्रिटेन से आयात जारी रखने के लिए जिम्मेदार मानते हैं। इस विचारधारा में आर्थिक मुद्दों को समझने के लिए आर्थिक सिद्धान्तों का प्रयोग बढ़ गया। नयी अवधारणाएँ सामने आयीं और पुराने आंकड़ों को भी नये दृष्टिकोण से देखा जाने लगा। सांख्यिकी आंकड़ों का भी प्रयोग बढ़ा।

मात्रात्मक इतिहासकारों ने आर्थिक आंकड़ों में अर्थनीति और सांख्यिकी का प्रयोग किया, जो एकदम नया प्रयोग था। 1980 के

दशक में नये परिवर्तन हुए और आर्थिक गतिविधियों के परिवर्तन को दर्शाने के लिए तथ्यात्मक विरोध का उपयोग भी बढ़ा।

आर्थिक सिद्धान्त, मानव-विज्ञान एवं पारिस्थितिकी

आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तन को समझने के लिए मानव जातीय विज्ञान के साक्ष्यों का उपयोग हुआ है। जैसे—बिहार राज्य के गया और शाहाबाद जिले के बंधुआ मजदूर वर्गों की उत्पत्ति को समझने के लिए भूइयाँ भूमिहीन श्रमिकों के मौखिक लोरिक साहित्य का अध्ययन किया गया और क्षेत्र के अतीत की पुनः संरचना के लिए इसका अध्ययन किया गया। प्राचीन भारत का अध्ययन करने वाले विद्वानों के लिए पारिस्थितिकी एवं पर्यावरण का अध्ययन भी महत्व रखता है। दो दशक पहले तक आधुनिक भारत के अध्ययन में पारिस्थितिकी एवं पर्यावरण की भूमिका को पूरी तरह तो नहीं छोड़ा गया था, परन्तु उस पर बहुत कम लिखा गया था, क्योंकि पचास वर्ष पूर्व भी कृषि अर्थशास्त्रियों एवं उद्योग अर्थशास्त्रियों ने पर्यावरण के मुख्य पक्षों के बारे में लिखा था। लेकिन यह पर्याप्त नहीं था। इसकी जागरूकता पिछले दो दशकों से ही बढ़ी है। भारतीय आर्थिक इतिहास में अमित भादुड़ी और कृष्ण भारद्वाज की रचनाएँ महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने कृषि के विकास पर जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये उनमें आधुनिकता दिखाई पड़ती है। ओंकार गोस्वामी एवं श्रीवास्तव की क्षेत्रीय अर्थव्यवस्था के अध्ययन में मात्रात्मक तकनीकियों का उपयोग देखा गया है।

इतिहास लेखन के मुद्दे एवं विषय

18वीं सदी एवं उपनिवेशवाद—‘दक्षिणी एशियाई क्षेत्र में पूँजीवाद के विकास की सम्भावना’ इस बिन्दु पर इतिहास लेखन में इरफान हबीब ने 1960 के दशक में चर्चा की। उनके अनुसार 18वीं सदी की भारतीय अर्थव्यवस्था में कई सकारात्मक लक्षणों के बावजूद भी भारत में पूँजीवादी विकास की कोई सम्भावना नहीं थी। हालाँकि उनके इस विचार की कई विद्वानों ने आलोचना की है। वे कहते हैं कि पाश्चात्य देश ही आर्थिक विकास के मॉडल बन सकते थे। मार्क्स और डॉव की धारणाओं में सामंतवाद से पूँजीवाद की ओर संक्रमण की घटना को नहीं देखा गया। पिछले एक दशक में कई धारणाओं का विकास हुआ, जो सामंतवाद से पूँजीवाद के सफर तक के बारे में हैं। पाश्चात्य विश्व और बाकी दुनिया के बीच की खाई को तब चुनौती मिली, जब यूरोप में पूँजीवाद की उत्पत्ति की ऐतिहासिक व्याख्या पर प्रश्नचिह्न लगे। *पोम रैंज* की पुस्तक ‘द ग्रेट डाइवर्जेंस’ में इसकी तर्कसंगत व्याख्या की गई है, जो सन् 2000 में प्रकाशित हुई।

18वीं शताब्दी को अभी तक पतन एवं विध्वंस की सदी माना जाता था। परन्तु बेली मार्शल, आलम एवं सुब्रह्मण्यम की पुस्तकों में इसकी अलग ढंग से व्याख्या की गई और इस सदी को अब

20 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

पतन और विध्वंस की सदी मानना संभव न रहा। ये इतिहासकार इस सदी को युद्धों का काल तो मानते हैं, लेकिन इन युद्धों के परिणाम इतने भयंकर नहीं हुए कि इस सदी को गतिशून्यता की संज्ञा दे दी जाये। ये लोग आगे बताते हैं कि उपनिवेशवाद का आगमन एकदम नहीं हुआ, यह तो वर्षों की धीरे-धीरे घटित होती हुई प्रक्रिया थी। ये इतिहासकार बताते हैं कि यूरोपीय व्यापार ने भारतीय अर्थव्यवस्था का विस्तार किया और यूरोपीय व्यापार भारत के लिए उतना विध्वंसकारी व शोषक नहीं रहा, जितना राष्ट्रवादी व मार्क्सवादी इतिहासकार मानते हैं। ये लोग मानते हैं कि भारत में पूँजीवाद का विकास भले ही न हुआ हो, परन्तु इस समय ग्रामीण व श्रमिकों की हालत औपनिवेशिक शासन से पूर्व की हालत से बेहतर व अच्छी थी। ये लोग इस सदी में कृषि क्षेत्रों में विस्तार को भी बताते हैं कि मुगल साम्राज्य के पतन व बार-बार के युद्धों के बाद भी यह सदी कृषि के विस्तार के लिए अच्छी रही। यही नहीं, पार्थसारथी तो यहाँ तक लिखते हैं कि 18वीं सदी में दक्षिणी भारतीय बुनकारों की स्थिति उतनी ही अच्छी थी, जितनी। उस समय ब्रिटेन के बुनकारों की। बेली की पुस्तक 'द बर्थ ऑफ़ द मॉडर्न वर्ल्ड' में यह प्रतिपादित किया गया कि औद्योगिक क्रान्ति, युद्ध प्रणाली, राज्य की भूमिका ने ब्रिटेन का प्रभुत्व गैर-यूरोपीय विश्व पर स्थापित किया। औद्योगिक क्रान्ति के कारण ही ब्रिटेन शेष दुनिया में सर्वोच्च बना और अपना प्रभुत्व कायम करने में कामयाब हुआ। बेली यह मानते हैं कि 18वीं सदी में भारत गतिसंपन्न था। इस सदी में विकास की गति अवरुद्ध हो गयी थी, इस विचार को बेली नकारते हैं। हाँ वे इतना जरूर मानते हैं कि भारत में ईस्ट इण्डिया कंपनी का मुकाबला करने की क्षमता नहीं थी। अपनी पहले की पुस्तकों में बेली ने भारतीय धन की निकासी पर नहीं लिखा कि भारतीय धन का निकास ब्रिटेन की ओर हुआ, जो उसकी कुल पूँजी का 5 से 15 प्रतिशत तक योगदान करता था। बेली की इस पुस्तक से मार्क्सवादी भी समीप आ गये। लेकिन उदारवादियों और मार्क्सवादियों के विचारों में सदैव भिन्नता रही।

औपनिवेशिक शासन का प्रभाव

सभी राष्ट्रवादी यह मानते हैं कि ब्रिटिश शासन ने भारत को दरिद्र बना दिया और उसका जमकर शोषण किया। औपनिवेशिक शासन में प्रतिव्यक्ति आय में गिरावट आयी, यह सभी इतिहासकार मानते हैं। परन्तु औपनिवेशिक शासन के समर्थक इतिहासकार राष्ट्रवादियों से भिन्न मत रखते हैं और भारत के पिछड़ेपन और इसकी प्रतिव्यक्ति आय के कम होने का कारण भारत का औपनिवेशिक काल से पूर्व पिछड़ा होना व इसकी ज्यादा जनसंख्या को उत्तरदायी मानते हैं। वे तर्क देते हैं कि उत्पादन के कम होने से और प्रतिव्यक्ति खपत अधिक होने आय में कमी आयी। भारत में औपनिवेशिक शासन काल को कई इतिहासकार दो रूपों में

देखते हैं—आशावादी और निराशावादी। ये इतिहासकार ब्रिटिश शासन को आशावाद के रूप में देखते हैं कि इस समय आर्थिक विकास के लक्षण दिखाई देते हैं। जैसे—आधुनिक अर्थव्यवस्था का आधारभूत ढांचा तैयार हुआ। देश के कई भागों में भूसम्पन्न कृषक वर्ग का उद्भव हुआ। आधुनिक उद्योग व संस्थान भी उसी समय की देन हैं। आशावादी विद्वानों में डी.के. फील्डहाउस व निपॉल का नाम लिया जा सकता है।

आशावादी/उदारवादी इतिहासकार मानते हैं कि आर्थिक विकास हुआ और भारत को औपनिवेशिक शासन का फायदा हुआ—यह निःसन्देह गलत है। क्योंकि ब्रिटिश व्यापारी नहीं चाहते थे कि भारतीय उद्योग फले-फूले, क्योंकि यदि ऐसा होता, तो भारतीय उद्योग भी ब्रिटिश उद्योगों के मुकाबले में खड़े हो जाते। इसीलिए मुक्त व्यापार की नीति अपनायी गई। राष्ट्रवादी व मार्क्सवादी दोनों मानते हैं कि प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व विकास हुआ, जिसका कारण था कर संरक्षण और उद्योगों को राष्ट्रीय समर्थन। औपनिवेशिक शासन तो भारत का औद्योगिक विकास कभी नहीं चाहता था, परन्तु भारतीय बाजार में ब्रिटेन के तैयार माल की हमेशा माँग रहे, इसके लिए जरूरी था कि भारत की क्रय क्षमता बनी रहे। बैरेट ब्राउन (1974) और वॉश बुक ने भारतीय कृषि के बारे में लिखा। ब्राउन ने 1970 के दशक में भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि की धीमी प्रगति को ब्रिटेन के लिए भी नुकसानदायक बताया, क्योंकि इससे ब्रिटेन के निर्यात के लिए भारतीय बाजारों में कमी हो गई। उन्होंने आगे बताया कि ब्रिटिश शासन ने सदैव अपने राजनीतिक स्थायित्व को बनाये रखने का ही प्रयास किया। उसने इसके लिए हर संभव प्रयास किये। इसके लिए उसने आधुनिकीकरण एवं विकास की बात को बहुत पीछे छोड़ दिया। सिंचाई परियोजनाओं में धन निवेश न करके रेलवे के विकास में धन निवेश किया, क्योंकि इससे ब्रिटेन को प्रत्यक्ष लाभ था और इससे उसके उद्योगों के लिए कम समय में कच्चा माल उपलब्ध हो जाता। विद्रोह के समय सेना आसानी से एवं शीघ्र घटना स्थल पर पहुँच जाती थी व उसे दबा देती थी। लेकिन ब्राउन के अनुसार इतना सब होने के बावजूद भी भारतीय कृषि का उत्पादन नगण्य नहीं था। ब्रिटिश शासन ने सदैव अपने हित देखे और भारतीय हितों की अनदेखी की।

मार्क्सवादियों के अनुसार महायुद्ध और मंदी के कारण भारतीय उद्योगों को फलने-फूलने का मौका मिला और ब्रिटेन की पकड़ कुछ ढीली पड़ गयी। कुछ विद्वान यह मानते हैं कि ब्रिटिश शासन के अन्तिम वर्षों में ब्रिटेन के व्यापारी भारत में पूँजी निवेश के लिए आकर्षित तो हुए, लेकिन उत्पादों की माँग न होने के कारण वे पीछे हट गये।

अतः हम कह सकते हैं कि औपनिवेशिक शासन के प्रभाव का असर भारत के हर क्षेत्र में पड़ा, जो निःसन्देह बुरा था। भारत

में अपने हित साधना ही ब्रिटिश शासन का एकमात्र लक्ष्य था। ब्रिटेन हर कीमत पर अपना फायदा देखता था। वे राजनीतिक स्थायित्व बनाये रखना चाहते थे।

निरौद्योगिकीकरण—वामपंथी राष्ट्रवादी यह मानते हैं कि शिल्प उद्योग के पतन और उत्पादित माल के आयात के कारण ही भारत में रोजगार में संलग्न लोगों की संख्या घटी और बेरोजगारी में बढ़ोत्तरी हुई। साथ ही साथ भूमिहीन कृषकों की संख्या में वृद्धि भी हुई। 'सेंसस ऑफ इण्डिया रिपोर्ट्स' के हवाले से एस.जे. पटेल यह बताते हैं कि भारत में रोजगार के हास में नाटकीय वृद्धि हुई। अर्थात् बेरोजगारी नाटकीय ढंग से बढ़ी। वहीं इसी रिपोर्ट का अध्ययन करके डैनियल ऑर्नर यह बताते हैं कि इस रिपोर्ट के कई वर्गों को पढ़ने में भूल की गई है। अगर उन्हें सही तरह से पढ़ा जाता, तो रोजगार में हास एक से दो प्रतिशत से अधिक नहीं दिखाई देता। यह सब उन्होंने अपनी पुस्तक 'लैंड लेबर इन इण्डिया' में लिखा है। इसके बाद विद्वानों ने इस रिपोर्ट पर ध्यान केन्द्रित करके इससे पूर्व के रोजगार हास पर केन्द्रित किया।

19वीं सदी के दौरान भारत में सूती वस्त्रों के आयात में भारी वृद्धि हुई, जिसके कारण प्रतिव्यक्ति आय और प्रतिव्यक्ति कपड़े की खपत में वृद्धि के कारण भारतीय बाजार का आकार बड़ा हो गया। अतः आयातित उत्पादों में वृद्धि के सामने निरौद्योगिकीकरण की व्याख्या सही प्रतीत नहीं होती है। लेकिन इस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए विपिन चन्द्रा और तपन रे ने बताया कि किस प्रकार भारतीय बुनकरों के रोजगार का हास हुआ। उनकी उत्पादन क्षमता और आय में कमी हुई, जिसका कारण था सूत का आयात। इस सस्ते सूत के आयात के कारण भारतीय बुनकर लंकाशायर के बुनकरों के सामने प्रतिस्पर्धा में टिक नहीं सकते थे। अगर भारतीय बुनकर इस प्रतिस्पर्धा को बनाये रखना चाहते, तो उनकी दशा में या तो कोई बहुत बड़ा परिवर्तन होता या फिर वे कम पारिश्रमिक स्वीकार करके काम करते। ब्रिटिश शासन के दौरान भारतीय हथकरघा उद्योग का बहुत बुरा हाल हुआ और भारतीय बुनकरों की संख्या घट गयी, क्योंकि सूत कटाई और बुनाई का हास सीधे तौर पर कृषि की दशा, कच्ची कपास और खाद्यान्न फसलों के मूल्यों पर निर्भर था। लेकिन इसे बुनकरों की दशा में पतन का एकमात्र कारण मानना भूल होगी। इसके लिए आर्थिक कारण, अकाल आदि भी जिम्मेदार थे।

लेकिन 19वीं एवं 20वीं शताब्दी में भारतीय हथकरघा उद्योग के पतन की जो व्याख्या की गई है, क्या वह एकदम सही है? इस ओर विद्वानों का ध्यान गया और उन्हें यह सोचने पर मजबूर होना पड़ा कि यह व्याख्या कहां तक सही व न्यायसंगत है। इस सम्बन्ध में तीर्थकर राय ने अपनी पुस्तक 'आर्टिजन्स एंड इंडस्ट्रियाइजेशन' में कहा है कि दो विश्व युद्धों के अन्तराल के दौरान भारतीय

हथकरघा उद्योग एकदम पतन के गर्त में नहीं चला गया था, बल्कि अभी भी उसमें देशी और विदेशी मिलों के समक्ष टिके रहने की क्षमता थी। तीर्थकर राय ने भारतीय उद्योगों का गहराई तक अध्ययन यह बताया कि भारतीय उद्योगों ने विदेशी चुनौती को किस प्रकार स्वीकार किया। शिल्पकार शहरों में बसने लगे, यह उनके लिए लाभदायक था। व्यापारियों से मोलभाव करना उन्होंने सीख लिया था। हालाँकि यह सच है कि बुनकरों की संख्या घट गयी थी, परन्तु उत्पादन बढ़ाने का प्रयास जारी रहा।

हालाँकि हाल में प्रकाशित पुस्तकों में विद्वानों ने भारतीय शिल्प की गतिशीलता का वर्णन किया है, परन्तु 19वीं सदी में भारतीय शिल्प उद्योग में होने वाली निरन्तर गिरावट को नकारा नहीं जा सकता। राष्ट्रवादियों की मान्यता है कि 19वीं सदी में भारतीय शिल्प और उद्योग में पतन का दौर था, जो सही है और इसे आधारहीन नहीं माना जा सकता।

धन की निकासी (Drain of Wealth)—धन की निकासी का सिद्धान्त दादाभाई नौरोजी से सम्बन्धित था। उन्होंने भारत से ब्रिटेन को जाने वाले धन का अनुमान लगाया और बताया कि किस प्रकार अंग्रेज भारत से धन अपने देश में भेज रहे हैं और यह किन-किन रूपों में जा रहा है। इससे पहले 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजा राममोहन राय व जॉन शोर ने भारत से भेजे जाने वाले नजराने का अनुमान लगाया था।

दादाभाई नौरोजी ने अपनी पुस्तक 'पावर्टी एंड अन ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' (1901) में इस धन के निकास की व्याख्या की। 19वीं शताब्दी के अन्त तक 1500 मिलियन डॉलर की निकासी भारत से ब्रिटेन की ओर हुई। उन्होंने बताया कि किस प्रकार इस धन के निकास का असर भारत पर पड़ रहा है और भारत दिन-ब-दिन दरिद्रता के गर्त में जा रहा है। ब्रिटेन ने तैयार माल के निर्यात पर भी मुनाफा कमाया और गृह-शुल्कों के भुगतान के रूप में भी भारतीय धन को इंग्लैण्ड भेजा गया। भारत में नौकरी करने वाले अंग्रेज अफसरों की पेंशन के रूप में एवं ब्रिटेन में रहने वाले बड़े अफसरों को जो भारत के लिए काम करते थे, को पेंशन देने के रूप में भी भारतीय धन विदेश जा रहा है।

राष्ट्रवादी इतिहासकार अवाहित अधिशेष निर्यात को भारत से धन निकासी का जरिया मानते हैं। चूँकि भारत को इस अधिशेष के बदले कुछ नहीं मिलता अतः यह भारतीय धन की निकासी ही है। राष्ट्रवादी जिन मुद्दों को भारतीय धन के निकास को जिम्मेदार मानते हैं, वे हैं:

- (1) सुरक्षा पर जरूरत से ज्यादा खर्च
- (2) भूराजस्व की अधिक से अधिक उगाही
- (3) विकास व सिंचाई साधनों का अभाव
- (4) रेलवे हेतु गारंटीशुदा कारण
- (5) लोक प्रशासन पर भारी-भरकम खर्च

22 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

ये सभी मुद्दे भारत से धन-निकास के अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित थे और भारत पर वित्तीय बोझ बढ़ता चला गया।

उपनिवेशवाद के समर्थक इतिहासकार धन की निकासी को बुरा नहीं मानते। वे इसके पीछे तर्क देते हैं कि यह मात्र गृह शुल्क था। भारत सचिव जो राशि लंदन में खर्च करते थे, ये इतिहासकार उसे नजराने के रूप में व्याख्यायित करते हैं। उपनिवेशवादियों ने इन शुल्कों को भारतीय विदेशी व्यापार के एक छोटे-से अंश के रूप में दर्शाया है। रेलवे ऋण को भी ये सकारात्मक रूप में देखते हैं तथा तर्क देते हैं कि इससे उत्पादक उद्देश्यों को बढ़ावा मिला और इन ऋणों की दर बहुत कम थी। इनकी दर इतनी कम थी कि यदि भारत एक स्वतंत्र राष्ट्र होता, तो इससे अधिक ऋण दर अदा करता। ये विद्वान मानते हैं कि भारत को सबसे सस्ते पूँजी बाजार का लाभ मिला, जो उसके विकास के लिए सहायक बना और रेलवे व अन्य उद्योगों को बढ़ावा मिला। ये इतिहासकार ब्याज अदायगी को धन के निकास या भारतीय शोषण के रूप में नहीं देखते। राष्ट्रवादियों की धारणा अवाहित निर्यात के रूप में भारतीय धन के निकास की राष्ट्रवादी धारणा को भी उपनिवेशवादी इतिहासकार नहीं मानते, वे कहते हैं कि वे भारतीयों को अपने पूरे निर्यातों के लिए भुगतान होते रहे। ये राष्ट्रवादियों की इस बात पर आलोचना करते हैं कि किस प्रकार भारत बहुमूल्य धातुओं का खजाना बना। निर्यात अधिशेष का प्रयोग खजाने के आयात और बैंकिंग व वित्तीय सेवाओं के लिए किया गया। अच्छे प्रशासन और शान्ति स्थापित करने के बदले भारत जो नजराना देता था, वह तो इसकी एक छोटी-सी कीमत भर थी। रेलवे, उत्खनन, वृक्षारोपण, सार्वजनिक ऋण की अदायगी भारत का आधुनिकीकरण करने के लिए थी। अतः उपनिवेशवादी इतिहासकार भारत से धन निकासी के सिद्धान्त को न्यायसंगत दर्शाना चाहते हैं और राष्ट्रवादियों की आलोचना करते हैं। धन के निकास के सम्बन्ध में उदारवादियों एवं नव-उदारवादियों ने भी अपने विचार व्यक्त किये और वे उपनिवेशवादियों का समर्थन करते हुए नजर आते हैं। के.एन. चौधरी इसी विचारधारा के लेखक हैं। वे उपनिवेशवादियों का समर्थन करते हुए कहते हैं कि 19वीं शताब्दी में गृह-शुल्क कुल भारतीय निर्यात का 1.5% था। चूँकि यह गृह-शुल्क वास्तव में नजराना ही था, जो बहुत बड़ा बोझ नहीं था। चौधरी यह मानते हैं कि भारत में आर्थिक पिछड़ेपन का कारण यहाँ से धन के निकास होना नहीं था। कुछ अंग्रेजी विद्वान राष्ट्रवादियों व मार्क्सवादियों की तरह धन निकास का समर्थन तो करते हैं, पर वे इसे भारत पर कोई बड़ा बोझ नहीं समझते।

मार्क्सवादी इतिहासकार उपनिवेशवाद की विचारधारा के विपरीत मत रखते हैं और इसकी आलोचना करते हैं। मार्क्सवादी इतिहासकारों में इरफान हबीब, पटनायक, सुनंदा सेन आदि हैं। इरफान हबीब

भारत की धन निकासी को ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति में सहायक मानते हैं, क्योंकि ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति में भारतीय धन निकासी ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। मार्क्सवादी मानते हैं कि धन निकासी के कारण ही भारत में अकाल बढ़े और प्रतिव्यक्ति खाद्यान्न की उपलब्धता घट गई, क्योंकि भारत से राजस्व का एक बड़ा हिस्सा विदेश भेजा जाता था। बजट का भी एक बहुत बड़ा हिस्सा विदेशों में खर्चों की भरपाई के लिए था। कृषि का वाणिज्यीकरण भी विदेशियों ने अपने फायदे के लिए किया, क्योंकि ऐसा करके वे खर्चों की भरपाई आसानी से कर सकते थे।

अतः मार्क्सवादियों ने यह दर्शाने की कोशिश की कि उपनिवेशवादियों द्वारा धन के निकास की जो व्याख्या की गई है, वह भारत के पक्ष में सही नहीं है, क्योंकि भारत को धन की निकासी का बोझ झेलना पड़ा। मार्क्सवादी तो भारत में अकालों तथा वित्तीय पिछड़ेपन के लिए धन के निकास को जिम्मेदार ठहराते हैं, जो कि एकदम सही है।

कृषि का व्यवसायीकरण

कृषि का व्यवसायीकरण तो ब्रिटिश शासन से पूर्व भी था, परन्तु इस शासन काल में यह कई गुणा बढ़ा। राष्ट्रवादी इसे ब्रिटेन के अपने फायदे के लिए बताते हैं। उनके अनुसार ब्रिटेन ने अपने लिए भारत से सस्ता माल कच्चे माल को प्राप्त करने के लिए ऐसा किया और सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि ब्रिटेन व्यापार में अमेरिका सरीखे अन्य देशों के मुकाबले खड़ा रहना चाहता था। राष्ट्रवादी कहते हैं कि ब्रिटेन द्वारा भारतीय कृषकों से अफीम व नील की खेती जोर-जबरदस्ती से कराई गई और उन पर बहुत जुल्म किये गए व उनका निरन्तर शोषण किया गया। वहीं वामपंथी राष्ट्रवादी कृषि के व्यवसायीकरण को बलात् व्यवसायीकरण की संज्ञा देते हैं। अफीम की खेती करना भारतीय कृषकों के लिए मजबूरी ही थी क्योंकि उनसे अफीम की खेती जबरदस्ती करायी जाती थी। इसके पीछे मूल कारण यह था कि अफीम की खेती पर ईस्ट इण्डिया कंपनी का एकाधिकार था और इस एकाधिकार के कारण कंपनी अपनी मर्जी के मूल्यों पर इसे खरीदती थी और कृषकों को अधिक पैदावार के लिए मजबूर करती थी। राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी दोनों ही मतों के इतिहासकार मानते हैं कि कृषक नकदी फसल उगाने के लिए मजबूर था, क्योंकि राजस्व की दर बहुत अधिक थी और राजस्व जमा करने हेतु समय सीमा भी निर्धारित थी। इसी कारण कृषक ऋण के जाल में फँस गये। इस राजस्व जमा करने करने लिए ही कृषकों को नकदी फसल उपजाने व सूद पर पैसे उधार लेने के लिए मजबूर होना पड़ा, जो कृषकों के शोषण का कारण बना, क्योंकि इन नकदी फसलों का बाजार आर्थिक रूप से सही नहीं था, फिर भी राजस्व जमा करने के लिए उन्हें नकदी फसलें उगानी पड़ती थीं।

पूँजीवादी दृष्टिकोण से कृषि को बढ़ावा देने के लिए 1793 में बंगाल में स्थायी बन्दोबस्त लागू किया गया। इससे भारतीय कृषकों को तो फायदा नहीं हुआ, परन्तु लगान में अत्यधिक वृद्धि हुई और जमींदार व महाजनों की पकड़ किसानों पर जरूर मजबूत हुई। महलवाड़ी और रैयतवाड़ी पद्धति से भी कृषकों को कोई लाभ नहीं हुआ। हालाँकि कपास, गन्ना, जूट, तिलहन, मूँगफली आदि नकदी फसलों का उत्पादन होता था, परन्तु तकनीकी दृष्टिकोण से कोई परिवर्तन नहीं आया। कृषक वर्ग तो ऋणग्रस्त था ही और महाजनों की नीति यह थी कि कृषि भूमि पर कब्जा न किया जाये, बल्कि ऋण के रूप में दिये गये पैसे से ही कृषकों का अत्यधिक शोषण किया जाये। इस सम्बन्ध में जायरस बानाजी ने 'इकॉनामिक एंड पॉलिटिकल वीकली' में लिखा है कि दक्खन के कपास उत्पादक क्षेत्रों के व्यापारी महाजनों ने कृषकों की भूमि पर कब्जा न करके उनसे बंधुआ मजदूरी कराना ज्यादा फायदेमंद समझा, क्योंकि व्यापारी महाजन सोचते थे कि यदि कृषकों को भूमिहीन बना दिया जायेगा, तो वे अपने पूरे परिवार को जीवन निर्वाह के लिए लगा देंगे, जिससे उनकी मजदूरी बढ़ेगी और कृषि पर व्यय बढ़ जायेगा और यह स्थिति कभी भी व्यापारी महाजनों के हित में नहीं होगी। राष्ट्रवादियों के अनुसार कृषकों के शोषण के लिए जिम्मेदार बिन्दु निम्नलिखित थे :

- अधिक राजस्व होना
- राजस्व भुगतान की समय-सीमा होना निर्धारित होना
- नकदी फसलों की पैदावार
- राजस्व चुकाने के लिए ऋण लेना आदि।

महाजनों को नियन्त्रित करने के लिए सूदखोरी विधेयक पारित हुआ, परन्तु यह ब्रिटेन की राजस्व नीतियों का ही प्रत्यक्ष परिणाम था। इसके सम्बन्ध में जो उल्लेखनीय बात है, वह यह है कि दक्खन में महाजन-विरोधी दंगे हुए और ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक क्रान्ति आयी।

19वीं सदी में पड़े अकालों के लिए जिन कारणों को जिम्मेदार माना जाता है, वे सब औपनिवेशिक शासन के ही कारण थे, जो निम्नलिखित थे :

- नकदी फसलों का उत्पादन
- राजस्व का अत्यधिक होना
- वर्षा की अनियमितता
- पर्यावरणीय क्षति।

हालाँकि 20वीं शताब्दी में इस दशा में सुधार तो हुआ, परन्तु अकाल की घटनाएँ अभी भी लोगों को अपना शिकार बना रही थीं। इतिहासकारों द्वारा किये गये शोधों से पता चलता है कि अकाल के लिए औपनिवेशिक शासन की नीतियाँ, निरौद्योगिकीकरण, रेलवे का आगमन आदि महत्वपूर्ण कारण थे।

आधुनिक उद्योगों का विकास

राष्ट्रवादी मानते हैं कि यदि भारत एक स्वतंत्र राष्ट्र होता, तो 19वीं शताब्दी में वह भी अपना औद्योगिक विकास अमेरिका व जर्मनी की तरह करता, परन्तु ब्रिटेन ने सिर्फ अपने फायदे के लिए एवं अपने उद्योगों को बढ़ावा देने के लिए मुक्त व्यापार नीति को लागू किया। गृहयुद्ध छिड़ने पर जब अमेरिका से कपास की आपूर्ति बन्द हो गयी, तो उस समय ब्रिटेन ने मुक्त व्यापार की नीति का पालन नहीं किया, क्योंकि वह ब्रिटिश उद्योगों को बढ़ावा देना चाहता था। ब्रिटिश नीतियों के कारण ही भारत की आय और क्रय शक्ति घटी। भारतीय रेल में ब्रिटिश लोगों का पूँजी निवेश कराने के मकसद से ही ब्रिटेन ने निवेशकों को 5% लाभ की गारंटी दी।

लेकिन क्लाइव डेवी मानते हैं कि स्थानीय उद्योगों को बढ़ावा देने के लिए ब्रिटिश शासन ने पर्याप्त कदम उठाये। 1918 में भारतीय औद्योगिक आयोग की रिपोर्ट आने पर उद्योगों की दशा में सुधार हेतु कुछ कार्य किये गये। जमशेदपुर से रेल पटरियों के लिए इस्पात खरीदने की गारंटी दी गई। ए.के. बागची मानते हैं कि सूती वस्त्र, इस्पात, चीनी आदि उद्योग इस नीति से जरूर लाभान्वित हुए। ब्रिटिश शासन ने हमेशा साम्राज्य को वरीयता दी और उसी के हित ध्यान में रखे। औपनिवेशिक इतिहासकार एक बड़ा रोचक विचार प्रस्तुत करते हैं। ये भारतीय सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों को भारत में आधुनिक उद्योगों के धीमे विकास के लिए जिम्मेदार मानते हैं। जैसा कि वेबर कहते हैं कि हिन्दू धर्म एवं संस्कृति द्वारा प्रस्तुत मूल्यों ने पूँजीवाद एवं उद्योगों को हतोत्साहित किया। जाति-धर्म ने देश के औद्योगिक विकास एवं आर्थिक विकास के मध्य दीवार खड़ी कर दी। ये इतिहासकार श्रमिकों को भी आर्थिक विकास और औद्योगिक विकास न होने के लिए जिम्मेदार मानते हैं। उनके अनुसार श्रमिकों की कामचोर नीति व अनुशासनहीनता ने भी भारत का औद्योगिक व आर्थिक विकास नहीं होने दिया। बागची इस बात का खण्डन करते हुये कहते हैं कि औद्योगिक विकास एवं आर्थिक विकास न होने के लिए श्रमिकों की सीमित आपूर्ति जिम्मेदार नहीं थी, बल्कि मूल कारण देश में उत्पादित वस्तुओं की माँग व बाजारों का सीमित मात्रा होना था।

देश में औद्योगिकीकरण का न होना, देश में उपकरणों आदि का निर्माण न होना, सब ब्रिटिश नीति की देन थी। क्योंकि रेलवे के जो भी उपकरण बने, वे सब आयात किये गये। यदि उनमें से कुछ का निर्माण भारत में हुआ होता, तो शायद यहाँ औद्योगिकीकरण को बढ़ावा मिलता। भारत में औद्योगिकीकरण के पीछे दूसरे ही कारण थे। 1920 के दशक में जब विश्वव्यापी मंदी का दौर था, तो भारत में आयात रोक दिया गया, जिसके फलस्वरूप औद्योगिकीकरण हुआ। मार्क्सवादी एवं उदारवादी दोनों ही इस बिन्दु

24 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

पर सहमति रखते हैं। लेकिन दोनों ही इसके विकास के लिए अलग-अलग तथ्य सामने रखते हैं। उदारवादी जहाँ मंदी के दौरान कृषि मूल्यों में गिरावट, कच्चे माल की कम कीमत, कर संरक्षण आदि की बात करते हैं, वहीं मार्क्सवादी पूँजीवाद के संकट, साम्राज्यवाद के साथ सम्बन्धों में पड़ती दरार व महाजनों के पूँजी पुनर्निवेश आदि पर बल देते हैं।

भारतीय औद्योगिक विकास के सम्बन्ध में इतिहासकार अलग-अलग मत रखते हैं। कोलिन सिमन्स व अमिय बागची मानते हैं कि “महानगरीय देशों से आयात में कमी के कारण भारत में औद्योगिक विकास हुआ” अर्थात् 1920 के दशक में जब विश्व-व्यापी मंदी छाई, तो विकसित देशों से आयात रोक दिया गया जिसके फलस्वरूप भारतीय औद्योगिकीकरण को बढ़ावा मिला। वहीं लेवकोवस्की ने अपनी पुस्तक ‘कैपिटलिज्म इन इण्डिया’ व दीतमार रादरमुंड ने ‘इण्डिया इन द ग्रेट डिप्रेशन’ में यह माना है कि “महाजनों द्वारा उद्योगों में पूँजी का पुनः निवेश ही औद्योगिकीकरण का कारण बना” अर्थात् अभी तक कृषि उत्पादों की बिक्री-खरीदारी में लगे महाजन लोगों ने अब छोटे-छोटे उद्योगों में पूँजी का निवेश करना शुरू कर दिया, जिसमें लाभ की दर अधिक थी। भारत में पूँजी निवेश करने वाले दो वर्ग थे—पहला भारतीय पूँजीपति महाजन, दूसरा विदेशों में स्थित व्यवसायी। लेकिन दोनों का व्यवहार सदैव विचलित-सा रहा। विदेश स्थित भारतीय व्यापारी अधिक लाभ की दर के आदी हो चुके थे। उनकी निर्यात पर पकड़ भी अच्छी थी। महाजन पूँजीपतियों को कृषि क्षेत्रों में लाभ की संभावना कम होती नजर आ रही थी। उन्होंने सूदखोरी व वस्तुओं की खरीद-बिक्री से अच्छा मुनाफा कमाया था। अब वे उद्योगों में पूँजी लगाना चाहते थे। अतः कर संरक्षण व आयात में गिरावट के कारण उद्योगों में निवेश की संभावनाएँ बढ़ी।

भारतीय व्यवसायिक समूहों के विकास का कारण इतिहासकार औपनिवेशिक शासन को मानते हैं, परन्तु राष्ट्रवादी औपनिवेशिक शासन के आरम्भिक वर्षों में इस पर नकारात्मक प्रभाव कहते हैं। पहले व्यापार पर ईस्ट इण्डिया कंपनी का एकाधिकार या फिर औद्योगिक घराने और प्रबंधन एजेंसियों का भारतीय अर्थव्यवस्था में बड़े व्यावसायिक घरानों की भूमिका के कारण स्थानीय व्यवसायियों को सही अवसर नहीं मिल पाये। लेकिन रजत रे अपनी पुस्तक ‘माडर्न एशियन स्टडीज’ में यह मानते हैं कि भारतीय व्यवसायियों के पलायन के फलस्वरूप भारतीय व्यवसायी समूहों को बढ़ने और अर्थव्यवस्था में पूँजी निवेश को बढ़ावा मिला।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान औद्योगिक उत्पादों की मांग बढ़ी, परन्तु विदेशी मुद्रा के प्रयोग पर पाबन्दी और ब्रिटेन से मशीनों की आपूर्ति में कठिनाई ने भारतीय औद्योगिक क्षेत्र के विकास के मध्य दीवार खड़ी की, परन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भारत में

औद्योगिक उत्पादन को बढ़ावा मिला। इस युद्ध के दौरान उद्योगपतियों ने मुनाफा कमाया और उद्योगों में पूँजी निवेश किया। उन्होंने निजी क्षेत्र की धारणा पर आधारित बॉम्बे प्लान दिया। परन्तु भारत सरकार व कांग्रेस पार्टी मिश्रित अर्थव्यवस्था चाहती थी। दोनों ही कुछ उद्योगों का राष्ट्रीयकरण चाहते थे। अतः उन्होंने अर्थव्यवस्था में सरकार की सशक्त भूमिका की बात की। अपने शासन के अन्तिम वर्षों में भी ब्रिटिश प्रशासन भारत में औद्योगिकीकरण के पक्ष में नहीं था, जबकि ब्रिटेन की निजी व्यवसायी एवं कंपनियाँ भारत में उद्योगरत थी।

भारत में औद्योगिकीकरण के विकास में किन-किन परिस्थितियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, यह हम ऊपर देख चुके हैं। भारत में उद्योगों का विकास हो, यह ब्रिटिश प्रशासन की कभी भी इच्छा नहीं रही। भारत के औद्योगिक विकास में ब्रिटेन की मजबूरी और परिस्थितियों ने साथ दिया, जिसमें विश्वव्यापी मंदी को अहम् कारण माना जाता है एवं भारतीय महाजनों की भूमिका भी इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है।

मुद्रा एवं वित्त व्यवस्था

भारतीय राष्ट्रवादियों ने औपनिवेशिक शासन की आलोचना निम्न बिन्दुओं पर की; जैसे—सरकार की शुल्क नीति, मुक्त व्यापार नीति, 19वीं सदी में साम्राज्यवाद, व्यवसायों की सुरक्षा, हितों को वरीयता आदि। लेकिन 1920 एवं 1930 के दशक के दौरान आलोचना का एक बिन्दु बना, वह था—रुपया-स्टर्लिंग विनिमय दर और इस उच्च विनिमय दर से होने वाली हानियाँ। राष्ट्रवादी मानते हैं कि जनसाधारण निर्यात का मात्र 10 प्रतिशत ही खपत करता था अतः उच्च विनिमय दर के कारण सस्ते निर्यात का इससे कोई लाभ नहीं था। विनिमय का निम्न अनुपात न तो आयातकों के पक्ष में था और न ही देश के हित में। इससे कृषकों, निर्यातकों, ऋण लेने वालों पर भी बुरा असर पड़ा और उन्हें नुकसान उठाना पड़ा। इससे सिर्फ निर्यातकों व ऋण देने वालों को लाभ मिला। राष्ट्रवादी इतिहासकार उच्च अनुपात से स्टर्लिंग बाध्यता को सही मानते हैं कि इससे सरकार की राजस्व नीति में सुधार होगा, क्योंकि उच्च अनुपात के कारण रुपये से ही भुगतान सन्तुलन किया जा सकता है। लेकिन जी. बालचन्द्रन इसके विपरीत तर्क देते हुए कहते हैं कि रुपया-स्टर्लिंग अनुपात कोई इतना बड़ा मुद्दा नहीं था। राष्ट्रवादियों ने इसे कुछ ज्यादा ही बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया है। औपनिवेशिक सरकार भारत में सूती वस्त्रों के आयात को बढ़ावा देती थी और ब्रिटिश आयात पर पाबन्दी का विरोध करती थी, लेकिन ब्रिटिश सरकार स्वर्ण आयात को घटाना चाहते थे और सूती वस्त्रों के आयात को बढ़ावा देना चाहते थे। रुपये के पुनः मूल्यांकन से ब्रिटिश उद्योगों के उत्पाद न केवल सस्ते हो गये, बल्कि सूती वस्त्रों का आयात सस्ता हो गया।

बालचन्द्रन मानते हैं कि औपनिवेशिक शासन का मुख्य उद्देश्य भारत से स्वर्ण प्रवाह को बाधित करना था, क्योंकि इस प्रवाह से प्रथम विश्व युद्ध के बाद पाउंड-स्टर्लिंग की दशा पर बुरा असर पड़ता। मुद्रा को 18 पेंस पर स्थिर रखने के लिए सन् 1926-27 के तेजी के दिनों में आधिकारिक तौर पर 120 मिलियन रुपयों, नोटों, सिक्कों के रूप में घटाना पड़ा। वास्तविक रूप से तो 220 मिलियन रुपयों तक घटाना पड़ा। इस मुद्रा संकुचन के पीछे उच्च विनिमय दर ही थी। 1925-26 एवं उससे आगे के दो वर्षों में भारतीय व्यापार की बढ़ोत्तरी घटकर लगभग आधी हो गयी थी। 1924 में 52 मिलियन पाउंड स्वर्ण आयात घटकर 1926-29 की अवधि में मात्र 15 मिलियन पाउंड प्रतिवर्ष रह गया। इन्ही नीतियों के कारण भारत सन् 1920 के दशक के मध्य तक विश्व अर्थव्यवस्था के विस्तारवादी प्रभाव से अछूता रह गया। भारतीय सोने का ब्रिटिश सरकार ने अपने फायदे के लिए उपयोग किया और भारतीय सोने को मंदी के दौर से अपने को उबारने के लिए प्रयोग किया। कीन्स ने कहा था कि यदि भारत से सोने की आपूर्ति नहीं होती, तो मंदी के काल में ब्रिटेन अमेरिका के सामने नहीं टिक पाता। रजनी पी. दत्त ने अपनी पुस्तक 'इण्डिया टुडे' में यह तर्क दिया कि मंदी और द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान पूँजीवाद के संकट ने भारतीय बाजार की महत्ता को घटा दिया। ब्रिटेन ने भारत नहीं क्यों छोड़ा; इसके पीछे टामलिन्सन अपनी पुस्तक 'द पॉलिटिकल इकॉनॉमी' में बड़ा रोचक तर्क देते हुए कहते हैं कि भारत की अर्थव्यवस्था में ब्रिटेन की दावेदारी घटने के परिणामस्वरूप ब्रिटेन द्वारा भारत छोड़ना आसान हो गया। भारतीय बाजारों के हास के कारण ब्रिटिश निर्यात को हानि हुई। मार्क्सवादी व उदारवादी दोनों ही मानते हैं कि ब्रिटेन के लिए भारत का महत्त्व धीरे-धीरे लगातार घटता रहा। बालचन्द्रन इस बात का खण्डन करते हुए कहते हैं कि दो विश्व युद्धों के दौरान की अवधि के बीच भारतीय मुद्रा और विनिमय से ब्रिटेन पूर्णतः लाभान्वित होता रहा। ब्रिटेन के उद्योगों के लिए भारतीय बाजार भले ही अब महत्त्व के न रहे हों, परन्तु भारतीय मुद्रा व अर्थव्यवस्था को ब्रिटेन अपने हितों के लिए ढालने में सदैव सफल रहा।

नए रुझान

श्रम—आर्थिक इतिहास में हुए हाल के शोधों में नये विषयों पर शोध हुए हैं। हालाँकि इस विषय के सम्बन्ध में पुराने विषयों को एकदम छोड़ दिया गया हो, ऐसा नहीं है। लेकिन उन पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया। इस सम्बन्ध में अध्ययन करने वाले इतिहासकार हैं—चंदावरकर चक्रवर्ती, क्लार्क आदि। इन्होंने श्रम और श्रमिकों की भूमिका के सम्बन्ध में शोध किया है। 20वीं सदी के आरम्भ में श्रमिकों में अस्थायी श्रमिकों का उच्च अनुपात उद्योगपतियों के

हित के लिए बनाया गया था। अस्थायी श्रमिकों का विशाल समूह इसलिए बनाया गया, ताकि घटती-बढ़ती मांग के कारण व्यापारिक परिवेश सन्तुलित रखा जा सके। इसके पीछे श्रमिकों का कामचोर होना या अनुशासनहीन होना नहीं था, बल्कि व्यापारियों का अपना हित था। वे चाहते थे कि अस्थायी श्रमिक वर्ग बना रहे। वॉलकॉट और क्लार्क का मानना है कि 1930 के दशक में मंदी के कारण सूती मिलों की उत्पादन क्षमता घटी और न्यूनतम मजदूरी कम कर दी गई, जबकि वास्तविक मजदूरी बढ़ी। न्यूनतम मजदूरी कम करने से प्रबन्धकों को नुकसान हुआ और औद्योगिक प्रतिस्पर्धा बढ़ गई। लेकिन ये इतिहासकार मानते हैं कि औद्योगिक मजदूरी जितनी होनी चाहिए थी, उससे अधिक थी।

मिल-मालिकों द्वारा श्रमिकों को मौलिक सुविधाएँ न दिये जाने के कारण दलालों का प्रभाव बढ़ा। इसमें लोगों को रोजगार, आवास व खाद्य सामग्री तथा संरक्षण भी मिला।

श्रमिकों ने अपने कोई संघ नहीं बनाये और इसके कारण भी उनकी स्थिति शोचनीय रही। हालाँकि हड़ताल व संघर्ष के दिनों में वे संघों में शामिल हो जाते थे और हड़ताल खत्म होते ही ये संघ विघटित कर दिये जाते थे, भले ही यह संघर्ष सफल रहा हो। श्रमिकों के मूल्यों को आधार देने के लिए भी कोई निश्चित संघ नहीं था। श्रमिकों की दयनीय स्थिति का पता इस बात से और चलता है कि जूट उद्योग के श्रमिक नेता जो स्वयं मध्य वर्ग एवं उग्र सुधारवादी पृष्ठभूमि से आते थे, श्रमिकों के प्रति अच्छी सोच नहीं रखते थे और उन्हें दलित व गरीब कहकर संबोधित करते थे। इन श्रमिकों को वे सर्वहारा नहीं मानते थे, बल्कि इन्हें दरिद्र नारायण कहना ही पसंद करते थे। ऐसा इसलिए भी था कि इन नेताओं पर अभिजात वर्ग का प्रभाव होता था। भूमिहीन खेतिहर मजदूरों की भूमिका पर भी शोध हुए हैं और बताया गया है कि किस प्रकार जाति-पाति का भेदभाव श्रमिक वर्ग में भी था। इस सम्बन्ध में धर्मा कुमार की पुस्तक 'लैंड एंड कास्ट इन इण्डिया' में उपनिवेश पूर्व भी एक भूमिहीन श्रमिक वर्ग की उपस्थिति थी। जाति प्रथा के बंधन इतने कठिन थे कि निम्न जाति के लोगों को खेती नहीं करने दिया जाता था। यहाँ तक कि जूट उत्पादन में तो महिलाओं एवं पुरुषों के बीच भी भेदभाव किया जाता था।

जाति विशेष की भूमिका को यदि देखा जाये, तो इस सम्बन्ध में शिल्पकार्य में भी शोध किये गये हैं। 19वीं-20वीं सदी में बंगाल में घरेलू बर्तनों के उत्पादन में एक विशेष वर्ग संलग्न था। धातु की चादरों के आयात के कारण काँसे व ताँबे के बर्तन कम लागत पर अच्छे बन जाते थे, तो इससे कसेरों की जाति का विस्तार हुआ और अधिक संख्या में इस व्यवस्था की ओर लोग आकर्षित हुए। शिल्पी वर्ग ने कम मजदूरी पर कारखानों में संलग्न रहना ही उचित समझा।

26 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

श्रमिकों की दशा पर हुए शोध से जो तर्क सामने आये हैं उनसे श्रमिकों की दशा, उनकी न्यूनतम मजदूरी और मौलिक सुविधाओं का अभाव व संघों के अभाव की बात सामने आती है, क्योंकि इन सबके अभाव के कारण ही श्रमिकों की स्थिति शोचनीय बनी रही और न ही इन श्रमिकों ने संघ बनाने की सोची जिससे उनके हितों को संरक्षण मिल पाता। श्रमिकों के नेता भी स्वयं अभिजात वर्ग के प्रभाव में रहते थे। अतः वे भी श्रमिकों से अच्छा व्यवहार नहीं करते थे। व्यापारी वर्ग तो अपने हितों के लिए अस्थायी श्रमिकों को बनाये रखना चाहता था।

सिंचाई—नये शोधों में सिंचाई और वन भी अहम् मुद्दे रहे हैं। हालाँकि इससे पूर्व भी इन मुद्दों पर लिखा गया परन्तु जाति, पर्यावरण और तकनीकी आदि पर ही विशेष ध्यान दिया गया है। लेकिन कुछ इतिहासकारों ने रेलों व कृषकों को पानी के अतिशय उपयोग के लिए जिम्मेदार माना। रेलों द्वारा नहरों-नालों को अवरुद्ध किया गया। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में इमरान अली की पुस्तक 'द पंजाब अंडर इम्पीरियलिज्म' प्रकाशित हुई, जिसमें सिंचाई के सम्बन्ध में लिखा गया। केनाल कॉलोनियों के निर्माण के लिए पंजाब में सघन आबादी वाले क्षेत्रों की संकीर्णता दूर की गई और पंजाब में शहरी व ग्रामीण विभाजन संभव हुआ। इतिहासकार गिलमार्टिन मानते हैं कि औपनिवेशिक प्रशासन ने देशी स्थानीय समुदायों को एक व्यवस्थित व वैज्ञानिक ढंग से परिभाषित किया। हालाँकि प्रशासन यह दावा करता था कि वह स्थानीय पर्यावरणीय नींव पर विश्वास करता था, परन्तु उसने इसी स्थानीय पर्यावरण की नींव हिला दी।

अध्ययन से कृषि के उत्पादन के पर्यावरणीय पक्ष भी सामने आये हैं। सुगला बोस ने 'पेनेट, लेबर एंड कॉलोनियल कैपिटल: रूरल बंगाल सिन्स 1770' में यह तर्क दिया है कि गंगा के पूर्व की तरफ प्रसार की प्रवृत्ति ने पूर्वी बंगाल के उर्वर दोमट डेल्टा का निर्माण किया। इस उपजाऊ मिट्टी ने कृषकों को संलग्न रखा व जूट उत्पादन को बढ़ावा दिया। तैयार बाजार तथा व्यापारियों का अंध हस्तक्षेप नकदी फसल के बावजूद आमदनी का अच्छा स्रोत बन गया। कृषकों के लिए यह फायदेमंद हुआ, क्योंकि जमीन का एक छोटा-सा टुकड़ा भी नकदी फसल के बावजूद एक अच्छी आमदनी देता था। जहाँ कृषकों की आमदनी बढ़ी, वहीं मलेरिया आदि का प्रकोप भी बढ़ा, जो वे रेल की पटरियों एवं तटबंधों के निर्माण के कारण था। पार्थसारथी भी कृषि उत्पादन की महत्ता को स्वीकार करते हैं कि मिट्टी की उर्वरता एवं दोहरी फसल की पैदावार भी भारतीय बुनकरों के एक सही जीवन गुजारने के लिए पर्याप्त थी।

वन एवं पर्यावरण—हाल के शोधों से इतिहासकारों का ध्यान वनों, जनजातियों, पर्यावरणी परिवर्तन की स्थिति की ओर गया। रामचन्द्र गुहा की पुस्तक 'द अनक्वायर वुड्स' में 'चिपको आन्दोलन' का अध्ययन किया गया है, जो गढ़वाल हिमालय क्षेत्र में हुआ। यह आन्दोलन पेड़ों की कटाई के विरुद्ध था। हालाँकि रामचन्द्र गुहा का

यह अध्ययन वनों के सम्बन्ध में कोई पहला अध्ययन नहीं था, बल्कि पहली बार एक महत्वपूर्ण अध्ययन जरूर था। औपनिवेशिक शासन द्वारा वनों के अन्धाधुन्ध प्रयोग के सम्बन्ध में जनजातीय विरोध हुए। औपनिवेशिक शासन आर्थिक व राजनीतिक नीतियों के विरोध में जनजातियों की जो प्रतिक्रिया हुई, उसका विवरण रंजीत गुहा एवं .ए.आर. देसाई की पुस्तक क्रमशः 'एलीमेंटरी आस्पेक्ट्स ऑफ पेजेंट इंसर्जेंसी इन कोलोनियल इण्डिया' व 'पेजेंट स्ट्रगल्स इन इण्डिया' में मिलता है।

अजय स्कारिया ने अपनी पुस्तक में जनजातीय समूह, स्थायी कृषकों और राज्यों व केंद्रीय व्यवस्था के बीच पारस्परिक सम्बन्धों को उजागर किया है। पश्चिमी भारत के लोग जो खेती करते थे, डांग कहलाते थे। डांग और मैदानी क्षेत्र के लोग जब भूमि की उर्वरता कम हो जाती या उपजाऊ शक्ति कम हो जाती थी, तो उसे छोड़कर अधिक उपजाऊ व उर्वर भूमि की ओर पलायन कर जाते थे। स्कारिया बताते हैं कि शासन की दमनकारी नीतियों के कारण ये कृषक गाँव छोड़ देते थे। वन्य समुदाय के मुखिया द्वारा वसूल किया जाने वाला कर गिरा कहलाता था, जो लूटपाट पर आधारित होता था। इसे मराठों के चौथे के समान कहा जा सकता है। पश्चिमी क्षेत्र में छोटे-छोटे राज्य होने के बावजूद वन्य व्यवस्था में इनका महत्वपूर्ण स्थान था। यहाँ की स्थिति पर गुहा ने अपनी पुस्तक 'एथनीसीटी एंड एन्वायरमेंट इन इण्डिया' में शोध किया है। उन्होंने उपनिवेशपूर्व से उपनिवेश के उत्तरार्द्ध तक की स्थिति का वर्णन किया है और पश्चिमी भारत में जनजातीय एवं कृषि समाजों एवं राजनीतियों के बीच सम्बन्धों को बताया है। उनका शोध इस बात की सत्यता को दर्शाता है कि जनजातीय एवं वन्य समुदाय कभी एकाकी एवं पिछड़े नहीं थे। औपनिवेशिक शासन कई जनजातीय समूहों के पतन के लिए जिम्मेदार था। भील मुखियाओं की स्थिति का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि उनकी स्थिति इतनी महत्वपूर्ण थी कि कई छोटे राज्यों को मजबूत बनाने या उनको पतन की ओर ले जाने में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका थी।

ब्रिटिश नीति का एक ही उद्देश्य था—भारत के प्राकृतिक संसाधनों को अपने उपयोग के लिए प्रयोग और भारतीय अर्थव्यवस्था को अपनी सहायक अर्थव्यवस्था बनाना। सन् 1801 में औपनिवेशिक शासन के परिणामस्वरूप ही दोआब, मध्यक्षेत्र, निम्न दोआब में घने जंगलों की बर्बादी और पर्यावरणों को बहुत क्षति पहुँची। जंगलों की कटाई से मानसून पूर्व ही हवा गर्म व मिट्टी गर्म बन गयी, नदियाँ सूख गईं, जिसके फलस्वरूप अकाल की मार भारतीयों को झेलनी पड़ी।

ब्रिटिश वन नीति क्या थी? यह किस कारण आयी? इसमें क्या हित थे? क्या नुकसान? इस सम्बन्ध में विद्वानों ने अलग-अलग विचार प्रस्तुत किये हैं।

स्कारिया कहते हैं—“भारत में वैज्ञानिक वन्य व्यवस्था वनों का वाणिज्यीकरण मात्र था”

गोवर कहते हैं— “अकाल एवं अपरदन रोकने एवं वन्य संरक्षण के लिए सरकार ने वन्य नीति को लागू किया।”

दोनों कथनों में अन्तर को रंगराजन ने काल अवधि का कारण माना है, क्योंकि स्कारिया का कथन 19वीं सदी के मध्य की स्थिति पर है, जबकि गुहा का कथन 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध की स्थिति के सम्बन्ध में है।

कृषकों के कृषिकर्मियों के रूप में परिवर्तन होने की पहले से चली आ रही धारणा को नकारते हुए सी.ए. बेली कहते हैं कि 19वीं सदी में खानाबदोशों को कृषिकर्मी बनाने की प्रक्रिया जारी थी। नीलाद्रि भट्टाचार्य यह मानते हैं कि कृषि के वाणिज्यीकरण एवं विस्तार ने कमजोर स्थानीय समूह की स्थिति में परिवर्तन किया। कृषक वर्ग गरीब हुआ और यहाँ तक कि कुछ खानाबदोश तो कृषक बन गये। यह परिवर्तन इतना जटिल था कि संदर्भों में वनों एवं उजाड़ भूमि पर सरकारी अधिकार के बावजूद भी पशुपालक बने रहने के लिए संघर्ष करते रहे और कुछ व्यापारी व मजदूर बन गये। क्योंकि औपनिवेशिक काल में चरागाह पर कर बढ़ते चले गये, पशुपालकों के अधिकारों की अनदेखी की गई व उनके अधिकारों को गैरकानूनी घोषित किया गया, क्योंकि औपनिवेशिक शासन अपनी सम्पत्ति के अधिकार क्षेत्र का विस्तार करना चाहता था। वनों का परिसीमन, कृषि योग्य भूमि का विकास, मिट्टी का अपरदन, चरागाह क्षेत्र में कमी के कारण पशुपालक समुदाय पर बोझ पड़ा व उनकी स्थिति को पतन की ओर ले गया।

औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में महिलाएँ—औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में महिलाओं की स्थिति के सम्बन्ध में जो अध्ययन सामने आये हैं, उनमें महिलाओं की उत्पादन के क्षेत्र में भूमिका के सम्बन्ध में लिखा गया है। हालाँकि इस विषय पर कम ही लिखा गया है क्योंकि यह अध्ययन संस्कृति, साहित्य, शिक्षा, कानूनी अधिकार के प्रश्न पर ही आकर रुक जाता है। ऐसा नहीं है कि औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में महिलाओं की स्थिति के सम्बन्ध में हमारे पास बिल्कुल भी सामग्री उपलब्ध नहीं है। जे. कृष्णमूर्ति की पुस्तक ‘*वीमेन इन कॉलोनिअल इण्डिया: एसेज ऑन सर्वायवल वर्क एंड स्टेट*’ इस सम्बन्ध में सामग्री उपलब्ध कराती है। विभिन्न कार्यों (जैसे—सूत कातना, टोकरी बुनना, रस्सी बटना, मिट्टी के बर्तन बनाना आदि) में संलग्न महिलाओं की स्थिति के अध्ययन से इनकी स्थिति का ज्ञान होता है। 19वीं शताब्दी में सूत कातने में संलग्न महिलाओं की भूमिका और भारतीय जनसंख्या रिपोर्ट में महिला श्रमिकों का वर्गीकरण भी महिला स्थिति का ज्ञान करते हैं। अर्थव्यवस्था के द्वितीय क्षेत्र में अंशकालिक श्रमिकों की भूमिका में महिलाएँ महत्वपूर्ण स्थान रखती थीं। मॉरिस के अनुसार 1892-1946 की अवधि में फैक्ट्रियों में काम करने वाली महिलाओं व बच्चों का

कुल 20 प्रतिशत था। 1880 के दशक तक फैक्ट्री अधिनियम पारित तो हुए, परन्तु इससे महिलाओं की स्थिति पर कोई फर्क नहीं पड़ा। फैक्ट्री अधिनियम ने बम्बई की मिलों में महिलाओं का प्रवेश प्रतिबंधित कर दिया। 1871-1921 की अवधि में मृत्युदर पूरे देश में उच्च थी। इससे भी पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं की मृत्युदर अधिक थी। प्रवीण विसारिया के अनुसार महिलाओं में जन्म से ही जीवन प्रत्याशा कम होना, बालिका हत्या, बाल विवाह आदि कारण जिम्मेदार थे। कृषि कार्य में संलग्न महिलाओं की स्थिति महत्वपूर्ण थी जिसे नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। परन्तु अध्ययन सिर्फ बीज बोना, धान रोपाई, फसलों की कटाई, घरेलू सामान व शिल्पों में महिलाओं की स्थिति तक ही सीमित रहा है। वह इससे आगे महिलाओं की स्थिति के बारे में जानकारी देने में असमर्थ हैं। कृषक व जनजातीय आन्दोलनों में महिलाओं की स्थिति भी अध्ययन के विषय रहे हैं और समिता सेन ने कलकत्ता जूट मिलों एवं कानपुर सूती मिलों में महिलाओं की भूमिका के बारे में अध्ययन किया है। परन्तु जितना शोध औपनिवेशिक काल में महिलाओं की स्थिति पर होना चाहिए था उतना नहीं हुआ, जिससे महिलाओं की स्थिति को जानने के लिए शोधों की कमी नजर आती है। लेकिन स्वतंत्रता के बाद की स्थिति में अर्थव्यवस्था व पर्यावरण में महिलाओं की स्थिति पर विस्तृत अध्ययन हुआ है, जिसे संतोषजनक कहा जा सकता है।

सारांश

ब्रिटिश उपनिवेशवादी इतिहासकार भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की उपलब्धियों का जमकर बखान करते हैं और उस पर अपने को गौरवान्वित महसूस करते हैं। वे कहते हैं कि भारत आधुनिकीकरण करने में ब्रिटेन का बहुत बड़ा योगदान था। वे ब्रिटिश शासन को भारतीयों के लिए वरदान मानते हैं। वे कहते हैं कि यदि ब्रिटेन का शासन भारत में न होता, तो भारत कभी भी अपने पिछड़ेपन और रूढ़िवाद इतिहास से नहीं उभर पाता। वहीं राष्ट्रवादी ब्रिटिश शासन के नकारात्मक प्रभाव की ओर ध्यान दिलाते हैं। वे कहते हैं कि ब्रिटेन ने भारत का आधुनिकीकरण नहीं किया, बल्कि यहाँ पहले से मौजूद सम्पन्नता को भी नष्ट कर दिया। यहाँ से धन की निकासी के कारण ब्रिटेन को लाभ मिला और भारत दिन ब दिन दरिद्र होता चला गया। मार्क्सवादी इतिहासकार भी ब्रिटिश शासन के सम्बन्ध में पूँजीवाद को लेकर आलोचना करते हैं। 18वीं सदी को विघटन काल न मानकर 19वीं सदी को भारत के लिए ज्यादा नुकसानदायक माना जाता है क्योंकि इस समय में निरौद्योगीकरण, धन निकासी, अकाल आदि में वृद्धि हुई। राजनीतिक उथल-पुथल से आर्थिक पतन हुआ और अर्थव्यवस्था का विकास अवरुद्ध हुआ।

राष्ट्रवादियों और मार्क्सवादियों ने ब्रिटिश प्रशासन की आलोचना के लिए जो तर्क दिये हैं, वे सटीक हैं और भारतीय अर्थव्यवस्था पर उसके पड़ने वाले प्रभाव के बारे में लिखा है।

प्रश्न-अभ्यास

प्रश्न 1. औपनिवेशिक इतिहास लेखन के मुख्य रुझानों की समीक्षा कीजिए।

उत्तर—औपनिवेशिक इतिहास लेखन में मुख्य रुझानों के अंतर्गत जिन विचारधाराओं की बात की जाती है, वे निम्नलिखित हैं :

1. औपनिवेशिक दृष्टिकोण
2. राष्ट्रवादी दृष्टिकोण
3. मार्क्सवादी दृष्टिकोण
4. उदारवादी एवं नव उदारवादी दृष्टिकोण
5. आर्थिक सिद्धान्त, मानव विज्ञान एवं पारिस्थितिकी

(1) औपनिवेशिक दृष्टिकोण—उपनिवेशवादी इतिहासकार यह सिद्ध करना चाहते हैं कि भारत के लिए औपनिवेशिक शासन कितना अच्छा था और इससे भारत को कितने फायदे हुए। भारत में ब्रिटिश निवेश से ही रेलतंत्र, सिंचाई व्यवस्था, संचार तंत्र आदि विकसित हुए, जो औपनिवेशिक शासन की देन थे। उपनिवेशवादी इतिहासकार राष्ट्रवादियों की बातों का हर प्रकार से खण्डन करना चाहते हैं।

(2) राष्ट्रवादी दृष्टिकोण—राष्ट्रवादी ब्रिटिश शासन के हर रूप को नकारात्मक बताते हैं। वे यह तर्क देते हैं कि ब्रिटेन ने भारत का हर दिशा, हर क्षेत्र में अनिष्ट किया। धन के निकास की व्याख्या दादाभाई नौरोजी द्वारा की गई। उन्होंने बताया कि किस प्रकार भारत गरीब हो रहा है और उसका धन बाहर भेजा जा रहा है। भारतीय अर्थव्यवस्था को ब्रिटेन अपने अधीन बना रहा है। उद्योगों का विनाश किया जा रहा है, जिससे बेरोजगारी बढ़ रही है। भूमिहीन कृषकों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई है। राष्ट्रवादियों ने अपना तर्क बड़े प्रभावशाली ढंग से जनता के समक्ष रखा। यहाँ तक कि आर.सी. दत्त ने तात्कालिक मुद्दों पर लॉर्ड कर्जन के साथ वाद-विवाद भी किया।

औपनिवेशिक शासन के बड़े बुरे प्रभाव हुए, जिसके अंतर्गत उपनिवेशवादी इतिहासकारों की यह बात कि कृषि का वाणिज्यीकरण किया गया को राष्ट्रवादी कहते हैं कि कृषि का वाणिज्यीकरण भारतीय जनता के शारीरिक व आर्थिक शोषण के तहत हुआ। व्यापारियों एवं महाजनों के अत्याचार तो बढ़े ही, साथ ही औपनिवेशिक शासन के तहत अभाव, भुखमरी, मृत्युदर में वृद्धि भी हुई। राष्ट्रवादी इतिहासकारों के अनुसार सिंचाई व्यवस्था, कृषि में निवेश, वैज्ञानिक तकनीकी पर ध्यान न देना भी औपनिवेशिक शासन की सबसे बड़ी कमी रही।

राष्ट्रवादियों ने सीधे तौर पर उपनिवेशवादियों की इस धारणा का कड़े शब्दों में खण्डन किया कि भारतीयों के लिए ब्रिटिश शासन वरदान था। उनके अनुसार यह वरदान नहीं, अपितु एक अभिशाप बनकर भारतीयों के गले की फांस बना। हर भारतीय इस

शासन से त्रस्त था। औपनिवेशिक शासन की मार ने भारतीय अर्थव्यवस्था को पिछड़ा बना दिया। कृषि, सिंचाई, शिक्षा आदि के सम्बन्ध में न के बराबर काम हुए। रेलों के विकास के पीछे भारतीयों के लिए लाभ का कोई पक्ष नहीं था, बल्कि यह ब्रिटिश शासन के लिए ही लाभकारी सिद्ध हुआ। इसे ब्रिटिश शासन ने अपने लाभ के लिए ही शुरू किया था। कृषि का वाणिज्यीकरण भारतीयों के शारीरिक व आर्थिक शोषण पर हुआ। धन के निकास को भारतीय राष्ट्रवादी इतिहासकार सबसे बड़ा दोहन मानते हैं। वे कहते हैं कि भारत से धन विभिन्न रूपों रूप में ब्रिटेन जा रहा है और ब्रिटेन भारत को लगातार दरिद्र बनाने पर तुला हुआ है।

(3) मार्क्सवादी दृष्टिकोण—मार्क्सवादी मानते हैं कि औपनिवेशिक शासन ने भारतीय अर्थव्यवस्था को अपने अनुरूप ढाला। अर्थात् 1757 में प्लासी के युद्ध में विजय के बाद अंग्रेजों ने बंगाल का शोषण शुरू करके संपूर्ण भारतीय धन का दोहन शुरू कर दिया। मार्क्सवादी मानते हैं कि ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति को शुरू करने में भारतीय धन की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका थी। राष्ट्रवादियों की तरह ही मार्क्सवादी भी मानते हैं कि भारत में औपनिवेशिक शासन का प्रभाव सदैव नकारात्मक रहा और यह हमेशा भारतीय जनता और भारत का आर्थिक शोषण करता रहा। राष्ट्रवादी व मार्क्सवादी कई बातों में समानता रखते हैं। दोनों मतों के समर्थकों का मानना है कि ब्रिटिश शासन का कुप्रभाव भारत पर पड़ा। जैसे—ब्रिटेन की ओर धन का बहाव, औद्योगिक विध्वंस, कृषि का दमनकारी वाणिज्यीकरण, औपनिवेशिक सत्ता द्वारा आम जनता का शोषण आदि। मार्क्सवादियों ने अपनी आलोचना के केन्द्र बिन्दु में साम्राज्यवादी पूँजीवाद को रखा, जबकि राष्ट्रवादियों ने इसकी इतने प्रभावशाली ढंग से आलोचना नहीं की। भारतीय मार्क्सवादी इतिहासकारों में आर.पी. दत्त, रामकृष्ण मुखर्जी, इरफान हबीब, उत्सा पटनायक आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इरफान हबीब, लैटिन अमेरिकी इतिहासकार आंद्रे गुडर फ्रैंक और सेल्सो फुर्तादो आदि ने उपनिवेशवाद पर जो लिखा, उससे उपनिवेशवादी स्वरूप को समझने में मदद मिलती है। इन इतिहासकारों ने यह बताया कि अल्पविकास कोई स्वाभाविक घटना नहीं थी, बल्कि यह उपनिवेश को निरन्तर गरीब बनाये रखने का प्रयास था। अतः अल्पविकास स्वयं उत्पन्न न हुआ, बल्कि औपनिवेशिक शासन ने अल्पविकास को बनाये रखा और उसे निरन्तर बनाये रखने पर रखने पर जोर दिया, जिसके परिणामस्वरूप यह अपने भयंकर रूप में सामने आया।

भारतीय मार्क्सवादी इतिहासकारों ने अर्थव्यवस्था में उत्पादन सम्बन्धों की बजाय विनिमय सम्बन्धों से पूँजीवाद की व्याख्या की। उन्होंने आर्थिक विकास की प्रवृत्ति को दृढ़ व निर्धारित पाया। इसी कारण ये लोग भारत में परजीविता की धारणा को अस्वीकार कर देते हैं। पश्चिमी मार्क्सवादी विल वारेन ने भी अपनी पुस्तक में इस धारणा की आलोचना की है।

मार्क्सवादियों ने साम्राज्यवादी पूँजीवाद की आलोचना राष्ट्रवादियों से ज्यादा प्रभावशाली ढंग से की है। धन के दोहन की बात को मार्क्सवादियों ने भी स्वीकार किया है। मार्क्सवादियों के अनुसार भारतीय धन के कारण ही ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति को पर्याप्त मदद मिली।

(4) उदारवादी एवं नव-उदारवादी दृष्टिकोण—सन् 1980 के दशक में साम्राज्यवाद मुद्रावाद के उत्थान, ब्रिटेन सहित अन्य देशों के आर्थिक इतिहास का पुनः मूल्यांकन हुआ। इसमें शामिल इतिहासकार थे—कैन एवं हॉपकिन्स, पैट्रिक ओ ब्रायन, डेविस एवं हटनवैक आदि। इन्होंने मार्क्सवादी और वामपंथी उदारवादी विद्वानों द्वारा व्याख्यायित धारणा को गलत कहा। उदारवादी और नव-उदारवादी विद्वान कहते हैं कि साम्राज्यवाद उतना शोषक नहीं था, जितना मार्क्सवादी व वामपंथी उदारवादी दर्शाते हैं। इसके पीछे ये विद्वान तर्क देते हैं कि उपनिवेशों का आर्थिक दोहन स्वयं ब्रिटेन के हित में नहीं था, क्योंकि ब्रिटिश उद्योग और पूँजी निवेश के लिए तैयार औपनिवेशिक बाजारों के परिणामस्वरूप स्वयं ब्रिटेन के घरेलू उद्योगों का विकास अवरुद्ध हो गया था। औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में निरौद्योगीकरण के मुद्दे पर तीर्थकर राय एडम स्मिथ के दृष्टिकोण से समानता रखते हैं, जो ब्रिटेन द्वारा भारतीय उत्पादों के आयात की महत्ता को भली-भाँति समझते थे। उदारवादी व नव-उदारवादी इतिहासकार भारतीय मिलों में श्रमिकों द्वारा उत्पादन में कमी को ही भारत में आयात जारी रखने का कारण मानते हैं।

(5) आर्थिक सिद्धान्त, मानव-विज्ञान एवं पारिस्थितिक दृष्टिकोण—आधुनिक भारत में पर्यावरण और पारिस्थितिकी की भूमिका पर कम ही लिखा गया है। जहाँ इसके सम्बन्ध में संदर्भ उपलब्ध होते थे वहीं लिखा जाता था। अलग से इसके सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा गया है। लेकिन 50 वर्ष पूर्व भी कृषि अर्थशास्त्रियों, उद्योग अर्थशास्त्रियों ने पर्यावरण के विभिन्न पक्षों को उजागर किया। 1960 के दशक में भूषण चौधरी ने कृषि के वाणिज्यीकरण के अध्ययन में नील और पोस्त उत्पादन में पारिस्थितिकी के प्रभावों को दर्शाया है, लेकिन ये पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी के असली मुद्दे नहीं थे।

औपनिवेशिक शासन के इतिहास लेखन में हमने जिन रुझानों को देखा वे सब अपना-अपना दृष्टिकोण रखते हैं और औपनिवेशिक शासन के प्रभाव को दर्शाते हैं। जहाँ राष्ट्रवादी एवं मार्क्सवादी इतिहासकार इसके प्रभावों को नकारात्मक मानते हैं वहीं उपनिवेशवादी, उदारवादी एवं नव-उदारवादी इसे नकारात्मक नहीं मानते हैं। राष्ट्रवादी व मार्क्सवादी दोनों ही धन के दोहन के सिद्धान्त को बताते हुए कहते हैं कि किस प्रकार भारतीय धन का उपयोग ब्रिटेन ने अपने फायदे के लिए किया। वहीं उपनिवेशवादी इसे गलत बताते हुए कहते हैं कि यह स्वयं ब्रिटेन के उद्योगों के लिए भी खतरा था एवं उनका विकास अवरुद्ध कर सकता था। उदारवादी इतिहासकार भारत में आयात को श्रमिकों की कमी मानते हैं।

प्रश्न 2. औपनिवेशिक दृष्टिकोण की मार्क्सवादी व्याख्या की विवेचना कीजिए। मार्क्सवादी इतिहास लेखन की नव-उदारवादी समीक्षा का मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर—मार्क्स ने उपनिवेश के सम्बन्ध में कहा था कि उपनिवेशवाद आरम्भ में विध्वंसकारी दौर उत्पन्न करेगा और फिर पुनःसर्जना, जिसमें स्वयं औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था कांलातर में परिणत हो जायेगी। परन्तु भारत के सम्बन्ध में भारतीय मार्क्सवादी इतिहासकारों के अनुसार औपनिवेशिक शासन का प्रभाव नकारात्मक था।

औपनिवेशिक शासन के प्रभाव के सम्बन्ध में मार्क्सवादी मानते हैं कि इसमें कोई सन्देह है कि औपनिवेशिक शासन के दौरान भारत में कोई महत्वपूर्ण आर्थिक सुधार नहीं हुए। मार्क्सवादियों के अनुसार ब्रिटिश उद्योगपति नहीं चाहते थे कि भारत में औद्योगिक विकास हो, इसीलिए उन्होंने मुक्त व्यापार की नीति को जारी रखा। मार्क्सवादी कर संरक्षण और उद्योगों को राष्ट्रीय समर्थन के ही विकास का कारण मानते हैं। वे कहते हैं कि प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व कर संरक्षण और उद्योगों को जो राष्ट्रीय समर्थन मिला, उसके कारण ही विकास संभव हुआ। ब्रिटेन तो भारतीय औद्योगिक विकास को अवरुद्ध करने में ही अपनी भलाई समझता था, परन्तु भारतीय बाजार हमेशा ब्रिटेन में तैयार माल के लिए लालायित रहते थे, इसीलिए भारतीयों की क्रय क्षमता बने रहना भी अनिवार्य था।

औपनिवेशिक शासन में धन की निकासी भी भारतीय मार्क्सवादियों के लिए एक अहम् मुद्दा था। मार्क्सवादी इतिहासकार धन निकासी के सिद्धान्त पर उदारवादी एवं उपनिवेशवादी दृष्टिकोणों की आलोचना करते हैं। इरफान हबीब ने कहा है कि आरम्भिक दौर में ब्रिटेन के पूँजी निर्माण में भारतीय धन के निकास की महत्वपूर्ण भूमिका थी। मार्क्सवादी इतिहासकार अपने आर्थिक तर्कों के आधार पर उपनिवेश को समझाने का प्रयास करते हैं। उत्सा पटनायक बताते हैं कि 1765 के बाद ही भारतीय राजस्व का छोटे भाग से लेकर तिहाई भाग तक ब्रिटेन भेज दिया जाता था। कृषि का वाणिज्यीकरण भी निर्यात अधिशेष के माध्यम से खर्चों को पूरा करने के लिए किया गया। इसी कारण 19वीं सदी में अकालों की मार भारतीय जनता को झेलनी पड़ी और 20वीं सदी में प्रतिव्यक्ति खाद्यान्न की उपलब्धता घट गयी।

1920 के दशक में जब विकसित और पूँजीवादी देश मंदी के दौर से गुजर रहे थे, तब भारत में आयात रोकने के कारण औद्योगिक विकास हुआ। इस मुद्दे पर मार्क्सवादी और उदारवादी दोनों सहमति रखते हैं। परन्तु इस मुद्दे को व्याख्यायित करने का उनका अपना-अपना नजरिया है। उदारवादी इस औद्योगीकरण के पीछे कई कारण बताते हैं; जैसे—कर संरक्षण, मंदी के दौरान कृषि मूल्यों में गिरावट, उद्योगों एवं कच्चे माल की कीमतों में कमी आदि। मार्क्सवादी औद्योगीकरण पूँजीवाद के संकट, उसके साम्राज्यवाद

30 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

के साथ सम्बन्धों में पड़ती दरार, महाजनों द्वारा पूँजी निवेश आदि को मानते हैं।

आर.पी. दत्त 'इण्डिया टुडे' में यह बताते हैं कि द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान पूँजीवादी संकट ने भारतीय बाजार की महत्ता को कम कर दिया या उन्होंने औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध भारतीय संघर्ष को भी दर्शाया। मार्क्सवादी इतिहासकार मानते हैं कि ब्रिटिश दृष्टिकोण से भारत में ब्रिटेन का आर्थिक महत्त्व धीरे-धीरे घटता रहा।

मार्क्सवादी औपनिवेशिक शासन के सम्बन्ध में अपने विचारों से यह प्रतिपादित करते हैं किस प्रकार भारत के लिए औपनिवेशिक शासन बुरा था।

मार्क्सवादी इतिहासकारों के अनुसार विभिन्न चरणों में पूँजीवाद के विकास ने औपनिवेशिक विश्व में साम्राज्यवाद की नीति को निर्धारित किया। वे मानते हैं कि 1757 में प्लासी की लड़ाई के बाद से भारत से धन ब्रिटेन जाना शुरू हुआ और इसने ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

प्रश्न 3. 19वीं सदी की औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के प्रमुख लक्षण क्या हैं?

उत्तर—19वीं सदी की औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के प्रमुख लक्षणों को समझने के लिए भारतीय अर्थव्यवस्था पर पड़े ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के प्रभावों को समझना होगा, जो निम्नलिखित बिन्दुओं के तहत देखे जा सकते हैं :

1. निरौद्योगीकरण
2. धन की निकासी
3. कृषि का व्यवसायीकरण
4. आधुनिक उद्योगों का विकास।

(1) निरौद्योगीकरण—19वीं सदी में जब यूरोपीय देशों में औद्योगीकरण का दौर था, तब भारत में उस समय उद्योगों का पतन और निरौद्योगीकरण का ही दौर चल रहा था। यह भारत पर ब्रिटिश शासन का ही प्रभाव था। इसमें ब्रिटेन की अपनी योजनाएँ व आर्थिक लाभ निहित थे। ब्रिटिश उत्पादों और भारतीय उत्पादों के बीच भेदभाव की नीति बरती जाती थी। हस्तकला और शिल्प से सम्बन्धित जिनकी यूरोपीय देशों में भी भारी माँग थी, पर भारी कर लगाये जाते थे। इससे हस्तकला और शिल्पकला को धक्का लगा व भारतीय उत्पादन सिमटने लगे। 19वीं सदी में ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति अपने चरम उत्कर्ष पर थी और अपने उत्पादों की बिक्री करने के लिए बाजार चाहिए था। उसके सामने विकल्प स्वरूप सम्पूर्ण एशिया था। इस नीति के तहत ब्रिटेन से अपने उत्पादों की बिक्री बढ़ाने के लिए ब्रिटेन ने भारतीय उद्योगों का सफाया करना शुरू कर दिया। भारत से कच्चा माल खरीदकर ब्रिटेन भेजा जाता था और वहाँ के तैयार माल को बिक्री के लिए यहाँ भेजा जाता था। इस प्रक्रिया में इस कच्चे माल की कीमत दस से बारह गुना तक बढ़ जाती थी। भारतीय सम्पन्न वर्ग द्वारा भी ब्रिटिश उत्पादों को

वरीयता दी जाती थी। भारतीय मालों के लिए बाजार धीरे-धीरे कम होने लगे व इसके कारण भारतीय उत्पादन में लगे लोगों की संख्या घट गयी और भूमिहीन कृषक मजदूरों की संख्या बढ़ गई।

लेकिन कई इतिहासकार यह मानते हैं कि 19वीं सदी में भारतीय हथकरघा उद्योग की जितनी निराशापूर्ण स्थिति को दर्शाया गया है; शायद वह न्यायसंगत न हो, उससे अच्छी स्थिति में रहा हो। तीर्थकर राय अपनी पुस्तक में यह बताते हैं कि दो विश्व युद्धों के बीच भारतीय हथकरघा उद्योग न सिर्फ विदेशी, बल्कि भारतीय मिलों के समक्ष भी अपनी पहचान बनाये हुए था। 1930 के दशक के दौरान कपड़ा खपत के मामले में हथकरघा वस्त्रों के बाजार में वृद्धि हुई। राय ने भारतीय उद्योगों का विस्तृत अध्ययन करके यह साबित करने की कोशिश की है कि भारतीय उद्योगों ने विदेशी चुनौती को भली-भाँति स्वीकार किया है।

परन्तु 19वीं सदी में भारतीय शिल्प उत्पादन में गिरावट की बात को नकारा नहीं जा सकता।

(2) धन निकासी—धन निकासी के सिद्धांत को दादाभाई नौरोजी ने प्रतिपादित किया। उन्होंने बताया कि 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध तक 1500 मिलियन पाउंड की भारत से निकासी हो चुकी थी। अपनी पुस्तक 'पॉवर्टी एंड अन ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' में उन्होंने बताया कि धन की निकासी के कारण भारत दरिद्रता के गर्त में जा रहा है। दादाभाई नौरोजी स्वीकार करते हैं कि ब्रिटेन ने जो भारत में धन निवेश किया है, वह भारतीय धन के निष्कासन का एक बहुत छोटा-सा हिस्सा था। राष्ट्रवादी इतिहासकार भी यह स्वीकार करते हैं कि भारत से ब्रिटेन की ओर जो धन का प्रवाह हो रहा था, वह कई स्वरूपों में था; जैसे—सुरक्षा पर अत्यधिक व्यय, लोक प्रशासन पर भारी खर्च, उच्च भूराजस्व दर, विकास व सिंचाई व्यवस्था का अभाव, रेलवे हेतु गारंटीशुदा ऋण। ये सभी भारत से अप्रत्यक्ष धन निकासन से सम्बन्धित थे। भारतीय धन के निष्कासन से ही ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति को बढ़ावा मिला। भारतीय राजस्व के छोटे भाग से लेकर तिहाई भाग तक विदेश भेजा जाता था।

(3) कृषि का व्यवसायीकरण—औपनिवेशिक शासन से पूर्व भी कृषि का व्यवसायीकरण था, परन्तु औपनिवेशिक शासन के फलस्वरूप इसे कई गुना बढ़ा दिया गया। सस्ता खाद्यान्न, कच्चे माल आदि की आपूर्ति ब्रिटेन को सुचारु रूप से होती रहे और वह अमेरिका व अन्य देशों के मुकाबले व्यापार में अपनी स्थिति मजबूत बनाये रखे, इसलिए कृषि का व्यवसायीकरण किया गया। राष्ट्रवादी इतिहासकार मानते हैं कि 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में अफीम व नील की खेती कृषकों पर जोर-जुल्म करके करवाई जाती थी। अफीम की खेती पर ईस्ट इण्डिया कंपनी का एकाधिकार था। अतः वह इसे कम मूल्य पर खरीदती थी और कृषकों को अधिक अफीम उत्पादन करने के लिए कहती थी। यदि वे ऐसा नहीं करते थे, तो उन पर जुल्म किये जाते थे।

19वीं सदी में भारत में बार-बार अकाल पड़ते रहे, जिसकी पृष्ठभूमि में कई कारण थे; जैसे—नकदी फसलों का उत्पादन, अधिक लगान, राजस्व, वर्षा की अनियमितता, पर्यावरणीय क्षति आदि। औपनिवेशिक सत्ता का दायित्व, निरौद्योगीकरण व रेलवे का आगमन आदि अकाल के अन्य कारण माने जाते हैं।

राष्ट्रवादी एवं वामपंथी दोनों इतिहासकार इस बात को स्वीकार करते हैं कि कृषि के व्यवसायीकरण के फलस्वरूप एक सम्पन्न कृषक वर्ग का उदय हुआ। लेकिन इस सम्पन्न कृषक वर्ग के उदय का यह मतलब नहीं था कि भारतीय कृषि में उसकी गतिशून्यता की धारणा बदली हो।

(4) आधुनिक उद्योगों का विकास—राष्ट्रवादी मानते हैं कि यदि भारत स्वतंत्र होता, तो 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में कर संरक्षण की आड़ में अपना औद्योगीकरण करने में सफल होता। ब्रिटिश नीतियों के कारण ही अप्रत्यक्ष रूप से भारत के उद्योगों का विकास अवरुद्ध हुआ, क्योंकि ब्रिटिश नीति के परिणामस्वरूप भारत की आय और क्रय शक्ति दोनों कम हुई। भारतीय औद्योगिक आयोग की रिपोर्ट के बाद ब्रिटिश शासन ने भारतीय उद्योगों को बढ़ावा देने की नीति का अनुसरण किया। भारतीय रेल के लिए जमशेदपुर से निश्चित मात्रा में इस्पात खरीदने की गारंटी दी गई। देश में औद्योगीकरण का न होना, उपकरणों का न होना सब ब्रिटिश नीति के तहत था। रेलवे के जो उपकरण बनते थे, वे भी आयात किये जाते थे। औद्योगिक आयोग की रिपोर्ट से सूती वस्त्र, इस्पात, टिन प्लेट आदि उद्योग जरूर लाभान्वित हुए। औपनिवेशिक इतिहासकार भारतीय संस्कृति व सामाजिक मूल्यों को औद्योगिक विकास न होने देने का कारण मानते हैं, परन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है, क्योंकि 19वीं शताब्दी में भारतीय उद्योगों का विकास न होने देना ब्रिटिश नीति का ही परिणाम था।

प्रश्न 4. कृषि का वाणिज्यीकरण किस प्रकार आर्थिक मजबूरी और शारीरिक यातना की व्यवस्था पर आधारित था?

उत्तर—कृषि का वाणिज्यीकरण ब्रिटिश शासन ने अपने फायदे के लिए किया था। ब्रिटेन के लिए सस्ते खाद्यान्न एवं कच्चे माल की आपूर्ति बनी रहे और वह व्यापार में अन्य देशों से पिछड़ न जाये, उनके साथ प्रतिस्पर्द्धा में बना रह सके, इसके लिए कृषि का वाणिज्यीकरण किया गया। लेकिन यह वाणिज्यीकरण शारीरिक यातना और आर्थिक मजबूरी पर आधारित था। राष्ट्रवादियों का मानना है कि 18वीं और 19वीं सदी में नील व अफीम की खेती कृषकों की शारीरिक यातना व उनकी आर्थिक मजबूरी के तहत होती थी। कृषक उधार व ऋण के जाल में फंसे चले गए। नील व अफीम की खेती करने के लिए कृषकों को प्रलोभन दिये जाते थे अर्थात् उन्हें अग्रिम पैसे देकर नील व अफीम की खेती करने के लिए लालच दिया जाता था और अगर पैदावार कम होती, तो

उन पर शारीरिक जुल्म किया जाता था तथा पैसे पर सूद लगाकर अगली फसल के लिए उसे अग्रिम (advance) कर दिया जाता था। इस प्रकार कृषक अपनी आर्थिक मजबूरी के चलते आर्थिक दबाव में फंसे चला गया। ईस्ट इण्डिया कंपनी का अफीम की खेती पर एकाधिकार था। अतः कंपनी कृषकों को ज्यादा से ज्यादा अफीम उत्पादन के लिए उन्हें आर्थिक प्रलोभन देती थी और अच्छी फसल व पर्याप्त फसल न होने के कारण कृषकों पर शारीरिक जुल्म किये जाते थे। कई इतिहासकारों का यह मानना है कि नील की खेती के मामले में भी अत्यधिक शोषण एवं आर्थिक शोषण होता था। कृषकों की आर्थिक मजबूरी और शारीरिक शोषण को राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी दोनों ही मानते हैं। वे कहते हैं कि राजस्व के अधिक व नगद भुगतान ने भी कृषकों को नकदी फसल उपजाने पर मजबूर किया और इसका सबसे बुरा पक्ष यह था कि राजस्व भुगतान की समय-सीमा भी थी, जिसके कारण यदि कृषक अपने राजस्व का समय पर भुगतान नहीं कर पाते थे, तो उनसे उनकी जमीनें छीन ली जाती थीं और उन पर शारीरिक जुल्म भी किये जाते थे। इस सबसे बचने के लिए कृषकों ने महाजनों से अत्यधिक सूद की दर पर पैसा उधार लेना शुरू कर दिया और वे इस आर्थिक दबाव से दबते चले गये। नकदी फसलों का बाजार आर्थिक रूप से आकर्षक नहीं था, परन्तु कृषक फिर भी नकदी फसल उपजाते थे, क्योंकि सरकार को लगान, भूमिपतियों को राजस्व, महाजनों को सूद देने की मजबूरी ने उन्हें ऐसा करने पर मजबूर किया। नकदी फसलों को उपजाने में बहुत जोखिम थी।

दक्कन के कपास उत्पादक क्षेत्रों में महाजन उन कृषकों को, जो उनका पैसा नहीं लौटा पाते थे, को बंधुआ मजदूर बनाना बेहतर समझते थे। वे उनकी जमीनों पर कब्जा नहीं करते थे। इसके पीछे यह सोच थी कि यदि कृषकों को भूमिहीन बना दिया जायेगा, तो उसका पूरा परिवार जीविकोपार्जन में लग जायेगा और उसके परिवार की आमदनी बढ़ेगी व मजदूरी भी बढ़ानी पड़ेगी। जायरस बनर्जी ने 'इकॉनामिक एंड पॉलिटिकल वीकली' में लिखा है कि दक्कन के कपास उत्पादक क्षेत्रों के व्यापारी महाजनों ने कृषकों की भूमि पर कब्जा न करके उनसे बंधुआ मजदूरी कराना ही बेहतर समझा।

19वीं सदी में भारत में बार-बार पड़ने वाले अकालों के पीछे जो कारण थे, उनमें प्रमुख थे—नकदी फसल, लगान, राजस्व, उधार का दबाव, पर्यावरण की क्षति व वर्षा की अनियमितता जिससे कृषकों के भूखों मरने की नौबत आ गई। 20वीं सदी तक ये अकाल चलते रहे।

प्रश्न 5. इतिहास लेखन के दृष्टिकोण से औपनिवेशिक प्रशासन के आर्थिक प्रभावों का वर्णन कीजिए।

उत्तर—औपनिवेशिक शासन के आर्थिक प्रभावों के संदर्भ में

32 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

राष्ट्रवादी अर्थशास्त्री और उपनिवेशवादी अर्थशास्त्री अलग-अलग राय रखते हैं। जहाँ राष्ट्रवादी अर्थशास्त्री औपनिवेशिक शासन के आर्थिक प्रभाव को भारतीय दरिद्रता का कारण मानते हैं और भारत में आर्थिक पिछड़ेपन को लाने के लिए जिम्मेदार ठहराते हैं, वहीं उपनिवेशवादी इतिहासकार भारतीय पिछड़ेपन का कारण इसका पहले से पिछड़ा होना और इसकी जनसंख्या में भारी वृद्धि को मानते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि औपनिवेशिक शासन में भारत में कोई महत्वपूर्ण सुधार नहीं हुए, क्योंकि ब्रिटिश शासन नहीं चाहता था कि भारतीय उद्योग ब्रिटिश उद्योगों से प्रतिस्पर्द्धा करे। ब्रिटेन तो भारतीय उद्योगों को समूल नष्ट ही कर देता, यदि उसमें उसका अपना स्वार्थ न छिपा होता, क्योंकि ब्रिटेन के तैयार माल के लिए भारतीय बाजार सदैव लालायित रहते थे और भारतीयों की क्रय शक्ति को भी बनाये रखना जरूरी था। ब्रिटेन के लिए जब भी राजनीतिक स्थायित्व एवं आधुनिकीकरण एवं विकास में से एक को चुनने की बारी आयी, तो उसने सदैव राजनीतिक स्थायित्व को ही प्राथमिकता दी। औपनिवेशिक प्रशासन में आर्थिक प्रभावों में भारत से धन निकासी, उद्योग-धन्धों का विनाश आदि को देखा जा सकता है।

ब्रिटिश प्रशासन किस प्रकार भारत के धन का उपयोग अपने हित के लिए करने के लिए उसे ब्रिटेन ले जा रहा है, यह राष्ट्रवादियों ने बताया और इसकी सबसे पहले दादाभाई नौरोजी ने व्याख्या की। उन्होंने बताया कि भारतीय धन का दोहन ब्रिटेन की ओर लगातार हो रहा है, जिससे वह निरन्तर दरिद्रता के गर्त में जा रहा है और भारतीय पूँजी का उपयोग भारत के लिए न होकर ब्रिटेन के लिए हो रहा है।

भारत के पारम्परिक शिल्प उद्योगों उत्पादन में लगे लोग बेरोजगार हो रहे हैं। कृषक एवं मजदूरों की संख्या में लगातार वृद्धि हो रही है। सस्ते सूत के आयात से भारतीय बुनकरों की आय में कमी हुई। ब्रिटिश शासन के दौरान भारतीय हथकरघा उद्योग का बहुत बुरा हाल हुआ और भारतीय बुनकरों की संख्या घट गई, क्योंकि सूत कटाई और बुनाई का हास सीखे तौर पर कृषि की दशा, कच्चे कपास और खाद्यान्नों फसलों के मूल्यों पर निर्भर करती थी। भारत पर ब्रिटेन का आर्थिक प्रभाव निम्नलिखित बिन्दुओं के तहत भी देखा जा सकता है :

- ❖ सुरक्षा पर अत्यधिक खर्च
- ❖ भूराजस्व की अधिक से अधिक उगाही
- ❖ विकास व सिंचाई के साधनों का अभाव
- ❖ रेलवे हेतु गारंटीशुदा ऋण
- ❖ लोक प्रशासन पर भारी-भरकम खर्च।

औपनिवेशिक शासन ने भारत में सुरक्षा के नाम पर जो खर्च किया, वह भारतीय धन का अपव्यय ही था। ब्रिटेन से आये फौजी

अफसरों की तनखाह बहुत अधिक होती थी और ब्रिटिश नागरिक भारत में सेवा करने के लिए लालायित रहते थे, क्योंकि उनको भारी-भरकम रकम मिलती थी। ये लोग भारत से बहुत अधिक पैसा लेकर ब्रिटेन वापस लौटते थे और वहाँ के लोगों के लिए ईर्ष्या का कारण भी बनते थे। जब ये लोग सेवानिवृत्त हो जाते थे, तो इनकी पेंशन भी अधिक होती थी। औपनिवेशिक शासन में विशाल सेना भी रखी गयी थी। पुलिस, सेना आदि का खर्च बहुत अधिक था। ब्रिटेन जो भारतीय धन का दोहन कर रहा था वह सिर्फ भारतीय सुरक्षा के नाम पर था।

भूराजस्व की अधिक से अधिक उगाही ने भी भारत को पिछड़ेपन के गर्त में धकेल दिया, क्योंकि राजस्व की अधिक से अधिक उगाही इसलिए की जाती थी, ताकि अधिक से अधिक धन ब्रिटेन भेजा जा सके। भारतीय सुरक्षा व प्रशासन सुचारु रूप से चलाने के लिए भारत से धन ब्रिटेन भेजा जाता था। लेकिन राजस्व की दर अत्यधिक होने के कारण भारतीय कृषक सूदखोरी के जाल में फँसते चले गये।

रेलवे में पूँजी निवेश करने वाले ब्रिटिश व्यापारियों को 5% लाभ की गारंटी दी जाती थी, जो भारतीय जनता से ही वसूल किया जाता था। औपनिवेशिक शासन ने भारत में जो प्रशासन दिया, उसका स्तंभ भारतीय जनता के आर्थिक शोषण पर ही खड़ा था और भारतीय जनता के हितों की अनदेखी करके आर्थिक शोषण का यह दौर जारी रखा गया, जिससे भारत का आर्थिक तौर पर पतन हुआ।

प्रश्न 6. औपनिवेशिक काल के आर्थिक इतिहास के अध्ययन में मुखर इतिहास लेखन की नई प्रवृत्तियों की विवेचना कीजिए।

उत्तर—औपनिवेशिक काल के आर्थिक इतिहास लेखन में नई प्रवृत्तियों में निम्नलिखित बिन्दुओं को शामिल किया गया है। ऐसा नहीं है कि इन बिन्दुओं पर पहले नहीं लिखा गया, जो लिखा गया है, वह अधिक नहीं है, उसे सिर्फ प्रसंगमात्र ही उठाने की कोशिश की गयी है।

1. श्रम
2. सिंचाई
3. वन एवं पर्यावरण
4. औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में महिलाएँ।

(1) श्रम—श्रम के अन्तर्गत श्रम व श्रमिकों की भूमिका की व्याख्या की गयी है। अस्थायी श्रमिकों का अधिक होना उद्योगपतियों और प्रबंधकों के अपने फायदे के लिए था। क्योंकि उद्योगपति और प्रबंधक इन्हें अपने फायदे के लिए इस्तेमाल करते थे, ताकि घटती-बढ़ती माँग के व्यापारिक परिवेश में परिवर्तन को संतुलित रखा जा सके। ऐसा नहीं था कि ये श्रमिक अपने कर्तव्य पालन में कोई कोताही बरतते थे, बल्कि ये प्रबंधकों के अपने फायदे के

लिए बनाये गए थे। मिल मालिक श्रमिकों के साथ किस प्रकार का व्यवहार करते थे, इसका इस बात से ही अनुमान लगाया जा सकता है कि श्रमिकों को मौलिक सुविधाएं भी नहीं मिलती थीं। इसी के फलस्वरूप दलालों का हस्तक्षेप बढ़ा। इससे श्रमिकों को फायदा मिला, रोजगार के साथ-साथ उन्हें आवास, खाद्य सामग्री तथा संरक्षण भी मिला। श्रमिकों के मूल्यों को आकार देने के लिए कोई वर्ग नहीं था, क्योंकि इन श्रमिकों ने न तो अपने संघ बनाये थे, न ही कोई इनका संगठन था। ये हड़ताल के समय एक साथ इकट्ठे तो होते थे, परन्तु हड़ताल खत्म होते ही संघ को भंग कर दिया जाता था, चाहे वह आन्दोलन सफल ही क्यों न रहा हो। श्रमिकों के नेताओं का व्यवहार भी श्रमिकों के प्रति कुछ सही नहीं था, क्योंकि श्रमिकों को गरीब व दलित कहकर संबोधित किया जाता था। हालाँकि ये नेता मध्य वर्ग एवं उग्र सुधारवादी पृष्ठभूमि से होते थे, परन्तु इन पर अभिजात वर्ग का प्रभाव होता था। शिल्प आदि के काम में जाति विशेष की भी बड़ी भूमिका थी, जिस पर शोध भी किये गए हैं। बंगाल में घरेलू बर्तनों के उत्पादन में एक वर्ग बड़ा महत्वपूर्ण हो गया था। ताँबे, काँसे के बर्तन बनाने वाले कसेरों का विकास हुआ, क्योंकि अधिक संख्या में लोग इस ओर आकर्षित हुए। कारखानों में काम करने के लिए मिलने वाली न्यूनतम मजदूरी ने श्रमिकों को शिल्प कार्यों में संलग्न रहने के लिए मजबूर किया। शिल्पकार उत्पादन बढ़ाने वाली तकनीक को अपनाकर ही अपना अस्तित्व कायम रख पाये।

(2) सिंचाई—आर्थिक एवं सामाजिक इतिहास के दृष्टिकोण से सिंचाई और वनों की अपनी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इस सम्बन्ध में कृषि अर्थशास्त्रियों ने अभी तक जाति, पर्यावरण, तकनीकी आदि दृष्टिकोण से ही इस मुद्दे पर ध्यान दिया है। लेकिन इतना जरूर अवश्य है कि पानी के अधिक व फिजूल प्रयोग के नुकसानों व रेलवे आगमन से नहरों-नालों के अवरुद्ध होने की बात जरूर कही गयी है।

सुगता बोस ने कृषि उत्पादन के पर्यावरणीय पक्ष को भी सामने रखा और बताया कि गंगा के पूर्व की तरफ प्रसार की प्रवृत्ति ने पूर्वी बंगाल के उर्वर दोमट डेल्टा का निर्माण किया, जिसके कारण उपजाऊ मिट्टी ने कृषकों को जूट की खेती करने के लिए प्रोत्साहित किया। यह कृषकों के लिए यह फायदेमंद हुआ, क्योंकि छोटे-से जमीन के टुकड़े पर भी पर्याप्त आमदनी हो जाती थी और जूट एक नकदी फसल थी। इसका बाजार भी अच्छा था। मिट्टी की स्वाभाविक उर्वरता एवं दोहरी फसल के परिणामस्वरूप पर्याप्त पैदावार होती थी, जो भारतीय बुनकरों को एक सही जीवन जीने के लिए सक्षम बनाती थी।

इमरान अली ने अपनी पुस्तक 'द पंजाब अंडर इम्पीरियलिज्म' में पंजाब के सिंचाई, उपनिवेशीकरण व सेना में भर्ती के सम्बन्ध में लिखा है। उन्होंने बताया है कि किस प्रकार केनाल कॉलोनियों

के निर्माण ने पंजाब में सघन आबादी वाले क्षेत्रों की संकीर्णता दूर करने के अलावा औपनिवेशिक प्रशासन का आधार भी विस्तृत किया। सिंचाई की इस भूमिका एवं उपनिवेशीकरण के बिना पंजाब का शहरी-ग्रामीण विभाजन संभव न हो पाता।

(3) वन एवं पर्यावरण—भारतीय इतिहास के लेखन के नये रुझानों में वन एवं पर्यावरण भी अहम् मुद्दा रहा है। आर्थिक एवं समाजिक इतिहासकारों के लिए वन, जनजातियाँ, पर्यावरण आदि अहम् मुद्दे रहे हैं। रामचन्द्र गुहा ने अपनी पुस्तक 'द अनक्वायरर वुड्स' में गढ़वाल में चले चिपको आन्दोलन का वर्णन किया है जो पेड़ों की कटाई के विरोध में चलाया गया आन्दोलन था। भारत में पेड़ों की कटाई व वन नीति के विरुद्ध चलाये गए आन्दोलनों का यह कोई पहला लेख नहीं था, परन्तु इससे पहले वन एवं पर्यावरण के मुद्दे पर सिर्फ पर्यावरणीय इतिहास के सम्बन्ध में ही लिखा जाता था। वन नीतियों और वनों की कटाई की औपनिवेशिक शासन की नीति के विरुद्ध चलाये गये जन-आन्दोलनों पर पहले भी बहुत कुछ लिखा गया है। औपनिवेशिक शासन की वन नीति और इससे जनजातियों पर पड़ने वाले प्रभावों के सम्बन्ध में इतिहासकारों द्वारा नये रुझानों के अन्तर्गत लिखा गया। ये जनजातियाँ जिनकी जीविका के आधार में ये वन अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। उनकी कटाई से उनमें रोष बढ़ा और वे आन्दोलन करने को मजबूर हुए।

पश्चिमी क्षेत्र में जहाँ छोटे-छोटे राज्य थे, वन की राज्य व्यवस्था की महत्वपूर्ण भूमिका थी। रामचन्द्र गुहा ने इस सम्बन्ध में अध्ययन किया है और जनजातीय समूहों की स्थिति का पतन औपनिवेशिक काल के परिवर्तनों का परिणाम था। उन्होंने उपनिवेश पूर्व के काल से लेकर उपनिवेश के उत्तरार्द्ध तक की स्थिति का वर्णन किया है। पश्चिमी भारत के जनजातीय एवं कृषि समाज व राजनीतिक दृष्टिकोण से बदलती स्थिति के सम्बन्ध में बताया है। यह बताते हैं कि जनजातीय समूह कभी भी अकेला व पिछड़ा हुआ नहीं रहा।

ब्रिटिश सरकार की नीति के तहत जनजातीय समूह विद्रोह व आन्दोलन करने पर मजबूर हुआ। ब्रिटिश शासन की नीति का प्रमुख उद्देश्य भारतीय प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करना था, क्योंकि वह भारतीय अर्थव्यवस्था को अपने अधीन बनाये रखना चाहती थी। सूखे का कारण भी प्राकृतिक व मानवीय दोनों ही रूपों में देखा जाता है, क्योंकि जंगलों की कटाई से हवा गर्म हो गयी, मिट्टी का अपरदन बढ़ा और नदी स्रोत सूखने लगे, पानी में खारापन बढ़ा, जिसके परिणामस्वरूप गाँव के गाँव उजड़ गये, जो जंगलों की सिंचाई के परिणामस्वरूप हुआ, जो भारत में औपनिवेशिक शासन के परिणामस्वरूप हुआ। नीलाद्रि भट्टाचार्य ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि कृषि के वाणिज्यीकरण एवं कृषि-विस्तार की

34 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

इस प्रक्रिया ने कमजोर स्थानीय समूहों के स्वरूप में परिवर्तन कर दिया। कृषक दरिद्र हो गया व कुछ खानाबदोश बन गये। पशुपालक एवं कृषक मजदूरी की ओर उन्मुख हुए। यह सब बदलते कानूनी संदर्भ, वनों के कटाई व भूमि पर सरकारी दावों के परिणामस्वरूप हुआ।

(4) औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में महिलाएँ—औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में महिलाओं की स्थिति के सम्बन्ध में जो अध्ययन सामने आये हैं, उनमें महिलाओं की उत्पादन के क्षेत्र में भूमिका के सम्बन्ध में लिखा गया है। उत्पादन के क्षेत्र में महिलाओं की भूमिका मुख्यतः छोटे-छोटे उत्पादन क्षेत्रों में अधिक महत्वपूर्ण थी, जैसे—सूत कातना, टोकरी बुनाई, रस्सी बटाई, मिट्टी के बर्तनों का निर्माण आदि और ये ही औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में महिलाओं की स्थिति जानने में सहायक रहे। अर्थव्यवस्था के द्वितीयक क्षेत्र में अंशकालिक श्रमिकों की भूमिका महत्वपूर्ण है, जिसमें महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका है। 1892-1946 की अवधि में फैक्टरियों में संलग्न महिला व बच्चों की संख्या 20 प्रतिशत थी। भारतीय फैक्ट्री अधिनियम से भी महिलाओं की स्थिति में कोई फर्क नहीं आया। 1871-1921 की अवधि में मृत्यु दर पूरे देश में उच्च थी, जिसमें पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं की मृत्यु दर ज्यादा थी, जिसके कारण जन्म से ही महिलाओं की जीवन प्रत्याशा कम होना, बाल-विवाह, बालिका हत्या आदि प्रमुख कारण थे।

कृषि कार्यों में महिलाओं की भूमिका को कम महत्वपूर्ण नहीं समझा जाना चाहिए। कृषि के क्षेत्र में महिलाओं ने पुरुषों के बराबर काम करके अपने परिवार की जीविका चलाने का प्रयास किया और जो जुल्म पुरुष कृषक पर हुए, ऐसा नहीं है कि वे महिलाओं

को नहीं झेलने पड़े। उन्हें भी शारीरिक व मानसिक जुल्मों से गुजरना पड़ा। लेकिन इतिहासकारों ने कृषि के क्षेत्र में महिलाओं की स्थिति को कुछ सीमित बिन्दु तक ही देखने का प्रयास किया गया है। जैसे बीजों की बुआई, धान के पौधों की रोपाई, फसलों की कटाई, घरेलू सामानों के निर्माण व शिल्पों तक ही महिलाओं की भूमिका को जानने का प्रयास किया गया है, जबकि ऐसा नहीं है कि महिलाएँ सिर्फ इन कार्यों तक ही सीमित रहकर कृषि क्षेत्र में अपना योगदान करती थीं। वे कृषि के हर क्षेत्र में थीं। महाजनों आदि से सूद पर पैसा लेने के कारण पुरुष कृषक को जो जुल्म सहने पड़े, उसमें महिलाओं को भी साथ में वे दुख झेलने पड़े। अपने परिवार की जीविका चलाने के लिए उन्होंने भी पुरुषों के साथ बराबर संघर्ष किया। जनजातीय आन्दोलनों में भी महिलाओं की भूमिका महत्वपूर्ण थी, क्योंकि ऐसे कई उदाहरण हमारे सामने हैं, जो यह दर्शाते हैं कि जनजातीय आन्दोलनों में महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका थी। जूट मिलों, सूती कपड़ा मिलों में महिलाओं की भूमिका और उनके काम करने के घंटों के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उनका शोषण किस प्रकार होता था। लेकिन औपनिवेशिक काल में महिलाओं की स्थिति को दर्शाने वाले स्रोत पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हैं। इस विषय पर और अधिक शोध की आवश्यकता है, क्योंकि महिलाओं की भूमिका को कुछ सीमित बिन्दुओं में देखना उनकी स्थिति को जानने के लिए पर्याप्त नहीं है। स्वतंत्रता के बाद की अवधि में अर्थव्यवस्था व पर्यावरण से संबद्ध महिलाओं की भूमिका में विस्तृत व उत्साहवर्द्धक अध्ययन हुआ है। ■ ■

पर्यावरण क्षेत्र और भारत का आर्थिक इतिहास



प्रस्तावना

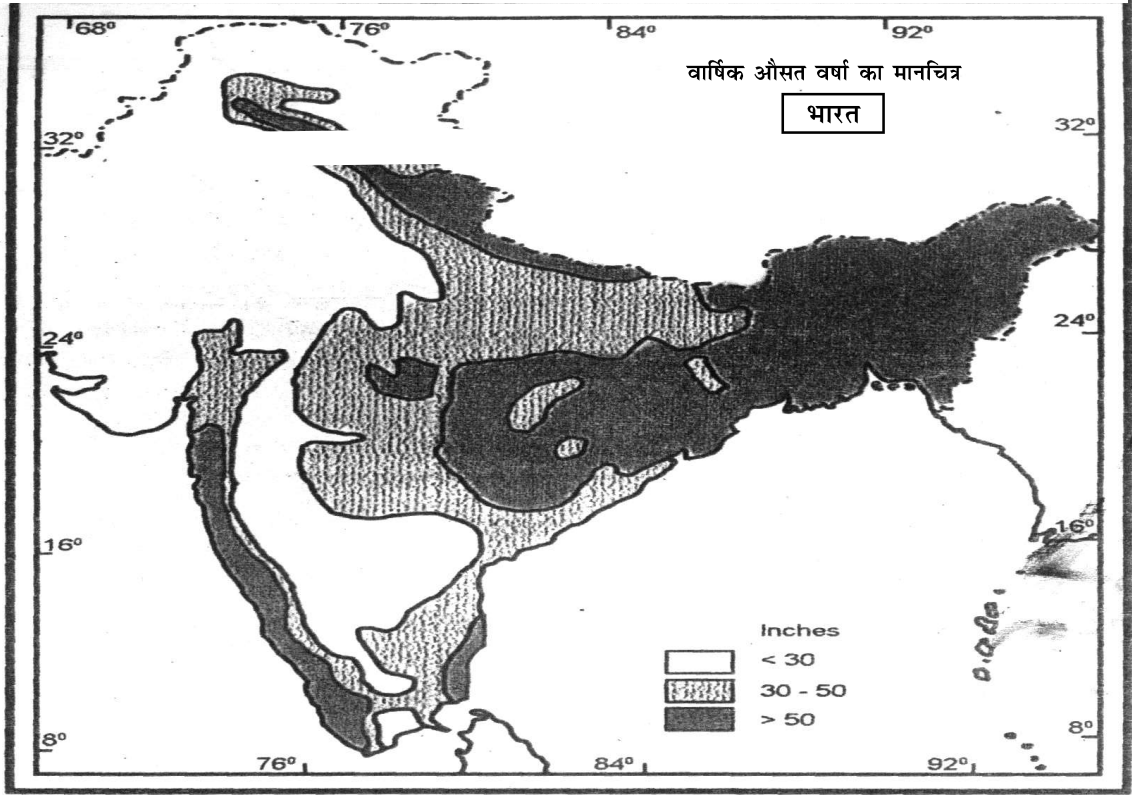
प्रस्तुत अध्याय में पर्यावरण के सम्बन्ध में भारतीय आर्थिक इतिहास जानने का प्रयास किया गया है। पर्यावरण यहाँ आर्थिक व्यवस्थाओं के उदय, उसकी निरन्तरता और उसमें हुए परिवर्तन को जानने का नाम है। भारतीय इतिहास को प्रत्यक्ष रूप से जिन भौतिक परिवर्तनों ने प्रभावित किया है, उनका विस्तार तुर्किस्तान से बर्मा (म्यांमार) तक रहा। मानसून को भारतीय कृषि की रीढ़ कहा जाता है। व्यापारिक पवनों की खोज से समुद्री व्यापार को क्या लाभ हुए? इस अध्याय में अध्ययन का विषय है। बदलते मौसमों का कृषि पर असर भी इस अध्याय का विषय है। भौगोलिक क्षेत्रों का कृषि पर असर क्या रहा भारतीय उपमहाद्वीप में कृषि परिवेश को निर्धारित करने वाले तत्त्व आदि भी इस अध्याय का विषय हैं।

दक्षिणी एशिया में मानसून

दक्षिणी एशिया में यदि जल की आपूर्ति समुचित व व्यवस्थित रहें, तो पूरे दक्षिणी एशिया में एक-सी फसलें उगाई जा सकती हैं। अतः अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग प्रकार की कृषि का सबसे महत्वपूर्ण कारण जल है। सूर्य मानसून के आगमन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। सूर्य सूखे व आर्द्र महीनों को गतिशील बनाता है जो मानसून लाने में सहायक होते हैं। सबसे लम्बी अवधि का मानसून उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में छाया रहता है, जिसमें मुख्य रूप से श्रीलंका, केरल आदि सुदूर दक्षिण के क्षेत्र हैं। बिहार, असम, चिटगाँव आदि एवं उत्तर-पूर्व के क्षेत्र, उड़ीसा व छत्तीसगढ़ आते हैं। मानसून की मेहरबानी की वजह से यहाँ घने जंगल व सघन वन हैं। ग्रीष्मकालीन संक्रान्तिकाल में जब सूर्य

दक्षिणायन होता है, तब भी दक्षिणी एशिया में मानसून कुछ स्थानों पर बना रहता है। इस मानसून से पश्चिमी मैदानों एवं उत्तर पश्चिमी शुष्क क्षेत्रों में हल्की-फुल्की वर्षा होती है। यह वर्षा का सबसे छोटा मौसम होता है। भारतीय प्रायद्वीप के पश्चिमी क्षेत्र में भी थोड़ी-बहुत वर्षा होती है। जुलाई महीने में दिन छोटे होने लगते हैं और बरसात प्रारम्भ हो जाती है। यह वर्षा मूसलधार होती है। इससे प्रभावित होने वाले क्षेत्रों में दक्षिण-पूर्व एवं उत्तर-पूर्व हैं। यह वर्षा अचानक व मूसलधार होती है। दिसम्बर व जनवरी की सर्दियाँ लोगों को भाँति हैं और जैसे ही सूर्य उत्तरायण होता है, गर्मी का मौसम शुरू हो जाता है। धीरे-धीरे तेज गर्मी पड़ने लगती है। बीमारियों का प्रकोप बढ़ने लगता है और तालाबों का पानी वाष्प बनने लगता है। जमीन सूख जाती है, जो कृषि के लिए हानिकारक होती है। इलाकों में पानी और चारा मैदानी समाप्त होने लगता है। लोग मवेशियों को पहाड़ों पर चारा व पानी की तलाश में ले जाते हैं, क्योंकि वहाँ बर्फ पिघलने से चारा व पानी की मात्रा बनी रहती है। गर्मी का मौसम सभी के लिए नुकसानदायक होता है। यह बच्चों व बड़ों के लिए तरह-तरह की बीमारियाँ लेकर आता है। जैसे-हैजा, चेचक, त्वचा व आँखों से सम्बन्धित बीमारियाँ, कुपोषण, शरीर में पानी की कमी आदि सब गर्मी के मौसम की देन हैं। गर्मी के मौसम से कृषि पर भी असर पड़ता है, क्योंकि अधिक गर्मी के कारण फसल सूख जाती है व पैदावार को हानि होती है।

दिये गये मानचित्र में औसत वर्षा को दिखाया गया है, जिससे पता चलता है कि कहाँ अधिक और कहाँ कम वर्षा होती है, जो पैदावार पर असर डालती है:



उत्तर-पूर्व में तीन फसलें काटी जाती हैं जहाँ वर्षा बहुत अधिक होती है, मार्च, अप्रैल, मई में रबी की फसल होती है, जिसमें मुख्य रूप से धान की पैदावार होती है। बिहार में इस समय गेहूँ, जौ व दलहन की फसलें उगाई जाती हैं। नवम्बर, दिसम्बर व जनवरी का मौसम अधिक पैदावार का मौसम होता है। इन दिनों धान की फसल अधिक महत्वपूर्ण होती है, जिसे अमान कहते हैं। यह 19वीं सदी के अंत में बंगाल, बिहार और उड़ीसा में उगायी जाने वाली एक मात्र और महत्वपूर्ण फसल थी, जिसकी पैदावार कुल कृषि योग्य भूमि के आधे भाग पर की जाती थी।

पश्चिमी भारत में कृषि कार्य मई में शुरू होता है। नर्मदा घाटी में रहने वाली भील जनजाति इसी समय कृषि कार्य प्रारम्भ करती है। ये लोग अत्यन्त श्रम के साथ बिना थके गर्मी के महीनों में कृषि करते हैं, क्योंकि इन लोगों में मान्यता है कि प्रकृति उसे ही वरदान देगी, जो श्रम करेंगे।

मौसम के प्रभाव से किस प्रकार क्षेत्रीय विविधता के कारण अलग-अलग फसलें उगाई जाती हैं? अधिक पैदावार के लिए कृषक अधिक श्रम करते हैं। वे गर्मी व सर्दी के मौसमों को अपने ऊपर झेलकर अपनी खेत से अधिक पैदावार लेने के लिए अधिक से अधिक श्रम करते हैं। फसलों को अत्यधिक गर्मी व अत्यधिक सर्दी दोनों ही नुकसान पहुँचाती हैं। परन्तु कृषक इसकी परवाह किये बिना अपना श्रम जारी रखता है।

व्यापारिक पवनें

भारतीय उपमहाद्वीप में गर्मी व सर्दी के दोनों मौसमों में मानसूनी पवनें चलती हैं। ग्रीष्मकालीन मानसून को दक्षिणी-पश्चिमी मानसून कहते हैं और शीतकालीन मानसून को उत्तर-पूर्वी मानसून कहते हैं। ग्रीष्मकालीन मानसून में अरब सागर में दक्षिणी-पश्चिमी दिशा में तेजी से हवा चलती है। शीतकाल में इसका रुख विपरीत दिशा में अर्थात् उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम की ओर होता है। ग्रीष्मकालीन मानसून व शीतकालीन मानसून दोनों के प्रभाव पड़ते हैं। ग्रीष्मकालीन मानसून के निम्नलिखित लाभ भारत को मिलते हैं :

- ग्रीष्मकालीन मानसून कृषि के लिए लाभदायक है, क्योंकि इसमें मूसलधार वर्षा होती है।
- समुद्रिक यातायात में सहायक होता है।
- जहाजों की यात्रा करने में मदद करता है।
- इस मानसून की वजह से जहाजों को भारतीय बन्दरगाहों तक पहुँचने में समय की बचत होती है।

ग्रीष्मकाल में जब मानसून का रुख दक्षिणी-पश्चिमी होता है, तो व्यापारी लोग जुलाई में भारत की ओर यात्रा प्रारम्भ करते हैं और शीतकाल में जब मानसून का रुख उत्तर-पूर्व की ओर हो जाता है, तो वे भारत से निकल पड़ते हैं अर्थात् यह ग्रीष्मकालीन मानसून व्यापारियों के आगमन का समय होता है, तो शीतकालीन मानसून उनके जाने का समय होता है।

सामुद्रिक पवनों की खोज हिप्पालस ने 45 ई.पू. में की थी, जिसके ज्ञान से समुद्री व्यापार में बहुत सहायता मिली। इनकी खोज व्यापारियों के लिए वरदान साबित हुई। जुलाई माह में ग्रीष्मकालीन मानसून में व्यापारी लाल सागर से अदन होते हुए भारतीय बन्दरगाहों पर पहुँचते थे। हालाँकि इस मानसून में यात्रा करते समय व्यापारी खतरों को भी झेलते थे, क्योंकि यह पवन बहुत तेज, खतरनाक और क्षति करने वाली होती थी। जहाजों की गति अक्सर तेज हो जाया करती थी, क्योंकि वे पवन की दिशा में यात्रा कर रहे होते थे। ये व्यापारी ग्रीष्मकालीन मानसून में अपनी यात्रा करते और भारत से व्यापार करते थे। भारत में अपने यहाँ का सामान आदि बेचते और नवम्बर तक सस्ता भारतीय माल खरीदकर अपने जहाजों में भर लेते क्योंकि नवम्बर में इन्हें वापसी की यात्रा शुरू करनी होती थी, जब शीतकालीन मानसून आ जाता था और हवाओं का रुख उत्तर-पूर्वी हो जाता था। ये पवनें इतनी तेज गति से चलती थीं कि मिस्र से किसी भी भारतीय बन्दरगाह तक पहुँचने में सिर्फ तीन महीने का समय लगता था।

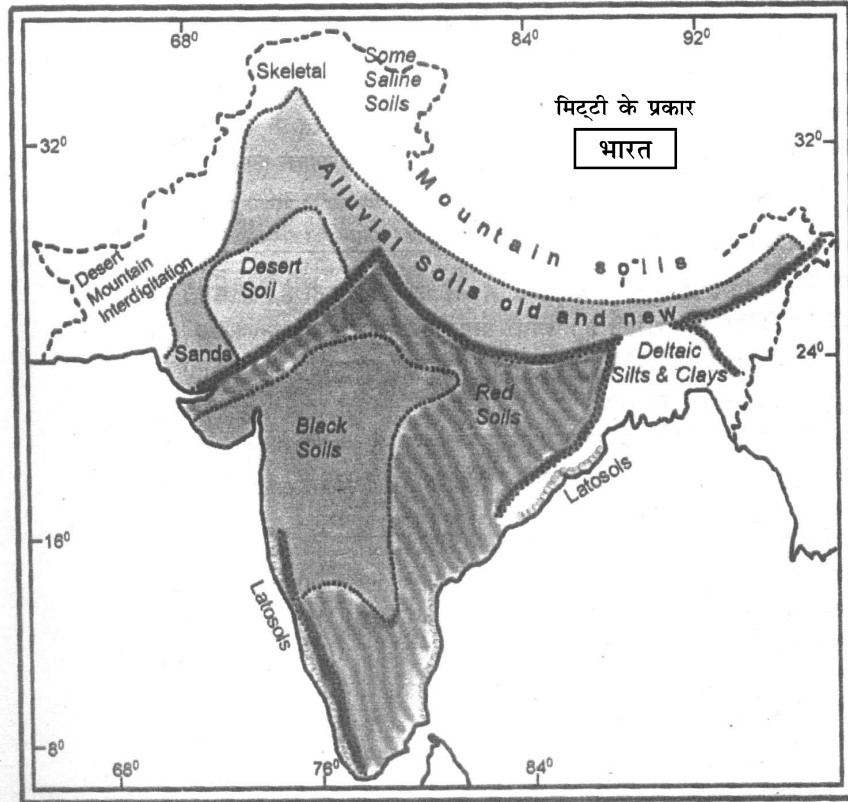
मौसम एवं अर्थव्यवस्था

कृषक जब खेती की जमीन तैयार करता है, उसमें बीज बोता है और जब वह बीज उसके पसीने रूपी पानी से बड़ा होना शुरू होता है, तो जैसे-जैसे वह पौधा बड़ा होता जाता है, साथ ही साथ कृषक के सपने भी उस पौधे के साथ-साथ बड़े होने लगते हैं, क्योंकि सालभर की कमरतोड़ मेहनत करके उसे अपने श्रम की कमाई जब पकी फसल के रूप में मिलती है, तो कृषक को वह खुशी मिलती है मानो उसे संसार का राजा बना दिया गया हो, क्योंकि फसलों की कटाई से ही व्यापार प्रसार में बढ़ोत्तरी होती है। फसलों की कटाई, ढुलाई, लेन-देन, कुछ पुराने कर्ज आदि निपटाने का समय लाती है। ये फसलें कृषक के लिए उसकी आस-उम्मीद सब-कुछ होती हैं। ये फसलें उसके जीवन का आधार बनती हैं। उसकी जीविका चलाने में सहायक होती हैं और ये फसलें उसके लिए वस्त्र, आभूषण, भोजन, पकवान, उपहार आदि सब-कुछ साधन

उपलब्ध करती हैं। कटाई से पूर्व फसलों की कीमतों में वृद्धि होती है और कटाई के बाद उनकी कीमतें घटती हैं। गर्मी आते ही पुनः कीमतें बढ़ जाती हैं और शुरू होता है जमाखोरों के लाभ कमाने का मौसम, क्योंकि ये जमाखोर फसल कटते समय खरीदते हैं सस्ते दामों पर और जब इसकी माँग बढ़ती है तो ये अपने गोदामों से इनको निकालकर बेचते हैं, क्योंकि अब ये अधिक मुनाफा कमा सकते हैं। इसमें डेरी उद्योग, शाक-सब्जी, मछली, वन्य उत्पादों को शामिल नहीं किया जाता, क्योंकि ये सब नकदी फसलें होती हैं और जमा करने पर इनका खराब होना तय रहता है। खाद्यान्नों की पैदावार में क्षेत्रीय भिन्नता अपना महत्त्व रखती है, क्योंकि किसी क्षेत्र में उसी खाद्यान्न की फसल अधिक और किसी में कम हो सकती है। यह उस क्षेत्र की मिट्टी आदि पर निर्भर करता है।

मानचित्र में भारतीय मिट्टियों को दर्शाया गया है कि किस प्रकार भारतीय मिट्टियों की भिन्नता अलग-अलग क्षेत्र में अलग-अलग फसलें उगाने में सहायक है। काली मिट्टी कपास के लिए अच्छी होती है। यह मानचित्र में दर्शाया गया है कि यह भारत के किस क्षेत्र में पायी जाती है। अन्य फसलों के लिए जिस-जिस मिट्टी की आवश्यकता होती है, उसको आगे बताया जायेगा।

फसलों की उगाही में सूर्य, समय, वर्षा और कटाई का महत्त्व



स्रोत : ओ.एच.के. स्पेट एवं ए.टी.ए. लियरमंथ, बंबई, 1972, पृष्ठ 98 पर आधारित

38 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

होता है। खेती का मौसम ही यह निर्धारित करता है कि वस्तुओं की कीमतें क्या होंगी? व्यापार जगत के बाजार, सरकार का लाभ एवं राजस्व का निर्धारण। मौसमों का महत्त्व इसी बात से पता चलता है कि चुनावों का समय भी मौसमों के हिसाब से तय होता है। दक्षिणी एशिया में महत्त्वपूर्ण राजनीतिक निर्णय भी मौसमों के परिवेश में तय होते हैं।

मौसम की अर्थव्यवस्था में भूमिका का एक और महत्त्व यह भी है कि गर्मी के मौसम में फसलें कट जाती हैं और लोग काम की तलाश में घरों से निकल जाते हैं। यदि पैदावार अच्छी होती है, तो लोगों को घरों से ज्यादा दूर नहीं जाना पड़ता और पैदावार अच्छी होने में मौसम अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। अगर मौसम की मेहरबानी नहीं होती और सूखा पड़ जाता है, फसल की पैदावार को क्षति पहुँचती है, तो लोगों के लिए खाद्यान्न जुटाने में परेशानी बढ़ जाती है। खाद्यान्न महंगे हो जाते हैं और लोग अपनी जीविका के लिए दूर निकल जाते हैं। मजदूरों के लिए तो यह स्थिति अत्यन्त संकटपूर्ण होती है। ये श्रमिक अन्य कामों में लग जाते हैं, जो सालभर तक चलते रहते हैं। गर्मी का मौसम-गैर कृषि मजदूरों की आय में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

ग्रीष्मकालीन मौसम के कुछ नुकसान भी उठाने पड़ते हैं; जैसे नदी तट सूख जाते हैं, पशुओं के चारे-पानी की समस्या आती है। लोगों के पास काम कम होता है कुछ लोग डकैती, राहजनी करने लगते हैं। लेकिन मई महीने के अन्त तक लोगों को वर्षा का इन्तजार होने लगता है, क्योंकि खेती की तैयारी करनी होती है। श्रमिकों में मवेशियों व उपकरणों की माँग बढ़ती है। फसलों की बुआई, मिट्टी का चयन, वर्षा का समय, सिंचाई के स्रोत आदि इस समय लोगों के बीच बातचीत के मुद्दे होते हैं। स्थान विशेष पर कृषि के लिए निवेश व सम्पन्न कृषक का तो व्यापार आदि के बारे में भी विचार करने का समय होता है। नई तकनीक और उसके प्रयोग में निवेश का भी मुद्दा लोगों के बीच होता है।

वर्षा कृषक के लिए महत्त्वपूर्ण होती ही है। साथ ही साथ वर्षा की मात्रा भी महत्त्व रखती है, क्योंकि यदि वर्षा हो और इसकी मात्रा कम रहे, तो इससे खेती को अधिक लाभ नहीं होता है और अगर बहुत अधिक मात्रा में वर्षा हो जाये, तो यह खेती को नुकसान भी पहुँचाती है। वर्षा की सम्भावना पर ही कृषक फसल बोने का विचार बनाता है। वर्षा यदि कम रहने की सम्भावना होती है, तो छोटे कृषक कम फसल बोने की सोचते हैं। परन्तु जो सम्पन्न कृषक होते हैं, जिनके पास सिंचाई के अपने साधन होते हैं, वे इसकी परवाह नहीं करते और अधिक फसल उपजाने और इससे लाभ कमाने की सोचते हैं। यदि वर्षा कम होगी, तो सूखा पड़ेगा और खाद्यान्नों की कमी आयेगी, जिससे उनके मूल्य में वृद्धि होगी। इसी कारण वे अधिक लाभ कमाने के लिए अधिक से अधिक उपज उगाने की सोचते हैं। परन्तु ये सिर्फ सम्भावना पर काम करते हैं। अतः कभी-कभी यह दांव उल्टा भी पड़ जाता है।

कृषि के लिए ऋण की आवश्यकता हमेशा रहती है, क्योंकि

वर्षा चाहे कैसी भी हो, कुछ फसलें ऐसी होती हैं जिनकी ज्यादा कृषि के लिए ऋण की आवश्यकता होती ही है; जैसे-कपास, पटसन, धान, गेहूँ, सब्जियाँ, गन्ना, तंबाकू एवं केले। कृषि के लिए कृषक को धन की आवश्यकता होती है, क्योंकि वह अच्छी से अच्छी फसल उपजाना चाहता है और उसमें अच्छा निवेश करके अधिक लाभ लेना चाहता है। कृषक को खाद, मशीन, उपकरण, सिंचाई आदि के लिए ऋण की आवश्यकता होती है। के.पी. अग्रवाल, के.जे.एस. सत्यासानी आदि विद्वानों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हुई है कि 1970 के बाद से कृषि ऋण की अधिक माँग होने लगी है। भारत में कृषि व उससे संबद्ध क्षेत्रों में कुल पूँजी में ऋण का जो पहले 19 प्रतिशत था, अब बढ़कर 33 प्रतिशत हो गया है। गरीब व छोटे किसानों के लिए ऋण ही उनकी जीविका का आधार हो सकता है, क्योंकि खेती के मौसम में किसान उस ऋण के बोझ के साथ ही कृषि कार्य में लगता है और सूखे के महीने में पोषण के लिए लिया गया ऋण उस पर बोझ की तरह होता है।

कृषक के लिए होली, दीपावली, दशहरा आदि सब कुछ उस समय आते हैं जब वह अपने खेतों में बीज बोता है अर्थात् यह समय उसके लिए महत्त्वपूर्ण होने के साथ-साथ जिम्मेदारी भरा भी होता है और इस फसल बुआई को वह एक रस्म की तरह निभाता है। अपना सब-कुछ इस समय वह झोंक देना चाहता है। पहले से जमा पैसा, कुछ नया जो उधार लिया गया है, सब कुछ क्योंकि यह ऋण लेकर लगाया गया पैसा अगर उसे लाभ नहीं भी देगा, तो उसको एक सामाजिक बंधन की तरह यह रस्म निभानी होगी। लोग इस समय जी-जान लगाकर मेहनत करते हैं, क्योंकि वे पिछले दिनों के मुसीबत भरे दिनों को झेल चुके होते हैं।

श्रम न मिलने का अभाव लोगों को खटकता रहता है और वे अब इस श्रम के काम को गँवाना नहीं चाहते, क्योंकि आगे उनकी जीविका इसी से चलती है। कृषक क्या जोते, क्या बोए यह उसकी मर्जी पर नहीं बल्कि बाजार, परिवार, समुदाय, सम्प्रदाय, जाति आदि पर निर्भर करता है क्योंकि उसे कुछ सामाजिक दायित्व भी निभाने पड़ते हैं। कृषि-कार्य को सुविधाजनक बनाने में एकता, निष्ठा व आदेश काम करते हैं। लोग एक-दूसरे से मिलते हैं, विचार-विमर्श करते हैं। फसलों के बारे में, अपने बारे में, अन्य लोगों के बारे में, वे एक-दूसरे के नजदीक आते हैं और तकनीकियों आदि के बारे में विचार-विमर्श करते हैं। शहर के लोग व्यापारी, वकील व अन्य पेशे में लगे लोग खेती में निवेश के लिए गाँव आते हैं और अधिक लाभ कमाने के लिए खेती में निवेश करते हैं। फसल बोने के बाद इन्तजार होता है, वर्षा का। यदि वर्षा अच्छी हो जाती है, तो कृषक के चेहरे खिल जाते हैं और अगर वर्षा नहीं होती या कम होती है तो हताशा का दौर बढ़ जाता है। कृषक तो परेशान होते ही हैं, साथ ही परेशानी आम जनता के लिए भी बढ़ जाती है। क्योंकि वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाती हैं। अगर पिछला मौसम भी ऐसी ही हताशा का रहा हो व खाद्यान्नों का भंडार

सीमित मात्रा में अगर रहा होता है, तो नौबत बहुत खतरनाक हो जाती है, भुखमरी की नौबत आने लगती है। गरीब लोग भूखो मरने लगते हैं। वे कुछ भी करने को तैयार हो जाते हैं और यहीं से शुरूआत होती है बंधुआ मजदूरी की, क्योंकि इस समय शोषण व भुखमरी से बचने का यही एक उपाय उन्हें नजर आता है। मौसम का मिजाज थोड़ा-बहुत वर्षा, बाढ़, तूफान आदि के बीच परिवार को पालने का जो संघर्ष गरीब लोगों को करना पड़ता है, वह किसी युद्ध लड़ने से कम नहीं होता। अब उसमें जीत होगी या हार, यह तो समय पर निर्भर करता है, पर इसको लड़ना तो पड़ता ही है।

उम्मीदों के साथ बादल आते हैं, परन्तु कुछ बीमारियाँ भी पनप जाती हैं। जैसे मच्छर, बाढ़, जल से पैदा होने वाली बीमारियाँ लोगों को घेर लेती हैं। फसलों को पका देखकर लोगों का अनुमान लगना शुरू हो जाता है कि फसल में कितना लाभ होगा। फसल में कितनी लागत लगी थी, कुल कितना लाभ मिलेगा, अफवाहों का बाजार गर्म रहता है। फसल पकने के साथ ही उसको खाने वाले विभिन्न रूपों में सामने आते हैं। भूमिपतियों, कृषकों, श्रमिकों एवं कर संग्रह करने वालों के बीच अपने-अपने स्वार्थ उभरने लगते हैं। हर कोई अधिक से अधिक लाभ बटोरना चाहता है। कटाई, गहाई, औसाई और रखरखाव आदि सब काम समय पर होने चाहिए। यदि थोड़ा-सा भी विलंब किसी काम में होता है, तो समझना चाहिए कि सालभर की मेहनत पर पानी फिर जायेगा।

कृषि परिदृश्य पर एक दृष्टि

कृषि क्षेत्र में ज्ञान की अपनी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। कृषि, मौसम, फसलों की किस्म, बीजों, बाजार की जानकारी आदि सब महत्वपूर्ण मुद्दे कृषक के लिए जानने वाले होते हैं, जिनको वह अपने ज्ञान के आधार पर समझ सकता है। कृषकों के मध्य प्रचलित विचार ही उनके ज्ञान का आधार बनते हैं। वर्षा अच्छी होगी, तो कैसे अधिक फसल ली जाये? वर्षा कम होगी, तो कैसे अच्छी वर्षा होने का दांव लगाया जाए? कृषकों को मिट्टी की तैयारी, बीजों का चुनाव, रोपाई, बुआई, कटाई, खाद आदि का ज्ञान होना चाहिए और उन्हें यह ज्ञान होता भी है, जो उन्हें विरासत में मिला होता है। यह ज्ञान पीढ़ी-दर-पीढ़ी बंटता चला जाता था। किसी खेत का अनुमान किस प्रकार लगाया जाता है। कैसे उसमें बीज व किस किस्म की मिट्टी में कौन-सा बीज बोया जायेगा? यह सब मौखिक ज्ञान पर आधारित होता है।

कृषि ज्ञान के लिए यदि प्राचीन भारत को देखा जाये, तो ईसा की पहली शताब्दी संस्कृत की मूल रचनाओं में कृषिकर्म में ज्ञान का उल्लेख मिलता है। छठी शताब्दी की 'कृषि पराशर' और वराहमिहिर की 'वृहत् संहिता' में, कृषि कार्य में ज्योतिषियों और मंत्रों एवं अनुष्ठानों की भूमिका का वर्णन मिलता है। 'वृहत् संहिता' से पता चलता है कि सभी ज्योतिषियों को कुछ बातें अवश्य समझनी चाहिए; जैसे-मानसून के आसार, वर्षा के लक्षण, फूलों और लताओं के विकास से पूर्वानुमान, मूल्यों का उतार-चढ़ाव, फसलों के विकास का दैनिक प्रभाव, पेड़ों के उपचार एवं खाद

डालने का काम, जल की पवित्रता आदि। ज्योतिषियों को ऐसी भूमि की पहचान करनी चाहिए जहाँ उसके नीचे जल के स्रोत अच्छे हों। 'वृहत् संहिता' में कुछ ऐसी बातें भी बताई गयी हैं, जिनसे होने वाले नुकसान से पहले ही रक्षा की जा सकती है, जिससे अकाल के लक्षणों की पहचान हो सके। सूर्य के धब्बे खतरनाक हैं। कुछ इन्द्रधनुष, चाँद के मुँह पर कुछ आकृतियाँ, धूमकेतु, ग्रहण, धूल भरी आंधी आदि अनिष्ट के संकेत हैं। 'वृहत् संहिता' में वर्षा होने के लिए शकुनात्मक उपचार बताया गया है। पुरानी मौलिक रचनाओं में भी कृषि से समृद्धि के महत्त्व को बताया गया है। जैसे-चूँकि अन्न ही सभी जीवों के जीवन का मूल है और स्वयं मानसून पर आधारित है। मानसून का सावधानीपूर्वक अवलोकन करना चाहिए। वर्षा के लक्षणों पर सात अध्याय हैं, जो ग्रहों के विन्यास के साथ-साथ इन्द्रधनुष एवं मेघाकृति के लक्षणों, कीट-पतंगों, जीव-जन्तुओं के व्यवहार, बादलों के गर्जन, बिजली के कड़कने की आवाज और आकृति, वर्षा, सूर्य एवं चन्द्र पंचांग के प्रत्येक भाग पर केन्द्रित है। आज के युग में भी कई लोकोक्तियाँ ज्योतिषियों की बुद्धिमानी और कृषकों से प्राप्त मार्गदर्शन के संदर्भ को प्रस्तुत करती हैं। 1802 में बेंजामिन हेन को मैसूर कुछ वर्षामापी यंत्र से मिले, जिनका उपयोग पंचांगों के निर्माण तथा प्रत्येक क्षेत्र को मिलने वाली वर्षा की मात्रा की भविष्यवाणी करने में होता था। वृहत् संहिता भी ज्योतिषियों को वर्षा की माप की सटीक विधि बताती है।

'कृषि पराशर' में खेतों से कीटों एवं कीटाणुओं को भगाने के मंत्र हैं। शारंगधर पद्धति में प्राकृतिक कीटाणुनाशियों का विवरण है। मिथक और पवित्र भूगोल ही कृषि परिदृश्य को दर्शाते हैं, क्योंकि कृषि क्षेत्र में संलग्न आबादी इस बात पर विश्वास नहीं रखती कि खेती की गतिविधियों के लिए सक्रिय गतिविधियाँ ही पर्याप्त हैं। वे लोग देवी-देवताओं को शान्त करना, पवित्र आत्माओं को श्रद्धांजलि, पवित्र स्थानों की यात्रा, सामूहिक यज्ञ-अनुष्ठान को कृषि की सफलता के लिए अनिवार्य तत्त्व मानते हैं। कृषकों के श्रम करने के भी कुछ दायरे होते हैं, जिसमें कीमतें, वस्तुएँ और प्राकृतिक तत्त्व आदि शामिल किये जाते हैं। उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण, सम्पत्ति पर अधिकार नहीं और न ही यह जाति या वर्ग संरचना से सरोकार रखता है। खेती को सामाजिक संस्थानों के रूप में भी देखा जाता है। यह खेत और खेतिहरों के बीच सामाजिक सम्बन्ध हैं।

ऐतिहासिक पर्यावरण

दक्षिणी एशिया को देखें, तो यहाँ की सामाजिक गतिविधियों और संस्थानों में कहीं न कहीं कृषि परिदृश्य शामिल होता है। यही बात सांस्कृतिक परिवेश को कृषि-केन्द्रित बनाती है। किसी क्षेत्र को कृषि प्रधान मानने का कारण महज उसके आर्थिक परिदृश्य का कृषि आधारित होना नहीं है, बल्कि इसका कारण खेती और उपज के व्यापार-प्रसार के दिनों में वहाँ की अधिकांश गतिविधियाँ कृषि को अपने में संलग्न रखती हैं। कृषि क्षेत्र में संगठित और समन्वित

40 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

कृषि कार्य की घटना कम ही मिलती है।

दक्षिणी एशियाई भौगोलिक क्षेत्रों ने हर प्रकार के विशिष्ट कृषि क्षेत्रों का स्वरूप ले लिया है, उन्हें मोटे तौर पर चालीस भागों में बाँटा गया है। इन सभी क्षेत्रों के अपने प्राचीन इतिहास भी होंगे। आधुनिक इतिहास में इनका संस्थानीकरण, एकीकरण और फिर पृथक्कीकरण कर दिया गया है।

कृषि परिवेशों का विभिन्न भागों में बँटवारा केवल उसके भौतिक गुणों के आधार पर नहीं किया जाता, बल्कि इसमें भूगोल, संस्कृति, तकनीकी एवं सामाजिक शक्ति के बीच सम्बन्धों के बँटवारे का योगदान होता है। दक्षिणी एशियाई परिवेशों को योजनाबद्ध ढंग से दो विपरीत ध्रुवों में बाँटा गया है:

(i) पर्वतीय एवं मैदानी

(ii) अर्द्ध-शुष्क एवं आर्द्र उष्णकटिबंधीय

अधिकांश कृषि क्षेत्र अर्द्ध-शुष्क मैदानों में पड़ते हैं। नदी, घाटियाँ एवं पठार आदि भी इसी क्षेत्र में हैं। यहाँ आनुपातिक रूप से अधिकांश लोग रहते हैं।

नदियाँ अपनी दिशा बदलती हैं। मरुस्थल का विस्तार और संकुचन होता रहता है। सूखी भूमियों की सिंचाई होती है। जंगल उगते और उजड़ते रहते हैं। फसलों की शैलियाँ बदलती हैं। मानवीय आबादी से प्रकृति का स्वरूप बदलता है। बढ़ती आबादी के कारण खेत शहरों में बदलने लगते हैं।

भू-परिदृश्यों के उपविभाजनों की सूची के आधार पर उनके भाग इस प्रकार हैं:

- (1) उत्तरी नदी-घाटी
- (2) उच्च पर्वतीय क्षेत्र
- (3) पश्चिमी मैदान
- (4) मध्य भारत का पर्वतीय क्षेत्र
- (5) आंतरिक प्रायद्वीप
- (6) तटीय मैदान

(1) उत्तरी नदी घाटी—ऊपरी सिंधु नदी के बेसिन और उसकी सहायक नदियाँ यमुना, गंगा और ब्रह्मपुत्र दुनिया के विशालतम नदी क्षेत्रीय मैदानों का निर्माण करती हैं। यहाँ जलोढ़ मिट्टी पायी जाती है। पहाड़ियों और नदियों के बहाव के कारण यहाँ कृषि एक कठिन काम है, परन्तु यहाँ की मिट्टी में उर्वरता रहती है।

यहाँ के कृषि क्षेत्र को नये-नये पोषक तत्व तो प्राप्त होते ही हैं, साथ ही बाढ़ का भय भी लगातार बना रहता है। सिंधु और गंगा नदी बंगाल की खाड़ी और अरब सागर के लिए प्राकृतिक मार्ग और जहाजों के अवागमन को सुचारु बनाती हैं। मरुस्थल और पहाड़ों से घिरे बेसिन में पर्यावरण धीरे-धीरे परिवर्तित होता पश्चिम के सूखेपन से पूर्व आर्द्र हो जाता है। वर्षा की दर अधिक होने के कारण गेहूँ और चावल मुख्य फसलें होती हैं। किसान एक वर्ष में दो बार फसल लेते हैं। पश्चिम और उत्तर में पहाड़ों (सुलेमान की पहाड़ियों, साल्ट रेंज, पंजाब रेंज, लघु हिमालय) से घिरा उत्तर-पश्चिम में पंजाब का जो तिकोना क्षेत्र है, वह सिंधु और इसकी सहायक

नदियों द्वारा बनाया गया है। यह क्षेत्र एक निम्न जल-विभाजक द्वारा गंगा बेसिन से पृथक् होता है। उत्तरी पहाड़ों की ओर वर्षा की मात्रा बढ़ती है। पश्चिम और दक्षिण में सूखापन पाया जाता है। नदियों के आसपास भूमिगत जल पाया जाता है। पंजाब क्षेत्र में दोमट मिट्टी पायी जाती है। सिंधु और सहायक नदियों के संगम पर वर्षा और भूमिगत जल लुप्तप्राय हो जाते हैं। पंजाब और राजस्थान का भाग जहाँ मिलता है, वहाँ मिट्टी भूरी और रेतीली हो जाती है।

जिस प्रकार उत्तरी बेसिन में सघन खेती का विस्तार हुआ है, पंजाब में भी इसी प्रकार हुआ है। यह विस्तार उन क्षेत्रों में अधिक हुआ है, जहाँ पानी का पहुँचना अधिक आसान था, परन्तु जहाँ पानी का बहाव कम था, वहाँ कृषि कार्य अभी भी कठिन था।

कृषि का विस्तार

(i) नदी-घाटी से उच्च मैदानों में।

(ii) गंगा-यमुना बेसिन में सघन कृषि का विस्तार पूर्व से पश्चिम की ओर; और

(iii) उच्च से निम्न मैदान की ओर हुआ।

कृषि के विस्तार को सहयोग दिया नहरों और नालों के निर्माण ने, जिसने कृषि के लिए पानी को सुलभ बनाया और कृषि करने में वर्षा की निर्भरता को कुछ कम किया। इसी क्रम में सबसे आधुनिक चरण 1960 का दशक माना जाता है, जब बिजली से चलने वाले पम्पों व ट्यूबवैलों का विस्तार हुआ। बंगाल और असम में वर्षा तथा नदियों में जल की मात्रा अधिक होती है। उत्तरी बेसिन के चारों ओर पहाड़ हैं। राजस्थान इसका अपवाद है। पहाड़ों से नदियाँ निकलती हैं। इन पहाड़ों में इमारती लकड़ियों का भंडार है। पर्वतीय समुदायों का अपना विशिष्ट चारागाह है। इतिहास देखें तो निचले मैदानी इलाकों के लोगों ने अपनी शक्ति का विस्तार नदी क्षेत्र के ऊपर व आसपास की पहाड़ियों पर किया। इन्होंने क्षेत्रों को जीता उपनिवेश बनाये, फिर अपने क्षेत्रों में मिला लिया।

(2) उच्च पर्वतीय क्षेत्र—पश्चिमी में मकरान शृंखला से उत्तर में सुलेमान एवं हिन्दुकुश होते हुए पूर्व की ओर वक्राकार कराकोरम शृंखला एवं हिमालय से नागा एवं मणिपुर की पहाड़ियों से गुजरते विशाल उच्च भू-विस्तार दक्षिणी एशिया को मध्य एशिया, तिब्बत, चीन और म्यांमार से जोड़ता है। इस भू-विस्तार में ढालदार पहाड़ी क्षेत्र, गहरी घाटियाँ, अनगिनत नदियाँ आदि मिलती हैं। इन क्षेत्रों में निचले मैदानों की अपेक्षा अधिक ठंड पड़ती है। गर्मी के दिनों में भी ये बहुत ठंडे होते हैं। इस प्रकार का मौसम बाजारों के लिए विशिष्ट और सुखद होता है। यहाँ जीव-जन्तु, पेड़-पौधे, जंगल आदि भी इस मौसम में फलते-फूलते हैं। निचली भूमि की भाँति यहाँ भी पर्यावरण बदलता है। पश्चिम की अत्यधिक शुष्कता से पूर्व में अत्यधिक नमी होती है। प्राकृतिक पेड़-पौधों और कृषि की विविधता भी स्वाभाविक-सी बात है। जंगल प्राकृतिक संसधानों का आधार होता है। नदियों की गति तीव्र होती है। पिघली हुई बर्फ नदियों का स्वरूप धारण कर लेती है। यहाँ झूम खेती की जाती है। कृषि पूर्व में सबसे महत्वपूर्ण होती है, जहाँ धान की खेती

होती है। पश्चिम में गेहूँ की खेती की जाती है। उच्च पर्वतीय क्षेत्र के विभिन्न इलाके को घाटियाँ और दर्रे जोड़ते हैं, जबकि उच्च जंगल एवं चोटियाँ उन्हें पृथक् करती हैं। केवल कश्मीर की घाटी, काठमांडु की घाटी और ऊपरी ब्रह्मपुत्र बेसिन में बड़े राजनीतिक क्षेत्रों का गठन हो पाया है। उच्च पर्वतीय क्षेत्र एक दूसरे से अधिक दूरी पर बसे होते हैं। इनके बीच की दूरी और बाधा दोनों होती है। इसीलिए ये क्षेत्र अपने समीप के क्षेत्रों से ही अधिक जुड़ते हैं। इस इलाके के पश्चिमी भागों में ईरान, अफगानिस्तान, सिंधु बेसिन, पंजाब के गलियारे में बलूच और पश्तो पहाड़ी समाजों का वास है। भूटान को छोड़कर सभी उच्च पर्वतीय समाजों पर निचली घाटियों में रहने वाले संभ्रांत वर्गों की सत्ता है।

नेपाल, नागालैण्ड, मिजोरम, बलूचिस्तान, कश्मीर और चिटगांव के पहाड़ी क्षेत्रों में होने वाले आन्दोलन राजनीतिक स्वायत्तता प्राप्ति के लिए संघर्ष करते हैं।

(3) पश्चिमी मैदान—अर्द्धशुष्क पश्चिमी मैदान पश्चिम में उच्च पर्वतों से मिलते हैं। ये धीरे-धीरे उत्तरी नदी बेसिन (हरियाणा) और मध्य भारत के पर्वतों में विलीन हो जाते हैं, जो मालवा और गुजरात में पड़ते हैं। ये चारों तरफ से दीर्घकालीन संपर्क क्षेत्र बनाते हैं। चूँकि ये मैदान थार मरुस्थल के प्रभाव क्षेत्र में हैं, यहाँ वर्षा कम होती है। सरस्वती नदी पश्चिमी राजस्थान के अंदरूनी भागों में बहती हुई पश्चिम में सिंधु नदी के निकट अपने डेल्टा में मिल जाती है। पूर्वी भाग में सिंचाई मूलतः कुओं से होती है और मानसून भी अच्छा होता है। इसी कारण बाजरा, मकई, गेहूँ, ज्वार और कपास की खेती अच्छी होती है। परन्तु पश्चिम की मिट्टी रेतीली होती चली जाती है। दक्षिणी भाग में धूसर भूरे रंग की रेतीली व लाल मिट्टी पाई जाती है। यह कृषि के लिए प्राकृतिक रूप से अच्छा क्षेत्र बनाता है।

जैसा कि शुष्क क्षेत्रों में देखा जाता है कि पानी एवं सम्पन्नता की तलाश में यहाँ पशु व मनुष्य दोनों एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं। कृषि जीवन में भी स्थिरता नहीं पायी जाती। यह पलायन अक्सर चारागाह की तलाश में मवेशी पालने के लिए एवं व्यापार के लिए होता रहता है। पश्चिम के मैदानों की ओर अधिक आबादी पायी जाती है, जिसके कारण हैं:

- स्थानीय आधार पर सिंचित क्षेत्र
- व्यापारिक मार्गों पर सामरिक महत्व के केन्द्र
- राजनीतिक सत्ता का विस्तार

सभी तरफ सीमा क्षेत्रों और समुद्री मार्गों से व्यापारिक संपर्क इस इलाके की आर्थिक सामर्थ्य हेतु महत्वपूर्ण हैं। इन क्षेत्रों के पालतू जानवर ऊँट की भाँति इस क्षेत्र की प्रवृत्ति बेकाबू हो जाने पर अपने इर्द-गिर्द भटकने के लिए मजबूर करती है।

(4) मध्य भारत का पर्वतीय क्षेत्र—पहाड़ों, घाटियों, नदियों, पठारों और मैदानों से घिरे इस भू-भाग का विस्तार पश्चिम में गुजरात, उत्तर में गंगा के मैदान, उत्तर-पूर्व में छोटानगर, दक्षिण में दक्कन का पठार व दक्षिण-पूर्व में गोदावरी नदी घाटी तक फैला

हुआ है। इस क्षेत्र का अधिकांश विस्तार नदी-घाटियों में हुआ है, जो सभी दिशाओं में बहती है। इस क्षेत्र में बहने वाली नदियाँ हैं चंबल, पार्वती, बेतवा एवं केन, जो यमुना में मिलती हैं। गंगा के क्षेत्र, उनकी घाटियाँ, ऐतिहासिक उच्च मार्ग का निर्माण करती हैं। नर्मदा घाटी, विंध्य व सतपुड़ा से बनती है। माही, ताप्ती व नर्मदा पश्चिम में खम्भात की खाड़ी में गिरती हैं। पहाड़ों से घिरा छत्तीसगढ़ कटोरे के आकार की नहर-घाटी संरचना बनाता है। यहीं से होकर महानदी पूर्व की ओर बंगाल की खाड़ी में प्रवाहित होती है। छत्तीसगढ़ के दक्षिण में उड़ीसा का क्षेत्र व बस्तर की पहाड़ियाँ हैं।

मध्य भारत के पहाड़ पश्चिम में शुष्क और पूर्व में नम हैं, जो उच्च पर्वतीय क्षेत्रों व उत्तरी घाटियों के समान हैं। दोनों भौगोलिक क्षेत्र समानान्तर हैं। पश्चिम में चंबल के बीहड़ों के उजाड़ झाड़ीदार क्षेत्र मानसून के मौसम में प्रचंड वेग से मिट्टी लाते हैं, जो गर्मियों में पककर कठोर हो जाती है। पूर्व और दक्षिण में उष्ण कटिबंधीय वन झारखण्ड, उड़ीसा और बस्तर को आच्छादित रखते हैं। उच्च पर्वतीय क्षेत्रों की भाँति इस भू-दृश्य में भी परस्पर सटे पहाड़ एवं घाटी वन्य क्षेत्र एवं नीचे की भूमि और उसके अपने-अपने समाजों का प्रभुत्व देखा जाता है। कृषकों, शिकारियों व पशुपालकों का संघर्ष बताता है कि जंगल काटकर कृषि की जमीन तैयार की जाती है। यहाँ झूम कृषि और जनजातीय समुदाय का बाहुल्य है। यहाँ पश्चिम में भील, मध्य में गोंड, पूर्व में सथाल रहते हैं। इस क्षेत्र को जनजातीय समुदाय का गढ़ माना जाता है। निचले भू-क्षेत्र में कृषक समुदाय का दबदबा बना हुआ है, जिसका कारण है पहाड़ों के उपयोग की प्रवृत्ति व सामाजिक शक्ति।

मध्य पहाड़ों में मिट्टी अच्छी पायी जाती है, चौड़ी घाटियाँ हैं, गर्मी की लम्बी अवधि होती है, शक्तिशाली कृषक समुदाय यहाँ रहता है। इसी कारण यहाँ के खेतों में विभिन्न प्रकार के विकल्प व तकनीकियाँ इस्तेमाल की जा रही हैं : जैसे

- छत्तीसगढ़ की एकल फसल धान
- बस्तर में झूम खेती
- बघेलखण्ड में मिश्रित व वन्य कृषि व ज्वार-बाजरे की खेती आदि
- नर्मदा एवं चंबल की घाटी के ऊपरी भाग में गेहूँ के खेत खेती की यह संरचना सामाजिक संरचना को भी व्यक्त करती है। मध्य भारत के पहाड़ों में जनजातीय व जातीय तत्त्वों का मिश्रण पाया जाता है। मिट्टी व पानी की सुविधा सघन कृषि प्रधानता को व्यक्त करती है।

(5) आन्तरिक प्रायद्वीप—यह अर्द्धशुष्क क्षेत्र है, जहाँ नदी-घाटियाँ और अंतर-प्रवाही नदियाँ पायी जाती हैं।

यहाँ खेती के मुख्य कारकों में

- पानी की पर्याप्त निकासी
- अच्छी मिट्टी परत
- दक्खन की चट्टानी परत में भूमिगत जल आदि हैं।

42 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

भूगर्भ विज्ञान के अनुसार ये लक्षण उन ज्वालामुखियों की देन हैं, जो अपने पीछे भूमि के अंदर चट्टानों की कंदराएँ, बड़े-बड़े पत्थर व काली मिट्टी छोड़ गये। दक्षिणी-पूर्व की चट्टानें हैं नल्लमलाई पूर्वी घाट, जावड़ी, शेवराय और पचाई मलाई आदि। आन्तरिक प्रायद्वीप एक तरफ पूर्वी घाट (गोदावरी के दक्षिण), पश्चिम में पश्चिमी घाट, उत्तर-पूर्व में मध्य क्षेत्र के पहाड़ से घिरा हुआ है। यह गुजरात के पश्चिमी मैदानों को स्पर्श करता है। ताप्ती और नर्मदा के दक्षिण में प्रायद्वीप की सभी बड़ी नदियाँ पश्चिमी घाटों का पानी लेती हैं। कृष्णा व गोदावरी तन्त्र मौटे तौर पर सूखे चौरस पठार पर अधिकांश दूरियाँ तय करती हैं। काली मिट्टी का क्षेत्र नर्मदा घाटी, ऊपरी गोदावरी, कृष्णा एवं उसकी सहायक नदियाँ; जैसे-भीमा, तुंगभद्रा आदि के आसपास पायी जाती है। उत्तरी दक्खन मिट्टी मूलतः काली है। ये मिट्टियाँ पानी की पर्याप्त मात्रा में अधिक उपजाऊ होती हैं। मिट्टी जितनी काली होती है, कम नमी में उसमें उतनी ही अच्छी फसलों का उत्पादन होता है। अधिकांश जमीनें पश्चिमी घाटों की वृष्टिछाया में पड़ती हैं और मानसून तो सभी जगह अस्थिर रहता है। छोटे-छोटे क्षेत्रों में सघन कृषि पायी जाती है। ये क्षेत्र नदियों के पानी और मिट्टी के मामले में सम्पन्न हैं। हालांकि बड़े-बड़े बाँधों व तालाबों का जाल-सा बिछ चुका है। परन्तु उत्तर-पश्चिम दक्खन (महाराष्ट्र) में अधिकांश सिंचाई कुओं द्वारा होती है। कर्नाटक के पठार व हैदराबाद के आसपास और वारंगल में तालाबों द्वारा सिंचाई होती है।

आन्तरिक प्रायद्वीप में कृषि का विस्तार तीन प्रकार के जंगली क्षेत्रों में हुआ जो इसे पंजाब, राजस्थान और गुजरात से पृथक् कर देते हैं। यहाँ ज्यादातर उष्ण कटिबंधीय जंगल चारों ओर भूमि पर फैले हुए हैं। मानसूनी जंगल कभी उच्च पठारों और पूर्वी घाटों पर छाये हुए हैं। गर्मी के मौसम में उनके पत्ते झड़ जाते हैं। पश्चिमी घाटों पर वर्षाकालीन सदाबहार वन पाये जाते थे, जो आज लुप्तप्राय होते जा रहे हैं। लेकिन दुर्भाग्य की बात यह है कि जंगलों को काटा जा रहा है और जमीनों का उपयोग कृषि कार्य के लिए किया जा रहा है। प्रायद्वीप में कृषि तकनीक ने परिवेश की भौगोलिक विविधता का संगठन किया है। 19वीं सदी में यहाँ बाजरे की खेती होती थी। विभिन्न प्रकार की मिट्टियाँ और पानी की उपलब्धता के आधार पर कई प्रकार के कृषि क्षेत्र बन गये। इनकी प्रमुख फसलें थीं-बाजरा, कपास, तिलहन आदि। कुंओं से सिंचाई ने सघन कृषि व धान की खेती को बढ़ावा दिया। उत्तर में मवेशीपालन एवं ग्राम्य सभ्यता का विस्तार हुआ।

(6) तटीय मैदान-समुद्र से सटा हुआ यह क्षेत्र पहाड़ी मैदान व नदी-घाटियों को अपने में समाहित किये हुए है। डेल्टा से सटे विकसित मैदान भी हैं। इन क्षेत्रों में धान की खेती होती है, जिसका प्रमुख कारण है-नदी-घाटियों के मैदान, दोमट मिट्टी आदि। इसकी पहाड़ी सीमा और उष्णकटिबंधीय निम्न दाब के क्षेत्र से इसकी निकटता जिससे बंगाल की खाड़ी में जाड़े के मौसम में मानसून के आगमन की परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। इसी कारण

यहाँ आन्तरिक प्रायद्वीप से अधिक वर्षा होती है। तमिल व आंध्रतट उष्णकटिबंधीय क्षेत्र हैं। सागर से सटा होने के कारण यह क्षेत्र मत्स्य पालन और तटीय सामाजिक जीवन को इंगित करता है। इसी प्रकार समुद्र तटीय व्यापार हिन्द महासागर, बंगाल की खाड़ी और अरब सागर के तटीय क्षेत्रों से संपर्क भी इस भौगोलिक क्षेत्र के लक्षण हैं। तटीय क्षेत्र होने के कारण इन क्षेत्रों के मध्य अधिकतर व्यापार समुद्री मार्गों से होता है। तमिल व केरल जिस सांस्कृतिक परिदृश्य के अंग हैं, वही तटीय क्षेत्र श्रीलंका में दिखाई देता है। दक्षिणी एशियाई तट और दक्षिण-पूर्व एशिया के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान सदियों से जारी रहा है।

यातायात मार्ग-दक्षिणी एशिया में यातायात मार्गों में दो प्रमुख मार्ग हैं, जो इस प्रकार हैं :

- (1) पहला मार्ग गंगा-ब्रह्मपुत्र डेल्टा को पूर्व में ईरान और पश्चिम में फिलिस्तीन से जोड़ता है।
- (2) मध्य एशिया से उत्तर-दक्षिण, मध्य भारत एवं दक्षिणी प्रायद्वीप तक जाता है।

ये मार्ग दो सामरिक क्षेत्रों में परस्पर एक-दूसरे को काटते हैं। इसी कारण काबुल, हेरात, मशद उन मार्गों पर पड़ते हैं जो दक्षिण, मध्य एवं पश्चिम एशिया को जोड़ते हैं। इसी प्रकार दिल्ली, अजमेर, भोपाल उन मार्गों पर हैं जो काबुल, बंगाल और गुजरात को दक्खन और दक्षिणी प्रायद्वीप से जोड़ते हैं। पहाड़ों को यातायात का प्राकृतिक बाधक माना जाता है, परन्तु यह बात विंध्य और हिमालय पर्वत के बारे में लागू नहीं होती। ये बाधित करने के बजाय यातायात के उन तत्वों को सुचारु बनाते हैं जो कृषि इतिहास को प्रभावित करते हैं। पश्चिम और उत्तर-पश्चिम में हिन्दुकुश, ईरान, मध्य एशिया तथा चीन की यात्रा में अधिकांशतः सैन्य बलों ने ही बाधाएँ खड़ी की हैं। मौर्य ने इण्डो-ग्रीक, तुर्क एवं अफगानों ने मंगोलों, ब्रिटिश ने रूसियों का रास्ता रोका। पूर्व में सघन उष्ण कटिबंधीय वनों ने उच्च पर्वतों तक यातायात मार्ग अवरुद्ध किया।

यातायात का दूसरा क्षेत्र हिंद महासागर है। यह समुद्री यातायात का सस्ता माध्यम है। यह पूर्वी अफ्रीका से लाल सागर होता हुआ दक्षिण-पूर्व एशिया और चीन तक फैला हुआ है।

नयी-नयी तकनीकियों के विकास ने यातायात को सस्ता किया है। रेलों के विकास ने माल की आवाजाही को सुलभ व सस्ता बनाया है, जिसके कारण समुद्री यातायात भी सस्ता हुआ है। इतिहास को देखें, तो पता चलता है कि

- रोमन साम्राज्य के काल में जलमार्गों द्वारा ही दक्षिण एशिया भू-मध्यसागर एवं दक्षिणी चीन से जुड़ा हुआ था।
- दिल्ली सल्तनत काल में समुद्री मार्गों का विस्तार यूरेशिया तक था।
- अकबर के काल में यह विस्तार अटलांटिक और प्रशांत महासागर को पार कर दुनियाभर के तटीय क्षेत्रों को जोड़ने लगा।

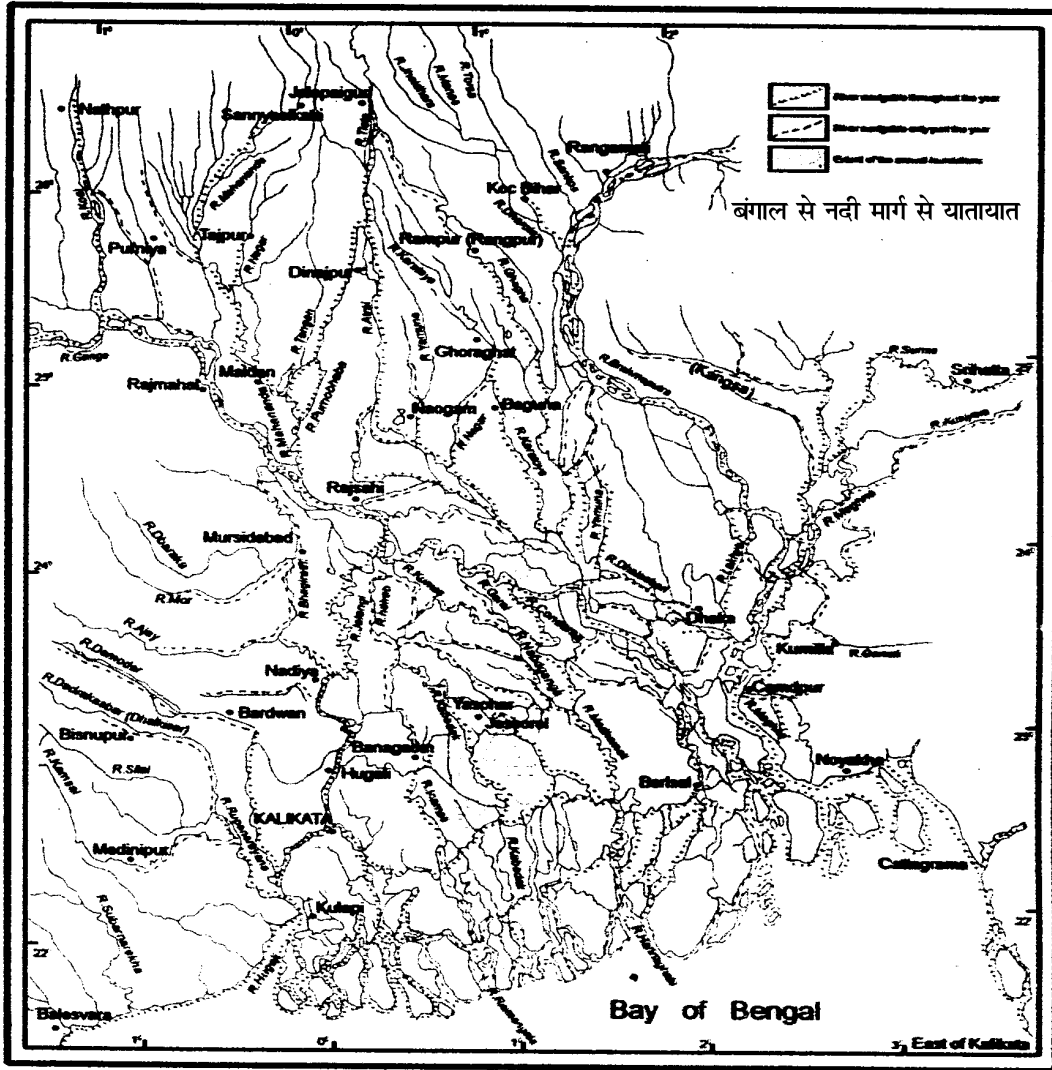
गंगा नदी ने आगरा तक एक अन्तर्देशीय उच्च मार्ग की संरचना की, जो मुगल काल के लिए विशेष महत्व रखता था।

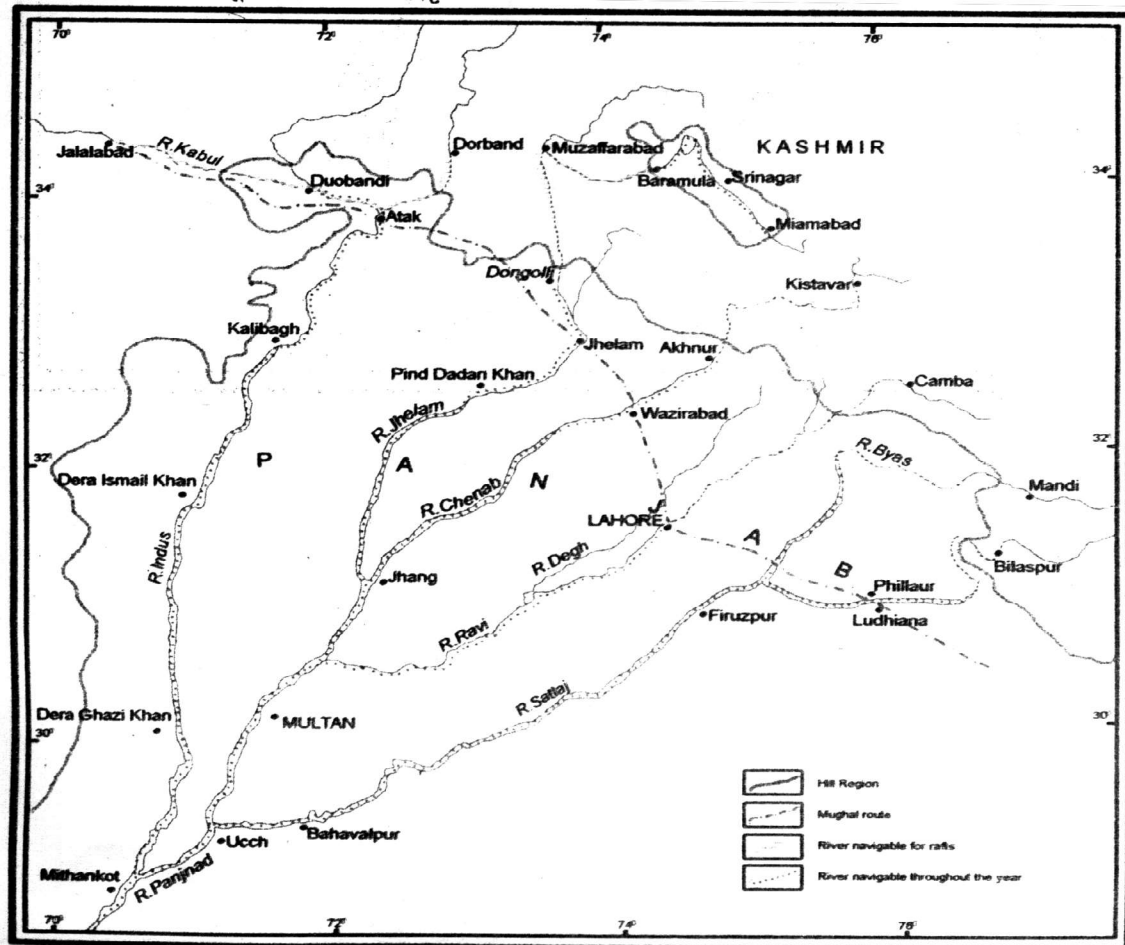
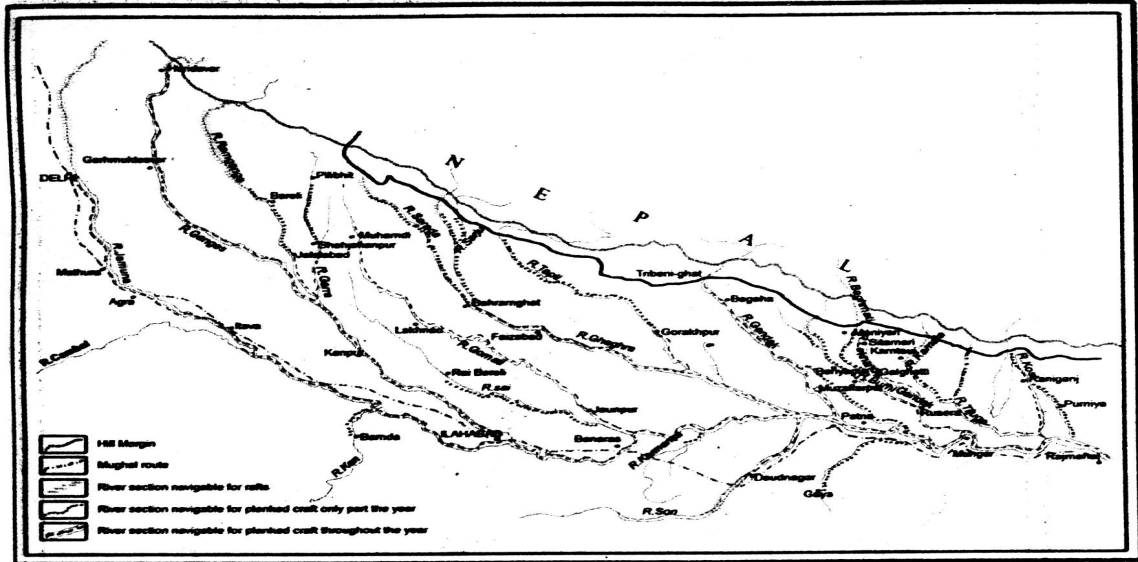
कुछ अन्तर्देशीय क्षेत्र समुद्र से बेहतर जुड़े हुए हैं, जबकि कुछ पृथक् रहे। जैसे—अफगानिस्तान, कश्मीर, नेपाल आदि। म्यांमार एवं मलेशिया के तट पहाड़ी वनों और जंगलों द्वारा दक्षिण एशिया के अन्तर्देशीय मार्गों से पृथक् हैं। उड़ीसा एवं केरल के तटीय क्षेत्र भी अन्तर्देशीय मार्गों से पहाड़ी वनों द्वारा ही अपेक्षाकृत पृथक् हो गये।

नदी मार्ग—भारतीय यातायात में नदी मार्ग की अपनी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। नदी मार्गों से परिवहन न केवल सस्ता और शीघ्र, बल्कि संचार के आधुनिक साधनों के अभाव में भारी परिवहन के लिए नदी मार्ग सुविधाजनक भी था। इसके उदाहरण हम इतिहास में देख सकते हैं। कोणार्क के मन्दिरों के निर्माण के लिए नीलगिरी पहाड़ी से पत्थर नदी मार्ग द्वारा उड़ीसा लाया गया। फिरोजशाह तुगलक वंश के सुल्तान ने खिज्रबाद के निकट नवेरा गाँव से यमुना नदी से नावों द्वारा अशोक स्तम्भ को दिल्ली में गवाया था। मैदानी

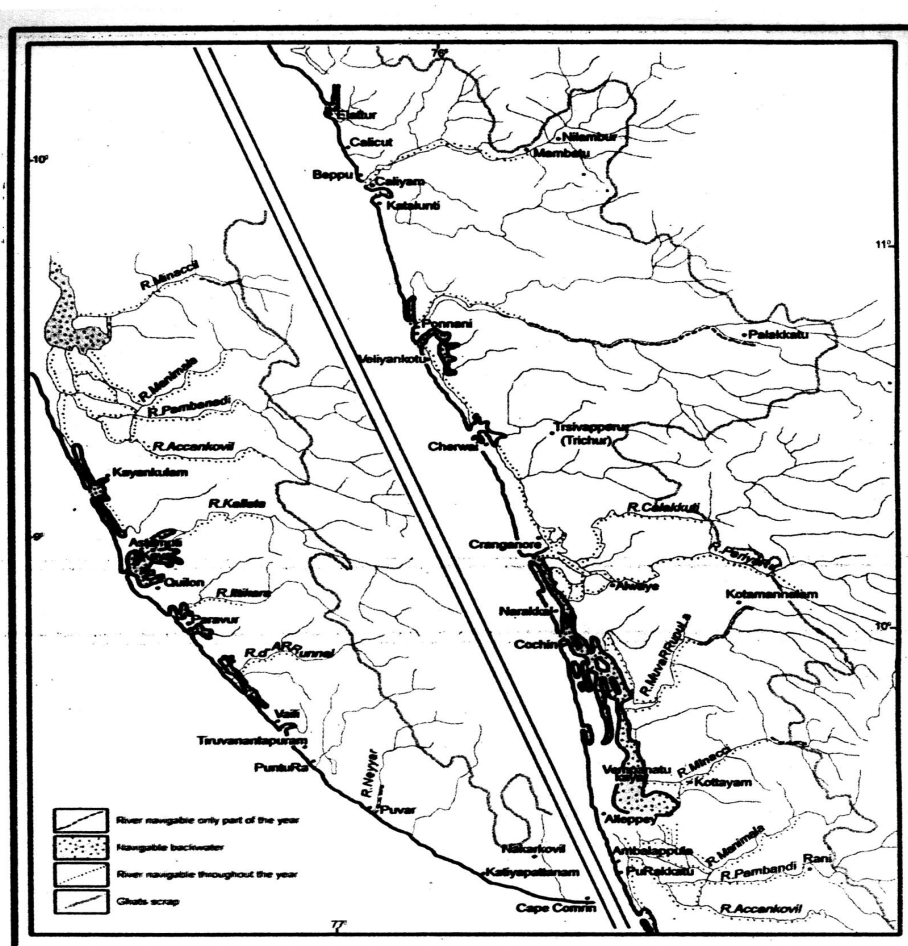
नदियों में नौकायन सालभर सम्भव है। यही कारण है कि ये यातायात में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका रखती हैं।

सिन्धु व गंगा नदी परिवहन के लिए अपनी महत्ता को प्राचीन काल से ही बनाये हुए हैं। जेम्स रेनेल भारत के पहले महासर्वेक्षक बने। उन्होंने बंगाल की नदियों पर गहन शोध किया और लिखा कि “गंगा एवं ब्रह्मपुत्र नदियाँ अपनी कई शाखाओं एवं सहायकों के साथ बंग देश को आड़ा-तिरछा काटती हैं। इस प्रकार एक सम्पूर्ण और सुलभ अन्तर्देशीय जलमार्ग का विकास हुआ है। वे आगे लिखते हैं कि करोड़ों लोगों के लिए नमक और बड़ी मात्रा में लकड़ी का परिवहन भी जलमार्गों से बंगाल और इसके अधिकृत क्षेत्रों से होकर जाता है। जॉ डेलोश भी बंगाल के नदी मार्गों को पूर्ण और सुविधाजनक बताते हैं।





लाभ जरूर नाविकों को मिला है। छत्तीसगढ़ के मैदानों से पूर्वी तट तक बंगाल की खाड़ी में गिरने तक यह नदी नौकायन के लिए लाभदायक है। तटीय क्षेत्रों में जलमार्गों के मामले में केरल की स्थिति अच्छी है। यहाँ पानी के स्रोतों ने समुद्रतलों का निर्माण कर दिया है, जो जलमार्ग से यातायात के लिए उपयुक्त हैं।



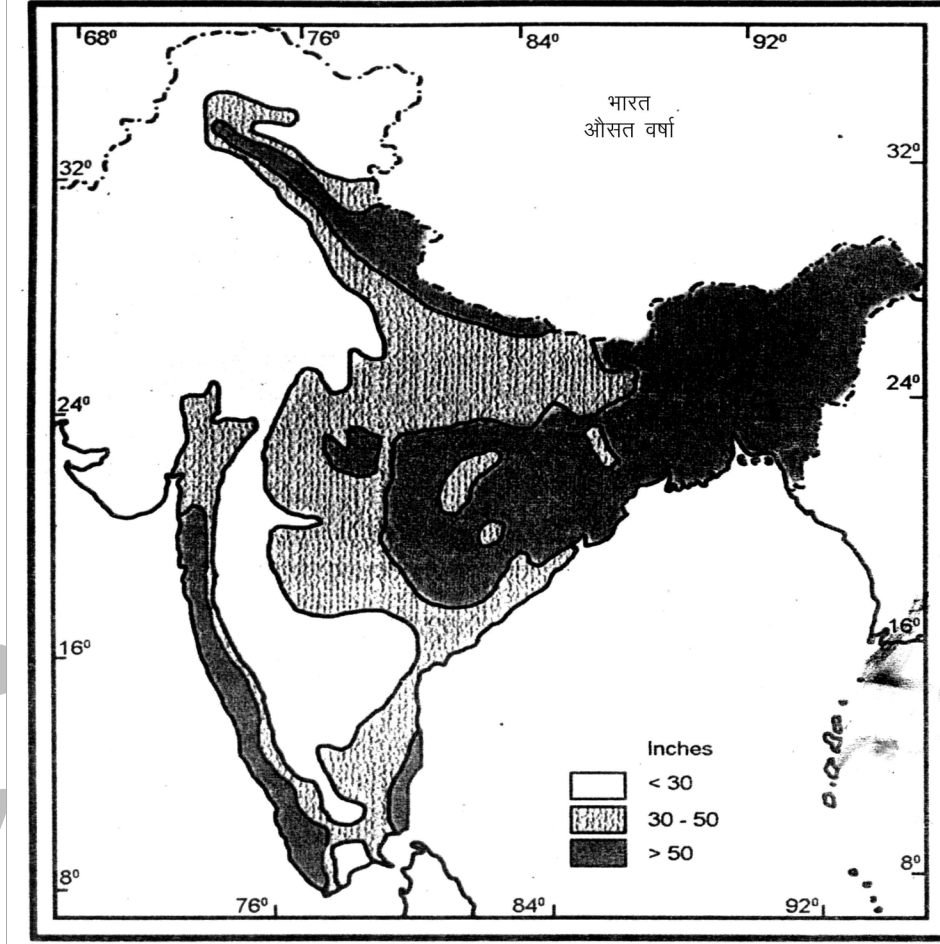
मानचित्र, यातायात नेटवर्क केरल व पश्चिमी तट

कृषि परिदृश्य को तैयार करने में लम्बी अवधि तक कृषि कर्म की आवश्यकता होती है। कृषक जमीन को तैयार करता है, खाद-बीज डालता है, अपनी मेहनत से सिंचाई, जुताई, कटाई करता है, तब कहीं जाकर उसको उसकी मेहनत का परिणाम मिलता है। कृषिकर्मियों के समाजों पर मानसून और फसल दोनों का प्रभाव पड़ता है। मौसम की कृषि में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। मौसम अच्छा एवं कृषक के अनकल रहा और वर्षा की मात्रा

अच्छी रही, तो फसल भी अच्छी होगी। कृषक को लाभ भी अच्छा मिलेगा। यदि इसके विपरीत हुआ, तो कृषक को उसकी मेहनत का लाभ नहीं मिल पाता है। मौसम के भौगोलिक गुण के परिणामस्वरूप शुष्क दक्षिण-पश्चिम एशिया और नम दक्षिणी-पूर्व एशिया के बीच विशाल संक्रमण क्षेत्र का विकास हुआ है। मानसून और मौसम ही कृषि और व्यापार की गतिविधियों का निर्धारण करते हैं।

प्रश्न-अभ्यास

प्रश्न 1. मानचित्र पर मानसून एवं वर्षा के पैटर्न को इंगित कीजिए। मौसम और अर्थव्यवस्था के बीच सम्बन्ध का विश्लेषण कीजिए।



उत्तर—विभिन्न वस्तुओं की पैदावार में क्षेत्रीय विविधता भी हो सकती है, परन्तु एक तथ्य जो सर्वविदित है, वह यह है कि कथित समय-सारणी सूर्य, वर्षा और कटाई की लय पर निर्भर करती है और इनका संतुलन न बना रहा, तो सिर्फ आर्थिक क्षति ही नहीं होती, अपितु उस देश की सारी अर्थव्यवस्था ही गड़बड़ा जाती है। फसलों की कटाई के बाद बाजार में नई जान आ जाती है तथा ये फसलें लेन-देन के कारण भौतिक स्वरूप ले लेती हैं। इनकी एक जगह से दूसरे जगह की दुलाई और भंडारण जीवंत हो उठते हैं और तब भी मौसम एक महत्वपूर्ण तथ्य है, क्योंकि अगर मौसम आर्द्र हो जाए, तो फसलों को हवा से बचाकर रखना पड़ेगा नहीं तो संभव है कि उनमें कीट उत्पन्न हो जायें। अन्न, फल, दालें, सब्जियाँ आदि विभिन्न स्रोतों से दुकानों तक पहुँचती हैं तथा यही हमारे लिए सब कुछ हो जाती हैं।

दो आर्थिक मौसमों को ध्यान में रखकर कृषिजन्य संपत्ति की उत्पत्ति होती है:

(क) पैदावार तथा

(ख) फसलों का व्यापार-प्रसार

हम हमेशा यह पाते हैं कि कटाई से पूर्व फसलों की कीमत अत्यधिक है तथा कटाई होते ही इनके मूल्य में भारी कमी होती है तथा पुनः कुछ ही समय में भारी वृद्धि हो जाती है। इस भारी वृद्धि में जमाखोरों की अहम् भूमिका है तथा वस्तुओं की समय-सारणी डेरी, शाक-सब्जी उत्पादों, मछली एवं अन्य उत्पादों के लिए भिन्न हो सकती है। वस्तुओं की कीमतें एवं बाजार और इसीलिए व्यवसाय जगत एवं सरकार के लाभ एवं राजस्व निर्धारण खेती के मौसमों के पथ पर ही अग्रसर होते हैं। आज तो चुनावों की तिथियाँ एवं परिणाम तक मौसमों से प्रभावित होते हैं। दक्षिण एशिया में

महत्वपूर्ण राजनीतिक निर्णयों की पृष्ठभूमि भी मौसम ही तैयार करते हैं।

तेज गर्मी के महीनों में जब व्यापार-प्रसार का मौसम होता है, तो फसलें कट जाती हैं तथा लोग काम की तलाश में बाहर निकलते हैं। पर अगर पैदावार अच्छी होती है, तो घर के नजदीक ही काम ढूँढ लेते हैं। गर्मी के मौसम में गैर-कृषि रोजगारों के अवसर भूमिहीन श्रमिकों की वार्षिक आय का महत्वपूर्ण निर्धारक होता है। सूरज की प्रचंड गर्मी से सूखकर कड़ी हो गई कच्ची सड़कें और सूखे नदी के तटों के कारण लोगों, माल-मवेशियों, खाद्यान्नों एवं भवन-निर्माण की सामग्रियों के परिवहन हेतु ये महीने बहुत उपयुक्त होते हैं। पर्यावरण में कृषि-कर्म तथा चारागाह हेतु भूमि के लिए प्रतिस्पर्धा होती है तथा आज भी सामान्य रूप से इसे शिवालिक की पहाड़ियों एवं पंजाब के ऊपर की उच्च शृंखलाओं में देखी जा सकती है।

व्यापार-प्रसार का समय सेना को सुसंचालित करने तथा नगरों में प्रदर्शन के लिए सही होता है। जमीन पर फसलें नहीं होती इसीलिए इन दिनों जंगलों की सफाई, कुएं-नहर की खुदाई, बांध, मन्दिर, मस्जिद, स्मारक, महल और किले आदि का निर्माण बड़े पैमाने पर होता है। मई के अंत तक सभी की आँखें आसमान निहारने लगती हैं और यही समय है जब श्रमिक वर्ग खेतों का रुख करते हैं तथा ये दिन तैयारी तथा आशा भरे होते हैं। वर्षा के आसार पर ही खेती आरंभ होती है। खेती की तैयारी में लगने वाला समय, जटिलता और श्रमिकों, मवेशियों एवं उपकरणों की माँग के मामले में विविधतापूर्ण होती है। फसलों की बुवाई, मिट्टी का चयन, वर्षा का समय एवं मात्रा, सिंचाई के अन्य स्रोत; जैसे-कुआ, तालाब या नदियाँ आदि विचारणीय मुद्दे हैं। स्थान विशेष पर फसल की उपज के उम्मीद के मद्देनजर होने वाले निवेशों का भी ध्यान रखा जाता है। संपन्न वर्ग के कृषकों द्वारा व्यापक तैयारी की क्षमता, खेती से पहले तकनीकियों में निवेश आदि के परिणामस्वरूप भी कथित विविधता पर्याप्त होती है तथा विशेषज्ञता एवं अनुभव भी अत्यधिक महत्वपूर्ण है तथा लोग इसके महत्व को स्वीकारते हैं। कृषकों, पैतृक सदस्य, ज्योतिष, पंचांग, सूत्र, वैज्ञानिक, पुरानी कहावतें, जादूगर, पंडित, कृषि-विस्तार, रेडियो, पाठ्य पुस्तक, टी.वी. आदि के कृषि विशेषज्ञ सभी कृषि कर्म की इस लीला में शामिल हो जाते हैं। यथार्थतः न केवल वर्षा की मात्रा बल्कि इसका समय भी उपज को विशेष रूप से प्रभावित करता है। छोटे किसानों के लिए तो ऐसी स्थिति बहुत कष्टकारी होती है, पर बड़े कृषक जिनके पास सभी उपकरण व औजार हों, अक्सर अफवाह या फिर बुरे मानसून के आसार की दूसरी व्याख्या करते हैं। यह समय भी उनके लिए मुनाफे का होता है, क्योंकि आने वाले दिनों में खाद्य-सामग्रियों की किल्लत और बढ़ती कीमतें बाजार में उच्च मुनाफे की गारंटी होती हैं।

वर्षा की संभावना अच्छी हो या बुरी कपास, पटसन, धान, गेहूँ, सब्जियाँ, गन्ना, तम्बाकू सदृश अधिक लाभदायक फसलों की बृहत् खेती या उनमें निवेश के लिए अक्सर ऋण की आवश्यकता होती है और दशकों से इनमें भारी वृद्धि भी हुई है, पर यह भी तो पूरी तरह से ही मौसम पर ही आश्रित है। अगर पूँजीपति वर्ग को यह भरोसा हो जाए कि फसलों के हिसाब से आने वाला मौसम अनुकूल है, तो वह भारी निवेश ऋण के रूप में कृषकों को देने को तैयार है क्योंकि उसे उम्मीद है कि फसल अच्छी होने पर उसे फायदा ही फायदा है। प्रत्येक वर्ष पानी और अच्छी भूमि सरीखे संसाधनों पर संघर्ष होता है। जुताई, रोपाई, खाद और पानी डालने के नए कृषि यंत्र आदि का उपयोग भी होता है। बहुत-से कृषक कृषि की जरूरतों के लिए ऋण लेते हैं और ये ऋण उन्हें कुछ फायदा करें या न करें पर एक सामाजिक बंधन तो अवश्य उन पर लाद देती हैं।

बाजार के अतिरिक्त कई अन्य कारक हैं जो यह निर्धारित करते हैं कि वे क्या रोपे व बोयें। परिवार, संप्रदाय, समुदाय, जाति और अन्य समूह के प्रति सामाजिक दायित्व ऐसे ही कुछ प्रमुख कारण हैं। जुताई और बुवाई के समय गाँव वाले शहरों की ओर और शहर वाले गाँव की ओर प्रयाण करते हैं। शहरों एवं नगरों में व्यापार, कर, दान आदि से संचित निधि जमीन में निवेश की जाती है और मुख्य रूप से आमदनी का जरिया बनती है। ऋण देने वाले, कर समाहर्ता, भूमिपति, व्यापारी एवं कानूनवेत्ता गाँवों का रुख करते हैं, फसलों में निवेश करते हैं और आमदनी सुनिश्चित करते हैं।

jlsbZoQcn cgg frulerd o"lZu glr lsgRklk glshgS
vlsolrplad hderav k eku Nusyrhgs; fn foxr elSe
ckjgkgsRist glkZoQcn flfr Hplejhrd vkt khgS
elSe dk; gh: i cdyket njvr Sj djrkgsT ls' lkkkoQ
l fRf fRfHplejhl d jlkHhgSeku wd hv fo' ol uh i zrlk
vlsNp v o"lZck-d hv k l k; kfouk d kjhrw cgg s
i fjo k l o f y, ebqtr yslj v ksgSv lS fo f h r j g o f j k
v lS Q k k H h n R d j r s g S

n f e m d s y n k c k n y c f j ' k o f f k e P N j] c k - v l S t y
l s i f k g l a s o k y h c h e f j ; k H h l f k y k k g S i Q y l a o f i d u s
o f f f k g h ' l q g l s k g S f o l j d k v u e k v l S f i Q [l s h i j
y k r o f f H k r k u d h x . k u A i j l d q m i t d h v f u f p r r k o f
p y r s v a k s v l S l e > l S d k c k l j . H h x e Z g r k g S i q % u e
v l S ' k p e l S e] [l s h v l S i f o l j o f f k l j & z l j v l S f u o s k
, o a y k k o f c i p d M a c u k h t k h g S d V b Z d h M a u t n r d
v k s g h [l s l a e a l e l c l s d f B u g l s t k k g S i V b Z 7 k & Q
g M u s d k d l e] d V b Z v l S k u s d k d l e] l f l k u s d k d l e r f k
v a e d H k . l j ; s H h l e ; i j g l a s p f g , A b l e ; d l e e a
c l e k d k e r y c i Q y d h c c l a h v l S n l o f v u e k i j

48 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

आधारित भविष्य का अंधकारमय होना है। कटाई आरंभ होते ही श्रमिकों की विश्वसनीय प्रतिबद्धता सर्वोपरि हो जाती है तथा उनका बाजार गर्म हो जाता है। इन दिनों में फसलों की कीमतें गिरती हैं

rFk.Jfed ladhder c<# k hgs; g elk v lsrshl sc<#h
gSv xj 'k hzghv U i Qy dhcqlbzduhgla; g nu {k h
eal hlo glskgSt glat k hseekul w gls; k T plbzocsy ij
nlyh; krlh jh jlskzga, bseal h h N"ld lagsv l s i R d
{k ead le d k cl e , dclxh c<#t k k g d v ofek ea
i Qy lea fuoskdjusokys l hly lsked k l f k; R v l s h l k z j k
[k g l s t k k g s i Qy lea c o k j s v l s f d , x, o k l e d l s i j k
d j u s e a f o j k d k # k l [r g l s k t k k g s

Ok k j s i z k o e l s e e s i Qy lea o n Q i k z c < # t k k
g s i s o j k v x j v i f k l s d e g l s r k s; g f l f r v o'; h l o h g l s
t k h g s d j l e l g r i z i . k k k j h l e i f r v l n y l e e k u l n b e u
g l s t k s g s i k j a f d : i l s n f " k i j v l k j r l h n f k k
, f k k z k v l e a x l e d k y h u e k l w o s i f k g h j k L o o " z d h
' l q v k g l s h g s e x y l e d h i j a j k l s n f f o l u h o " z d h
i f j d Y u k d l s v l e d j k v u s v i u k l a; g d k z i g l k z s
v l k k g l s k g s h j r h l a n d k x l e d k y h u l k h n v l e r l s
i j e k l w l s i o z g h j [k t k k g s r k d [l s h d k l e;
j k u l f r d o k l e d k h l e; c u k j g s

प्रश्न 2. किस सीमा तक भौगोलिक क्षेत्रों ने भारत के कृषि मानचित्र को प्रभावित किया? विवेचना कीजिए।

उत्तर—कृषि को प्रभावित करने में भौगोलिक क्षेत्रों की महत्वपूर्ण भूमिका है। भारत के भौगोलिक क्षेत्रों में हम विविधता पाते हैं और हर जगह एक तरह की मिट्टी भी नहीं है, इसीलिए अलग-अलग क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न तरह की फसल होती है, जिनकी विभिन्न आवश्यकताएँ होती हैं। भौगोलिक क्षेत्रों पर एक नजर डालें तो पूर्व की ओर उच्च, शुष्क सुलेमान की ढलावदार पहाड़ियों से पेशावर की शुष्क घाटी, साल्ट रेंज, पंजाब और सिंधु घाटी (और नीचे), गंगा के आर्द्र मैदानों से होते हुए गंगा एवं ब्रह्मपुत्र के डेल्टाओं की ओर बढ़ने के क्रम में हम विभिन्न क्षेत्रों से गुजरते हैं जिनमें गेहूँ एवं बाजरे के खेतों से लेकर विशाल समतल धानों के खेत और मछलीपालन कार्य दृष्टिगोचर होता है। उत्तर में हिमालय होने से कश्मीर आदि घाटी ठंडी है और वहां अत्यधिक खेती नहीं होती है। बिहार और उत्तर प्रदेश में मौसम कृषि के लिए अनुकूल है। पर भौगोलिक क्षेत्र विभिन्न; कहीं धान की बहुलता है, तो कहीं नगदी फसलों और तिलहन की और ये सारी भौगोलिक क्षेत्रों पर आश्रित हैं। असम के ऐसे ढलावदार खेत हैं कि वहां कृषि करना मुश्किल है। कृषकों ने प्रकृति (फसलों की) समझकर वहां चाय और कहवा लगाना शुरू किया और इस क्षेत्र में काफी अच्छी फसल हुई। भौगोलिक क्षेत्रों के कारण ही मानसून भी प्रभावित होता है—जनवरी में सूर्य अपने शीतकालीन घर, विषुव रेखा के दक्षिण से आसमान

में पूर्वोन्मुखी विचरण करता है। हवा धीरे-धीरे गर्म और शुष्क हो जाती है। दिन लंबा होने लगता है तथा शीतकालीन वर्षा में कमी आती है। अप्रैल और मई सबसे गर्म महीने हैं, जब बरसात ही नहीं होती है। जून में हिमालय की बर्फ पिघलती है और नदियों का जलस्तर बढ़ जाता है। गर्मी का यह महीना ही मानसून की शुरुआत है। मानसून की धार मई से जुलाई तक उत्तर-पश्चिम म्यांमार से अफगानिस्तान की ओर बढ़ती है। मई के अंत में यह अंडमान द्वीपसमूह, श्रीलंका, केरल और चितगांव में पहुँचती है। बिल्कुल आरंभिक, सबसे लंबी और अच्छी बारिश मानसून का सुदूर दक्षिण (केरल), उत्तर-पूर्व (बिहार एवं असम) और उड़ीसा, छत्तीसगढ़ एवं झारखण्ड के मध्य-पूर्वी क्षेत्र पर छाया रहता है। ये सबसे अधिक उष्णकटिबंधीय क्षेत्र हैं। इनमें प्राकृतिक वनों का सघन आच्छादन एवं विस्तृत जंगल की भरमार है। ग्रीष्मकालीन संक्रांतिकाल में जब सूर्य दक्षिणायन हो जाता है, तो समूचे दक्षिणी एशिया में भारी वर्षा होती है। इस मानसून से पश्चिमी मैदानों एवं उत्तर-पश्चिम के शुष्क क्षेत्रों में न्यूनतम वर्षा होती है। वर्षा का मौसम सबसे सूखा और छोटी अवधि का होता है। भारतीय प्रायद्वीप के आंतरिक भाग तथा पश्चिमी घाट क्षेत्र में अल्प वर्षा होती है। जुलाई के बाद दिन छोटे होने लगते हैं और मानसून के बादल छितराने लगते हैं। आगे वर्षा का दूसरा दौर शुरू होता है, जिसे जाड़े की बरसात कहते हैं।

अलग-अलग भौगोलिक क्षेत्रों में वर्षा में भी विविधता है और अगर मानसून आने में देर हो जाए या न आए तो सारी फसलें ही बरबाद हो जाती हैं। फसल की कटाई, बुआई, भंडारण आदि भी भौगोलिक क्षेत्रों से प्रभावित होते हैं। ठंडे प्रदेशों में भंडारण पर विशेष ध्यान दिया जाता है। फसलों के पकने की अवधि भी गर्म और शुष्क प्रदेशों की तुलना में ठंडे प्रदेशों में ज्यादा होती है। हालांकि कटाई के समय क्षेत्रीय विविधता बहुत ही नाटकीय प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए उत्तर-पूर्व में जहाँ अधिक वर्षा होती है, मुख्यतः तीन बार फसलों की कटाई होती है। मार्च, अप्रैल एवं मई रबी का मौसम है, जब मोटे तौर पर धान की पैदावार होती है। फसलों से प्राप्त उपज पर सीधा प्रभाव भौगोलिक क्षेत्रों का होता है, और इनकी माँग तथा वितरण पर भी इसका प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। जहाँ भौगोलिक क्षेत्र सामान्य है, (समतल भूमि तथा पानी की प्रचुरता है) वहाँ अनाज की खपत ज्यादा है और वहाँ दूसरी जगहों से भी अनाज लाकर ऊँचे मूल्यों पर बेचा जाता है, जिससे व्यापार को भी प्रोत्साहन मिलता है तथा दुर्गम भौगोलिक क्षेत्र, जैसे—पहाड़ी स्थान तथा मरुस्थल जहाँ लोगों की संख्या कम है इसीलिए अनाज की खपत भी कम है। इन सभी को देखते हुए हम कह सकते हैं कि भौगोलिक क्षेत्रों का कृषि पर व्यापक प्रभाव है, जो स्पष्टतः दृष्टिगोचर है।

प्रश्न 3. भारतीय उपमहाद्वीप के कृषि परिवेश को निर्धारित करने वालों घटकों की विवेचना करें।

उत्तर—भारतीय उपमहाद्वीप तथा इसकी जलवायु पर एक

नजर डालें, तो भारत की स्थिति भूमध्य रेखा के पास है और कर्क रेखा इसके मध्य से गुजरती है अतः भारत का दक्षिणी भाग उष्ण कटिबंध में आता है, जो सदैव गर्म रहता है। भारत के उत्तरी भाग में हम तीन प्रकार के मौसम पाते हैं। पूर्वी भाग में अधिक ताप तथा वर्षा पाई जाती है, उत्तरी भाग हिमालय के ठंडे प्रदेश से प्रभावित रहता है तथा पश्चिमी भाग वर्षा की कमी के कारण गर्म तथा शुष्क रहता है।

भारत की जलवायु मुख्य रूप से मानसूनी मानी जाती है क्योंकि इस पर हिन्द महासागर, बंगाल की खाड़ी तथा अरब सागर का विशेष प्रभाव रहता है। ग्रीष्मकाल में समस्त भारत में तथा पाकिस्तान से सहारा तक कम दबाव का क्षेत्र उत्पन्न हो जाता है। अतः मकर रेखा से चलने वाली व्यापारिक हवाएं भूमध्य रेखा को तेजी से पार करके भारत में प्रवेश करती हैं और पश्चिमी तट पर तथा असम से कश्मीर तक पर्याप्त वर्षा होती है। केवल राजस्थान का क्षेत्र शुष्क रह जाता है, क्योंकि अरावली पर्वत उसी दिशा में फैले हुए हैं, जिस दिशा में मानसूनी हवाएं अरब सागर से चलती हैं। शीतकाल में रूम सागर से चलने वाले चक्रवात अरब की खाड़ी से आर्द्रता लेते हुए भारत में प्रवेश करते हैं और उत्तरी मैदान में वर्षा करते हैं। ये चक्रवात बंगाल की खाड़ी में प्रवेश करके उससे आर्द्रता प्राप्त करके मद्रास के तट पर वर्षा करते हैं। यद्यपि वर्षा ऋतु देश के अधिकतर भागों में जून से सितम्बर तक रहती है, किन्तु तमिलनाडु में यह अक्टूबर-दिसम्बर में होती है। कृषि परिवेश को समझने से पहले जलवायु सम्बन्धी ये बारीकियाँ समझनी ज्यादा जरूरी हैं। चूँकि जलवायु एक महत्वपूर्ण घटक ही नहीं होता, बल्कि सारी प्रक्रिया और उत्पादन भी इसी पर रहता आश्रित है।

कृषि परिवेश के प्रमुख घटक हैं:

- (i) जलवायु
- (ii) सिंचाई
- (iii) बेहतर गुणवत्ता के बीज
- (iv) बेहतर गुणवत्ता के खाद और उर्वरक
- (v) बेहतर तकनीक तथा मशीनें (आधुनिक)
- (vi) वैज्ञानिक दृष्टिकोण (आधुनिक)
- (vii) हाइब्रिड फसलें, बीज एवं खाद
- (viii) उचित भंडारण की व्यवस्था।

प्रश्न 4. 'उच्च पर्वतीय क्षेत्र अपेक्षाकृत अलग-थलग पड़े कृषि क्षेत्र हैं।' समीक्षा कीजिए।

उत्तर—पश्चिम में मकरान शृंखला से उत्तर में सुलेमान एवं हिंदुकुश होते हुए पूर्व की ओर वक्राकार कराकोरम शृंखला एवं हिमालय से नागा एवं मणिपुर की पहाड़ियों से गुजरते विशाल उच्च भू-विस्तार दक्षिण एशिया को मध्य एशिया, तिब्बत, चीन और म्यांमार से जोड़ता है। इस भू-विस्तार में ढलावदार पहाड़ी क्षेत्र, गहरी घाटियाँ और अनगिनत नदियाँ हैं, जो यातायात एवं जल-निकास के प्राकृतिक मार्गों की भाँति हैं तथा नीचे मैदानों की ओर तथा

ऊपर आन्तरिक एशिया के उच्च पठार की ओर प्रवाहित होती हैं। इन क्षेत्रों में पर्यावरण में भी भारी फेरबदल पाया जाता है—पश्चिम की अत्यधिक शुष्कता से पूर्व में अत्यधिक नमी। इन क्षेत्रों में भारी विविधता पाई जाती है और कई जगह तो सतह ही पथरीली होती है, जहाँ कृषि संभव ही नहीं है। प्राकृतिक पेड़-पौधों और कृषि के विकल्पों की विविधता भी स्वाभाविक है। नदियों की गति तीव्र होती है तथा पिघलती बर्फ घाटियों से होती नदियों का रूप धारण कर लेती है। इन क्षेत्रों में मिट्टी का कटाव बहुत तेज होता है तथा जंगल ही प्राकृतिक संसाधनों का आधार होता है। घाटियों में विकसित खेत ऊपर की ओर और विस्तृत होते जाते हैं और इन्हें प्रायः झूम कहा जाता है। उच्च पर्वतीय क्षेत्र के विभिन्न इलाके घाटियों एवं दर्रा से जुड़े हुए हैं, जबकि उच्च जंगल एवं चोटियाँ उन्हें पृथक् करती हैं। केवल कश्मीर की घाटी, काठमांडू की घाटी एवं ब्रह्मपुत्र बेसिन में बड़े राजनीतिक क्षेत्रों का गठन हो पाया है। उच्च पर्वतीय क्षेत्रों में स्थित पृथक् क्षेत्रों की यात्रा बीच की दूरी और बाधा दोनों अधिक हैं। इसीलिए यह क्षेत्र समीपस्थ निचले क्षेत्रों से अधिक जुड़े हैं तथा यही कारण है कि इनमें आपसी दूरी बनी हुई है। कृषि में प्रयोग में आने वाली वस्तुओं तथा अन्य प्रमुख संसाधन इन क्षेत्रों से अत्यधिक दूर हैं और कृषि के लिए जो प्रमुख आवश्यकता है, वह जल है, जो सर्वथा नागण्य है। उपर्युक्त कारणों से ही पर्वतीय क्षेत्रों में कृषि अलग-थलग पड़ गई है।

प्रश्न 5. शुष्क प्रदेशों में यातायात एवं पलायन की महत्ता का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर—शुष्क प्रदेश में यातायात एक चुनौतीपूर्ण काम था, पर मनुष्य ने इसे सुगम बनाया और इन क्षेत्रों के ज्यादातर लोग तो मुख्यतः व्यापारी ही होते हैं। चूँकि इस प्रदेश में कृषि ज्यादा व्यापक स्तर पर नहीं होती, तो रोजगार के दृष्टिकोण से व्यापार ही अच्छा रोजगार है तथा इसमें फायदा भी अच्छा-खासा है। शुरू से ही इन प्रदेशों के लोग व्यापार में रुचि लेते रहे हैं तथा यही एक प्रमुख रोजगार रहा है। अब सवाल यह उठता है कि व्यापार के लिए तो सामान-दुलाई आवश्यक है, तो यहाँ भी उनके पास एक उपयुक्त विकल्प ऊँट के रूप में मौजूद था। यह जानवर इस प्रदेश में बहुधा पाया जाता है तथा इसकी शारीरिक संरचना के कारण माल ढोने में अत्यधिक कठिनाई नहीं होती है तथा आसानी से यह दूर का सफर तय कर सकता है। हाल की सदियों में तकनीकी परिवर्तनों के परिणामस्वरूप यातायात की लागत में अप्रत्याशित कमी आई है तथा यातायात काफी सुगम भी हो गया है। फिर भी इन प्रदेशों में स्थिति यथावत विद्यमान है, पर इन परिस्थितियों में भी यहाँ के लोग निर्भीक, मेहनती और जुझारू प्रकृति के हैं।

चूँकि इन क्षेत्रों में मौसम शुष्क रहता है और जलवायु असामान्य रहती है इसीलिए यहाँ के लोगों के लिए जीवन-यापन कष्टप्रद होता है और यहीं इन शुष्क प्रदेशों से पलायन एक गंभीर समस्या है। ये क्षेत्र दूसरे क्षेत्र से कटे हुए हैं तथा इन क्षेत्रों तक

50 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

आवश्यक वस्तुएँ भी नहीं पहुँच पाती जिससे स्थिति और भी भयावह हो उठती है। यहां की परिस्थिति में जीवन-यापन करना मुश्किल है इसीलिए पलायन में बढ़ोत्तरी हो रही है और लोग यहाँ से दूसरी जगह की ओर रुख कर रहे हैं। ये लोग, खासकर युवा वर्ग बाहरी दुनिया की चकाचौंध देखकर उधर आकर्षित हो जाते हैं, जो पलायन का एक महत्वपूर्ण कारण हैं। सच कहें तो जलवायु तथा अन्य भौगोलिक स्थितियाँ ही पलायन के प्रमुख कारण हैं।

प्रश्न 6. उत्तरी मैदानों एवं प्रायद्वीपीय क्षेत्रों की नदी व्यवस्थाओं की तुलना कीजिए।

उत्तर—ऊपरी सिन्धु नदी के बेसिन और उसकी सहायक नदियाँ—यमुना, गंगा और ब्रह्मपुत्र दुनिया के सबसे बड़े नदी क्षेत्रीय मैदानों में से एक का निर्माण करती हैं। इर्द-गिर्द फैली पहाड़ियों से होकर बहती नदियों के बहाव के कारण कृषि चुनौतीपूर्ण तो है, ही साथ ही उसकी उर्वरता भी बढ़ती है। सिन्धु और गंगा नदियाँ बंगाल की खाड़ी और अरब सागर के लिए प्राकृतिक जहाज तथा मार्ग, जिनसे जहाजों का आवागमन होता है, के लिए माध्यम प्रदान करती हैं। मरुस्थल और पहाड़ों से घिरे बेसिन में पर्यावरण धीरे-धीरे परिवर्तित होते पश्चिम के सुखेपन से पूर्व में आर्द्र हो जाता है। इसी अनुपात में मानसून की वर्षा और पहाड़ों के बहाव की दर बढ़ जाती है तथा गेहूँ के बदले चावल मुख्य खाद्यान्न हो जाता है। आज बिहार, पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश, हरियाणा और पंजाब कुल बुआई क्षेत्र का लगभग एक-चौथाई गेहूँ और धान उपजाते हैं। सिन्धु-गंगा बेसिन के बाहर यह प्रवृत्ति विरल ही देखी जाती है। पश्चिम और उत्तर में पहाड़ों से घिरा, उत्तर-पश्चिम से घिरा पंजाब का तिकोना क्षेत्र है, जो सिन्धु एवं इसकी सहायक नदियों (झेलम, चिनाब, रावी, व्यास और सतलुज) द्वारा निर्मित है और यह क्षेत्र एक निम्न जल-विभाजक द्वारा गंगा बेसिन (हरियाणा में) से पृथक् होता है। उत्तरी पहाड़ी की ओर से झेलम से पूर्व की ओर बढ़ते हुए वर्षा की मात्रा बढ़ जाती है। नदी तटों के आसपास भूमिगत जलों की आपूर्ति परिपूर्ण होती है।

जबकि प्रायद्वीपीय क्षेत्र में अर्द्ध शुष्क नदी घाटियाँ एवं अंतः-प्रवाही नदियों के मैदान हैं। प्रायद्वीप क्षेत्र एक तरफ पूर्वी घाट (गोदावरी के दक्षिण), पश्चिम में पश्चिमी घाट तथा उत्तर-पूर्व में मध्य क्षेत्र के पहाड़ से घिरा हुआ है। यह गुजरात में पश्चिमी मैदानों को स्पर्श करता है, जहां सौराष्ट्र दक्खन क्षेत्र का उत्तर-पश्चिमी कोना बना हुआ है। ताप्ती और नर्मदा के दक्षिण में सभी नदियाँ पश्चिमी घाटों का पानी लेती हैं तथा कृष्णा-गोदावरी के उत्तर-पश्चिम, दक्षिण-पूर्व रुझान में मोटे तौर पर सूखे, चौरस पठार पर पश्चिम से पूर्व की ढाल में अधिकांश दूरी तय करती हैं। नर्मदा घाटी, ऊपरी गोदावरी तथा कृष्णा एवं उसकी सहायक नदियाँ—भीमा एवं तुंगभद्रा के किनारे विस्तृत फलक में काली उपजाऊ मिट्टी पाई जाती है। इनमें पेन्नार-कृष्णा के अंतःप्रवाह भी (अनंतपुर, बेल्लारी, कुनेल, अदोनी, रायचूर, बीजापुर) भी शामिल हैं।

प्रश्न 7. यातायात एवं परिवहन के दृष्टिकोण से सुगम्य नदियों की महत्ता का परीक्षण कीजिए।

उत्तर—परिवहन के दृष्टिकोण से समुद्री परिवहन सस्ता, सुरक्षित और शीघ्र भी है। यह आज ही नहीं सदियों से यातायात एवं परिवहन का मुख्य केन्द्र था। रोमन साम्राज्य के काल में जलमार्गों द्वारा ही दक्षिण एशिया भूमध्यसागर एवं दक्षिणी चीन से जुड़ा हुआ था। दिल्ली सल्तनत के काल में सामुद्रिक मार्गों का विस्तार यूरेशिया तक था। अकबर के काल में यह विस्तार अटलांटिक और प्रशांत महासागर को पार कर दुनियाभर के तटीय क्षेत्रों को जोड़ने लगा। वस्तुतः नदी मार्ग से परिवहन न केवल सस्ता और शीघ्र होता था, बल्कि संचार के आधुनिक साधनों के अभाव में भारी परिवहन के लिए नदी मार्ग सुविधाजनक भी था। सिन्धु एवं गंगा दोनों नदियों का प्राचीन काल से ही परिवहन हेतु उपयोग होता रहा है। गंगा एवं ब्रह्मपुत्र नदियाँ अपनी कई शाखाओं एवं सहायकों के साथ बंगलादेश को आड़ा-तिरछा काटती हैं तथा इस प्रकार एक संपूर्ण एवं सुलभ अन्तर्देशी जलमार्ग का विकास हुआ है। प्रायद्वीपीय भारत में नदी मार्ग से यातायात अपेक्षाकृत कठिन है। नर्मदा एवं ताप्ती के प्रवाह क्षेत्र में बड़े भू-भाग एवं बेसाल्ट की चट्टानें हैं। इसी प्रकार कृष्णा और कावेरी कई स्थानों पर दक्खन के पठार की ग्रेनाइट चट्टानों द्वारा अवरुद्ध है। गोदावरी गोंडवाना के घने जंगल से होकर गुजरती है। कृष्णा और कावेरी के प्रवाह में अत्यधिक विक्षोभ के कारण ये यातायात के लिए मोटे तौर पर अनुपयुक्त हैं।

तटीय क्षेत्रों में जलमार्ग के मामले में केरल सौभाग्यशाली है। यहां पानी के स्रोतों ने समुद्रतलों का निर्माण कर दिया है। ये लगभग 300 किलोमीटर तक जलमार्ग यातायात के लिए उपयुक्त हैं।

प्रश्न 8. व्यापारिक पवनों ने कृषि तथा व्यापार के विकास में क्या योगदान दिया है? संक्षेप में वर्णन करें।

उत्तर—भारतीय कृषि व्यवस्था की रीढ़ एक तरह से कहें तो मानसून ही है और 82% कृषक मानसून की राह देखते हैं या कहें की वे मानसून पर सिंचाई के दृष्टिकोण से आश्रित रहते हैं। हिप्पलस द्वारा व्यापारिक पवनों की खोज से सामुद्रिक व्यापार में क्रान्ति-सी आ गई। भारतीय जलवायु में गर्मी एवं जाड़े के दोनों मौसमों में मानसूनी पवनें चलती हैं। ग्रीष्मकालीन मानसून को दक्षिणी-पश्चिमी मानसून भी कहते हैं। इस मौसम में अरब सागर में दक्षिण-पश्चिम दिशा में तेज हवा बहती है, वहीं जाड़े के मौसम में हवा का रुख विपरीत होता है। यहां हवा महाद्वीप से दक्षिण-पश्चिम की ओर बहती है और इसे ही उत्तर-पूर्वी मानसून की संज्ञा दी गई है। दोनों प्रकार के मानसून पर समुद्र का गहरा प्रभाव पड़ता है। मानसून मूसलधार वर्षा का वाहक है, जो भारतीय अर्थव्यवस्था के कृषि क्षेत्र के लिए लाभदायक है। सामुद्रिक यातायात में भी इसकी अहम भूमिका है तथा इसी के मद्देनजर व्यापारियों ने जहाजों से यात्रा के क्रम में मानसूनी हवा से पूरी मदद ली है। इस हवा की

मदद से भारतीय बंदरगाहों तक जहाजों के पहुँचने में कम समय लगा। इस दृष्टिकोण से व्यापारी ग्रीष्मकालीन मानसून के जुलाई माह में (भारत की ओर) जहाज से यात्रा शुरू करते हैं जब हवा का रुख दक्षिण-पश्चिम की ओर होता है। इसी प्रकार जाड़े के दिनों में जब हवा उत्तर-पूर्व का रुख करती है, तो भारतीय तटों से व्यापारी निकल पड़ते हैं। सामुद्रिक पवनों के ज्ञान से प्रारंभिक शताब्दियों में भारत-रोम व्यापार (सामुद्रिक) का स्वरूप ही बदल गया। पवनों की दिशा का ज्ञान व्यापारियों के लिए मानों वरदान सिद्ध हुआ। जुलाई माह में लाल सागर से अदन की खाड़ी होते हुए सीधे भारतीय बंदरगाहों तक पहुँचते थे। हालाँकि यह हवा अति तेज, खतरनाक और अक्सर क्षतिकारक भी होती थी, पर जहाजों की गति अनायास तेज होती थी क्योंकि वे हवा की दिशा में ही चल रहे होते थे। वापसी की यात्रा नवम्बर माह में होती थी, जब हवा का रुख बदलकर उत्तर-पूर्व में हो जाता था। यह यात्रा इतनी तेज शुरू होती थी कि मिस्त्र से किसी भी भारतीय बंदरगाह तक पहुँचने में व्यापारियों को लगभग तीन महीने लगते और इन तीन महीने में ही मिस्त्र का सारा सामान भारत तक पहुँचता और व्यापारियों को कम ही समय में अच्छा मुनाफा हो जाता। जुलाई माह में यात्रा आरंभ करके ये जहाज सितम्बर के अन्त में भारतीय तट पर आ पहुँचते। माल उतारने और चढ़ाने के लिए भी इन्हें पूरा समय मिलता तथा नवम्बर माह में पुनः ये जहाज यात्रा पर निकल पड़ते। अब जहाँ-तहाँ रुक-रुककर टटीय व्यापार की बजाय सीधे भारत के पश्चिमी बन्दरगाहों से व्यापार संभव हुआ और व्यापारियों को आशातीत सफलता भी प्राप्त हुई। इन व्यापारिक पवनों की मदद से मिस्त्र से गुजरात एवं केरल के तटों तक जहाजों का आवागमन शुरू हुआ।

प्रश्न 9. पश्चिमी मैदानों की भूमिका पर (250 शब्दों में) संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

उत्तर—प्रायः पश्चिमी मैदानों में वर्षा बहुत कम होती है तथा ये मैदान थार मरुस्थल के प्रभाव क्षेत्र में हैं। अर्द्ध-शुष्क पश्चिमी मैदान पश्चिम में उच्च पर्वतों से मिलते हैं तथा धीरे-धीरे उत्तरी नदी बेसिन (हरियाणा में) और मध्य भारत के पर्वतों (मालवा एवं गुजरात) में विलीन हो जाते हैं। ऐतिहासिक रूप से यह लोगों के चौतरफा आवागमन का दीर्घकालीन संपर्क क्षेत्र है। पहले सरस्वती नदी पश्चिमी राजस्थान के अंदरूनी भाग में बहती हुई पश्चिम में सिन्धु के निकट अपने अन्तर्देशीय डेल्टा में मिल जाती थी। लेकिन कुछ समय से राजस्थान, सिन्धु बेसिन एवं सिन्धु उत्तरोत्तर शुष्क क्षेत्र बनता गया। अरावली की पहाड़ियाँ झाड़ियों से ढकी, चट्टानी एवं बिखरी हुई पूर्व के समतल क्षेत्र में अचानक ऊपर उठती हैं तथा ये संलग्न घाटियों के लिए किलाबंदी के समान प्रतीत होती है तथा निकास मार्ग स्वरूप भी है। पूर्वी भाग में सिंचाई मुख्यतः कुओं द्वारा होती है वैसे वर्षा भी अच्छी होती है। इसके परिणामस्वरूप बाजरा, मकई, गेहूँ, ज्वार और कपास के लिए उपयुक्त खेत मिलते

हैं, परन्तु पश्चिम की ओर मिट्टी उत्तरोत्तर रेतीली हो जाती है। दक्षिणी भाग में धूसर भूरे रंग की रेतीली मिट्टी अच्छी लाल दोमट मिट्टी का स्वरूप ले लेती है। तथा कृषि के लिए अनुकूल हो जाता है, जो हरियाणा से जयपुर और अजमेर से गुजरात तक फैला है।

कृषि जीवन में सर्वथा अस्थिरता पाई जाती है और लोग सर्वथा खानाबदोश प्रकृति के होते हैं। मध्यकालीन योद्धा एवं व्यापारी—सर्वाधिक राजपूत एवं मारवाड़ी—अपने पुराने केन्द्रों को छोड़कर पूर्व, उत्तर और दक्षिण के क्षेत्रों में पलायन करते रहे हैं। पश्चिम के मैदानों में सघन आबादी वाले केन्द्रों के बसने के मुख्य कारण हैं—स्थानीय आधार पर सिंचित क्षेत्र, व्यापारिक मार्गों पर सामरिक महत्व के केन्द्र और राजनीतिक सत्ता का विस्तार जो विरल आबादी वाले विभिन्न ऐसे ही केन्द्रों को अपने में विलय करता है। सभी तरफ सीमा-क्षेत्रों और समुद्री मार्गों से व्यापारिक संपर्क इस इलाके की आर्थिक सामर्थ्य हेतु महत्वपूर्ण था। क्षेत्र के पालतू जानवर ऊट की भाँति इस क्षेत्र की प्रवृत्ति बेकाबू होकर पलायन को बढ़ावा देती है। खानाबदोशी, चारागाह की तलाश में भटकन, मवेशी पालन और व्यापार और सीमा-विस्तार के लिए पलायन होता रहा है तथा आदमी ही नहीं, जीव-जंतु भी पानी एवं संपन्नता की तलाश में सदैव चलायमान रहे हैं।

प्रश्न 10. मध्य भारत के पर्वतीय क्षेत्रों के बारे में विस्तारपूर्वक वर्णन करें।

उत्तर—मध्य के पहाड़ों में भूमि उपयोग की प्रवृत्ति और सामाजिक शक्ति ने निचले भू-क्षेत्र के कृषक समुदायों का दबदबा बनाए रखा है। साथ ही पहाड़ी लोगों द्वारा सघन कृषि को विस्तार दिया गया। उच्च पर्वतीय क्षेत्रों की तुलना में मध्य के पहाड़ों में बेहतर मिट्टी, चौड़ी घाटियों, गर्मी की लंबी अवधि से कृषि को विशेष फायदा पहुँचा है। चूँकि यहाँ का वातावरण कृषि के लिए अनुकूल है इसीलिए खेतों में नाना प्रकार के विकल्प एवं तकनीकियाँ हैं।

पहाड़ों, घाटियों, नदियों, पठारों और मैदानों से जुड़ी इस भूमि का विस्तार पश्चिम में गुजरात, उत्तर में गंगा के मैदान के साथ जुड़ा और आगे उत्तर-पूर्व में छोटानागपुर से दक्षिण में दक्खन के पठार और दक्षिण-पूर्व में गोदावरी नदी की घाटी तक फैला है। इसके क्षेत्रों का विकास अन्तर्ग्रथित नदी घाटियों में हुआ है, जो सभी दिशा में बहती हैं तथा कृष्णा के उत्तर और सिन्धु के पूर्व सभी नदियों को पानी की आपूर्ति करती है। मालवा का पठार और बुंदेलखंड से उत्तर की ओर बहने वाली नदियाँ—चंबल, पार्वती, बेतवा, केनयमुना में मिलती हैं। गंगा के मैदानों में उनकी ऐतिहासिक घाटियाँ उच्च मार्गों का निर्माण करती हैं। विन्ध्य एवं सतपुड़ा के पहाड़ नर्मदा घाटी की संरचना करते हैं। ताप्ती की तरह नर्मदा भी पश्चिम में खम्भात की खाड़ी में गिरती है। मालवा व बुंदेलखंड के पूर्व, बघेलखंड में मैकाल, महादेव और रामगढ़ की पहाड़ियों से निस्तृत पानी सोन नदी का रुख उत्तर-पूर्व दिशा में गंगा की ओर

52 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

कर देता है। बघेलखंड से पूर्व रांची और हजारीबाग के पठार दामोदर नदी को हुगली में मिला देते हैं, जबकि सुवर्णरेखा को सीधे बंगाल की खाड़ी पहुँचा देते हैं।

पहाड़ों से घिरा छत्तीसगढ़ कटोरे के आकार की नहर-घाटी की संरचना प्रस्तुत करता है। इससे होकर महानदी पूर्व की ओर बंगाल की खाड़ी में प्रवाहित होती है। छत्तीसगढ़ के दक्षिण में बस्तर की सघन पहाड़ियाँ एवं उड़ीसा का अन्तर्देशीय क्षेत्र है, जिससे होकर इन्द्रावती नदी गोदावरी नदी की ओर जाकर मिल जाती है।

उच्च पर्वतीय क्षेत्रों एवं उत्तरी घाटियों के समान मध्य भारत के पहाड़ भी पश्चिम में शुष्क एवं पूर्व में नम हैं। ध्यातव्य है कि तीनों क्षेत्र समांतर हैं। पश्चिम में चंबल के बीहड़ों के उजाड़ झाड़ीदार क्षेत्रों में मानसून के मौसम में प्रचंड वेग से मिट्टी आती है, जो गर्मी की धूप में पककर कठोर हो जाती है। पूर्व और दक्षिण में उष्ण कटिबंधीय वन झारखंड, उड़ीसा और बस्तर को आच्छादित रखते हैं। उच्च पर्वतीय क्षेत्रों की भाँति इस भू-दृश्य में भी परस्पर सटे पहाड़ एवं घाटी, वन्य क्षेत्र एवं नीचे की भूमि और उनके अपने-अपने समाजों का प्रभुत्व देखा जाता है तथा इन क्षेत्रों के जंगलों को काटकर खेती योग्य भूमि बनाई गई, जो कि काफी

उपजाऊ भी है और यहां काफी अच्छी पैदावार प्राप्त हुई है और इस तरह की भूमि में सभी तरह की फसलों को उपजाया जा सकता है। इसके पीछे कृषकों, शिकारियों एवं पशुपालकों के समुदायों में अन्तर्कलह और संघर्ष का बड़ा ही प्रामाणिक इतिहास दृष्टिगोचर हुआ है। झूम कृषि का चलन है और जनजातीय आबादी का बाहुल्य है। यर्थात्तः भारत में सबसे अधिक जनजातीय समूहों का यह गढ़ है। यहां पश्चिम में भीलों, मध्य क्षेत्रों में गोंडों और पूर्व में संथालों का वास है। सन् 1981 की जनगणना के अनुसार दक्षिणी राजस्थान, पश्चिमी मध्य प्रदेश, गुजरात और उत्तरी महाराष्ट्र में भीलों के सभी समूहों का कुल योग 7, 367, 973 था। सात राज्यों में बसे गोंडों के विभिन्न समूहों की आबादी 7, 388, 463 थी, जिसमें सिर्फ मध्य प्रदेश में 5, 349, 883 गोंड थे। इसी प्रकार बिहार, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा और त्रिपुरा में संथालों के सभी समूहों की कुल जनसंख्या 4, 260, 842 थी। इन पर्वतीय क्षेत्रों में कुछ समस्याएं तो हैं, पर यहाँ की जनजातियों ने जीवनयापन करना सीख लिया है तथा वे सारी अड़चनों और समस्याओं को दरकिनार करके यहाँ रहते हैं, बल्कि विकास और समृद्धि की खोज में भी संलग्न हैं। ■■

NEERAJ
PUBLICATIONS
www.neerajbooks.com

आन्तरिक और समुद्री व्यापार

5

प्रस्तावना

मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था कृषि प्रधान रही है, लेकिन उस समय की आय का निर्धारण करना एक समस्या है, क्योंकि उस समय की उपलब्ध जनगणना व श्रमिक वर्ग के आकड़े पर्याप्त नहीं हैं, जो हमें उस समय की आय के निर्धारण में मदद कर सकें। लेकिन यह भी सत्य है कि कृषि क्षेत्र की देन अधिक थी, क्योंकि आय का अधिकांश हिस्सा इसी राजस्व से आता था। बाकी दोनों क्षेत्रों की आय इससे कम थी जिसमें हथकरघा और सेवा क्षेत्र शामिल थे। मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था की गहराई में जाकर अध्ययन करने से पता चलता है कि व्यापार में कम लोगों को रोजगार मिला और इससे आय भी कम होती थी। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था में व्यापार का हिस्सा नगण्य था। मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था में स्थानीय, अन्तर्देशीय अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापार की विशेष भूमिका रही, जिसका समाज के सभी वर्गों पर प्रभाव पड़ा। मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था में गाँव की भूमिका भी महत्वपूर्ण थी, क्योंकि अधिकांश लोग गाँवों में रहते थे और जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती थी, उनका उत्पादन भी गाँव में ही किया जाता था। ये गाँव ही उनकी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। मुगल काल में समग्र कृषि उपज का लगभग 40 से 50 प्रतिशत राजस्व के रूप में सरकार द्वारा एकत्र किया जाता था, जिसे बाद में नकद राशि में बदला जाता था। समूचे कृषि उत्पादन को देखें तो लगता है कि बेची जाने वाली उपज का अनुपात अधिक था। इसने व्यापार और विनिमय को बढ़ावा दिया। गाँव की अहम भूमिका मध्यकाल में भी थी। इस बात की पुष्टि इसी बात से होती है कि शहरों को भी अपने उपभोग व कच्चे माल की आपूर्ति के लिए गाँवों पर निर्भर रहना पड़ता था।

अन्तःक्षेत्रीय व्यापार

आन्तरिक व्यापार मध्यकाल में बड़ी मात्रा में फैला हुआ था, जिसमें मुख्यतः कृषि उपज; जैसे – कपास, कच्चा माल व उनसे बनी व्यापारिक वस्तुएं होती थीं। इस आन्तरिक व्यापार ने उत्पादकता की वृद्धि में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। ऊँची कीमतों और अधिक आय की आशा की उम्मीद में कच्चे माल और उससे

निर्मित वस्तुएँ दूरस्थ स्थानों को भेजी जाती थीं। बंगाल उपमहाद्वीप को अन्न का भंडार कहा जाता था, वहाँ से भारी मात्रा में चावल, चीनी, तेल आदि वस्तुएँ एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजी जाती थीं। इनका निर्यात श्रीलंका और मालदीव में होता था। कोरोमण्डल समुद्र तट अपने कपड़ा उद्योग के लिए महाराष्ट्र और बरार पर निर्भर करता था। बंगाल की मलमल अच्छी कपास से निर्मित होती थी, जिसका उत्पादन ढाका के ही आसपास होता था। परन्तु यहाँ जो कपड़ा उद्योग था, उसके लिए कपास गुजरात से मँगाया जाता था और गुजरात के रेशमी उद्योग के लिए कच्चा रेशम बंगाल से आता था। मुगल बंगाल से आगरा भेजी जाने वाली वस्तुओं में रेशम व मलमल होता था। उत्तरी भारत के व्यापारी समुदाय में पंजाबी, खत्री और राजस्थानी थे, परन्तु इनमें सबसे प्रमुख गुजरातियों का वर्ग था। ये लोग सूरत से मुर्शिदाबाद तक अन्तर्देशीय व्यापार पर अपना नियन्त्रण रखे हुए थे। ये गुजराती व्यापारी देश के विभिन्न भागों में बस गये, जिसका कारण था इनका बाजार सम्बन्धी ज्ञान और इनके पास अत्यधिक पूँजी का होना। ये लोग बंगाल में भी बसे और स्थल व जल दोनों मार्गों से होने वाले व्यापार की अधिकांश शाखाओं पर इन लोगों ने अपना नियन्त्रण कर लिया। उत्तर-पश्चिमी स्थल मार्ग भारत को मध्य एशिया व ईरान से जोड़ने वाला महत्वपूर्ण व्यापारिक मार्ग था।

ईरान जाने का मार्ग आगरा से लाहौर, लाहौर से कन्धार और वहाँ से इस्तफहान (जो ईरान का प्रमुख बाजार केन्द्र भी था) तक जाता था, मूल्य और आयतन की दृष्टि से इस मार्ग का बहुत महत्व था। परिवहन में स्थल मार्ग जलमार्ग की अपेक्षा महंगा पड़ता था। क्योंकि स्थल मार्ग से जाने वाले व्यापारिक काफिलों को मार्ग में पड़ने वाली जनजातियों को उनके क्षेत्र से गुजरने के एवज में सुरक्षा मूल्य चुकाना पड़ता था। परन्तु भारत और ईरान के मध्य व्यापार के बारे में डच ईस्ट इण्डिया कंपनी की आगरा फैक्ट्री के अनुसार लाहौर और कन्धार होते हुए आगरा-इस्तफहान के स्थल मार्ग से माल ले जाना उनके लिए जलमार्ग की अपेक्षा सस्ता पड़ता था। जलमार्ग से समान ले जाने में सर्वप्रथम माल आगरा से सूरत तक स्थल मार्ग द्वारा पहुँचाया जाता था। वहाँ से अब्बास बंदरगाह तक जलमार्ग से ले जाया जाता था और फिर अब्बास बंदरगाह से इस्तफहान तक पुनः स्थलमार्ग से ले जाया जाता था।

54 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

मुगल साम्राज्य के प्रमुख आन्तरिक क्षेत्रों को मध्य एशिया से जोड़ने वाला मार्ग आगरा से शुरू होकर लाहौर और पेशावर के रास्ते खैबर दर्रे से होते हुए काबुल जाता था। वहाँ से प्रवासी भारतीय व्यापारियों की बस्तियों की लम्बी शृंखला से होता हुआ जो मध्य एशिया से बल्ख झील तक विस्तृत था, तक पहुँचता था। भारत से व्यापारी मसाले, कपड़े व अन्य वस्तुएं बुखारा और इससे आगे तक ले जाते थे, जहाँ से उन्हें इसके बदले प्रचुर मात्रा में सोना, चाँदी, घोड़े व रेशमी वस्त्र प्राप्त होते थे।

सामुद्रिक और तटवर्ती व्यापार

मध्यकालीन भारत में देश के विस्तृत तटवर्ती इलाकों में बड़े पैमाने पर तटवर्ती और समुद्री व्यापार होता था। 16वीं शताब्दी के प्रारम्भ में यूरोपियों के एशियाई समुद्रों में आने से पहले भारत से होने वाले सामुद्रिक व्यापार में हिन्द महासागर की महत्वपूर्ण भूमिका थी। उत्तर-पश्चिम दिशा में फारस की खाड़ी और लाल सागर से लेकर उत्तर-पूर्व में जापान तक एशियाई व्यापार का एक वृत्तांश के आकार में विस्तार था। इस क्षेत्र में प्रमुख रूप से प्राकृतिक भाग थे—अरब सागर, बंगाल की खाड़ी और दक्षिणी चीन सागर आदि। पश्चिमी क्षेत्र था अरब सागर के प्रखण्ड में फारस की खाड़ी, लाल सागर, पूर्वी अफ्रीका के तटवर्ती इलाके तथा भारत के पश्चिम तटवर्ती इलाकों में स्थित बंदरगाह आते थे। श्रीलंका कारोमण्डल, बंगाल, बर्मा, थाइलैण्ड, मलाया तथा सुमात्रा में अचेह आदि क्षेत्र बंगाल की खाड़ी के विस्तृत व्यापार प्रखण्ड का हिस्सा थे। दक्षिण चीन में फैण्टन और जाइटौन जैसे बंदरगाहों का इण्डोनेशिया तथा मलक्का के जलडमरूमध्य में बंदरगाहों के साथ विस्तृत सम्पर्क थे।

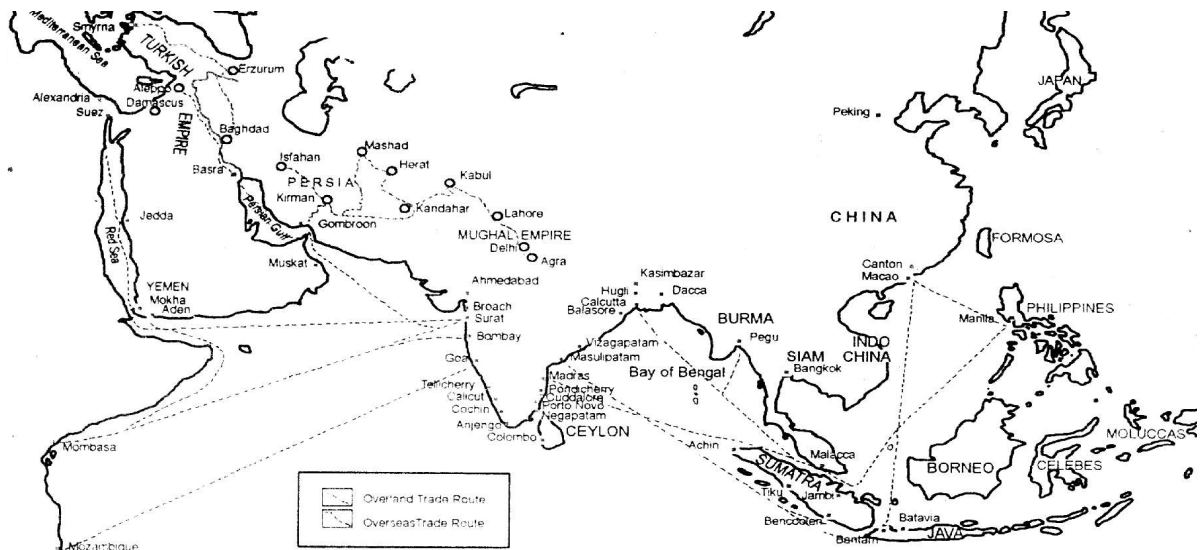
एशियाई व्यापार में भारत ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की, जिसके कई कारण थे :

(1) एक ओर पश्चिमी एशिया और दूसरी तरफ दक्षिण-पूर्व और पूर्वी एशिया के बीचोंबीच स्थिति।

(2) भारत के बाजारों में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को ऊँचे दाम पर बेचने की क्षमता।

इन वस्तुओं में मुख्यतः कृषि उपज, खाद्यान्न, चावल, चीनी, तेल, कच्चा माल; जैसे—कपास और नील शामिल थे। इन वस्तुओं का व्यापार मुख्यतः तटवर्ती इलाकों से होता था।

(3) इस महाद्वीप में निर्मित वस्तुओं का अधिकांशतः व्यापार किया जाना। जैसे विभिन्न प्रकार के कपड़े इसमें शामिल ढाका में निर्मित मलमल, गुजरात का रेशमी कपड़ा, मोटा सूती कपड़ा ज्यादा लोकप्रिय था, जो कारोमण्डल तट और गुजरात में निर्मित होता था। इस मोटे कपड़े की सभी बाजारों में माँग थी। ये बाजार थे—पूर्व में इण्डोनेशिया, मलाया, थाइलैण्ड और बर्मा, पश्चिम में लाल सागर, फारस की खाड़ी व पूर्वी अफ्रीका। लेकिन इन बाजारों में भारत की भागीदारी का निर्धारण करना कठिन कार्य था। भारत में निर्मित कपड़ों को प्रतिस्पर्धापूर्ण शर्तों पर बेचने से यह साबित होता है कि भारत कपड़ा उद्योग का प्रमुख क्षेत्र था। पश्चिम एशिया से भारत वे ही चीजें आयात करता था जो यहाँ की जलवायु-मिट्टी के अनुकूल न होने के कारण उत्पन्न नहीं होती थीं। भारत में उच्च-कोटि के मसाल आयात किये जाते थे। जैसे—इण्डोनेशिया से लौंग, जायफल, जावित्री, पश्चिमी एशिया से घोड़े व गुलाबजल आदि। बर्मा से रूबी व कीमती पत्थर आयात किये जाते थे। मलाया से टीन आयात किया जाता था। पश्चिमी एशिया से चाँदी मँगाई जाती थी। अपनी विकसित उत्पादन प्राणाली व अधिक मात्रा में बुनियादी उपभोक्ता वस्तुएं उत्पादन करने की क्षमता ने भारत को एशियाई व्यापार में प्रमुख स्थान पर बने रहने में सहयोग किया। भारत ने प्रारम्भिक आधुनिक एशियाई व्यापार में अपनी अहम् भूमिका अदा की और प्रमुख स्थान पर बना रहा। भारत कृषि पदार्थों, खनिजों व अन्य वस्तुओं के निर्यात में योगदान करता रहा और व्यापार में प्रमुख स्थान पर रहा।



भारत और एशियाई व्यापार

एशियाई व्यापार के संचालन और संरचना में भारत के गुजराती और अन्य व्यापारिक समूहों की अहम भूमिका थी। 15वीं शताब्दी में जब एशियाई व्यापार लड़खड़ाने लगा, तब भारत की भूमिका इस व्यापार में और भी महत्वपूर्ण हो गयी। इस समय अरब व्यापारियों का व्यापार क्षेत्र सिमट गया और वह पश्चिमी मध्य एशिया और पश्चिमी भारत के तटवर्ती इलाकों तक सीमित हो गया। इसका लाभ भारतीय व्यापारियों को मिला, क्योंकि पश्चिमी और पूर्वी तटवर्ती इलाकों और हिन्द महासागर क्षेत्र का व्यापार भारतीय व्यापारियों के हाथ में आ गया। इसका प्रमुख लाभ गुजराती व्यापारियों को मिला, जिसमें अन्य व्यापारिक समूह भी शामिल थे, जिसमें मुख्य रूप से चेटी, चूलिया, कारोमण्डल तट के अन्य व्यापारी समूह तथा उड़िया और बंगाली व्यापारी भी शामिल थे। हिन्द महासागर के आसपास भारतीय व्यापारियों की भूमिका महत्वपूर्ण थी, क्योंकि चीनी व्यापारी चीन और मलक्का के मध्य व्यापार तक सीमित थे और इण्डोनेशिया और मलाया के व्यापारी शायद ही अपने क्षेत्र की बंदरगाहों तथा द्वीपों से आगे बढ़ पाये।

एशियाई व्यापार के दो प्रमुख खण्ड थे—पश्चिम में हिन्द महासागर और पूर्व में बंगाल की खाड़ी, जो भारत के लिए अनुकूल परिस्थिति बनाते थे। व्यापार के लिए बंगाल की खाड़ी के तटवर्ती इलाके मलक्का से दक्षिण चीनी सागर होते हुए जापान पहुँचते थे। पूर्व में भारतीय व्यापारियों की स्थिति लाल सागर और फारस की खाड़ी की बंदरगाहों तक सीमित थी, जबकि पूर्व में मलक्का तक विस्तृत था। दोनों खण्ड एक-दूसरे पर निर्भर करते थे और अपने आप में कोई भी खण्ड आत्मनिर्भर नहीं था। गुजरात और इण्डोनेशिया के मध्य सीधे व्यापार होना इस बात को साबित करता है। यही बात तटवर्ती इलाकों पर भी लागू होती है। अरब सागर और बंगाल की खाड़ी में व्यापार समुद्री और तटवर्ती इलाकों से होता था। तटवर्ती इलाकों का व्यापार मुख्य रूप से कृषि उपज, जैसे—खाद्यान्न आदि वस्तुओं का होता था। समुद्री व्यापार में नाव की अहम भूमिका थी। सामुद्रिक व्यापार में मानसूनी हवाओं की अहम भूमिका थी। वहीं तटवर्ती इलाकों के व्यापार में इनकी इतनी भूमिका नहीं थी।

पश्चिमी तट

भारत के पश्चिमी तट को सुविधा के लिए निम्नलिखित भागों में बांटा जाता है:

- (i) चौल
- (ii) करवर
- (iii) कन्नानोर

चौल के उत्तर में गुजरात का तटवर्ती इलाका था। चौल से करवर तक कोंकण का तटवर्ती क्षेत्र फैला हुआ था।

कन्नानोर के बंदरगाह के उत्तर में ठीक करवर के दक्षिण में एली पर्वत तक कनारा तट था। इसके दक्षिण में मालाबार के तटवर्ती क्षेत्र थे।

15वीं शताब्दी में भारत में दो प्रमुख बंदरगाह थे, जो व्यापार में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका रखते थे, जिसमें गुजरात में कैम्बे (खम्भात की खाड़ी) और मालाबार में कालीकट। भारतीय उपमहाद्वीप में गुजरात एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था। यहाँ गुजराती व्यापारी जिसमें अधिकतर मुसलमान, परन्तु कुछ हिन्दू भी शामिल थे। ये भारतीय व्यापारियों में अग्रणी स्थान रखते थे। मलक्का 15वीं शताब्दी में उभरा हुआ एक प्रमुख बंदरगाह था। गुजराती व्यापारियों ने मलक्का को अपना प्रमुख बंदरगाह बनाया और वे जावा व सुमात्रा बंदरगाहों से हट गये। गुजराती व्यापारियों की अहम भूमिका के कारण ही मलक्का का विकास 15वीं शताब्दी के अन्त तक होता रहा। कैम्बे से मलक्का जाने वाले जहाजों में प्रमुख रूप से रंगीन ऊनी वस्त्र व शीशे के बर्तन होते थे। बढ़िया सूती कपड़े और रेशमी वस्त्र मलक्का को निर्यात किये जाते थे। इन निर्यात की वस्तुओं में प्रमुख होता था सूती मोटा कपड़ा, जो गुजरात में बनाया जाता था। इसके बदले आयात की प्रमुख वस्तुएँ थीं इण्डोनेशिया से मसाले, चीन से रेशमी कपड़े और चीनी मिट्टी के बर्तन, मलाया से टीन आदि। मलक्का के अतिरिक्त गुजराती व्यापारी कैम्बे, अचेह, केड्डा, तेन्नासरीम, सरगुड़ और पेगू बंदरगाह से भी व्यापार करते थे। परन्तु इनमें अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की वस्तुओं का व्यापार शामिल न होकर स्थानीय उत्पादन की वस्तुओं का व्यापार होता था। अन्य छोटे बंदरगाहों में प्रमुख रूप से कोंकण, कनारा और दक्षिण में मालाबार के तटवर्ती इलाकों और बंगाल के साथ बड़ी मात्रा में तटवर्ती व्यापार होता था। चौल और दभोल बंदरगाहों से कपड़ा, कनारा व मालाबार से काली मिर्च प्राप्त की जाती थी। कैम्बे में आयातित माल का उपयोग गुजरात और उत्तरी भारत के भीतरी प्रदेशों के लिए ही हो जाता था। परन्तु उसका एक बड़ा हिस्सा पश्चिमी एशिया के अदन और जद्दा में भेजा जाता था। कैम्बे से अदन तक के व्यापार पर अरब, ईरान और अन्य दूसरे पश्चिमी एशियाई व्यापारियों का कब्जा था, हालाँकि गुजराती व्यापारी भी बड़ी मात्रा में इस मार्ग से व्यापार करते थे।

पूर्वी तट

भारत के पूर्वी तट पर दो प्रमुख व्यापारिक क्षेत्र थे :

- कोरोमण्डल
- बंगाल

कारोमण्डल क्षेत्र का विस्तार प्वाइंट गोदावरी से लेकर मन्नार के द्वीप तक था। उड़ीसा के पीपली और बालासोर बंदरगाह तक बंगाल के तटवर्ती क्षेत्र का फैलाव था। दोनों क्षेत्रों के मध्य पर्याप्त मात्रा में व्यापार का आदान-प्रदान होता था और इसमें मुख्य भूमिका निभाते थे—बंगाल के व्यापारी। कोरोमण्डल के प्रमुख बंदरगाहों में से एक था पूलीकट जो तिरुपति और पेनुकोण्डा के रास्ते उत्तर-पश्चिम में विजयनगर साम्राज्य से जुड़ा हुआ था। बंगाल के प्रमुख बंदरगाहों में चटगाँव, हुगली, पीपली और बालासोर थे।

56 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

इसमें प्रमुख बंदरगाह चटगाँव था, जो राजधानी गौड़ से जुड़ा था। सतगाँव में दलदल की समस्या आने के कारण हुगली ने इसका स्थान ले लिया।

कारोमण्डल तट का प्रमुख बंदरगाह पुलीकट था। पुलीकट से समुद्री व्यापार प्रमुख रूप से दो दिशाओं में होता था। पुलीकट से निर्यातित वस्तुओं में कारोमण्डल के तटवर्ती क्षेत्रों में निर्मित कपड़े और कृष्णा डेल्टा का बना लाल सूत होता था, जबकि आयातित वस्तुओं में प्रमुख रूप से सोना, रूबी, लकड़ी, टीन, हाथी दाँत और ताँबा होता था। मलक्का के साथ इसके सम्बन्ध और भी महत्वपूर्ण थे। पुलीकट में आयातित वस्तुओं में मुख्य रूप से इण्डोनेशिया के मसाले, तरह-तरह की लकड़ी, चीन से रेशमी वस्त्र और दूसरी वस्तुएं तथा सोना एवं तरह-तरह की धातुएं, जैसे—सस्ता ताँबा, पारा और सिन्दूर शामिल थे। व्यापारियों में मुसलमानों का वर्चस्व था। इसमें अरब वंश के व दक्षिणी-पूर्वी भारत के तटवर्ती क्षेत्रों के व्यापारी शामिल थे। दक्षिणी-पूर्व एशिया में चूलिया और कारोमण्डल क्षेत्र में व्यापारियों को मरक्कासार के नाम से जाना जाता था। बंगाल के व्यापारिक सम्बन्ध अधिक विस्तृत थे। यह दक्षिण-पूर्व भारत तक सीमित न होकर बंगाल की खाड़ी के तटवर्ती इलाकों से लेकर मलक्का, श्रीलंका, मालद्वीप, मालाबार से होते हुए गुजरात व लाल सागर और फारस की खाड़ी तक फैला हुआ था। पूर्वी व्यापार मुख्यतः मलक्का के साथ था, जिसमें प्रमुख व्यापारिक वस्तुएं थी कपड़ा, चावल, चीनी और मुरब्बा आदि। आयात की वस्तुएँ भी भिन्न-भिन्न जगहों की भिन्न-भिन्न होती थीं; जैसे बोनिया का कपूर, मलक्का के मसाले, काली मिर्च, चन्दन की लकड़ी, चीनी-मिट्टी की वस्तुएं व चीन के रेशमी कपड़े तथा कीमती धातुएं आदि।

श्रीलंका, मालद्वीप और मालाबार तट से कपड़ा चावल व खाने-पीने की चीजों का निर्यात होता था। बंगाल में चावल अत्यधिक मात्रा में होता था। मालद्वीप तो पूरी तरह चावल के लिए बंगाल पर ही निर्भर करता था। बंगाल द्वारा जहाजों से चावल यहाँ भेजा जाता था और लौटते समय ये जहाज अपने साथ जो सामान लाते थे, उनमें प्रमुख रूप से श्रीलंका की सुपारी और दालचीनी होती थी। मालाबार में मिर्च और मालद्वीप से कौड़ियाँ आयात की जाती थी। कौड़ियों के अपने प्रयोग थे। ये सजावट के काम आती थीं और निचले दर्जे की मुद्रा के रूप में भी इसका प्रयोग किया जाता था। मालाबार से काली मिर्च मँगाई जाती थी, जिसका उपयोग बंगाल में बड़ी मात्रा में किया जाता था।

पुर्तगाली यात्रियों—टोम पिरिस (1512-1515) और बारबोसा (1518)—के विवरणों से स्थानीय व्यापारियों व व्यापार के बारे में महत्वपूर्ण विवरण मिलता है। उनके विवरणों से पता चलता है कि स्थानीय व्यापारी समृद्ध थे। ये व्यापारी समुदाय का अंग होते थे।

परन्तु व्यापार पर अधिकांश विदेशी व्यापारियों का, जो बंगाल में आकर बस गये थे और उन व्यापारियों का अधिकार होता था, जो साझेदार बंदरगाहों पर बस गये थे। उदाहरण के लिए मलक्का के साथ व्यापार में प्रमुख भूमिका कोलिंग व्यापारियों की होती थी, जो वहाँ आकर बस गये थे। ईरानी व्यापारी जो मुख्यतः चटगाँव में बसे हुए थे पसई और पीड़ी के साथ काली मिर्च का व्यापार करते थे। व्यापार में ईरानी, तुर्की, अरब, रूमी और अबीसीनियन, चौल, दभोल और गोवा के व्यापारी संलग्न थे।

भारत का सामुद्रिक व्यापार 16वीं, 17वीं और 18वीं शताब्दी तक ज्यों का त्यों बना रहा और इसमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ, परन्तु पुर्तगालियों के 16वीं शताब्दी में आने से इसकी कार्यप्रणाली में कुछ परिवर्तन तो आया, परन्तु यह उतना अधिक नहीं था कि इसकी महत्ता को कुछ अधिक समझा जाये। यह मान लेना भी ठीक नहीं होगा कि पुर्तगाली व्यापारियों ने हिन्द महासागर में जहाजों पर लड़ने की क्षमता को विकसित करके अन्य व्यापारियों पर अपना दबदबा बनाया। पुर्तगालियों ने समुद्रिक व्यापार में कारताज व्यवस्था लागू की। इसके तहत भारतीय जहाजों को मार्ग विशेष से गुजरने पर पुर्तगालियों से अनुमति लेनी पड़ती थी और उन्हें सीमा शुल्क भी देना पड़ता था। इस व्यवस्था से भारतीय व्यापारियों को परेशानी तो जरूर हुई, परन्तु यह व्यवस्था अधिक पैसा देने के अलावा और कुछ काम न कर सकी और भारतीय व्यापार फिर भी जारी रहा। पुर्तगाली कार्यालय (एस्तडो डा इण्डिया) की दखलअंदाजी के कारण कुछ बंदरगाहों पर व्यापारियों को व्यापार करने में असुविधा जरूर हुई। भारतीय व्यापारियों ने इस परेशानी और असुविधा से बचने के लिए पुर्तगाली कब्जे वाले मार्गों से जाना छोड़कर बंगाल के दूसरे बंदरगाहों से व्यापार करने का रास्ता ढूँढ़ लिया। 17वीं शताब्दी में अंग्रेजों और डचों के आने से उन्होंने भारतीय व्यापार में कारताज व्यवस्था को अपनाया, परन्तु उन्होंने इसे ज्यादा शक्ति से लागू नहीं किया।

लेकिन भारतीय व्यापार में परिवर्तन उस समय आया, जब 1765 में अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कंपनी को मुगल बादशाह की ओर से राजस्व एकत्र करने का अधिकार मिल गया, जिसे दीवानी कहा जाता है। इससे भारतीय व्यापार में कुछ परिवर्तन अवश्य हुए और कंपनी को प्राप्त राजनैतिक शक्तियों का इसके कर्मचारियों ने नाजायज लाभ उठाना शुरू किया व भारतीय व्यापारियों के मार्ग में अड़चनें डालनी शुरू कर दीं। उन्होंने कुछ वस्तुओं पर व्यापारिक एकाधिकार कर लिया जिसमें अफीम मुख्य थी और इसमें लाभ भी अधिक होता था। किन्तु भारतीय व्यापारियों ने हिम्मत नहीं हारी और अंग्रेजी व्यापारियों की अड़चनों का उन पर कोई फर्क नहीं पड़ा और वे इसे नजरअन्दाज करते हुए अपने काम पर डटे रहे। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि चीन के साथ अफीम के

व्यापार पर जब उनका एकाधिकार नहीं रहा, तो उन्होंने दक्षिण-पूर्व एशिया में नये बाजारों की खोज की और चीनी व्यापार की कमी को पूरा किया। अड़चनों के बावजूद भी भारतीय व्यापारियों ने अपने आप को व्यापार में बनाये रखा।

एशियाई व्यापार का इतिहास लेखन

एशियाई व्यापार के सम्बन्ध में यात्रियों का विवरण अन्य स्रोतों द्वारा मिलता है। यात्रियों में एक डच समाजशास्त्री व इतिहासकार जेकब फान ल्योर ने लिखा है कि “एशियाई व्यापारी छोटे स्तर पर, विशेष तौर पर विलासिता की वस्तुओं के व्यापार में संलग्न रहते थे व एक व्यापारी की भूमिका बाजार में फेरी लगाकर माल बेचने वाले फेरीवाले के समान थी। जेकब की इस विचारधारा का समर्थन डेनमार्क के इतिहासकार नील्स स्टीन्सगार्ड भी करते हैं। वे कहते हैं कि भारतीय व्यापारी ऐसे बाजार में व्यापार करते थे, जो पारदर्शी नहीं थे और न ही मूल्यों के घटाव-चढ़ाव का कोई सामना इन्हें करना पड़ता था। उन्हें बिचौलियों और भण्डारण की सहायता मिलती थी। परन्तु जेकब की यह धारणा एकदम गलत है कि भारतीय व्यापारी सिर्फ विलासिता की वस्तुओं का व्यापार करते थे। लेकिन यदि गहराई में जाकर शोधों का अध्ययन किया जाये, तो पता चलता है कि भारतीय व्यापारी विलासिता की वस्तुओं का ही नहीं, बल्कि दैनिक जीवन में काम आने वाली वस्तुओं का भी व्यापार करते थे। वे दैनिक जीवन में पहने जाने वाले कपड़ों का भी व्यापार करते थे।

16वीं-17वीं शताब्दी में जब हिन्द महासागर में यूरोपियों की उपस्थिति हुई, तो नील्स स्टीन्सगार्ड ने इसे ‘एशियाई व्यापारिक क्रान्ति की संज्ञा दी। वे कहते हैं कि ‘केप ऑफ गुड होप’ मार्ग की खोज से इस मार्ग का विशेष तौर पर प्रयोग होने लगा। पुर्तगाली सरकार ने इस मार्ग पर अपना एकाधिकार कर लिया और अपने व्यापारियों पर दबाव डाला व उनके लाभ का कुछ हिस्सा भी लिया। स्टीन्सगार्ड मानते हैं कि 17वीं शताब्दी में ईस्ट इण्डिया कंपनी के आने से इसमें परिवर्तन हुआ। वे मानते हैं कि कंपनियों की सफलता सरकारी एकाधिकार व हिंसा पर आधारित नहीं थी। बल्कि यह बाजारी प्रतिस्पर्धा पर आधारित थी। कंपनियों ने जो लाभ कमाया वह भण्डारण, मूल्य निर्धारण और सही दाम पर माल बेचने पर आधारित था, जो कंपनियों ने अपनी पारदर्शितापूर्ण नीतियों और बाजार के अच्छे ज्ञान के कारण अर्जित की थी।

स्टीन्सगार्ड के उपर्युक्त विवरण पर एक विद्वान ओम प्रकाश ने यह विवरण दिया है कि हाल के शोधों से यह पता चलता है कि स्टीन्सगार्ड का विवरण पूर्ण रूप से सत्य नहीं है, बल्कि उसमें कुछ तथ्य जरूर सही हैं। स्टीन्सगार्ड द्वारा कहा गया है कि दोनों कंपनियों की व्यापार नीति हिंसा व एकाधिकारपूर्ण नहीं थी, जबकि यह सत्य नहीं है। ओम प्रकाश एशियाई व्यापारिक क्रान्ति की अवधारणा को आंशिक रूप से यूरो-एशियाई व्यापार की मात्रा और

मूल्य में असाधारण विस्तार और वृद्धि तथा आंशिक रूप से बाजार में आने वाले एशियाई माल की विविधता और उद्गम से जुड़ी हुई मानते हैं। शुरू में डच व अंग्रेजों ने अपना सारा ध्यान काली मिर्च और भारतीय मसालों के व्यापार पर केन्द्रित किया। परन्तु पुर्तगालियों की वजह से डच व अंग्रेज काली मिर्च भारत से ही नहीं, बल्कि इण्डोनेशिया से भी ले जाते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि यूरोप-एशियाई व्यापार का केंद्र भारत से हटकर इण्डोनेशिया द्वीपसमूह बन गया। वहीं यूरोप में भी इसका केन्द्र लिस्बन न रहकर एम्स्टरडम और लंदन बन गया। यूरोपीय फैशन में आये बदलाव के कारण एशियाई कपड़ा, कच्चा रेशम व सिल्क यूरोप आयात करने लगा और भारत फिर से एशियाई व्यापार का केन्द्र बन गया। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में चीन की चाय की लोकप्रियता बढ़ी और भारत की केन्द्रीय भूमिका कम हो गयी।

सारांश

मध्यकाल में भारत में आन्तरिक और सामुद्रिक व्यापार विस्तृत पैमाने पर फैला हुआ था और व्यापारी अपना व्यापार बड़ी कुशलता से करते थे। यह कुशलता और मजबूती इतनी पक्की थी कि यूरोपीय कंपनियों द्वारा भारतीय व्यापार में पैदा की गई अड़चनों का इन्होंने डटकर मुकाबला किया और अपनी कुशलता को बनाये रखा। कंपनियों की काटज व्यवस्था भी भारतीय व्यापारियों की हिम्मत को झुका नहीं पायी और वे अपने कार्य में संलग्न रहे और वे अपना कार्य बड़ी कुशलता से करते रहे।

प्रश्न-अभ्यास

प्रश्न 1. सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में एशियाई व्यापार में भारत के योगदान का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

उत्तर—16वीं और 17वीं शताब्दी में भारत में यूरोपियन कंपनियों का आगमन हो रहा था और भारतीय व्यापार परिवर्तन के दौर से गुजर रहा था।

एशियाई व्यापार में भारत की स्थिति अनुकूल थी, जिसका प्रमुख कारण था इसके प्रमुख खण्डों का होना। पश्चिम में हिन्द महासागर और पूर्व में बंगाल की खाड़ी पश्चिम में लाल सागर और फारस की खाड़ी से एक कड़ी भूमध्यसागर के तटवर्ती क्षेत्रों के दक्षिणी तट तक स्थल मार्ग को जोड़ती थी। दोनों खण्डों में सुस्पष्ट और स्वतंत्र कार्यक्षेत्रों के बावजूद वे एक-दूसरे पर परस्पर निर्भर थे। दोनों का अलग-अलग विश्लेषण करने से इनकी भूमिकाओं का अन्दाजा लगाया जा सकता है। गुजरात और इण्डोनेशिया के मध्य सीधे व्यापार का अनुपात देखें, तो दोनों के महत्त्व को समझा जा सकता है कि दोनों एक-दूसरे पर निर्भर करते थे।

अरब सागर और बंगाल में बड़ी मात्रा में व्यापार होता था, जो मुख्यतः समुद्री और तटवर्ती इलाकों से होता था। छोटी नावों का प्रयोग सामान को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में किया जाता था।

58 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

एशियाई व्यापार में भारत का महत्त्व इसके क्षेत्र बंगाल के महत्त्व से समझा जा सकता है, क्योंकि बंगाल का सम्बन्ध दक्षिणी-पूर्वी भारत तक ही सीमित न होकर बंगाल की खाड़ी के तटवर्ती इलाकों मलक्का, श्रीलंका, मालदीव और मालाबार से होते हुए गुजरात, लालसागर और फारस की खाड़ी तक फैला हुआ था। बंगाल से निर्यात की प्रमुख वस्तुओं में कपड़ा, चावल, चीनी और मुरब्बा था। यहाँ विभिन्न वस्तुएँ आयात भी की जाती थीं।

पुर्तगाली यात्री टोम पिरैस व बारबोसा के विवरण से बंगाल के व्यापारियों की समृद्धि के बारे में पता चलता है। बंगाल को उपमहाद्वीप का अन्न भण्डार कहा जाता था, जो एशियाई व्यापार में भारत की भूमिका के महत्त्व को दर्शाता है। उत्तर-पश्चिमी स्थल मार्ग से भी भारत के मध्य एशिया और ईरान के साथ महत्त्वपूर्ण व्यापारिक सम्बन्ध थे। ईरान जाने का मार्ग आगरा से लाहौर, लाहौर से कन्धार और वहाँ से इस्फहान जाता था, जो ईरान का प्रमुख बंदरगाह था। 17वीं शताब्दी के प्रारम्भ में उत्तर भारत में उत्पादित मूल्यवान और निर्मित वस्तुओं से लदे लगभग 20,000-21,000 की संख्या में ऊँट हर साल लाहौर से इस्फहान जाते थे, जो भारत की भूमिका के सम्बन्ध में स्पष्ट करते हैं कि एशियाई व्यापार में भारत की भूमिका कितनी महत्त्वपूर्ण थी।

प्रश्न 2. सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों के तटवर्ती क्षेत्रों में व्यापार का विश्लेषण करें।

उत्तर—भारत के व्यापार में तटवर्ती क्षेत्रों के व्यापार का अपना महत्त्व है। तटवर्ती क्षेत्रों में स्थित बंदरगाहों ने इस व्यापार को बढ़ावा दिया। तटवर्ती क्षेत्रों में स्थित बंदरगाहों को मुख्य रूप से व्यापार का आधार कहा जा सकता है। एशियाई व्यापार की संरचना में भारत ने अपनी मुख्य भूमिका निभाई। इसमें तटवर्ती क्षेत्रों का योगदान उल्लेखनीय रहा है, क्योंकि भारत के बाजारों में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को अत्यधिक प्रतिस्पर्धापूर्ण दामों पर बेचने की क्षमता थी और ये जो वस्तुएँ थीं, इनमें से ज्यादातर का तटवर्ती इलाकों से व्यापार किया जाता था, जिसमें मुख्य रूप से कृषि उपज थी। इनमें खाद्य पदार्थ; जैसे—चावल, चीनी, तेल तथा कच्चा माल; जैसे—कपास नील आदि शामिल थे। विभिन्न प्रकार के कपड़ों का भी व्यापार किया जाता था, जिसमें मुख्य रूप से गुजरात के कसीदाकारी रेशमी कपड़े शामिल थे।

कैम्बे और गुजरात के अन्य छोटे बंदरगाहों का कोंकण कनारा और दक्षिण में मालाबार के तटवर्ती इलाकों और बंगाल के साथ बड़ी मात्रा में तटवर्ती व्यापार होता था। भारत के पूर्वी तट पर दो प्रमुख व्यापारिक केन्द्र थे—कारोमण्डल और बंगाल। कारोमण्डल का विस्तार प्वाइंट गोदावरी से लेकर मन्नार की खाड़ी तक था। इसके दक्षिण में तटवर्ती क्षेत्र था। उड़ीसा के पीपली और बालासोर बंदरगाह तक बंगाल के तटवर्ती क्षेत्र का फैलाव था। दोनों क्षेत्रों के

बंदरगाहों के मध्य पर्याप्त मात्रा में व्यापार का आदान-प्रदान था, जिसमें बंगाल के व्यापारियों की मुख्य भूमिका होती थी। सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कारोमण्डल का प्रमुख बंदरगाह पुलीकट था, जो तिरुपति और पेनुकोण्डा के रास्ते उत्तर-पश्चिम में विजयनगर साम्राज्य से जुड़ा हुआ था।

भारत के पश्चिमी तट को सुविधा के लिए चौल, करवर और कन्नानोर के बंदरगाहों में बांटा जाता है। चौल से करवर तक कोंकण का तटवर्ती क्षेत्र फैला हुआ था। कन्नानोर के बंदरगाह के उत्तर में ठीक करवर के दक्षिण में एली पर्वत का कनारा तट था और इसके दक्षिण में मालाबार के तटवर्ती क्षेत्र थे। भारत के पश्चिमी तट पर गुजरात में कैम्बे, मालाबार में कालीकट प्रमुख बंदरगाह थे। उपमहाद्वीप में गुजरात एक सम्पन्न व्यापारिक क्षेत्र था और इसमें अधिकतर मुसलमान व्यापारी थे। कुछ हिन्दू व्यापारी भी थे। ये व्यापारी जावा, सुमात्रा और मलक्का तक व्यापार करते थे। ये रंगीन ऊनी वस्त्र, शीशे के बर्तन, गुलाबजल, अफीम, नील, चाँदी आदि का व्यापार करते थे।

प्रश्न 3. सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दियों में बंगाली और गुजराती व्यापारियों की भूमिका का विश्लेषण करें।

उत्तर—भारतीय उपमहाद्वीप में गुजरात व्यापार का विशाल क्षेत्र था और व्यापार की गतिविधियाँ इसके आसपास ही ज्यादा केन्द्रित रहती थी। गुजरात के व्यापारिक समुदाय में अधिकतर मुसलमान थे, परन्तु कुछ हिन्दू भी थे। गुजरात के व्यापारी अपनी समझ-बूझ तथा कार्य कुशलता के लिए जाने जाते थे, जिसका परिणाम यह हुआ कि इन लोगों ने व्यापार में अपना प्रमुख स्थान बनाया। जब नये बंदरगाह उभरे, तो उसमें मलक्का प्रमुख था। गुजरात के व्यापारी जो अभी तक जावा और सुमात्रा को अपना केन्द्र बनाये हुए थे, उन्होंने अब अपनी गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र मलक्का को बना लिया। गुजरात के कैम्बे बंदरगाह से मलक्का जाने वाले जहाज अपने साथ रंगीन ऊनी कपड़े, शीशे के बर्तन ले जाते थे। गुजराती व्यापारी गुजरात में ही निर्मित सूती कपड़े विशेष रूप से मोटा सूती कपड़ा मलक्का भेजते थे, जिससे उन्हें अधिक लाभ मिलता था। गुजराती व्यापारी कैम्बे, अचेह केड्डा, तन्नासरीम, मरगुड़ और पेगु बंदरगाहों तक व्यापार करते थे। पश्चिमी एशिया में निर्यात होने वाली प्रमुख वस्तुओं में गुजरात में निर्मित सूती कपड़ा ही होता था। इसमें मोटे सूती कपड़े जनसाधारण अधिक प्रयुक्त करते थे। कैम्बे से अदन तक के मार्ग पर गुजराती व्यापारी बड़ी मात्रा में व्यापार करते थे।

गुजराती व्यापारियों ने एशियाई व्यापार में और भारत के व्यापार में अपनी प्रमुख भूमिका निभाई। एशियाई व्यापार के विखण्डन की प्रक्रिया में भारत की भूमिका सशक्त होती गई। इस परिस्थिति में अरब व्यापारियों का व्यापार क्षेत्र ज्यादातर पश्चिमी

मध्य एशिया और पश्चिम भारत के तटवर्ती इलाके तक सीमित होकर रह गया। इससे पश्चिम और पूर्व के तटवर्ती इलाकों और हिन्द महासागर क्षेत्र का व्यापार भारतीय व्यापारियों के हाथ में आ गया, जिसका सबसे ज्यादा लाभ गुजरात के व्यापारियों को मिला।

भारत के पूर्वी तट पर दो प्रमुख व्यापारिक क्षेत्र थे—कारोमण्डल और बंगाल। दोनों क्षेत्रों के बंदरगाहों के मध्य पर्याप्त मात्रा में व्यापार का आदान-प्रदान होता था, जिसमें बंगाल के व्यापारियों की प्रमुख भूमिका होती थी। बंगाल और कारोमण्डल के बीच नियमित रूप से प्रतिवर्ष व्यापार का आदान-प्रदान होता रहता था, जिसका आधार था बंगाल से जलमार्ग द्वारा मसूलीपत्तनम् जैसे बंदरगाहों में आयात की गई वस्तुओं में चावल, चना, गेहूँ, लम्बी काली मिर्च, अफीम और बिहार का शोरा आदि थे। बंगाल के जहाज साधारणतः उत्तरी कारोमण्डल से ही वापस आ जाते थे, परन्तु जिजेली तट से आने वाले जहाज दक्षिण में और आगे मध्य कारोमण्डल में पुलीकट और सोओटोम तक आते थे। वापस लौटते समय वे कारोमण्डल से कपास, तम्बाकू, लोहा, घटिया इस्पात व थोड़ी मात्रा में कपड़ा लाते थे।

बंगाल के व्यापारियों के सम्बन्ध दक्षिण पूर्वी भारत तक ही सीमित नहीं थे, बल्कि उनका विस्तार प्रमुख रूप से बंगाल की खाड़ी के तटवर्ती इलाकों से लेकर मलक्का, श्रीलंका, मालदीप और मालाबार से होते हुए गुजरात, लालसागर और फारस की खाड़ी तक फैला हुआ था।

प्रश्न 4. एक इतिहासकार की दृष्टि से सामुद्रिक व्यापार का मूल्यांकन करें। फान ल्योर के फेरीवाला व्यापार की परिकल्पना का मूल्यांकन करें।

उत्तर—सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में यूरोपियों के एशियाई समुद्रों में आने से पहले भारत में होना वाला सामुद्रिक व्यापार हिन्द महासागर में होने वाले व्यापार का एक महत्वपूर्ण अंग था।

उत्तर-पश्चिम दिशा में फारस की खाड़ी और लाल सागर से लेकर उत्तर-पूर्व में जापान तक एशियाई व्यापार का एक वृत्तांश के आकार में विस्तार था। इस विस्तार में प्राकृतिक प्रभाग भी पड़ते थे जिससे सामुद्रिक व्यापार को बढ़ावा मिला और एशियाई व्यापार में सामुद्रिक व्यापार ने मुख्य भूमिका निभाई। इन प्राकृतिक प्रभागों में मुख्य रूप से अरब सागर, बंगाल की खाड़ी और दक्षिणी चीन सागर थे। प्रत्येक क्षेत्र में कई बंदरगाह भी थे, जो व्यापार के लिए सुगमता प्रदान करते थे और व्यापारियों को अपना माल लाने-ले जाने की सुविधा भी देते थे।

भारत के एशियाई व्यापार में मजबूत स्थिति प्रदान करने का उत्तरदायित्व प्रमुख रूप से सामुद्रिक व्यापार के दो मुख्य खण्डों

पश्चिम में हिन्द महासागर और पूर्व में बंगाल की खाड़ी को जाता है। पश्चिम में लाल सागर और फारस की खाड़ी से एक कड़ी भूमध्य सागर के तटवर्ती क्षेत्रों को दक्षिणी तट तक स्थल मार्ग से जोड़ती थी। वहीं बंगाल की खाड़ी के तटवर्ती इलाके मलक्का से दक्षिणी चीन सागर होते हुए जापान तक पहुँचते थे। पश्चिम में भारतीय व्यापारियों का कार्यक्षेत्र लाल सागर से लेकर फारस की खाड़ी के बंदरगाहों तक ही सीमित था, जबकि पूर्व में यह मलक्का तक विस्तृत था। दोनों खण्डों का विश्लेषण करने से पता चलता है कि दोनों क्षेत्रों का अपना-अपना अस्तित्व था, परन्तु दोनों क्षेत्र एक-दूसरे पर निर्भर थे।

अरब सागर और बंगाल की खाड़ी में बड़ी मात्रा में व्यापार समुद्री मार्ग से होता था। माल एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने के लिए नाव का इस्तेमाल किया जाता था, परन्तु ये नावें छोटी होती थीं। सामुद्रिक व्यापार में मानसूनी हवाओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। मानसूनी हवाओं के अनुकूल चलने पर ही व्यापारी अपने व्यापार के लिए निकलते थे।

फेरीवाला व्यापार की परिकल्पना— डच समाजशास्त्री व इतिहासकार जेकब फान ल्योर ने इस परिकल्पना का प्रतिपादन किया। उन्होंने यह बताया कि भारतीय व्यापारी सिर्फ एक फेरीवाले के स्थान तक सीमित थे। उनके विचार एशियाई व्यापार के सम्बन्ध में इस प्रकार थे :

- एशियाई व्यापारी छोटे स्तर पर व्यापार करते हैं।
- वे प्रमुख रूप से विलासिता की चीजों का व्यापार करते हैं।
- व्यापारियों की भूमिका मुख्यतः बाजार में फेरी लगाकर सामान बेचने वाले से अधिक नहीं थी।
- व्यापार में परिवर्तन सिर्फ व्यापार के घटने-बढ़ने का नजर आता है। इसके अलावा कोई परिवर्तन व्यापार में नहीं होता था।

लेकिन फान ल्योर की ये धारणाएँ भारतीय व्यापार के सम्बन्ध में सही नहीं हैं। भारतीय व्यापारी सिर्फ विलासिता की वस्तुओं का व्यापार नहीं करते थे। वे दैनिक जीवन में काम आने वाली बहुत-सी वस्तुओं का व्यापार करते थे। भारत में सिर्फ व्यापार छोटे स्तर पर होता था—यह भी कहना गलत है, क्योंकि जहाँ एक तरफ छोटे व्यापारी मोटे कपड़े की एक-दो गठरी सामुद्रिक मार्ग से लाकर उन्हें बेचते थे, वहीं मुल्ला अब्दुल गफूर जैसे समृद्ध व्यापारी भी थे, जिनका हिन्द महासागर के समृद्ध सामुद्रिक व्यापार में महत्वपूर्ण योगदान था। बाजारों में माँग और आपूर्ति के अनुसार भाव निश्चित किये जाते थे।

■ ■

व्यावसायिक गतिविधियाँ और मुद्रा व्यवस्था

6

प्रस्तावना

व्यावसायिक प्रक्रियाओं की उत्पत्ति के बारे में जो जानकारी मिलती है, वह इसका विश्लेषण करने के लिए पर्याप्त नहीं है। जैसे साझेदारी की प्रथा बहुत पुरानी हो सकती है, परन्तु इसका उल्लेख 16वीं शताब्दी में मिलता है। 'दलाल' शब्द का प्रयोग भी 14वीं शताब्दी में हुआ और इसके कार्य सम्बन्धी जानकारी 17वीं शताब्दी में मिलती है।

सूदखोरी की प्रथा भारत में ईसा पूर्व सदी से प्रचलित थी। लेकिन इस सूदखोरी के लिए पैसा कहीं से आता था—इसकी जानकारी नहीं मिलती है। लेकिन 13वीं शताब्दी की लेखा पद्धति दस्तावेजों से यह पता चलता है कि ज्यादातर व्यापारी सूदखोरी का धंधा करते थे और उनकी पूँजी ही इसका स्रोत होती थी। कुछ पुस्तकों से भी हमें पूँजी व्यापारियों के बारे में पता चलता है। हेमचन्द्र कृत 'कुमारपालचरित' में सर्राफों का मुद्रा टंकण कार्य में लिप्त होने का विवरण मिलता है। तारीखे फिरोजशाही जो 14वीं शताब्दी की रचना है, में पहली बार साहूकार शब्द का उल्लेख मिलता है। पुरालेखों में 13वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जैन बैंकरों का उल्लेख मिलता है। परन्तु इसका क्या कार्य था, यह पता नहीं चलता है।

17वीं शताब्दी में जमा खातों और हुण्डियों के बारे में पता चलता है। हुण्डी शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 914 ईस्वी में मिलता है। 'लेखा पद्धति' और कल्हण की 'राजतरंगिणी' (12वीं शताब्दी) में हुण्डी का उल्लेख मिलता है। राजा और अभिजात वर्ग के व्यक्ति इसका उपयोग करते हों। यह भी सम्भव है कि व्यापारी भी इसका उपयोग करते थे। 16वीं और 17वीं शताब्दियों में मौद्रीकरण, पूँजी के हस्तान्तरण और पैसे के भुगतान के लिए नयी प्रणालियों का विकास हुआ।

(1) व्यावसायिक गतिविधियाँ और मुद्रा अर्थव्यवस्था:
एक दृष्टिकोण—परिस्थिति के अनुकूल उत्पादन प्रणाली, वस्तुओं और सेवाओं के आदान-प्रदान को कम से कम खर्च में संगठित

और सरल बना देना व्यावसायिक प्रक्रियाएँ कहलाती हैं। व्यापार की सफलता निम्नलिखित बातों पर निर्भर करती है :

- व्यक्ति या कम्पनी द्वारा संसाधन एकत्र करने और निर्धारित करने के तरीके।
- व्यापार में आने वाली बाधाओं का कम से कम खर्च में निपटारा करना।

मुद्रा व्यापार के लिए रीढ़ की हड्डी का काम करती है। मुद्रा से ही वस्तुओं और सेवाओं के बाजार का मूल्यांकन होता है। मुद्रा का होना और उसका उपयोग किस प्रकार अर्थव्यवस्था के लिए और उसमें भी व्यापार के लिए किया जाये, यह जरूरी होता है।

व्यावसायिक गतिविधियाँ और मुद्रा अर्थव्यवस्था को निम्नलिखित दृष्टिकोणों के माध्यम से समझा जा सकता है :

- बाजार और आर्थिक विनिमय
- प्रशासनिक और कानूनी संरचना
- सामाजिक और व्यावसायिक संरचना।

आर्थिक विकास का उचित स्तर होने के लिए उसमें वस्तुओं और सेवाओं की माँग और आपूर्ति बनी रहे, मध्यकालीन अर्थव्यवस्था के प्रमुख लक्षण थे। ये लक्षण थे :

- ग्रामीण समुदाय की जीवन निर्वाह अर्थव्यवस्था।
- सेवाओं का आदान-प्रदान वस्तु विनिमय के जाल द्वारा होता था।
- इस स्थिति में मुद्रा की भूमिका नहीं के बराबर थी।
- व्यापार की सम्भावनाएँ कम थीं।

ग्रामीण क्षेत्रों की अर्थव्यवस्था व्यावसायिक अर्थव्यवस्था थी जहाँ बाजार विनिमय पर आधारित था।

मध्यकालीन भारत में व्यावसायिक क्षेत्र में विनिमय की जो धाराएँ प्रचलित थीं, उनमें पहली स्थानीय थी और दूसरी विदेशी। पहली धारा में मुद्रा की आवश्यकता कम होती थी। यह केवल उस समय होती थी, जब ग्रामीण व शहरी जनता को कर चुकाना होता था। ग्राम समुदाय अपनी दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं की पूर्ति

पास के कस्बे से कर लिया करते थे और राज्य को कर नकद रूप में देते थे। ग्रामीण समुदाय में पैसा कृषि उपज को बेचकर आता था, जो महाजनों और बनजारों के माध्यम से अपना माल बेचते थे। वे गाँव, जो प्रमुख मार्गों के किनारे बसे होते थे, पैसा कमाने के लिए बाजारों का विकास किया। ये गाँव मेलों का भी आयोजन करते थे, जहाँ व्यापारी आकर उनका सामान खरीदते थे। इससे गाँव को पैसे की पूर्ति हो जाती थी। शहरों में विभिन्न वर्गों के लोग रहते थे, जिनको स्थायी माँग रहती थी। शहरों में वस्तुओं पर कर नकद रूप में वसूले जाते थे, क्योंकि उससे प्रशासनिक और शासक वर्ग के रहन-सहन का खर्च चलता था।

विनिमय की दूसरी धारा विदेशों और दूरस्थ क्षेत्रों से जुड़ी हुई थी। इन निर्यात होने वाली वस्तुओं में मौसम के अनुसार आवश्यक वस्तुओं का विनिमय किया जाता था और ये वस्तुएँ गाँव में उत्पादित व तैयार की जाती थीं। इनमें प्रमुख रूप से कपड़ा, नील, शोरा और चीनी शामिल थे। इन वस्तुओं का स्थल मार्ग और जल मार्ग द्वारा निर्यात किया जाता था। भारत से ये वस्तुएँ पश्चिम में अफ्रीका, यूरोप और मध्यपूर्व के बाजारों में, पूर्व में दक्षिण-पूर्व एशिया, चीन, जापान, फिलीपीन के बाजारों में प्रमुख मात्रा में बेची जाती थी। वापस लौटते समय ये जहाज मुद्रा या अमुद्रित धातुएँ लाते थे, जिसने विनिमय का स्वरूप बदल दिया।

इस प्रकार व्यापार विनिमय फैला और हर कदम पर मुद्रा की आवश्यकता पड़ी। कीमते, मजदूरी, वेतन, कर आदि सभी कुछ मुद्रा द्वारा निर्धारित किए जाते थे। मुद्रा की आपूर्ति देश में उत्पादित माल और विदेशों से अर्जित सोना, चाँदी व ताँबा से की जाती थी। मुद्रा की आपूर्ति करने में सरकारी टकसालों की भूमिका महत्वपूर्ण होती थी। टकसालों को फारसी में दार-उल-जब कहा जाता था। 16वीं शताब्दी में टकसाल और उसकी कार्यप्रणाली का विस्तृत विवरण अबुल फजल की पुस्तक 'आइने अकबरी' में मिलता है। इन टकसालों में प्रशासनिक अधिकारी और कुशल कारीगर काम करते थे। ये खुली टंकण पद्धति पर काम करते थे अर्थात् कोई भी व्यक्ति सिक्का ढलाई का खर्च देकर मुद्रा प्राप्त कर सकता था।

टकसाल के सम्बन्ध में उपर्युक्त जानकारी देने के साथ-साथ टकसाल के कारीगरों से अवगत कराना भी जरूरी है। अतः यहाँ टकसाल से सम्बन्धित कारीगरों का विवरण दिया जा रहा है।

- (i) **दरोगा**—यह कारीगरों पर नियन्त्रण रखता था व सबको काम में लगाये रखता था।
- (ii) **सर्राफी**—विभाग की सफलता इसके अनुभव पर निर्भर करती थी। इसका कार्य सिक्कों में खरेपन की मात्रा निर्धारित करना था। शुद्धता की सबसे उत्तम कोटि को फारसी में *दहदही* कहते थे।
- (iii) **अमीन**—यह दरोगा व दूसरे कर्मचारियों की सहायता करता था।

- (iv) **मुशरिफ**—यह दैनिक खर्च का ईमानदारी के साथ लेखा-जोखा रखता था।
- (v) **व्यापारी**—वह सोना, चाँदी व ताँबे की खरीद में लाभ कमाता था व टंकण विभाग की सहायता करता था।
- (vi) **खजांची**—यह लाभ पर नजर रखता था।
- (vii) **अहदी**—यह राजकीय सैनिक होता था, जो निम्न स्तर का कर्मचारी होता था।
- (viii) **वजन करने वाला**—यह सिक्कों को तौलता था तथा इसे पैसा मात्राओं को तोलने के हिसाब से मिलता था।
- (ix) **कच्ची धातु को गलाने वाला**—यह चिकनी मिट्टी की पट्टी पर छोटे-छोटे गड्डे खोदता था व उसमें ग्रीस लगाकर सिक्के बनाने के लिए गले हुए सोने, चाँदी व ताँबे को उसमें डालता था।
- (x) **चद्वर बनाने वाला**—यह मिलावट वाले सोने की चद्वरें बनाता था।

(2) **प्रशासनिक और कानूनी संरचना**—मध्यकालीन भारत में व्यापार और रोजगार की दृष्टि से देखें, तो पता चलता है कि राज्य की इसमें सकारात्मक भूमिका होती थी और वह इसमें अपना पूर्ण सहयोग करता था। कोई भी व्यवसाय या पैसा कमाने में राज्य की कोई कानूनी बाधिता नहीं होती थी। राजनीतिक हस्तक्षेप के बावजूद भी मुक्त व्यापार व्यवस्था पर आर्थिक रूप से कोई फर्क नहीं पड़ा।

दिल्ली सल्तनत का सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी (1296-1316 ई.) एकमात्र ऐसा शासक था, जिसने बाजार मूल्य के निर्धारण में हस्तक्षेप किया। उसने इसमें उपज और व्यापार के लाभ को ध्यान में रखा। मुगल बादशाह शाहजहाँ ने बाजार में हस्तक्षेप करके एकाधिकार कायम करने का प्रयास किया, लेकिन वह इसमें नाकामयाब रहे। ऋण सम्बन्धी मामले उसी के काल में प्रचलित कानून द्वारा स्थानीय अदालतों द्वारा निपटाये जाते थे। यदि कोई व्यापारी अपने आप को दिवालिया घोषित कर देता था, तो वह सभी जिम्मेदारियों से मुक्त हो जाता था। दिवालिया घोषित करने के तरीके में दिवालिया घोषित करने वाला व्यक्ति अपने घर के बाहर मोमबत्ती जलाता था। इसी प्रथा से दिवालिया शब्द की उत्पत्ति हुई लगती है। व्यापारिक झगड़ों को सुलझाने के लिए जाति पंचायत और समाज के प्रधानों की सभाएँ होती थीं। राज्य स्तर पर स्थानीय अदालतें भी होती थी।

आर्थिक संरचना को स्थायित्व देने वाले मुख्य कारक निम्नलिखित थे:

- (i) मुद्रा का मानकीकरण
- (ii) टकसाल का सुसंगठन
- (iii) कानून व्यवस्था

62 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

(iv) कर व्यवस्था

(v) उचित सुरक्षा

(3) सामाजिक और व्यावसायिक संरचना—मध्यकालीन भारत में व्यापारिक समुदायों में पंजाब के खत्री, गुजरात के पारसी और वोहरा, दक्षिण भारत के चेटीयार प्रमुख थे, परन्तु इन समुदायों में वैश्यों, जिनको बनिया भी कहा जाता था, एक प्रमुख वर्ग था। ये लोग प्रभावशाली होते थे और इनका समुदाय विस्तृत भी था। ये बन्दर अब्बास यमन, लाल सागर तक व्यापार करते थे और वाणिज्य दलाली सराफी, बैंक कार्य व बीमा क्षेत्रों की अच्छी जानकारी रखते थे। इन बनियों के अपने दफ्तर होते थे जिन्हें वे अपने प्रतिनिधियों द्वारा चलाते थे। इन दफ्तरों को कोठी कहा जाता था। बनियों में जो व्यापार, बैंकिंग व ब्याज पर भी पैसा देते थे, वे महाजन कहलाते थे। फारसी लेखकों ने बनियों के सभी वर्गों के लिए बक्काल शब्द का प्रयोग किया है।

17वीं शताब्दी में आये फ्रेंच जौहरी जॉ बैप्टिस्ट टैवरनियर ने बनियों का उल्लेख किया है। मध्यकाल में बनियों का अपना दबदबा था, जो उनके अनेक गुणों के कारण था। उनमें असीम उत्साह और बुद्धि होती थी। उन्होंने अपनी व्यावसायिक पटुता का विकास किया।

(4) मुद्रा व्यवस्था और मुद्रा संचार—भारत में मुद्रा संचार का अध्ययन करने के लिए प्राचीन भारत में मुद्रा का किस प्रकार प्रचलन था, यह देखना जरूरी होगा और सिन्धु घाटी सभ्यता से बात शुरू करके हम गुप्तकाल तक की मुद्रा व्यवस्था देखेंगे। इस मुद्रा के संचार को बिन्दुवत् देखना हमारे अध्ययन की सुविधा से आसान हो जाएगा।

सिन्धु घाटी सभ्यता—सोने और चाँदी की धातुओं का मुद्राओं के रूप में प्रयोग

— परन्तु मुद्रा की ढलाई नहीं

— कीमती धातुओं का प्रयोग मुद्रा के रूप में।

ऋग्वैदिक काल—अपना धन-दौलत गायों, ऊँटों, घोड़ों व दासों के रूप में मापते थे।

— बिना छपे चाँदी के टुकड़ों का प्रयोग विनिमय के रूप में (निष्क)।

बौद्ध युग (6 ई.पू.)—द्वितीय शहरी क्रान्ति का उदय

(i) व्यापार का विकास हुआ।

(ii) सोने के चूर्ण (gold dust) और आहत मुद्राओं (punch marked coin) का विनिमय के रूप में प्रयोग।

कुषाण और गुप्तकाल (पहली से छठी शताब्दी)—मुद्रा के क्षेत्र में विशेष उन्नति

— सोने व चाँदी के सिक्कों का प्रयोग।

लेकिन जब भारत में सामन्तवाद (500-1000 ई.) का दौर आया, तो मुद्रा का विकास रुक गया और इस समय सोने के सिक्कों का

अभाव नजर आता है। चाँदी के सिक्के भी सीमित मात्रा में मिले हैं। ज्यादातर सिक्के ताँबे के थे। लेकिन मुद्रा का अवरुद्ध हुआ यह विकास प्रारम्भिक मध्यकाल में पुनः विकसित हुआ। इसके पीछे कारण थे—शहरी व विदेशी व्यापार का विकास, मध्य एशिया से विभिन्न आर्थिक व राजस्व संस्थाओं का आगमन, दिल्ली सल्तनत की स्थापना। सिन्ध और दक्षिणी भारत के क्षेत्रीय विस्तार ने भी मुद्रा व्यवस्था व इसके प्रचलन में सहयोग दिया। सल्तनत काल में व्यापार और विनिमय ने सोना, चाँदी, ताँबे, विलन की धातुओं के मुद्रा चलन को विस्तारित किया, जिसमें चाँदी का सिक्का टंका, जीतल या दम्मा चाँदी के साथ सस्ती धातुओं के मिश्रण से बनाया जाता था। ताँबे का पैसा आदि भी प्रचलित थे।

मुद्रा के चलन से सरकार को नकद राजस्व मिलने लगा, क्योंकि कृषक अपना सामान बाजार में बेचकर नकद पैसा लेते थे। व्यापारियों, दस्तकारों, बैंकों के लिए पैसे का लेन-देन आसान हो गया। यह मुद्रा प्रसार का दूसरा चरण था जिसका पतन चौदहवीं शताब्दी (1350-1540 ई.पू.) में हुआ। इसके कारण थे:

(i) कीमती धातुओं की जगह सस्ती धातुओं ने ले ली थी।

(ii) भुगतान के ढंग में आया बदलाव

(iii) नकद की जगह वस्तु-विनिमय का प्रचलन।

(iv) सोना विनिमय का माध्यम न रहा और चाँदी की जगह विलन ने ले ली।

(v) ताँबे के सिक्के और कौड़ी जो पहले छोटे सौदागरों द्वारा इस्तेमाल होते थे, इनका अब प्रचलन बढ़ा।

(vi) पूरे विश्व में चाँदी की कमी होना।

मुद्रा संचार के तीसरे चरण की शुरुआत अकबर के काल से मानी जाती है, जो शेरशाह की मुद्रा प्रणाली पर आधारित थी।

शेरशाह ने तीन प्रकार की नयी मुद्राओं का चलन शुरू किया, जो पहले दिल्ली सल्तनत में प्रचलित नहीं थी। ये थीं—सोने की अशरफी या मुहर, सोने का रुपया, ताँबे का भारी सिक्का, जो पैसा या दाम कहलाता था। अकबर के शासन काल में मुद्रा का प्रसार हुआ और ताँबे व विलन के सिक्के का प्रचलन बन्द हो गया। यह सब भारत में होने वाले विकास के विभिन्न चरणों के परिणामस्वरूप हुआ। बाह्य विकास में पेरू और मेक्सिको से आयातित चाँदी की मुख्य भूमिका थी। 16वीं और 17वीं शताब्दी में यूरोप को छोड़कर भारत ही सबसे अधिक चाँदी का आयात करने वाला देश था। जैसे-जैसे स्पेनिश चाँदी का बहाव भारत की तरफ बढ़ा, मुगल साम्राज्य का विस्तार भी पश्चिम में गुजरात के तटवर्ती इलाकों से सिन्ध की ओर होता चला गया। इन तटवर्ती इलाकों के व्यापार के कारण ही बुलियन यूरोप और जापान से सीधा भारत आता था।

डच और ईस्ट इण्डिया कंपनी के भारत में आने से बंगाल का व्यापारिक क्षेत्र के रूप में बहुत विकास हुआ और मुगल साम्राज्य

के क्षेत्रीय विस्तार से तटवर्ती इलाकों का देश के आन्तरिक भागों के साथ जुड़ाव हुआ, जिससे मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने में सरलता हुई या यूँ कहें कि मुद्रा का संचरण बढ़ा।

मुगल साम्राज्य की आर्थिक और वित्तीय नीतियों के कारण ही मुद्रा का संचरण सफल हो पाया। शाही टकसालों में खुली टंकण प्रणाली के कारण भी मुद्रा संचरण में सहयोग मिला, क्योंकि इसमें व्यक्ति सिक्का ढलाई का खर्च देकर मुद्रा प्राप्त कर सकता था। टकसालों की स्थापना ने मुद्रा के संचरण में सहयोग दिया। 1582 में की गई माप-तौल प्रणालियों में परिवर्तन का परिणाम यह हुआ कि इसके द्वारा पूरे मुगल साम्राज्य में एक मानक मुद्रा प्रणाली स्थापित करने का प्रयास किया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि पुरानी मुद्राओं के स्थान पर नयी मुद्राओं का चलन बढ़ा। प्रशासनिक और बाजार में किये गये परिवर्तनों के परिणामस्वरूप जो परिवर्तन आया, उसे बनाये रखने में विदेशी व्यापार ने भी अपना सहयोग दिया क्योंकि इस व्यापार से चाँदी भारत में आती थी। छोटे-छोटे सौदों में चाँदी के रुपये का सबसे छोटा अंश, जिसे आना कहा जाता था, का प्रयोग किया जाता था तथा ताँबे की मुद्रा पैसा या दाम भी इस काम में लायी जाती थी। इस प्रकार के सौदों में जहाँ चाँदी से भी छोटी मुद्रा का इस्तेमाल करना पड़ता था, वहाँ कौड़ियों से काम चला लिया जाता था। इनका प्रचलन विशेष रूप से उड़ीसा, बंगाल व बिहार के बाजारों में था। लेकिन एक रोचक बात यह भी है कि गुजरात में कड़वे बादाम का भी मुद्रा के रूप में प्रयोग किया जाता था। कौड़ियों को मालद्वीप से और बादाम को ईरान से मंगाया जाता था। परन्तु यह बात उल्लेखनीय है कि इन दोनों का ज्यादा प्रचलन तटवर्ती क्षेत्रों में ही रहा। इसका प्रचलन आन्तरिक भागों में अधिक नहीं था।

लेकिन उत्तरी भारत और दक्षिण भारत की मुद्रा प्रणाली में अन्तर था। उत्तरी भारत के मुकाबले दक्षिण भारत के सिक्के ज्यादातर सोने के बने होते थे और यहाँ ताँबे के सिक्के भी ढाले जाते थे। सोने के सिक्के को हुन कहा जाता था, जो विदेशों में पैगोड़ा के नाम से जाने जाते थे। यह वेनिस की स्वर्ण मुद्रा डूकार के मॉडल पर आधारित थी। यह मध्यकालीन युग का डॉलर कहलाता था। 14वीं और 15वीं शताब्दी में डूकार मुद्रा भारत लायी गयी और उसके आधार पर भारत में सिक्के ढाले गये। इसी आधार पर हुन मुद्रा बनाई गयी। इन दोनों सिक्कों में केवल उन पर छपे चित्रों का ही अन्तर था। अन्यथा ये दोनों मुद्राएं एक समान थीं। हुन पर उमा-महेश्वर के चित्र छपे होते थे। दक्षिणी भारत में जब मुगल साम्राज्य का विस्तार हुआ तो राजस्व चाँदी के सिक्कों में इकट्ठा किया जाता था, जिसके कारण यहाँ चाँदी के सिक्के का प्रचलन बढ़ा।

व्यावसायिक प्रक्रिया

व्यावसायिक प्रक्रिया के प्रमुख अंग थे:

(क) साझेदारी (ख) दलाली।

(क) साझेदारी—किसी व्यापार को चलाने के लिए श्रम और पूँजी की आवश्यकता होती है और जिस व्यक्ति के पास ये दोनों होती हैं, वह अपना कोई भी व्यापार चला सकता है। अगर किसी व्यक्ति के पास एक की भी कमी हो, तो वह व्यक्ति किसी बाह्य व्यक्ति की सहायता से अपना व्यापार चला सकता है। अर्थात् व्यापार के संचालन में किसी अन्य व्यक्ति की सहायता की साझेदारी कहलाती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि “एक औपचारिक व्यवस्था जिसमें दो या दो से अधिक पक्ष अपना श्रम, दक्षता और पूँजी एक साथ मिला लें, साझेदारी कहलाती है।”

मध्यकालीन भारत में साझेदारी को अच्छा माना जाता था, क्योंकि इसमें नुकसान और लाभ दोनों बंट जाते थे, जिससे किसी एक व्यक्ति पर अधिक बोझ नहीं पड़ता था। यदि एक व्यक्ति के पास व्यापार शुरू करने के लिए पर्याप्त पैसा नहीं है, तो वह उसमें दूसरे व्यक्ति को शामिल करके पर्याप्त पैसा एकत्रित करता तथा फिर अपना व्यापार शुरू कर देता था। हाँ, इसके लिए दूसरे व्यक्ति की सहमति आवश्यक होती थी। अतः दो कम पूँजियों को एक साथ मिलाकर एक बड़ी पूँजी बनाकर बड़ा व्यापार शुरू किया जा सकता था।

यह साझेदारी संयुक्त परिवारों तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि बाहर के अन्य लोगों से भी साझेदारी की जाती थी। बल्कि समाज के भिन्न-भिन्न स्तरों के व्यक्तियों से भी साझेदारी की जाती थी। कुलीन वर्ग के लोग मुजरबात पद्धति से व्यापार करते थे, जिसमें निवेशक और सफर करने वाले व्यापारी अपने संसाधनों को अपने पारस्परिक हित के लिए एकत्र करते थे। मध्यकाल में इस पद्धति से हुआ व्यापार सही माना जाता था और मुगल शासक इस पर भी कर लगाते थे। कंपनियाँ या समूह और साहूकार अपने फैक्टर या एजेंट भी रखते थे, जो अपना व्यापार स्वतंत्र रूप से करने के साथ-साथ अपने मालिकों के आदेशों का पालन भी करते थे। इन एजेंटों का लाभ यह होता था कि कंपनी या समूह को साझेदारी नहीं करनी पड़ती थी। एजेंटों को कमीशन या व्यापार में हुए लाभ में हिस्सा मिलता था।

(ख) दलाली—अर्थव्यवस्था के विकास के परिणामस्वरूप ही व्यापार में परस्पर निकटता और पारदर्शिता कम होती चली जाती है। एक पक्ष दूसरे का प्रतिस्पर्धी बन जाता है और एक दूसरे से दूर चला जाता है। इन व्यापारिक बाधाओं को दूर करने के लिए व्यापारियों को एक दलाल की आवश्यकता होती है, जो विभिन्न सौदों में समय और स्थान सम्बन्धी दूरी को कम करता है। दलाली प्रथा बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसके बिना किसी भी व्यापारिक जगत की कल्पना नहीं की जा सकती है।

मध्यकालीन जगत में दलालों की भूमिका महत्वपूर्ण होती थी और इनकी सहायता से बड़े-बड़े व्यापारी भी अपना व्यापार चलाते थे। दलालों में अधिकतर बनिये, मुसलमान और पारसी होते थे, जो

64 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

सभी वाणिज्यिक केन्द्रों पर होते थे। बड़े-बड़े व्यापारियों ने भी दलालों की सहायता ली। दलाल व्यापारियों के लिए बड़े काम के होते थे। विदेशी व्यापारी भी अपने लिए दलाल रखते थे। 1680 में आये ओविंगटन और जॉन फ्रायर नामक यात्रियों ने दलालों की भूमिका को उजागर करते हुए लिखा है कि वे बनिया होते थे और उन्हें भारत की सभी वस्तुओं की कीमतों और उनके महत्व का अच्छा ज्ञान होता था। उनकी सहायता के बिना कोई भी भारत में व्यापार नहीं कर सकता था।

दलालों की महत्ता के बाद अब दलालों की कार्यप्रणाली के बारे में भी जाना जाये। वे अपना धन्धा एक पारिवारिक कंपनी के रूप में चलाते थे, जिसमें सब पैसा लगाते थे तथा हिसाब-किताब एक बुजुर्ग को सौंपा जाता था, जिसमें अनुभव के साथ-साथ दक्षता भी होती थी। शाम को परिवार के सदस्य जो दलाल के रूप में कार्य करते थे, अपना हिसाब देते थे। ये दलाल दोनों पक्षों से कमीशन लेते थे। ये विक्रेताओं से शेयर बाजार में संपर्क करते समय सांकेतिक भाषा या कोड के रूप में बात करते थे।

ऋण प्रक्रिया और उपकरण

विकसित अर्थव्यवस्था में व्यापार करने के लिए केवल पूँजी का ही पैसे के रूप में प्रयोग नहीं किया जा सकता। इसके लिए ऋण व देर से दिया जाने वाला पैसा भी प्रयोग में लाया जाता है। बाजार के लिए और व्यक्ति के लिए नकद और ऋण दोनों एक-दूसरे के पूरक के रूप में काम में लाये जाते हैं। मध्यकालीन भारत में दूसरे के पैसों को लगाकर व्यापारिक सौदों का खर्च व जोखिम कम करना एक आम प्रथा थी। ग्राहकों को पैसा उधार देने का काम सर्राफ करते थे।

ऋण प्रक्रिया और उपकरण के अन्तर्गत इसमें निम्नलिखित बिन्दुओं के तहत चर्चा की जा सकती है:

(क) सूदखोरी और वादनी

(ख) बैंकिंग और हुण्डी

(क) **सूदखोरी और वादनी**—किसी व्यक्ति की पैसे की जरूरत पूरा करने के बदले उसे पैसा उधार देकर उस पर सूद लेने की प्रथा को सूदखोरी कहा जाता था। मध्यकालीन भारत में यह प्रथा प्रचलित थी और इसे पूर्ण आजादी भी थी। ऋण लेकर व्यापार करने की प्रथा मध्यकाल में बड़े व छोटे दोनों व्यापारियों के मध्य प्रचलित थी। मध्यकाल के एक व्यापारी बनारसीदास ने व्यापार करने के लिए आधी पूँजी अपने परिवार से ली और आधी ऋण द्वारा जुटाई। व्यापार के लिए अल्पकालीन और दीर्घकालीन दोनों प्रकार के ऋण लिए जाते थे। ऋणों को देने में सर्राफों की प्रमुख भूमिका होती थी और वे उधार देने से पहले उधार लेने वाले की स्थिति और मौसम का ध्यान रखते थे। पैसा लेने वाले की स्थिति, मांग और आपूर्ति पर सूद की दर निर्भर होती थी।

साहूकारों द्वारा उधार दी गई पूँजी का विस्तार कितना व्यापक था, इसका अनुमान यूरोपीय व्यापारियों के सौदों को देखकर लगाया जा सकता है, क्योंकि अंग्रेज व डच व्यापारियों को खरीद के समय पूँजी जुटाने की जरूरत होती थी, जिनके लिए वे उधार लेते थे। नीचे दी गयी तालिका को देखने से पता चलता है कि सन् 1670 के पहले तीन महीनों में अंग्रेजों ने सूरत के व्यापारियों से 3.4 लाख रुपये उधार लिया और साल खत्म होने तक यह रकम बढ़कर 6 लाख रुपये हो गई थी, जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी के उस साल के निवेश का 75 प्रतिशत था। डच व्यापारियों ने भी 80 लाख रुपयों का कर्जा लिया था।

1670 ईस्वी में अंग्रेज व्यापारियों द्वारा सूरत में लिये गये ऋण

साहूकार	रकम	तारीख
बल्लभ दास गोकुल	5000	मार्च, 1670
बनवालीदास सूरदास	25000	मार्च, 1670
जगजीवनदास किसनदास	25000	मार्च, 1670
सामदास गोपालदास	26000	अप्रैल, 1670
बनवालीदास चौनदास	22000	अप्रैल, 1670
बल्लभदास बनवालीदास	8000	अप्रैल, 1670
कल्याणचन्द जेसवांग	100001	अप्रैल, 1670
नाम का उल्लेख नहीं	30000	जून, 1670
वेलजी आनंद	25000	जुलाई, 1670
रौनसी	25000	जुलाई, 1670
शंकर भगवान	30000	जुलाई, 1670
सूरदास कपूरचन्द	18000	जुलाई, 1670
बिहारीदास सूरदास	22500	जुलाई, 1670

वादनी प्रथा के अन्तर्गत ऋण लेने वाले व्यापारी स्वयं किसानों और दस्तकारों को ऋण देते थे, ताकि उन्हें सही दामों पर वस्तुओं की आपूर्ति होती रहे। कपड़ा और नील व्यापारियों को अपना माल स्थानीय बाजारों में बेचने की छूट होती थी, परन्तु उन्हें दलालों और व्यापारियों पर माल के लिए निर्भर रहना पड़ता था, ताकि वे अपने हिसाब से अपने उत्पादन को बनाये रखें। व्यापारी दूसरे व्यापारियों से आगे रहने के लिए हमेशा ऋण का सहारा लेते थे, क्योंकि इससे वे अपना व्यापार बढ़ा सकते थे और ज्यादा व्यापार कर सकते थे, जिससे उन्हें दूसरे व्यापारियों से आगे जाने के लिए रास्ता मिलता था, जिसमें ऋण उनकी सहायता का एक सहारा होता था। ऋण और उत्पादन में बिचौलियों की भूमिका भी महत्वपूर्ण होती थी, जो कारीगरों और व्यापारियों के बीच एक कड़ी की भूमिका निभाते थे। बंगाल के कपड़ा उद्योग में दलालों द्वारा पाइकरों को पैसा दिया जाता था और ये पाइकर दलालों से पैसा लेकर बुनकरों को पैसा देते थे, जिस पर वे एक से दो प्रतिशत कमीशन दलालों को देते थे और पाइकर इस कमीशन की पूर्ति बुनकरों से कर लेते थे।

(ख) बैंकिंग और हुण्डी—हुण्डी एक ऐसा कागज होता था, जिस पर हिन्दी या किसी अन्य भारतीय भाषा में यह वादा लिखा होता था कि धारक को विशेष स्थान पर तत्काल या बाद में एक निश्चित रकम दी जायेगी। हुण्डियों के कई प्रकार होते थे; जैसे—दर्शनी हुण्डी, मियादी हुण्डी आदि। दर्शनी हुण्डी में धारक के दर्शन होने पर तुरन्त रकम दी जाती थी। मियादी हुण्डी एक अनुबद्ध मियाद या समय सीमा के बाद छुड़ाई जाती थी। मध्यकालीन भारत में दो प्रकार की हुण्डियों का प्रचलन था। एक को रकम को हस्तांतरित करने के उपकरण के रूप में और दूसरे को ऋण उपकरण के रूप में प्रयुक्त किया जाता था। हुण्डियों का एक फायदा यह होता था कि पैसा एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में जो जोखिम पैसा ले जाने वाले को बना रहता था, वह खत्म हो जाता था, क्योंकि व्यापारी अपना पैसा एक सर्राफ के पास जमा करके उससे हुण्डी ले लेते थे और उसको जिस स्थान पर और जिस समय रुपया चाहिए होता था, वह वहाँ जाकर उसे हुण्डी दिखाकर पैसा ले लेता था। इस कार्य के बदले सर्राफ कमीशन लेते थे, जिनसे हुण्डी की विनिमय दर निश्चित की जाती थी। ये बैंकर या सर्राफ हुण्डी के बदले में अल्पकालीन रकम जमा करवा लेते थे। अंग्रेज व डच व्यापारी और व्यापारिक समूह भी अपनी पूँजी हुण्डियों के माध्यम से भेजते थे। अब व्यापारियों ने भी यात्रा के दौरान किसी जोखिम को उठाना सही नहीं समझा और वे अपने पास यात्रा के दौरान नकद राशि लेकर कम ही चलते थे और अपनी पूँजी का अधिकतर संचार हुण्डियों के रूप में करते थे। मुगल साम्राज्य में भी विभिन्न क्षेत्रों में पैसा हुण्डियों के माध्यम से भेजा जाता था।

चूँकि हुण्डी को बैंकर के पास रकम जमा करके बनाया जाता था और जितनी रकम हुण्डी बनवाने वाला जमा करता था, उतने की ही हुण्डी बनायी जाती है। इस तरह यह नकद रकम की तरह कार्य करती थी और इन्हें बाजार में बेचा भी जा सकता था। परन्तु इसमें थोड़ी राशि काट ली जाती थी। हुण्डीधारक को इससे लाभ हुआ, क्योंकि उसकी धनराशि एक निश्चित समय सीमा तक नहीं मिल सकती थी और अगर उसको पहले पैसे की आवश्यकता पड़ती थी, तो वह हुण्डी को बेच सकता था और अपने पैसे की जरूरत को पूरा कर सकता था। इस तरह हुण्डी का प्रयोग मुद्रा के रूप में होने लगा और मुद्रा संचार में हुण्डी की महत्वपूर्ण भूमिका होती गयी। बैंकरों को इससे यह फायदा हुआ कि वे अब हुण्डी के लिए जमा की गई रकम को ऋण के रूप में प्रयोग करने लगे और उनको पैसा कमाने के लिए अधिक पैसा आने लगा।

एक हुण्डी का प्रारूप नीचे दिया जा रहा है, जिससे आपको यह समझने में आसानी होगी कि हुण्डी किस प्रकार लिखी जाती थी:

राजा हुण्डिका (राजपत्र/बिल)

सुनिए! अमुक महामण्डलेश्वर शनक अपने विशेष अधिकारी को इस प्रकार निर्देश देते हैं। निर्देश यह है: तुम 3000 द्रम्मा (शब्दों में तीन हजार द्रम्मा), इन द्रम्माओं में से जो पहले एकत्रित करके सरकारी खजाने में परमार राजपुत्र के पास भेजनी है। इसी प्रकार उसके जो आठ पैदल सिपाही यहाँ आये हैं। उन्हें कच्ची रसद के लिए 8 द्रम्मा प्रतिदिन के हिसाब से राशि दें, जब तक हिसाब बराबर न हो जाये। संवत् 1288, 15 वैसाख सुदी सोमवारवत् सदेश वाहक को व्यक्तिगत रूप से निर्देश दिया हुआ है।

सर्राफ द्वारा शहर के सम्पन्न लोगों से रकम जमा की जाती थी, जो मांगने पर देय होती थी। यह रकम अधिक ब्याज पर दी जाती थी। इसमें ब्याज .625 प्रतिमाह होता था और ऋण एक से 2.5 प्रतिशत की दर से दिया जाता था। इस ब्याज और ऋण का अन्तर ही बैंकरों का लाभ होता था। इस धनराशि में बड़ा जोखिम बना रहता था, क्योंकि ऋण पर दिये गये पैसों को धारक से एकदम वापस नहीं लिया जाता था। इसीलिए अगर रकम जमा करने वाले ने अपनी रकम वापस मांग ली, तो सर्राफों का दिवालिया होना लगभग तय होता था।

इसी का विवरण आगरा में आये एक अंग्रेज फैक्टर ने इस प्रकार लिखा है, जो 1645 ई० में आया था।

“शहर के कई धनी लोग हैं, जिनकी आय का मुख्य साधन है सर्राफों से कमाया गया ब्याज जो प्रतिमाह 5/8 से अधिक नहीं है। सर्राफ उसी रकम को एक या दो प्रतिशत ब्याज पर लगाता है। जब सर्राफ बड़ी-बड़ी रकम ज्यादा ब्याज पर ज्यादा आदमियों को देता है। अचानक रकम जमा करने वाले अपनी रकम निर्धारित समय सीमा से पहले माँग लें। फिर भेड़चाल की तरह रकम जमा करने वाले उससे अपनी रकम एक के बाद एक माँगते हैं जिनसे सर्राफ के लिए साँस लेना दूभर हो जाता है।”

उपर्युक्त उदाहरण से एक बात तो साफ नजर आती है कि भारत के बारे में प्रचलित वह धारणा गलत साबित होती है जिसमें कहा जाता था कि भारत में अतिरिक्त धन को संदूकों में बन्द करके रखा जाता था या फिर आँगन में दबा दिया जाता था क्योंकि सर्राफों द्वारा लोगों को दिया गया धन अधिक पूँजी बनाने का एक उपाय ही तो था। वे अब इस धन को निष्क्रिय रूप में नहीं रखना चाहते थे क्योंकि इस धन से उनको ब्याज के रूप में कमायी होती थी। दिवालिया होने के एक-दो उदाहरणों को छोड़कर अधिक उदाहरण नहीं मिलते हैं। एक अंग्रेज व्यापारी के अनुसार भारत में दिवालिया होने के उदाहरण इंग्लैण्ड से कम मिलते हैं क्योंकि समाज में इस कार्य को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था। कानून कठोर थे, जो ईमानदारी की राह पर चलने के लिए मजबूर करते थे।

66 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

लेकिन नकद धनराशि की कमी न हो पाये, इस बात का भी ध्यान रखा जाता था। इससे बचने के लिए सर्राफ निम्नलिखित तरीके अपनाते थे:

- (i) ऋण खातों के माध्यम से हुण्डी को नकद में नहीं बदला जा सकता था।
- (ii) हुण्डियों द्वारा पैसा जहाँ अधिक हो, वहाँ से जहाँ पैसा कम हो, वहाँ पहुँचाया जाये।

लोगों को जब नकद की आवश्यकता होती थी, तो उन्हें रकम जमा करने के लिए प्रेरित किया जाता था और जब उसकी आपूर्ति अधिक होती थी, तो उधार लेने के लिए प्रेरित किया जाता था।

व्यापारी अक्सर अपनी हुण्डी चलाकर पैसा लगाते थे। ऐसी हुण्डियों की बैंकर वह कीमत देते थे जिसमें वापस करने की अवधि तक का ब्याज शामिल होता था।

जोखिम उठाने की प्रक्रिया: बीमा और रेस्पाडेंशिया

मध्यकालीन बैंकर और व्यापारी सुदूर व्यापार और यात्रा के दौरान पूँजी लेकर चलने का जोखिम अच्छी तरह समझते थे और उन्होंने इसके लिए हुण्डी अपनाना शुरू कर दिया। साझेदारी प्रथा में लाभ और जोखिम दोनों आधे-आधे बाँटे जाते थे। इससे एक व्यक्ति को अधिक नुकसान नहीं उठाना पड़ता था। परन्तु नुकसान तो अन्ततः व्यापार पर ही होता था। 17वीं शताब्दी में सर्वप्रथम बीमा प्रणाली के प्रचलन के सबूत मिलते हैं, जिसमें आन्तरिक और सामुद्रिक बीमा शामिल था। बीमा एक ऐसी पद्धति थी, जिसमें तीसरे व्यक्ति को एक छोटी रकम के बदले जो प्रीमियम कहलाता था, देने पर व्यापार के जोखिम सौंप दिये जाते थे।

भारत में बीमा को ज्यादातर सर्राफ ही चलाते थे, जिसमें दो तरह की बीमा सुविधा दी जाती थी। इसमें पहली व्यवस्था बीमा परिवहन कहलाती थी। इसमें बीमा एजेंट व्यापारी के माल को भेजने की जिम्मेदारी भी लेते थे। इसमें माल के खोने का ही बीमा नहीं होता था, बल्कि उसके परिवहन और खर्च की भी सुविधा थी। इसकी दर साधारण बीमा से अधिक होती थी। इसका विस्तृत वर्णन 17वीं शताब्दी की पुस्तक 'खुलासत-उल-तवारीख' में मिलता है, जिसकी रचना सुजान राय भण्डारी ने की थी। सर्राफ इस बीमा को अपने अधवायों की सहायता से चलाते थे। अधवाया गाड़ी वाले को कहा जाता था। ये मुख्य रूप से बंजारे होते थे। बीमा परिवहन के अलावा भारत में बीमे के अन्य तरीके भी प्रचलित थे। अन्य तरीकों में स्थल मार्ग, सामुद्रिक माल और पैसे का बीमा किया जाता था। इसमें परिवहन सम्बन्धी कोई जिम्मेदारी नहीं ली जाती थी।

इन बीमों की दरें जोखिम पर निर्भर करती थीं, जो निम्न प्रकार के हो सकते थे:

- (i) शान्ति और सुरक्षा व्यवस्था भंग होने पर
- (ii) डाके और समुद्री डाकों में वृद्धि

(iii) राजनीतिक अस्थिरता की स्थिति

(iv) प्राकृतिक विपत्ति आदि।

मुगल साम्राज्य में बीमे की दरें साधारण थी, जो 19वीं सदी में प्रचलित दरों से अधिक नहीं थी। मुगल साम्राज्य में अपराध रोकने की नीति असाधारण थी और लोग बिना चोर-डाकुओं के भय के यात्रा कर सकते थे। जिन अधिकारियों के क्षेत्र में अपराध, चोरी, डाके होते थे, तो उन अधिकारियों को अपनी जेब से पीड़ित को क्षतिपूर्ति करनी पड़ती थी।

मुगल काल में बीमा के अन्य लाभों के साथ-साथ व्यापारियों को दो समस्याओं से छुटकारा मिला, जो थी—ऋण की उपलब्धता और नुकसान से बचाव।

मुगल साम्राज्य के कई बड़े शहरों में व्यापारियों को यह सुविधा थी कि वह सूरत में भुनने वाली हुण्डी साम्राज्य के विभिन्न शहरों से माल के सही-सलामत सूरत पहुँचने पर उधार ले। इन हुण्डियों में बीमा का प्रीमियम भी जुड़ा होता था। अतः इनकी कीमत उन हुण्डियों से कहीं ज्यादा होती थी। इस प्रथा के सामूहिक रूप को अवक तथा यूरोप में रेस्पाडेंशिया कहा जाता था।

सामुद्रिक व्यापार की तरह ही रेस्पाडेंशिया की दर भी जोखिमों को ध्यान में रखकर तय की जाती थी, जो निम्नलिखित बातों पर निर्भर करती थी:

- (i) जहाज का प्रकार
- (ii) मार्ग कौन-सा है
- (iii) समुद्री डाकुओं का खतरा
- (iv) प्राकृतिक विपत्ति
- (v) ऋण की अवधि
- (vi) जहाज के सफर में लगा समय
- (vii) जहाज पहुँचने पर भी रकम वापस करने में लगा समय आदि।

रेस्पाडेंशिया और बीमा एक-दूसरे के पूरक थे। दोनों ही जोखिम को कम करते थे। बीमाकर्ता माल की क्षति को वहन करते थे, तो वे व्यापारिक सौदों में हानि का जोखिम भी उठाते थे। वे जोखिम बांटने वाले ऋण देते थे।

ऋण की राशि और विस्तार धातुओं के सिक्के द्वारा निर्धारित होते थे। ऐसा इसलिए होता था कि रकम का संचालन कुशलता से हो और जहाँ भौतिक रूप से धन की मौजूदगी न हो, वहाँ भी उसकी मौजूदगी हो। कीमती धातुओं में चाँदी एक ऐसी धातु थी, जो मौद्रिक आधार प्रदान करती थी और ऋण संरचना के लिए भी आधार प्रदान करती थी।

सारांश

मध्यकाल में गाँव और शहरी अर्थव्यवस्था में पर्याप्त अन्तर था। जहाँ गाँव की अर्थव्यवस्था वस्तु-विनिमय से चल जाती थी,

वहीं शहरी अर्थव्यवस्था में लेन-देन के लिए मुद्रा का प्रचलन था। मुगल मुद्रा खुली टंकण प्रथा पर आधारित थी। व्यापार में बनिया वोहरा और चेष्टियार प्रमुख व्यापारिक समुदाय थे। 14वीं-15वीं शताब्दी में पूरे विश्व में चाँदी की कमी आने से यह स्पष्ट था कि भारत में भी मुद्रा के मामले में पतन की स्थिति पैदा हुई और सस्ती धातुओं की मुद्रा बनने लगी। 16वीं शताब्दी के अन्त में और 17वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारतीय बाजारों में चाँदी आयी।

व्यावसायिक गतिविधियाँ और मुद्रा व्यवस्था मध्य भारत में सर्वाधिक परिष्कृत व्यापार पद्धतियों के साक्ष्य को एक साथ रखती है। वह चाहे साझेदारी हो, दलाली हो, पैसा उधार, मुद्रा परिवर्तन हो, बीमा हो या हुण्डी आदि। मध्यकालीन शासक मजदूरों और कारीगरों को नये शहरों में बसने के लिए प्रोत्साहित करते थे। क्षेत्रीय एकता और राजनीतिक स्थिरता के कारण व्यवसायियों और व्यापारियों को समीप और दूरस्थ स्थानों में बसने और काम करने के अधिक अवसर प्राप्त हुए।

दक्षिणी भारत में द्वि-धातुई मुद्रा प्रथा प्रचलित थी, परन्तु मुगल साम्राज्य का दक्षिण में विस्तार होने के बाद राजस्व चाँदी के सिक्कों में वसूल किया जाने लगा। अतः वहाँ राजस्व की वसूली के लिए चाँदी के सिक्कों को चलाना पड़ा, जिससे वहाँ तीनों धातुओं के सिक्के बनने लगे।

हुण्डियों के प्रचलन से व्यापार में जोखिम कम हुआ और व्यापारी अपने साथ नकद पूँजी लेकर नहीं चलते थे, बल्कि हुण्डियों के माध्यम से पूँजी एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाते थे।

प्रश्न-अभ्यास

प्रश्न 1. मुगलकाल में मुद्रा के विस्तार का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।

उत्तर—13वीं शताब्दी में दिल्ली सल्तनत की स्थापना हुई और 1299 में उसका विस्तार गुजरात, फिर सिन्ध और फिर दक्षिण भारत में विस्तार हुआ। इससे मुद्रा के टंकण और प्रचलन में एक विशेष परिवर्तन आया। दिल्ली सल्तनत में एक मानक बहु-धातु मुद्रा व्यवस्था लागू हुई।

मुगलकाल में मुद्रा का विस्तार अकबर के काल से शुरू हुआ माना जाता है। लेकिन अकबर द्वारा स्थापित यह मुद्रा प्रणाली मुख्यतः शेरशाह की मुद्रा प्रणाली पर आधारित थी। उसने तीन प्रकार की धातुओं के सिक्के चलाये थे, जो दिल्ली सल्तनत में भी प्रचलित थे:

- (i) सोने का सिक्का जिसे अशफ़ी या मुहर भी कहा जाता था।
- (ii) दूसरे प्रकार का चाँदी का सिक्का था, जिसे रुपया कहा जाता था।

(iii) तीसरे प्रकार का ताँबे का सिक्का था, जो वजन में भारी होता था जिसे पैसा या दाम कहा जाता था।

लेकिन अकबर के शासन काल में मुद्रा का जो प्रसार हुआ उसके कारण पहले से प्रचलित सस्ती धातुओं के सिक्कों की अब, मान्यता नहीं रही। इन नयी धातुओं को चलाने में बाह्य व्यापार की भूमिका महत्वपूर्ण रही।

यूरोपीय चाँदी का संचरण जब हिन्द महासागर के व्यापार द्वारा भारत में होने लगा, तो भारत में आयी चाँदी की कमी की भरपाई होने लगी। मुगल साम्राज्य में इस चाँदी का 25 से 131 मीट्रिक टन आयात होता था। 16वीं शताब्दी के अन्त में और 17वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यूरोप को छोड़कर भारत ही सबसे ज्यादा चाँदी का आयात करता था।

मुगल साम्राज्य के क्षेत्रीय विस्तार से तटवर्ती इलाकों का देश के अन्दरूनी भागों के साथ एकीकरण हुआ। इससे वस्तुओं का विनिमय, मुद्रा को दूर स्थानों पर भेजना और मुद्रा संचरण का एक जाल-सा बन गया।

मुगल साम्राज्य की वित्तीय और आर्थिक नीतियों के परिणामस्वरूप मुगल साम्राज्य में मुद्रा का संचरण सरल और कारगर बन पाया और उसका विस्तार भी हुआ। शाही टकसाल की खुली टंकण व्यवस्था के कारण भी मुद्रा संचरण में सहयोग मिला। 1582 में नाप-तोल की पद्धतियों में हुए परिवर्तन के परिणामस्वरूप भी एक मानक मुद्रा व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास किया गया और घटिया और बेकार मुद्रा व्यवस्था की जगह नये मुगल सिक्कों ने ली। मुगल साम्राज्य में लगातार हुए परिवर्तनों से और यूरोपीय चाँदी के आगमन से मुगल साम्राज्य में मुद्रा का नया एकीकृत व मानक रूप उभरा।

अतः हम कह सकते हैं कि मुगलकालीन मुद्रा व्यवस्था, जो अकबर के काल से सही रूप में प्रसारित होनी शुरू हुई और जिसका जन्मदाता शेरशाह सूरी था, ने भारतीय अर्थव्यवस्था में मुद्रा के एक नये रूप को उभारा। इससे भारतीय मुद्रा में एक मानकता आयी। पहले से चली आ रही चाँदी की कमी अब यूरोपीय चाँदी से पूरी होनी शुरू हुई। पहले से चली आ रही सस्ती व घटिया धातुओं की मुद्राओं को बाजार से बाहर होना पड़ा। मुगलों की आर्थिक और वित्तीय नीतियों ने भी मुद्रा प्रसार में अपना सकारात्मक सहयोग दिया, चाहे वह सिक्का ढलाई सम्बन्धी हो या फिर व्यापार सम्बन्धी।

प्रश्न 2. मुगलकालीन मुद्रा व्यवस्था तत्कालीन दक्षिण भारतीय मुद्रा प्रथा से किस प्रकार भिन्न थी?

उत्तर—दक्षिणी भारत की मुद्रा प्रथा मुगल साम्राज्य की मुद्रा प्रथा से भिन्न थी, क्योंकि दक्षिणी भारत के अधिकांश सिक्के सोने के बने होते थे, जिसमें से कुछ ताँबे के बने होते थे। लेकिन मुगल

68 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

साम्राज्य में मुख्यतः तीन धातुओं का प्रयोग सिक्का बनाने के लिए किया जाता था, जिसमें दो तो दक्षिण भारत की तरह की ही धातुएं थीं—सोना व ताँबा। लेकिन मुगल साम्राज्य में चाँदी की मुद्रा भी बनायी जाती थी। दक्षिण भारत में चाँदी की मुद्रा का प्रयोग दिखाई नहीं देता। यह उस समय दिखाई देता है, जब मुगल साम्राज्य का विस्तार दक्षिण भारत की ओर होने लगा और राजस्व की वसूली चाँदी के सिक्कों में होने लगी। अतः मुगल साम्राज्य में दक्षिण भारत के क्षेत्रों के विलय से दक्षिण भारत की मुद्रा प्रणाली में परिवर्तन आया। अब वहाँ भी तीनों धातुओं के सिक्के बनने शुरू हो गये।

मुगल साम्राज्य की मुद्रा को स्थापित करने का श्रेय अकबर को ही है। उसी के समय मुगल साम्राज्य की मुद्रा व्यवस्था स्थापित हुई, जो शेरशाह की मुद्रा व्यवस्था पर आधारित थी। शेरशाह ने तीन प्रकार की धातुओं की मुद्रा चलायी थी—सोना, चाँदी व ताँबा। यहाँ सोने की मुद्रा/सिक्कों को अशरफी या मुहर के नाम से जाना जाता था और चाँदी के सिक्के को रुपया कहा जाता था, जबकि ताँबे के सिक्के को पैसा या दाम कहा जाता था। लेकिन दक्षिण भारत में दो ही धातुओं की मुद्राओं का प्रचलन था, जिसमें सोने के सिक्के को हुन कहा जाता था और विदेशों में इस सिक्के को पैगोडा के नाम से जानते थे। यह सिक्का बड़ा महत्वपूर्ण था। यह दक्षिण भारत का डॉलर कहलाता था।

यह वेनिस की स्वर्ण मुद्रा डूकार पर आधारित था। वजन में और देखने में हुन एकदम ड्यूक जैसा था। बस इन दोनों में अन्तर था तो वह था इन पर बने चित्रों का। ड्यूक पर वेनिस के संरक्षक संत पैट्रिक के चित्र बने होते थे, तो हुन पर उमा-महेश्वर जैसे भारतीय देवी-देवताओं के चित्र बने होते थे। ड्यूक को 14वीं-15वीं शताब्दी में भारत लाया गया और उसके आधार पर दक्षिण भारतीय मुद्रा हुन बनायी गयी। इन दोनों सिक्कों ने हिन्द महासागर और भूमध्य सागर क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अपनी मुख्य भूमिका निभाई। इनकी महत्वपूर्ण भूमिका का अदांजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि फारसी लेखकों ने इन दोनों सिक्कों को 'अशफ़ी दो बूटी' कहकर पुकारा है।

17वीं शताब्दी में जब मुगल साम्राज्य के अधीन दक्षिणी भारत के इलाके आये, तो राजस्व वसूली के लिए वहाँ चाँदी के सिक्कों का प्रयोग किया गया। इस प्रकार दक्षिणी भारत के सिक्के भी त्रि-धातुई बनने लगे।

अतः हम कह सकते हैं कि दक्षिण भारत और मुगल साम्राज्य की मुद्रा व्यवस्था में भिन्नता थी। जहाँ दक्षिणी भारत में चलने वाली मुख्य मुद्रा का आधार विदेशी पैमाने पर आधारित था, वहीं उत्तरी भारत (मुगल साम्राज्य) में ऐसा नहीं था। दक्षिणी भारत में चाँदी की मुद्रा का प्रसार भी मुगल साम्राज्य के कारण ही हो पाया। दक्षिण भारतीय मुद्राओं पर अधिकतर देवी-देवताओं के चित्र बने

रहते थे, जबकि मुगल साम्राज्य में मुद्रा पर इस्लामिक चित्र, कुरान की आयतें आदि अंकित रहती थीं।

प्रश्न 3. बाजार और मुद्रा विनिमय की पारस्परिक निर्भरता का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए। मध्यकाल में बाजार नियंत्रित रखने में सरकार की क्या भूमिका थी?

उत्तर—किसी भी व्यापार को चलाने के लिए पूँजी की जरूरत होती है, क्योंकि पूँजी किसी भी व्यापार की रीढ़ मानी जाती है। पूँजी के बिना कोई भी व्यापार शुरू नहीं किया जा सकता। व्यापार की प्राथमिकता पूँजी ही होती है। बाकी संसाधनों को पूँजी के ही माध्यम से जुटाया जा सकता है। मुद्रा वस्तु-विनिमय का मुख्य साधन है। पैसे से ही वस्तुओं और सेवाओं का बाजार में मूल्यांकन होता है। मुद्रा की सुलभता तथा उपयोग अर्थव्यवस्था के लिए और विशेष रूप से व्यापार के लिए आवश्यक है। मध्यकालीन भारत में व्यावसायिक क्षेत्र में विनिमय की दो मुख्य धाराएँ थीं—एक स्थानीय तथा दूसरी विदेशी। स्थानीय विनिमय में मुद्रा की आवश्यकता उस समय ही पड़ती थी, जब ग्रामीण व शहरी जनता को उपभोग की वस्तुएँ और सेवाओं की जरूरत होती थी और उन्हें कर का भुगतान करना पड़ता था। ग्रामीण समुदाय अपने लिए मुद्रा की जरूरत को पास के कस्बों में अपनी वस्तुओं को बेचकर कर लेते थे और सरकार को कर नकद देते थे। यह पैसा उन्हें बाजार में अपने कृषि उत्पादों को बेचकर मिल जाता था और वे अपनी पैसे की आवश्यकता को पूरा कर लेते थे। ग्रामीण समुदाय के लोगों ने अपने पैसे की आपूर्ति के लिए महाजनों तथा बाजारों के माध्यम से अपना माल बेचा और प्रमुख व्यापारिक मार्गों पर बाजारों का विकास किया, जिससे व्यापारी वहाँ समान खरीदने आते थे और इस प्रकार उन्हें निरंतर पैसे की आपूर्ति होती रहती थी।

शहरों में बाजार सम्बन्धी विनिमय का प्रचलन था। यहाँ मुद्रा का बड़े पैमाने पर प्रयोग होता था और काफी हद तक सफलतापूर्वक व्यापार के अवसर प्राप्त हुए, क्योंकि शहरों में अधिकारी वर्ग, सिपाही, व्यापारी, दस्तकार सभी मौजूद रहते थे। यहाँ खाने-पीने की वस्तुएँ, सेवाओं, दस्तकारी की वस्तुओं की स्थायी मांग रहती थी। कर हमेशा नकद वसूले जाते थे, क्योंकि उसी से प्रशासनिक खर्च व शासक वर्ग के खर्च चलते थे।

ग्रामीण इलाकों से शहरों में मौसम के अनुरूप कपड़ा, नील, शोरा, चीनी आदि जैसी व्यापारिक वस्तुओं की आपूर्ति होती थी या ये कहें कि व्यापार में शामिल अधिकांश वस्तुएँ ग्रामीण इलाकों में ही उत्पादित की जाती थीं, जो शहरों तक पहुँचाई जाती थी और फिर स्थल मार्ग या कारवां मार्गों द्वारा विभिन्न देशों में पहुँचाई जाती थीं और ये जहाज या कारवां जब विदेशों में इन चीजों को बेचकर लौटते थे, तो अपने साथ वहाँ की मुद्रा या कीमती धातुएँ सोना, चाँदी आदि लाते थे। इससे भी विनिमय की एक नयी शुरुआत हुई।

वस्तु की कीमतें, मजदूरी, सेवा, वेतन आदि सभी कुछ पैसे से निर्धारित किया जाता था। कर भुगतान भी नगद ही होता था। मुद्रा की आपूर्ति देश में उत्पादित माल या विदेशों से आयातित धातुओं सोना, चाँदी, ताँबे आदि से की जाती थी। बाजार में मुद्रा आपूर्ति में टकसालों की महत्वपूर्ण भूमिका थी, जो खुली टंकण प्रणाली पर कार्य करती थी, जिसमें जिस व्यक्ति को मुद्रा की आवश्यकता होती थी, वह सिक्के की ढलाई की कीमत देकर मुद्रा प्राप्त कर सकता था।

बाजार को नियंत्रित रखने में सरकार की भूमिका—व्यापार और रोजगार के अवसर प्रदान करने में मध्यकालीन भारत में सरकार का अच्छा योगदान था। कोई भी नया व्यापार शुरू करने के लिए कोई कानूनी बाधा नहीं थी और न ही पैसा कमाने की कोई सीमा तय की गई थी अतः कोई भी व्यक्ति कोई भी रोजगार/व्यापार अपना सकता था और कितनी भी पूँजी कमा सकता था। कानून उसे व्यापार करने से नहीं रोकते थे। राज्य द्वारा भी नये व्यापार करने पर कोई रुकावट नहीं पैदा की जाती थी। अलाउद्दीन खिलजी (1296-1316 ई.पू.) ऐसा शासक हुआ, जिसने उपज की लागत और व्यापार को ध्यान में रखते हुए बाजार मूल्यों का निर्धारण किया। लेकिन यह व्यवस्था अधिक दिनों तक नहीं चल पायी और उसकी मृत्यु के बाद ही यह व्यवस्था खत्म हो गयी। उसके बाद किसी शासक ने इन्हें फिर से निर्धारित करने का प्रयास नहीं किया। मुगल बादशाह शाहजहाँ ने जरूर बाजार में हस्तक्षेप करके एकाधिकार स्थापित करने का प्रयास किया, परन्तु उसका यह प्रयास सफल नहीं हुआ। व्यापार करने पर राज्य अपना कोई हस्तक्षेप लागू नहीं करता था। इसका पता इससे ही लग जाता है कि मध्यकाल में सूदखोरी के धन्धे पर भी राज्य का कोई हस्तक्षेप नहीं था। ऋण की वापसी और ऋण सम्बन्धी मामलों का फैसला समाज में उस समय प्रचलित कानून के अनुसार ही होता था, जिसकी जिम्मेदारी स्थानीय अदालत की होती थी। यदि कोई व्यापारी अपने को दिवालिया घोषित करता था, तो वह अपने घर के बाहर एक मोमबत्ती जला देता था और उसको दिवालिया घोषित कर दिया जाता था और वह हर प्रकार की जिम्मेदारियों से मुक्त हो जाता था।

मध्यकाल में राज्य ने कारीगरों और मजदूरों को शहरों में बसने के लिए प्रोत्साहित किया गया, जिससे उन्हें काम के अधिक अवसर प्राप्त हुए। मुद्रा के मानकीकरण, टकसाल के सुसंगठन, कर व्यवस्था-कानून तथा सुरक्षा की उचित व्यवस्था सरकार द्वारा की गई, जिससे आर्थिक संरचना में स्थिरता आयी।

प्रश्न 4. व्यापार और विनिमय में लगे हुए विभिन्न समूहों की सामाजिक पृष्ठभूमि का वर्णन कीजिए। मध्यकालीन व्यापार को संगठित करने और उसे आगे बढ़ाने में उनकी क्या भूमिका थी?

उत्तर—मध्यकालीन भारत में व्यापारियों के कई समूह काम कर रहे थे और व्यापार, आर्थिक, वाणिज्यिक व वित्तीय स्थिति पर अपना दबदबा बनाये रखने में काफी हद तक सफलता से काम भी कर रहे

थे। इन व्यापारिक समुदायों में पंजाब के खत्री, गुजरात के पारसी और वोहरा, दक्षिण भारत के चेटीयार प्रमुख थे। परन्तु इन समुदायों में 'बनिया' व्यापारियों का सबसे बड़ा समुदाय था। यह वैश्यों का एक उपवर्ग था। इनका व्यापार भी विस्तृत था। ईरान के प्रमुख शहरों इस्फहान और बन्दर अब्बास और मोखा जो यमन में लाल सागर का सुप्रसिद्ध बन्दरगाह था, में भी बनियों का समुदाय काम करता था। बनिये अपने व्यापार के लिए अपने कार्यालय खोले रहते थे, जिन्हें कोठी कहते थे। ये कार्यालय वे अपने रिश्तेदारों और प्रतिनिधियों के द्वारा चलाते थे। ये सेठ, साहूकार और कोठीवाले कहलाते थे। बनिये व्यापार के साथ बैंकिंग और ब्याज पर पैसा देने का काम भी करते थे और उन्हें महाजन कहा जाता था। बनिये व्यापारिक दुनिया में अपना दबदबा अपने विशेष गुणों के कारण बनाये हुए थे। भिन्न-भिन्न व्यापारिक समूहों में बंटे होने के बावजूद भी इनमें आपसी भाईचारा और ये सामाजिक रूप से जुड़े हुए थे।

मध्यकालीन व्यापार को संगठित करने में व्यापारिक समूहों की भूमिका—मध्यकालीन व्यापार को संगठित करने में व्यापारियों की भूमिका के सम्बन्ध में उनके द्वारा अपनाये गये तरीके और उनके कार्यों व उनके व्यापार को मिले लाभ के माध्यम से ही समझा जा सकता है। पैसे की माँग और उधार दिये गये पैसे पर सूद लेने की आजादी ने मध्यकाल में सूदखोरी की प्रथा को बढ़ावा दिया। व्यापारी ऋण लेकर अपने व्यापार में पैसा लगाते थे और अपने व्यापार को बढ़ाते थे। व्यापार के लिए अल्पकालीन और दीर्घकालीन ऋण दिये जाते थे, जिनमें सर्राफों की भूमिका महत्वपूर्ण होती थी, जो व्यापारियों को ऋण देते थे। जिन व्यापारियों के पास पैसा कम होता था, वे सर्राफों से कुछ पैसा उधार ऋण लेकर अपने व्यापार को शुरू कर देते थे। लेकिन ये सर्राफ पैसा उधार देने से पहले पैसा उधार लेने वाले की स्थिति, मौसम का रुख अवश्य ध्यान में रखते थे, ताकि उनका पैसा डूब न जाये और उनका पैसा उन्हें समय से वापस मिलता रहे। इस पैसे पर कितनी दर से ब्याज लगेगा, यह पैसा लेने वाले की साख और पैसे की माँग पर निर्भर करता था। महाजन व्यापार और उपभोक्ता ऋण किसानों को फसल उगाने और कर भुगतान के लिए तथा मनसबदारों को उनकी जागीर के आधार पर ऋण देते थे।

साहूकारों का महत्व व्यापार में इसी बात से पता चलता है कि यूरोपीय व्यापारी भी इनसे पैसा लेते थे। व्यापार के दौरान यदि इन अंग्रेज और डच व्यापारियों को खरीद में पैसे की कोई कमी होती थी, तो वे इन्हीं साहूकारों से पैसा लेते थे।

मध्यकालीन बैंकर, सर्राफ महाजन और साहूकार व्यक्तियों, व्यापारिक समूहों और सरकारी अधिकारियों से जिनके पास

70 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

व्याज पर लगाने के लिए नकद धनराशि थी, उनकी रकम अपने पास जमा करते थे। इन जमा रकमों को आगे सूद पर उधार देते थे। सूद पर लगाने के लिए जमा की गई रकम पैसे की आपूर्ति के लिए प्रमुख स्रोतों के रूप में उभरी।

हुण्डी जो बैंकर जारी करते थे, उनका भी व्यापार में सहयोग यह था कि वे जो हुण्डी जारी करते थे, उससे व्यापारियों को यह फायदा हुआ कि वे अब अपना व्यापार बिना पूँजी पर जोखिम उठाए कर सकते थे। वे अपने साथ अब कम नकद पूँजी रखकर हुण्डियों के माध्यम से अपना पैसा एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जा सकते थे, जो सुरक्षित होता था और वे व्यापार में अधिक पूँजी अपने साथ ला और ले जा सकते थे।

भारत में बीमा भी व्यापारिक समूहों द्वारा चलाया गया और व्यापार में सुरक्षा प्राप्त हो गयी। भारतीय व्यापार में सुरक्षा और व्यापार में पूँजी उपलब्ध कराने में व्यापारिक समूहों की जो भूमिका थी, उसे नकारा नहीं जा सकता।

प्रश्न 5. मध्यकालीन व्यापारिक प्रक्रियाओं के विस्तार का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर—व्यापारिक प्रक्रियाओं के विस्तार का विश्लेषण हम दो मुख्य अंगों के मध्य कर सकते हैं—(i) साझेदारी (ii) दलाली।

(i) साझेदारी—यदि हम यह विचार करें कि किसी व्यापार को चलाने में किन-किन संसाधनों की जरूरत पड़ती है, तो पूँजी और श्रम सबसे पहले सामने आते हैं, क्योंकि ये दोनों ही वे चीजें हैं, जो किसी व्यापार को चलाने के लिए सबसे जरूरी हैं। यदि किसी व्यक्ति के पास ये दोनों उपलब्ध हैं, तो कोई भी व्यक्ति अपना व्यापार चला सकता है। व्यापार चलाने के लिए पूँजी रीढ़ का काम करती है और व्यापार को आगे बढ़ाने में व उसके विकास में भी पूँजी की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। कुछ व्यक्तियों के पास पर्याप्त धन होता है। वे अपना व्यापार शुरू कर सकते हैं और जिन व्यक्तियों के पास पर्याप्त धन नहीं होता, तो वे किसी दूसरे व्यक्ति या अपने पारिवारिक सदस्यों के साथ मिलकर व्यापार शुरू कर सकते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि साझेदारी एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें दो या दो से अधिक पक्ष अपनी श्रम दक्षता और पूँजी एक साथ मिला लें, साझेदारी कहलाती है। साझेदारी एक महत्वपूर्ण व्यावसायिक प्रक्रिया है। मध्यकालीन भारत में साझेदारी का एक फायदा यह समझा जाता था कि इससे जोखिम और लाभ दोनों बँट जाते थे। साझेदारी से एक लाभ यह होता है कि इसमें जिस व्यक्ति के पास कम पैसा होता था या अन्य व्यक्ति के साथ मिलकर पैसा मिलाकर कम पैसे में अधिक बड़ा व्यापार दोनों व्यक्ति कर सकते थे। साझेदारी समाज के विभिन्न वर्गों, छोटे-छोटे व्यापारियों के मध्य संयुक्त परिवार के मध्य ऐसे कई उदाहरण हैं जिनसे साझेदारी का पता चलता है। व्यावसायिक कम्पनियाँ या

समूह दूसरों से संपर्क साझेदारी के लिए नहीं, बल्कि फैक्टर या एजेंट बनाने के लिए करते थे। ये फैक्टर स्वतंत्र रूप से अपना व्यापार करते रहते थे और अपने मालिकों के आदेश का भी पालन करते थे। उनकी माँगों की पूर्ति करते थे, जिससे इन्हें कमीशन मिलता था और लाभ में हिस्सा भी।

(ii) दलाली—जैसे-जैसे अर्थव्यवस्था का विकास होता जाता है, व्यापार में पारदर्शिता कम होती जाती है और प्रतिस्पर्धा बढ़ती चलती जाती है। व्यापारी अपना व्यापार बढ़ाने के लिए होड़ करने लगते हैं। व्यापारी एक-दूसरे से व्यापार में आगे निकलना चाहते हैं। ऐसे समय में व्यापारियों को जरूरत होती है एक दलाल की, जिसका लाभ समय और दूरी की बचत होता है। दलाली प्रथा इतनी महत्वपूर्ण होती है कि व्यापारिक जगत की इसके बिना कल्पना भी नहीं की जा सकती। मध्यकालीन भारतीय व्यापार में दलालों की सहायता से व्यापार चलाना एक आम बात थी। ये दलाल सभी वाणिज्यिक केन्द्रों पर होते थे और इन दलालों में जो मुख्य रूप से दलालों का काम निपटते थे, वे थे बनिया। यह अपने गुणों के कारण मध्यकालीन व्यापार में छाया रहा। दलालों के रूप में पारसी व मुसलमान होते थे। बड़े व्यापारी अक्सर इनकी सेवा लिया करते थे। ये वस्तु विशेष का सौदा करते व उसे जहाज में भिजवाते थे, जिससे व्यापारियों को समय और दूरी दोनों की बचत हो जाती थी। विदेशी व्यापारी भी दलाल रखते थे।

दलालों का धन्धा एक कम्पनी के रूप में चलता था, जिसे पारिवारिक कम्पनी कहना ज्यादा सही होगा, क्योंकि ये लोग अपने हिसाब-किताब को एक बुजुर्ग के हाथ में रखते थे, जो इनके पैसे का हिसाब-किताब रखता था। हर रोज शाम को सभी काम करने वाले सदस्य अपने पैसे का हिसाब-किताब देने के साथ-साथ व्यापार पर चर्चा करते थे। दलालों को अच्छी आमदनी हो जाती थी क्योंकि ये दोनों ओर से कमीशन लेते थे, जो माल बेचता था, उससे भी और जो माल खरीदता था, उससे भी। इनकी कमीशन की दर निश्चित नहीं होती थी। यह सौदे के अनुसार घटायी व बढ़ाई जा सकती थी। यदि सौदा जटिल होता था, तो ज्यादा कमीशन लिया जाता था। दलालों का धन्धा गोपनीयता का होता था व लेने व बेचने वालों से ये सांकेतिक भाषा में बात करते थे।

प्रश्न 6. सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में व्यापारियों की संयुक्त व्यापार पद्धति का वर्णन कीजिए।

उत्तर—16वीं-17वीं शताब्दी में संयुक्त व्यापार करना व्यापार के लिए अच्छा तरीका माना जाता था, क्योंकि इससे लाभ व जोखिम दोनों बँट जाते थे और किसी एक व्यापारी को ज्यादा नुकसान नहीं उठाना पड़ता था। व्यापारी अपना पैसा लगाकर किसी अन्य व्यापारी या पारिवारिक सदस्यों के साथ मिलकर व्यापार करते थे। ऐसे कई उदाहरण हैं, जब हमें संयुक्त व्यापार मध्यकालीन

भारत में देखने को मिलता है। जैसे—बनारसीदास के पिता खड़गसेन ने अपना व्यापार संयुक्त व्यापारी के रूप में शुरू किया और उन्होंने यह साझेदारी अपने मामा सुन्दरदास के साथ मिलकर शुरू की। उनका काम सर्राफा और सोना खरीदने व बेचने का था। दोनों ने अपना पैसा इकट्ठा किया और संयुक्त कोष बनाया और दोनों ने अपना व्यापार संयुक्त रूप से शुरू किया। इससे दोनों को अच्छी आमदनी हुई और खड़गसेन ने अपनी शादी कर ली व अपने लिये घर खरीद लिया। जब सुन्दरदास की बिना पुत्र के मृत्यु हो गयी, तो यह संयुक्त व्यापार टूट गया। खड़गसेन ने अपने मृत साझेदार का हिस्सा व्यापारिक पंचों के सामने उसकी पुत्री को सौंप दिया।

मध्यकाल में संयुक्त परिवार में होने वाले संयुक्त व्यापार करने का खास तरीका था, परन्तु व्यापारी दूसरों के साथ भी संयुक्त व्यापार करते थे। बनारसीदास ने एक ओसवाल जैन के साथ संयुक्त साझेदारी की। खड़गसेन ने काफी अरसे तक एक शैव के साथ अपनी साझेदारी रखी। साझेदारी समाज के भिन्न स्तरों के मध्य भी होती थी। कुलीन वर्ग के लोग मुजरबान (कमेण्डा) पद्धति से व्यापार करते थे। कमेण्डा पद्धति वह होती थी, जिसमें निवेशक और सफर करने वाले व्यापारी अपने संसाधनों को पारस्परिक हित के लिए एकत्र करते थे और संयुक्त रूप से लाभ कमाते थे। इस तरह के व्यापार को सत्रहवीं सदी में न्यायसंगत माना जाता था। मुगल शासक उस पर कर भी लगाते थे।

अतः मध्यकालीन व्यापार में संयुक्त व्यापार प्रचलित था और उस पर लोगों का विश्वास भी था व दो पारिवारिक सदस्य या अन्य व्यापारी मिलकर संयुक्त व्यापार करते थे।

प्रश्न 7. मध्यकाल में सर्राफों की स्थिति का परीक्षण कीजिए।

उत्तर—व्यक्ति और बाजार के बीच वस्तुओं और मुद्रा की सरल गतिविधियों के लिए नकद और ऋण दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। मध्यकालीन भारत में एक प्रथा यह भी थी कि दूसरों के पैसे को लगाकर व्यापारिक सौदों का खर्च और जोखिम कम करना। ग्राहकों को पैसे उधार देने का काम करने वाला यह विशिष्ट समूह सर्राफ कहलाता था। वे मुद्रा बदलने के साथ-साथ बैंकर का काम भी करते थे। बैंकर शब्द का प्रयोग सबसे पहले इटली के सर्राफों के लिए किया गया, क्योंकि वे बैंचों पर बैठते थे। उन्हें इटालियन भाषा में बैंको कहा जाता था। भारतीय सर्राफ भी तरह-तरह की व्यापारिक गतिविधियाँ अपनाते थे, जिससे मुद्रा का एकीकरण हो और प्रयोग कुशलता से होता रहे।

मध्यकालीन व्यापार में सूद पर पैसा लेकर व्यापारी अपना व्यापार करते थे और इन ऋणों को देने में सर्राफों की प्रमुख भूमिका थी। ये व्यापार के लिए दो प्रकार के ऋण देते थे—अल्पकालीन व दीर्घकालीन। लेकिन वे अपना फायदा देखते थे और

दिये जाने वाले ऋण में उन्हें नुकसान न हो, वे ऋण देने से पहले ऋण लेने वाले की स्थिति और मौसम का रुख जरूर देख लेते थे। सूद की दर भी वे पैसा लेने वाले की साख व माँग और आपूर्ति को ध्यान में रखकर तय करते थे।

सर्राफों द्वारा उधार दी गई पूँजी का अन्दाजा यूरोपीय कम्पनियों के पत्रों को देखने से लगता है। इससे पता चलता है कि ये लोग यूरोपीय व्यापारियों को भी ऋण देते थे। सर्राफ मध्यकाल में हुण्डी भी जारी करते थे। वे हुण्डियों के माध्यम से पैसा जहाँ अधिक होता था, वहाँ से ऐसी जगह भेजते थे, जहाँ इसकी जरूरत होती थी।

सर्राफों की भूमिका बीमा के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय रही। भारतीय सर्राफ दो तरह की बीमा सुविधा देते थे। पहली सुविधा में परिवहन बीमा जुड़ा हुआ था। इसमें बीमा एजेंट प्रेषित माल को भेजने की जिम्मेदारी लेते थे। इसमें माल की सुरक्षा और माल खोने की जिम्मेदारी व परिवहन का खर्च भी शामिल होता था। सर्राफ इस बीमा के संचालन में अधवायों की सहायता लेते थे।

हुण्डी सर्राफों द्वारा दी जाती थी, एक निर्धारित रकम प्रदान की जाती थी, इस सेवा के बदले सर्राफ एक छोटा-सा कमीशन लेते थे, जिससे हुण्डी की विनिमय दर निश्चित की जाती थी।

अतः हम कह सकते हैं कि मध्यकाल में सर्राफों की भूमिका भिन्न क्षेत्रों में थी और इससे वे व्यापार में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। सर्राफों की भूमिका दिन ब दिन महत्वपूर्ण होती जा रही थी। इसका अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि यूरोपीय व्यापारी भी इनसे उधार लेते थे और ये पैसे की निरन्तरता बनाये रखते थे।

प्रश्न 8. मध्यकाल में हुण्डियों के चलन का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

उत्तर—हुण्डी एक ऐसा कागज होता था, जिस पर हिन्दी या किसी अन्य भाषा में यह वादा लिखा होता था कि धारक को विशेष स्थान पर तत्काल या बाद में एक निश्चित रकम दी जायेगी। इससे व्यापारियों को एक लाभ यह होता था कि वे अपने पास नकद पूँजी कम लेकर चलते थे और हुण्डियों के माध्यम से अपना पैसा एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाते थे और चोर-डाकुओं के खतरे से अपने पैसे का बचाव करते थे। हुण्डियों के कई प्रकार प्रचलित थे, जिनमें दर्शनी हुण्डी और मियादी हुण्डी विशेष रूप से प्रचलित थी। दर्शनी हुण्डी के अन्तर्गत धारक जैसे ही हुण्डी या विनिमय पत्र लेकर स्थान विशेष पर उपलब्ध होता था, उसको रकम अदा कर दी जाती थी अर्थात् दर्शन होने पर ही हुण्डी भुना दी जाती थी। दूसरी प्रकार की हुण्डी थी—मियादी हुण्डी। यह अनुबंधित मियाद के बाद ही छुड़ाई जा सकती थी अर्थात् इस पर निश्चित समय लिखा होता था कि धारक इतने समय बाद यह रकम ले सकता है।

72 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

हुण्डियों का सर्वप्रथम चलन यूरोप में हुआ, जिससे पैसे की आवाजाही एक स्थान से दूसरे स्थान तक सुचारु रूप से शुरू हुई। हुण्डियों के व्यापार में दो प्रकार के लाभ थे—पहला रकम को हस्तांतरित करने के लिए और दूसरा ऋण देने के लिए। हुण्डियों के माध्यम से जो व्यापारी पैसा ले जाना चाहते थे, वे रकम को पहले सर्राफ के पास जमा कराते थे और उनसे हुण्डी प्राप्त कर लेते थे, जिससे उनको व्यापार में पूँजी ले जाना सरल हो जाता था और वे रास्ते के जोखिम से बच जाते थे अर्थात् उनको अपना पैसा लुटने का डर नहीं रहता था। रकम को हुण्डी में बदलने के लिए सर्राफ कमीशन लेते थे। हुण्डियों के माध्यम से पैसा एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने का प्रचलन भारतीय व्यापारियों के मध्य तक ही सीमित नहीं था, बल्कि अंग्रेज और डच व्यापारी भी अपना पैसा एक स्थान से दूसरे स्थान पर हुण्डियों के माध्यम से भेजते थे। इतना ही नहीं, मुगल साम्राज्य में राजकीय धन भी सर्राफों द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर हुण्डियों के माध्यम से ही भेजा जाता था। अकबर ने स्वयं दक्षिण में अपनी सेना के लिए तीन लाख रुपये हुण्डियों के माध्यम से ही भेजे थे। पटना के गर्वनर को भी हुण्डियों के माध्यम से रुपया भेजा गया था। हुण्डियों का व्यापार में महत्व इसी बात से नजर आता है कि हुण्डी को बेचा व खरीदा भी जा सकता था, क्योंकि ये सर्राफ के पास नकद धनराशि जमा करके बनवायी जाती थी। अतः इनकी कीमत नकद धन जैसी होती थी और व्यापारियों को समय से पहले पैसे की जरूरत पड़ने पर इनको बेचा भी जाता था। बस इनकी कीमत थोड़ी-सी कम कर दी जाती थी। इसका एक लाभ यह भी होता था कि नकद राशि न होने पर भी हुण्डियों के माध्यम से पैसा ले लिया जाता था। इससे व्यापार में यह लाभ हुआ कि हुण्डियों का प्रयोग एक मुद्रा के रूप में होने लगा और मुद्रा का विस्तार हुआ। बैंकर हुण्डियों के लिए जमा की गई रकम का प्रयोग ऋण के लिए करने लगे और उनकी आमदनी बढ़ी।

हुण्डियों के माध्यम से निष्क्रिय धन को हुण्डियों में बदलवा लिया जाता था और उसका प्रयोग व्यापार के लिए होने लगा। इससे भारत के बारे में प्रचलित उस धारणा का खण्डन होता है, जिसमें कहा जाता था कि भारतीय अतिरिक्त धन आंगन में दबा हुआ पड़ा है या सन्दूकों में बन्द पड़ा है। भारत में रकम को ब्याज पर देना एक आम बात थी।

हुण्डियों के माध्यम से व्यापार के लिए उपर्युक्त वर्णित कई लाभ हुए। इनके साथ-साथ हुण्डियों को पैसे का सन्तुलन बनाये रखने के लिए भी प्रयोग किया जाने लगा। हुण्डियों के माध्यम से पैसा एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता था, जहाँ उसकी कमी होती थी। व्यापारी अक्सर अपनी हुण्डी चलाकर भी व्यापार में पैसा लगाते थे।

अतः मध्यकालीन व्यापार में विभिन्न प्रकारों से हुण्डियों ने व्यापार में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी व व्यापारियों ने इसका प्रयोग अपने फायदे के लिए किया। इससे व्यापार में जोखिम खत्म हुआ और व्यापारी अपने साथ अधिक धनराशि हुण्डियों के माध्यम से लेकर चलते थे, जो जोखिम रहित व व्यापार के लिए लाभदायक हुआ। व्यापारियों ने हुण्डियों को नगद धनराशि के रूप में भी प्रयोग करना शुरू किया, जिससे वे आवश्यकता पड़ने पर अपनी हुण्डियों को बेच सकते थे।

प्रश्न 9. किस हद तक कमेण्डा (Commenda) बीमा और रेस्पांडेंशिया मध्यकालीन व्यापार के विस्तार में उत्तरदायी सिद्ध हुए?

उत्तर—कमेण्डा (Commenda), बीमा और रेस्पांडेंशिया के महत्व को मध्यकालीन व्यापार में समझने के लिए पहले इन तीनों को समझना जरूरी होगा अर्थात् तीनों की क्या व्याख्या थी, इसके लिए सबसे पहले हम तीनों की व्याख्या देखेंगे:

(i) कमेण्डा—कमेण्डा पद्धति साझेदारी के अर्न्तगत आती थी। इस पद्धति से कुलीन वर्ग के लोग व्यापार करते थे, जिसे मुजरबात (Commenda) कहा जाता था। इसमें निवेशक और सफर करने वाले व्यापारी अपने संसाधनों को पारस्परिक हित के लिए एकत्रित करते थे। इस तरह के कमेण्डा व्यापार से हुआ लाभ मध्यकाल में न्यायसंगत माना जाता था व मुगल शासक उस पर कर भी लगाते थे।

(ii) बीमा—बीमा व्यापार की एक महत्वपूर्ण पद्धति थी, जो तीसरे व्यक्ति को एक छोटी-सी रकम के बदले, जो प्रीमियम कहलाता था, देने पर जोखिम की जिम्मेदारी सौंप देता था।

(iii) रेस्पांडेंशिया—मुगल साम्राज्य के कई बड़े शहरों में व्यापारियों को यह सुविधा थी कि वे सूरत में भुनने वाली हुण्डी साम्राज्य के कई बड़े शहरों से उनके माल के सही-सलामत सूरत पहुँचने पर उधार ले। इन हुण्डियों की दर साधारण हुण्डियों से ज्यादा होती थी, क्योंकि इनमें प्रीमियम की दर भी जुड़ी होती थी। इस प्रथा के सामूहिक रूप को भारत में अवक और यूरोप में रेस्पांडेंशिया कहा जाता था।

बीमा, कमेण्डा, रेस्पांडेंशिया को समझने के बाद अब हम इन तीनों द्वारा कैसे मध्यकालीन भारतीय व्यापार का विस्तार हुआ, उसको देखेंगे। मध्यकालीन बैंकर और व्यापारी अच्छी तरह समझते थे कि यात्रा के दौरान पूँजी को लेकर चलना खतरे से खाली नहीं है और इसके साथ जोखिम जुड़े हुए हैं। इसके लिए इन व्यापारियों ने कई तरीके अपनाये, जिसमें हुण्डियों के माध्यम से धन ले जाया जाने लगा और फिर साझेदारी भी इस जोखिम के विकल्प के रूप में उभरकर सामने आयी। साझेदारी से यह लाभ होता था कि इसमें लाभ व जोखिम दोनों बंट जाते थे। साझेदारी में जोखिम को बांटने

की एक प्राथमिक व्यवस्था कमेण्डा कहलाती थी। इस व्यवस्था में दो या दो से अधिक व्यापारी जोखिम को आपस में बांट लेते थे। परंतु इससे अलग-अलग व्यापारियों पर जोखिम बंट जाता था और एक व्यापारी पर कम जोखिम पड़ता था, लेकिन अन्ततः जोखिम तो व्यापार पर ही पड़ता था। इसका उपयोग हानि और व्यापार में अनिश्चितता को दूर करने के लिए नहीं किया जा सकता था।

भारत में बीमा प्रचलन के प्रमाण 17वीं शताब्दी में मिलते हैं, जिसमें समुद्री और आन्तरिक दोनों प्रकार के बीमा की जानकारी मिलती है। इसका उल्लेख सुजान राय भंडारी की पुस्तक 'खुलासत-उल-तवारीख' में मिलता है। बीमा के अन्तर्गत दो प्रकार की बीमा सुविधाएं सर्राफों द्वारा भारतीय व्यापारियों को दी जाती थीं। परिवहन बीमा के अन्तर्गत माल के साथ-साथ उसे भेजने की जिम्मेदारी भी लिखी जाती थी। इसकी दर साधारण बीमा से अधिक होती थी।

बीमा द्वारा कई प्रकार के जोखिम से सुरक्षा मिल जाती थी; जैसे-शान्ति व सुरक्षा व्यवस्था भंग होने से, डाके और समुद्री डाकों में वृद्धि से, राजनीतिक अस्थिरता की स्थिति में, कुदरती विपत्ति से। हाँ, इनकी सुरक्षा के एवज में प्रीमियम की कुछ दर जरूर बढ़ जाती थी, लेकिन व्यापारी को जोखिम से सुरक्षा मिल जाती थी और वे अपना व्यापार निःसंकोच कर सकता था।

ऋण की उपलब्धि और नुकसान से सुरक्षा के लिए रेस्पांडेंशिया पद्धति को अपनाया गया। रेस्पांडेंशिया की दर जोखिम को देखकर तय की जाती थी। इसमें शामिल जोखिम निम्नलिखित थे:

- (i) जहाज किस तरह का है?
- (ii) मार्ग कौन-सा प्रयोग किया जाना है?
- (iii) समुद्री डाकुओं का खतरा है या नहीं?

(iv) ऋण की अवधि।

(v) जहाज पहुँचने का समय आदि।

और इन्हीं जोखिमों को देखकर रेस्पांडेंशिया की दर निश्चित की जाती थी। रेस्पांडेंशिया ऋण व्यापारियों को बिना उत्तरदायित्व के प्राथमिक पूँजी प्रदान करते थे। जब तक उसका कार्य सफलतापूर्वक पूरा नहीं हो जाता था, रेस्पांडेंशिया से व्यापारी और धारकों को ज्यादा नुकसान नहीं होते थे और वे इससे हुई हानि के कारण दुखी नहीं होते थे।

रेस्पांडेंशिया और बीमा दोनों का ही काम जोखिम को बाँटना था और दोनों व्यापार में जोखिम को कम करते थे। इस कारण अधिकांश व्यापारी इन्हें अपनाते थे और बिना किसी जोखिम के डर के अपने व्यापार में जुटे रहते थे, क्योंकि बीमाकर्ता माल की क्षति को स्वीकार कर लेते थे और वे व्यापारिक सौदों में हुई हानि को भी स्वीकार करते थे। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वे जोखिम बाँटने वाले ऋण देते थे। ऋण प्रथा और संसाधनों का कार्य मौजूदा रकम का कुशलता से और सफलतापूर्वक संचालन करना था, जहां इसकी कमी होती थी, वहां पैसा उपलब्ध कराना। इसी कारण ऋण की राशि और विस्तार धातु के सिक्कों द्वारा निर्धारित होते थे।

बीमा और रेस्पांडेंशिया द्वारा व्यापार के जोखिम को कम किया गया, जिसके कारण व्यापारियों को व्यापार में अधिक पूँजी लगाने के लिए ऋण भी उपलब्ध हुआ और जोखिम भी खत्म हुए।

अतः हम कह सकते हैं कि बीमा, रेस्पांडेंशिया और कमेण्डा पद्धति ने मध्यकालीन व्यापार में अपना अपना सहयोग दिया और व्यापार के विस्तार में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, जिसको व्यापारियों द्वारा पसंद भी किया जाता था।

■ ■

तकनीकी और अर्थव्यवस्था

7

प्रस्तावना

दैनिक जीवन में अत्यधिक गतिशीलता और निरन्तर परिवर्तन देखने को मिलते हैं, क्योंकि तकनीकी परिवर्तन ही किसी अर्थव्यवस्था की प्रेरक शक्ति के रूप में काम करता है। यह समाज में बढ़ती आर्थिक माँगों को पैदा करता है और उन्हें पूरा भी करता है। इस अध्याय में तकनीकी और उसके प्रत्यक्ष प्रभाव और संदर्भ को उत्पादन, परिवहन और युद्ध के संदर्भ में देखा गया है।

17वीं शताब्दी में भारत पश्चिम से तकनीकी क्षेत्र में आगे नहीं निकल पाया था। यदि यूरोप तेज गति से आगे बढ़ रहा था, तो इसका कारण यह नहीं है कि यूरोप के मुकाबले दूसरे देश पीछे की ओर जा रहे थे। वे भी तकनीकी क्षेत्र में गति पकड़ रहे थे, परन्तु यूरोप की गति के मुकाबले उनकी गति कम थी। यदि प्रश्न यह उठता है कि भारत यूरोप का अनुसरण करने के लिए क्यों नहीं प्रेरित हुआ, तो इसके लिए शोधों का अध्ययन उन क्षेत्रों में किया जायेगा जिनमें अनुसरण नहीं हुआ या हुआ तो बहुत कम हुआ और वह सफल नहीं हुआ या इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि कुछ क्षेत्रों में भारत अभी भी पश्चिम से आगे रहा है और उसके पास सिखाने के लिए अभी भी पश्चिम से ज्यादा हो।

भारत के तकनीकी क्षेत्र में पिछड़ने के कारणों में मुख्य रूप से निम्नलिखित सामने आते हैं:

- (i) जलवायु
- (ii) गति
- (iii) तानाशाही
- (iv) जड़ता आदि।

कृषि

भारत में आज कृषि की चाहे कितनी ही आधुनिक तकनीक इस्तेमाल की जाती हो, परन्तु मुगल काल और इससे पूर्व की स्थिति एकदम अलग थी। कृषि स्वयं कृषकों द्वारा की जाती थी। कृषि में अन्धविश्वास के साथ ज्ञान, उत्तम साधनों के साथ निम्न श्रेणी के

उपकरणों को इस्तेमाल किया जाता था, लेकिन इसका जो परिणाम सामने आता था, वह सन्तोषजनक होता था।

भारतीय कृषि मुगलकाल में विस्तृत थी और उपज अच्छी पैदा होती थी। हेनरी एम. इलियट भारत में कृषि तकनीकों के बारे में लिखते हैं कि

“भारतीय हल के बारे में डॉ. टेनन्ट का कहना था कि यह केवल खरोंच की भाँति कार्य करता था। यह हल का काम नहीं, बल्कि छछूँदर का काम दिखाई देता है। परन्तु यही पूर्वाग्रही और सतही पर्यवेक्षक कहीं और वर्णन करता है कि इलाहबाद क्षेत्र की औसत उपज छप्पन बुशल प्रति एकड़ है। यह छछूँदर की भाँति खरोंचने और खोदने वाले हल द्वारा होती है, जो इंग्लैण्ड में वैज्ञानिक ढंग से की गई उपज का दुगुना है।”

एक बुशल गेहूँ = 60 पौंड = 27.21 किलोग्राम

भारतीय कृषि में लकड़ी का प्रयोग अधिक और लोहे का प्रयोग कम होता था। भारत में बीज बोने के लिए इंग्लैण्ड जैसे यन्त्र का प्रयोग नहीं किया जाता था, बल्कि डंडे में छेद करके बीज को बोने के लिए काम में लाया जाता था, जिसका उल्लेख 17वीं शताब्दी में कृषि पर लिखी गई पुस्तक गंज-ए-बदार्वुद में किया गया है। लकड़ी के अधिक उपयोग से इस समय के उपकरणों में कोई ज्यादा कार्यकुशलता नहीं आयी थी। लोहा महंगा होने के कारण इसका उपयोग शायद कम मात्रा में हुआ है। भारत में अच्छा लोहा उपलब्ध था, परन्तु उसकी कीमत अधिक होने के कारण इसका प्रयोग नहीं हो पाया। कम संसाधन वाले किसान तो इसकी कीमत वहन नहीं कर सकते थे और इसी कारण उनके उपकरण अच्छी किस्म के नहीं होते थे, जिसका सीधा असर कृषि उपज पर पड़ता था और वह अधिक नहीं हो पाती थी।

नयी फसलों का प्रारम्भ

भारतीय किसान रबी और खरीफ की फसलों के लिए कई प्रकार के अनाजों का उपयोग करते थे। मुगलकाल में विभिन्न फसलें उगाई जाती थीं। चीन को छोड़कर अन्य किसी देश में इस

प्रकार की भिन्न फसलें नहीं उगाई जाती थीं। भारतीय कृषि में नयी फसलों का आगमन 17वीं शताब्दी में देखने को मिलता है, जिसमें अभूतपूर्व वृद्धि हुई सन् 1600 के बाद तम्बाकू जो अमेरिका से आया था, भारतीय पश्चिमी तटवर्ती इलाकों में इसकी खेती की जाने लगी। भारतीय फसलों में नयी-नयी फसलों के आने से कृषि कार्य में अच्छी उपज होने लगी और अच्छी आमदनी भी कृषकों को मिलने लगी। मक्का की खेती के बारे में यह धारणा प्रचलित थी कि इसकी खेती की शुरुआत 19वीं शताब्दी में हुई। परन्तु पी. के. गोडे ने यह प्रमाणित किया कि इसकी फसल 17वीं शताब्दी में महाराष्ट्र में होनी शुरू हुई और इस फसल पर सबसे पहले कर राजस्थान में लिया जाने लगा, जो उस समय की वहाँ की कर सूची में शामिल मक्का के नाम की फसल के रूप में मिलता है।

वैसे तो भारत भी विभिन्न फसलें उपजाता था। परन्तु जैसे-जैसे इसका विदेशों से सम्पर्क बढ़ा, इसमें और नयी फसलें आनी शुरू हो गयी और कृषि उपज का दायरा बढ़ता चला गया। कृषकों को नयी फसल उपजाने के लिए मौका मिला, जो ज्यादातर नकदी फसल होने के कारण उसकी आमदनी का अच्छा स्रोत बना।

बागवानी

बागवानी 17वीं शताब्दी में एक नवीन रूप में उभरी और इसका विकास हुआ नये फलों के आने से। नयी तकनीकियों के आने से इसमें नवीनता आयी। 17वीं शताब्दी में पश्चिम से अन्नानास लाया गया, जो अभी तक भारतीयों के लिए अनजान फल था। कलम लगाने की तकनीकी में विस्तार किया गया, जो भारत को प्राचीन काल से ही ज्ञात तकनीक थी। कलम तकनीकी से भारतीय फलों की उपज और गुणवत्ता में वृद्धि हुई। बागवानी और कृषि-आधारित तकनीकियों का मध्यकालीन फारसी पुस्तकों में वर्णन किया गया है। कलम लगाने में कई तरीके मिले हैं; जैसे-अन्दर की तरफ कलम बांधना (tongue-grafting), साइड में कलम करना, ऊपर कलम बंधन करना (crown), डैफ्ट (deft), सैडल (saddle), जड़ से कलम बंधन करना (roof grafting), पृष्ठावरण कलमबंदी (venecering), भेटकल बाँधना (inarching), खचित (inglaying), कलमबंदी आदि। उपर्युक्त तरीकों को देखने से पता चलता है कि 17वीं शताब्दी में कलम लगाने की जिस तकनीक का विस्तार हुआ, वह पहले से चले आ रहे कलम लगाने के तरीकों से भिन्न थी।

मध्यकालीन भारत में नयी तकनीकियों के आने के दो कारण थे:

- मुगल दरबारी जो ईरानी और मध्य एशियाई बागवानी परम्पराओं से प्रभावित थे।
- यूरोपीय बागवानी से मूल रूप से जुड़े हुए थे।

मीठी चेरी अली कुली अफशर काबुल से भारत लाया, जो जहाँगीर का अधिकारी था, जिसका वर्णन जहाँगीर ने किया है कि

अकबर के कश्मीर विजय तक भारत में मीठी चेरी नहीं मिलती थी। इसे अली कुली काबुल से भारत लाया और इसकी कलम लगाकर इसकी खेती करनी शुरू की। खूबानी की खेती भी कलम लगाकर शुरू की गई। कश्मीर में शहतूत को भी कलम लगाकर खाने योग्य बनाया गया। मुगलकाल में आम की कलमबन्दी के साक्ष्य नहीं मिलते हैं। लेकिन अमानुल्ला हुसैनी जो जहाँगीर के काल का इतिहासकार था, वह बताता है कि जो प्रक्रिया आड़ू को उपजाने के लिए अपनायी जाती थी, वही प्रक्रिया आम की फसल उपजाने के लिए भी अपनायी जाती थी। एक अन्य पुस्तक में आड़ू की कलम लगाने का विवरण दिया गया है, जिसमें बताया गया है आम की फसल भी कलम लगाकर उगाई जाती थी। परन्तु इस फसल को उपजाने में लोगों द्वारा ज्यादा रुचि नहीं दिखाई जाती थी। गुठलियों के प्रबंधन से आम की फसल की शुरुआत की गई। पुर्तगालियों ने पश्चिम भारत में तटवर्ती इलाकों पर प्रबंधन विधि द्वारा आम की फसल की शुरुआत की।

रेशम उत्पादन

टसर और एरी सिल्क भारत की दो प्रमुख रेशम किस्मों में गिनी जाती हैं। भारत में रेशम के कीड़ों की आज प्रचुर मात्रा है परन्तु प्राचीन भारत में इन कीड़ों की कमी रही है, जिससे प्रचुर मात्रा में रेशम उत्पादन में कमी थी। यह कीड़ा शहतूत खाता था। भारत में रेशम उत्पादन का सबसे पहले वर्णन मा हुआन के बंगाल सम्बन्धित लेखों से मिलता है (1432)। लेकिन इन्बतूता बंगाल के सम्बन्ध में काफी कुछ लिखता है। परन्तु उसने रेशम उत्पादन के बारे में अपने लेखों में नहीं लिखा है। इससे यही कहा जा सकता है कि बंगाल में मलबरी रेशम काफी बाद में आया। लेकिन प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर यह निश्चित करना कठिन कार्य है कि बंगाल में रेशम कहाँ से आया। यह चीन से भारत आया और तब इसका विकास होना प्रारम्भ हुआ या बंगाल में ही इसका विकास हुआ या फिर यह ईरान से बंगाल आया, क्योंकि यहीं 13वीं-14वीं शताब्दी में मंगोलों के संरक्षण में रेशम उत्पादन को बढ़ावा मिला। चीनी लेखक मा हुआन के बाद के लेखक बंगाल में बढ़िया रेशम का उल्लेख करते हैं। बंगाल ने रेशम का विकास इतना अधिक किया कि 17वीं शताब्दी तक यह निर्यात के लायक बन गया और पूरे विश्व में यह निर्यात करने वाले क्षेत्रों में सबसे आगे हो गया। रेशम उद्योग को बढ़ावा इस कारण भी मिला कि यह कृषि-आधारित उत्पाद था और बंगाल में इसके विकास से यहाँ के किसान दूर के एवं अंतर्राष्ट्रीय बाजारों से अत्यंत प्रभावित हुए। रेशम उत्पादन से किसानों को अच्छी आमदनी भी होती थी। बंगाल के किसानों ने इसे उत्साहपूर्वक उगाया और इसके निर्यात को बढ़ावा दिया, जिससे किसानों को नकद आमदनी होने लगी और किसानों ने इस रेशम उद्योग में कितनी रुचि ली, इसका पता इसी बात से लगता है कि 17वीं शताब्दी में बंगाल विश्व में रेशम उत्पादन में अग्रणी बन गया।

सिंचाई तकनीकी

16वीं और 17वीं शताब्दी में भारत में सिंचाई की दो पद्धतियाँ इस्तेमाल की जाती थीं। ये थीं—(1) बाँध बनाकर तालाबों में पानी रोका जाना। (2) लम्बी नहरों द्वारा।

तालाबों द्वारा पानी को रोका जाता था, फिर उसको छोटी-छोटी नहरों द्वारा खेतों में पहुँचाया जाता था। दक्षिणी और मध्य भारत में परम्परागत रूप से भारतीय व हिन्दू राजाओं और स्वायत्त सरदारों द्वारा बनायी गयी छोटी-छोटी नहरें थीं, जबकि उत्तरी भारत में राजाओं और कुलीनों द्वारा बनवायी गयी बड़ी नहरें थीं। इन पर मध्य एशियाई व ईरानी प्रभाव नजर आता है। धारवाड़ जिले में मडकल झील है, जो 15वीं या 16वीं शताब्दी में विजयनगर के महाराजाओं द्वारा बनायी गई थी। मडकल झील को देखने से पता लगता है कि उस समय सिंचाई कार्य कितना उच्च स्तर का था, ऐसा लगता है कि राजा सिंचाई कार्य पर पर्याप्त ध्यान देते थे व किसानों की सुविधा का ध्यान रखा जाता था। दिल्ली सल्तनत के सुल्तानों द्वारा ही नहर निर्माण कार्य किया गया। सबसे पहले दिल्ली सल्तनत में नहर निर्माण ग्यासुद्दीन तुगलक द्वारा शुरू किया गया। फिर मुहम्मद तुगलक, फिरोज तुगलक द्वारा नहर निर्माण किया गया। मुगलों ने भी नहर निर्माण को प्रोत्साहन दिया, जिसमें शाहजहाँ का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसने कई नहरों का निर्माण कराया। इसके द्वारा निर्मित नहरों में नहर-ए-फैज व शाह नहर विशेष उल्लेखनीय हैं। नहर-ए-फैज दिल्ली में यमुना से आकर फिर मुड़ जाती थी। यह 150 मील लम्बी थी। शाह नहर विशेष रूप से लाहौर में सिंचाई कार्य में प्रयुक्त की जाती थी। यह 100 मील लम्बी थी। इन नहरों को पहाड़ों के पास से निकाला गया था, जहाँ पानी का बहाव स्थिर था अर्थात् जहाँ नदी अपना रुख नहीं बदलती थी। इन नहरों में एक दोष यह था कि इनमें पानी किसी बाँध द्वारा रोक कर नहीं दिया जाता था। इसीलिए ये नहरें जब मैदानों में प्रवेश करती थी, तो इनकी पानी की निरन्तरता में लगातार कमी आती रहती थी। मैदानों में भी मुगल बादशाहों ने नहरें बनवायीं, परन्तु उनमें पानी की इतनी निरन्तरता नहीं रहती थी। मुगलों का इन नहरों को बनवाने का कुछ हद तक उद्देश्य उनके फलों के उद्यानों और बगीचों की सिंचाई करना था। इन नहरों द्वारा सिंचाई कार्य सुचारु रूप से चल सके, इसी कारण इनको बनवाया जाता था और किसानों को सिंचाई सुविधा मिलती रहती थी। सिंचाई के अन्य साधनों में रहट की भूमिका भी महत्वपूर्ण थी जिसका सिंचाई की दृष्टि से किसानों ने प्रयोग किया।

रहट (Persian Wheel)—रहट सिंचाई का एक महत्वपूर्ण यन्त्र था, जिसकी भूमिका सिंचाई के क्षेत्र में विशेष रूप से महत्वपूर्ण थी। यह लकड़ी की मशीन के आकार का यन्त्र था, जो पिन ड्रम गियर (pin-drum-gear) का महत्वपूर्ण उदाहरण था।

यह तेहरवीं या चौदहवीं शताब्दी में भारत आया। इसका वर्णन बाबर ने भी बड़े रोचक और विस्तृत ढंग से किया है। यह सिन्धु और यमुना नदी से पानी निकालने में काम लाया जाता था। 19वीं शताब्दी के बाद इनका विस्तार होना शुरू हुआ, लेकिन जब रहट को बनाने में धातु का प्रयोग किया जाने लगा, तो इनका विस्तार देश के अन्य भागों में होना शुरू हुआ। इसमें गहराई से पानी पशु शक्ति द्वारा निकाला जाता था। इसमें एक कुआँ खोदा जाता था, जिसमें से पानी निकाला जाता था। फिर धातु या लकड़ी के डिब्बों को एक वृत्त के आकार में इसके किनारों पर लगाकर चकली द्वारा इनको घुमाया जाता था, जिससे डिब्बे कुएँ से पानी भरकर बाहर की ओर पानी गिराते रहते थे। पशु कुएँ का चक्कर काटते हुए क्षैतिज दिशा में पिन-ड्रम या लेंटर्न चक्र द्वारा जो कुएँ के ऊपर होता था, जंजीर से लगी चैन को ऊर्ध्वाकार (horizontal) घुमाते थे।

प्राचीन भारतीय इतिहास पर जो पुस्तकें लिखी गई हैं, उनके अध्ययन से यह पता चलता है कि भारत में रहट का प्रयोग बहुत पहले से चला आ रहा था। लेकिन ए.एल. बाशम यह बात नहीं मानते हैं। साहित्यिक स्रोतों में इसका उल्लेख नहीं मिलता है, परन्तु यह मानने में कोई शंका नहीं है कि रहट और घंटी यन्त्रों का भारत में प्रयोग ईसा से ही प्रचलित था। पंजाब में अधिकतर सिंचाई कुओं द्वारा होती थी व यहाँ कृषि की उपज अच्छी होती थी, जिसका उल्लेख अबुल फजल ने किया है। लेकिन अबुल फजल के वर्णन से विपरीत सुजानराय भण्डारी लिखते हैं कि पंजाब में अधिकांश कृषि वर्षा पर आधारित थी। इसमें नहरों और कुओं के पानी का कोई योगदान नहीं था। इसका मतलब यह हुआ कि जब शुरू में पंजाब की खेती वर्षा के जल पर आधारित थी, तो उस समय इस कृषि पर बड़ा प्रभाव पड़ा होगा व उपज अधिक होनी शुरू हुई होगी। जब पंजाब में रहट आया होगा और यह वर्णन सुजानराय भण्डारी द्वारा लिखित वर्णन से भी मेल खाता है। उनके अनुसार पंजाब एक उजाड़ क्षेत्र था, जहाँ किसी-किसी जगह बस्तियाँ थीं और उन्हें मंगोल आक्रमणकारी तंग करते थे। यह बात तेहरवीं-चौदहवीं शताब्दी की है। 15वीं शताब्दी के आते-आते ऊपरी दोआब में कृषि क्षेत्र का विस्तार हुआ। सुजानराय भण्डारी इस विकास का कारण रहट को नहीं मानते, परन्तु रहट के आने से ही यहाँ कृषि क्षेत्र में विस्तार हुआ होगा। क्योंकि सिंचाई की सुविधा उपलब्ध होने से किसानों के लिए कृषि कार्य सुलभ हुआ और वे इसकी ओर ज्यादा से ज्यादा आकर्षित हुए होंगे, जिससे कृषि क्षेत्रों में विस्तार होने लगा।

वस्त्र तकनीक

छठी शताब्दी ईस्वी की अजन्ता की गुफाओं के भित्तिचित्रों को देखने पर यह पता चलता है कि रूई का काम भारत में मुगलों

के काल से पहले से होता था, क्योंकि अजन्ता के चित्रों में महिलाएँ एक चित्र में काम करती दिखाई गई हैं, जो चरखी का प्रयोग कर रही हैं। इस चित्र से यह अन्दाजा लगाया गया है कि रूई ओटने और धुनाई करने के औजार (लकड़ी की चरखी) का प्रयोग मुगलकाल से भी पहले होता था। परन्तु लिखित रूप से इसका उल्लेख 18वीं शताब्दी के शब्दकोश *बहार-ए-आजम*, जिसको मुंशी टेकचन्द बहार ने 1739-40 के आसपास लिखा, एक फारसी शब्दकोश है, में मिलता है। चरखी के प्रयोग का वर्णन अन्यत्र भी मिलता है। बंगाल से एक फारसी रिपोर्ट इसका प्रयोग अधिक निश्चित व निरन्तर रूप में दिया गया है। एक और जगह उल्लेख मिलता है कि 11वीं शताब्दी के फारसी कवि अखसिकति ने भी इसका वर्णन किया है। लेकिन 17वीं शताब्दी में भारत में रूई धुनने के प्रयोग में काम आने वाला अकेला यन्त्र चरखा ही नहीं था, बल्कि अन्य तरीकों से भी इस काम को किया जाता था। इसमें विशेष रूप से डंडे से पीटकर भी रूई को धुना जाता था, लेकिन इतना जरूर था कि इस पद्धति में कोई विशेष परिवर्तन या विकास नहीं हुआ था, लेकिन स्थानीय स्तर पर सिर्फ इतना अन्तर जरूर आया कि एक छोटे-से क्षेत्र में चरखी को पानी की ऊर्जा से चलाने के प्रमाण मिले हैं, परन्तु इसका महत्त्व केवल स्थानीय स्तर तक ही था। यह तकनीक केवल पाखली, हजारा जिले में सिन्धु व झेलम के बीच तक ही सिमट कर रह गयी थी। अन्यत्र इसका प्रयोग देखने को नहीं मिलता है।

वस्त्र तकनीक के अन्तर्गत हम निम्नलिखित बिन्दुओं पर भी चर्चा करेंगे :

- (i) चरखा
- (ii) करघा
- (iii) रंगाई व छपाई।

(i) **चरखा**—भारत में चरखे का उल्लेख इसामी ने अपनी रचना में 1350 ई. में किया है। लेकिन यह सर्वविदित है कि चरखे का सबसे पहले प्रयोग चीन में होना शुरू हुआ और फिर धीरे-धीरे यह भारत पहुँचा। चरखे का सबसे पहले चित्र 1469 के एक फारसी शब्दकोश में पाया जाता है, जो मालवा में लिखा गया था। 17वीं शताब्दी में भारत में चरखे के लिए हथ्थे का प्रयोग होने लगा था और फिर इसका विकास होता चला गया और चरखे के विकास में निरन्तर निखार आता चला गया।

(ii) **करघा**—भारत में करघे का उल्लेख 1469 के मालवा में लिखित शब्दकोश में भारत में करघे के प्रयोग का प्रमाण मिलता है। 17वीं शताब्दी के एक चित्र में संत कबीर को भारतीय बुनकरों द्वारा प्रयुक्त लूम पर, जिसमें क्षैतिज फ्रेम और पैरों से चालित ट्रेडल जिनसे शेड को नियन्त्रित किया जाता था, पर कार्य करते हुए दिखाया गया है। जब तक 18वीं शताब्दी में फ्लाई शटल नहीं आया

था, करघे के क्षेत्र में कोई विकास नहीं हुआ। इससे इस लूम में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया और आने वाले समय में बिजली से चलने वाले लूम का विकास संभव हुआ। अतः हम कह सकते हैं कि 18वीं शताब्दी में करघे का विकास संभव हो पाया था। हथकरघे का प्रयोग जहाँ जटिल व फैन्सी बुनावट के लिए किया गया, वहाँ इसका विकास तेजी से हुआ। विशेषकर ताने और बाने में अलग-अलग रंग के धागों के प्रयोग में प्राचीनकाल में चीन व मध्य पूर्व में ड्रा लूम के विभिन्न आकारों में स्वतंत्र रूप में आविष्कार हुआ। 17वीं शताब्दी में भारत में रेशमी, सूती व अति उत्कृष्ट प्रकार के वस्त्रों को बनाया जाता था। लेकिन भारत में ड्रा लूमों के कोई साक्ष्य नहीं मिलते हैं। ढाका में ही बुनकर साधारण क्षैतिज करघे पर ही पैटर्न वाले कपड़े की बुनाई की जाती थी।

भारत में पैटर्न वाले कपड़ों का उत्पादन ईरान से आयातित नवीन समावेश था—ऐसा कुछ इतिहासकारों का मानना है, परन्तु यह सत्य नहीं है क्योंकि इसका कोई साक्ष्य नहीं मिलता है। मुगलकाल में बुनाई के फारसी उपकरणों और तकनीकों का आयात सुलभ हुआ, जिससे भारतीय करघा उद्योग को बहुत फायदा हुआ और भारतीय कारीगरों को काफी कुछ सीखने को मिला और भारतीय करघे और कारीगर इतने निपुण बन गये कि यूरोप से लाये गये सुन्दर पैटर्नों की वे हू-ब-हू नकल करने में सक्षम थे।

(iii) **रंगाई और कपड़ा छपाई**—17वीं शताब्दी में वर्णित रंगाई के तरीकों में प्रधानतः दो तरीके देखने को मिलते हैं, जो बहुरंगीय और पैटर्न रंगाई के तरीकों के बारे में हैं। इनमें थे रोकना (Resist) और रंग संस्थापक (Mordant)। दोनों तरीकों के लिए ब्लॉकों का प्रयोग किया जाता था, जो प्राचीन काल से ही प्रचलित था। इसके साक्ष्य तीसरी-चौथी ईसवी में मिस्र और ईरान से मिलते हैं। ये रोध या रंग-संस्थापक छापे द्वारा लगाये जाते थे और रंगे जाते थे, जो लकड़ी के ब्लॉकों द्वारा की गई छपाई से बेहतर थी और यूरोप में प्रचलित थी। ब्लॉक की छपाई से एक अन्य फायदा यह होता था कि इसमें समय व खर्चे दोनों की बचत होती थी। प्राचीन भारतीय पुस्तकों में छपाई का कोई वर्णन नहीं मिलता है। मोती चन्द्रा ने सूती कपड़े की छपाई करने वाली महिला के लिए *छिम्पक* और पुरुष के लिए *छिप्पा* शब्द का प्रयोग किया है। यह वर्णन 14वीं 15वीं शताब्दी का है। 16वीं शताब्दी के मलिक मोहम्मद जायसी ने छपाई के लिए छापा शब्द का प्रयोग किया है। मलिक मोहम्मद जायसी (16वीं शताब्दी) ने *बहार-ए-आजम* (18वीं शताब्दी) आदि में इसका वर्णन किया है। 1666 में जॉ द थीवनो ने आगरे का वर्णन किया है। उसने उस छपाई का वर्णन किया है, जो उसे ईरान में भी देखने को मिली थी। उसने कहा था कि ऐसा कपड़ा भारत से आता था जो एकदम सही है। वर्नियर (1667) ने वर्णन किया है कि उसके समय सूती कपड़ों की छपाई

78 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

एक छोटा और स्थानीय उद्योग था। वह बताता है कि छपे-छपाये कपड़े बड़ी मात्रा में देशी और विदेशी बाजारों के लिए बनाये जाते थे। इरविन यह बताता है कि भारत में छपाई कला देर से आयी, परन्तु यह इतनी देर से नहीं आयी जितना कि वह बताता है, क्योंकि यह कहना गलत न होगा कि भारत में 14वीं शताब्दी में इसका प्रचलन था। 17वीं शताब्दी में इसका व्यापक रूप से प्रचलन हो चुका था और भारत में छपे हुए कपड़े उत्कृष्ट तरीके के माने जाते थे और विश्व में उनकी माँग होने लगी थी। यहाँ तक कि इस समय भारत में बनाये जाने वाले कपड़े इतने उत्कृष्ट हो गये कि वे ईरान से भी बेहतर थे, जहाँ से भारत ने यह कला सीखी थी।

भारत में कपड़ा उत्पादन में परिवर्तन व्यापक रूप से 1000 से 1500 के मध्य आया। इसका श्रेय चरखे को दिया जाता है जिसने कपड़ा उत्पादन में परिवर्तन किया और कपड़ों के उत्पादन में परिवर्तन होता चला गया। इसकी उत्तमता में भी अन्तर आया। फिर एक बार कपड़ा उद्योग में परिवर्तन 1850 में आया, जिसका श्रेय सूत कातने वाले और कपड़ा उत्पादन करने वाले आधुनिक उद्योग को दिया जाता है।

कपास की खेती का उत्पादन भी कपड़ा उद्योग को बढ़ावा देने में सहायक सिद्ध हुआ, क्योंकि यह फसल खाद्य फसल न होकर नकदी फसल थी और कृषकों को नकद पैसा मिलता था जिससे इस फसल को उपजाने में उनकी रुचि पैदा हुई। यह बात इस तथ्य को उद्घाटित करती है कि 13वीं-14वीं शताब्दियों में उपज के वणिज्यीकरण की प्रक्रिया में तेजी से वृद्धि हुई।

स्थल परिवहन

भारतीय परिवहन व्यवस्था में कुछ कमियाँ थीं। इसमें भारी सामान को ढोने के लिए किसी विकसित साधन का प्रयोग नहीं किया गया, जिसके लिए कम से कम उस समय एक ठेले का प्रयोग हो सकता था, जिसमें एक पहिया लगा रहता था। लेकिन भारत में इसका प्रयोग नहीं हुआ। चीन में इसका उपयोग तीसरी शताब्दी से ही देखने को मिलता है, जबकि यूरोप में इसका उपयोग बारहवीं या तेरहवीं शताब्दी में देखने को मिलता है। यह एक पहिया ठेला कम माल ढोने में उपयोगी सिद्ध हो सकता था, परन्तु मुगलकाल में इसका प्रयोग नहीं किया गया, क्योंकि यह कम से कम उस समय के निर्माण कार्य में तो अपना सहयोग दे ही सकता था।

परिवहन व्यवस्था में हम निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत इसकी चर्चा कर सकते हैं :

- (i) घोड़ागाड़ी
- (ii) मुगलकालीन सड़कें
- (iii) पुल

(i) घोड़ागाड़ी—एक कामयाब भार ढोने वाले पशु के रूप में घोड़े का उपयोग उस समय सामने आया, जब पट्टे वाले साज (collar-harness) का प्रयोग शुरू हुआ। चीन में सबसे पहले इसका प्रयोग शुरू हुआ और यूरोप में दसवीं शताब्दी में इसका प्रयोग शुरू हुआ। हालाँकि प्राचीन काल में भारतीय सेना में रथों में घोड़े जोड़े जाते थे, परन्तु यूरोप में पट्टे वाले साज के प्रयोग से पहले ही भारत में इनका प्रयोग खत्म हो गया था और घोड़ों का स्थान बैलों ने ले लिया। बैलों का प्रयोग करके हर प्रकार की गाड़ी को खींचा जाता था। इसका वर्णन हमें मिलता है कि भारत में सभी प्रकार की भार ढोने वाली गाड़ियों को बैल खींचते थे। केवल अकबर के रथ में घोड़े जोड़ते जाते थे। घोड़ों को रथों में जोड़ते जाने का कोई निशान या चित्र नहीं मिलता है। मुगल चित्रकारों ने जब महाभारत काल के चित्र बनाये, तो उन्होंने घोड़ों के गले में वही जुआ डाला, जो उस समय बैलों के गले में डाला जाता था, क्योंकि उन्हें पट्टे वाले साज का ज्ञान नहीं था।

जहाँगीर ने अपना रथ घोड़ों द्वारा खींचा जाने वाला बनाया था, जिसको चार घोड़े खींचते थे। यह रथ यूरोप से नकल की गई गाड़ी के आधार पर बनाया गया था जैसा कि इसके नाम से ही पता चलता है—रथ-ए-तरजी फरंग-ए-अंग्रेजी—यानी अंग्रेजी यूरोपीय रथ जैसा, लेकिन यह ज्यादा कारगर साबित न हो सका और ज्यादा दिन नहीं टिक सका फिर घोड़ों का इस्तेमाल तोपगाड़ी खींचने के लिए किया जाने लगा। उपर्युक्त आधार पर यह कहा जा सकता है कि इक्का और ताँगा 17वीं शताब्दी के बाद चलन में आये। यदि ये मुगल समय में चलन में होते, तो सस्ती परिवहन व्यवस्था स्थापित हो सकती थी, परन्तु उस समय भारत के अधिकांश भागों में बैलगाड़ी ही प्रचलित थी। इसी से माल व सवारी की ढुलाई की जाती थी। माल को ढोने के लिए भी बैलगाड़ी का प्रयोग किया जाता था। बैलगाड़ी के पहिए ठोस बनाये जाते थे। उनमें तिल्ली आदि का प्रयोग नहीं किया जाता था। इससे बैलगाड़ी का अनावश्यक वजन बढ़ जाता था, परन्तु इसके साथ-साथ उसमें मजबूती भी आ जाती थी।

(ii) मुगलकालीन सड़कें—भारतीय सड़कों और यूरोपीय सड़कों में पर्याप्त अन्तर था। यदि हम इसे तुलनात्मक दृष्टि से परे देखें, तो भारत की सड़कें ऐसी नहीं थीं या उपयोगिता की दृष्टि से अच्छी नहीं थीं या यात्रियों को यात्रा करने के वक्त किसी प्रकार की कठिनाई का सामना करना पड़ता था। भारतीय सड़कें भी पर्याप्त सुविधायुक्त थीं। एक अच्छा भारतीय राजमार्ग पर्याप्त चौड़ाई का होता था, लगभग 40 कदम जिसके दोनों ओर पेड़ लगे होते थे। यात्रियों की प्यास बुझाने के लिए स्थान-स्थान पर कुएँ खुदे होते थे और दूरी का निर्देश देने के लिए मीनार बनी होती थी। यदि यात्रियों को रात हो जाये, तो रात को रुकने के लिए उनके लिए

स्थान-स्थान पर सरायें बनी होती थीं और सड़कों की पर्याप्त सुरक्षा भी की जाती थी। परन्तु भारतीय सड़कों में पर्याप्त कमी भी थी। सड़कें समतल नहीं थीं और राजपथों की मरम्मत नहीं होती थी। ये सड़कें ज्यादातर कच्ची होने के बावजूद बरसात के बाद इनमें कीचड़ हो जाता था व गड्ढे पड़ जाते थे व कुछ पानी से भर जाती थी, जिसके कारण गाड़ियों को चलने में असुविधा होती थी। परन्तु इस सबके पीछे कुछ तो कारण रहे होंगे। यदि गहराई से उनका अध्ययन किया जाये, तो पता चलता है कि कई जगह सड़कें चट्टानों को काटकर बनायी गई थीं, जिससे बार-बार मरम्मत करने में पर्याप्त असुविधा का सामना करना पड़ता था। उदाहरण के लिए खैबर दर्रे में सिन्धु सागर दोआब को काटता हुआ जो राजपथ जा रहा था, उसमें एक सख्त नीले पत्थर के बड़े-बड़े टुकड़े फिट किये हुए थे। परन्तु उस समय के साधनों को देखते हुए यातायात की दृष्टि से सड़कों में किसी बड़ी असुविधा को नहीं आने दिया जाता था और सड़कों के माध्यम से भी व्यापक व्यापार व परिवहन होता रहता था।

(iii) पुल—मुगलकालीन सड़क व्यवस्था में पुलों का विशेष महत्व था। ये पुल पक्की ईंटों और पत्थरों के बनाये जाते थे, जिससे परिवहन को बिना किसी रुकावट के सुचारु रूप से चलाया जा सके। उस समय की वास्तुशिल्प तकनीक को देखते हुए बड़े पैमाने पर ईंट, पत्थर, चूने, गारे के पुल बनाना संभव नहीं था फिर यमुना, देघ, गोमती, सिन्धु आदि नदियों व अन्य नदियों पर पुल की व्यवस्था की गई थी। इन पुलों को बनाने में सबसे बड़ी कमी यह रही कि ये पानी निकलने के लिए पर्याप्त रास्ता नहीं छोड़ते थे। भारतीय यह मानते थे कि पाये की चौड़ाई मेहराब की चौड़ाई से कम नहीं होनी चाहिए। मुगलकालीन पुलों के बारे में कनिंघम का कहना है कि बड़े पाये और तंग मेहराब पुलों को बिगाड़ देते थे क्योंकि उनकी वजह से पानी का बहाव दूसरी ओर हो जाता था।

नौ-संचालन

भारत में स्थल परिवहन भी अच्छी दशा में थे, परन्तु 17वीं शताब्दी में भारत में जहाज परिवहन में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन होने शुरू हुए। इस समय समुद्र में चलने वाले प्रमुख जहाजों को यूरोपीय जंक कहते थे। ये जहाज आकार में बड़े होते थे व मानसूनी हवाओं पर निर्भर होते थे। इनके पाल इसी कारण बड़े बनाये जाते थे। ये जहाज अरब सागर व बंगाल की खाड़ी की यात्रा को सुलभ बनाते थे। चूँकि इन जहाजों को मानसूनी हवाओं के सहारे चलाया जाता था और इनके परिवहन में मानसूनी हवाओं का बहुत बड़ा हाथ होता था। इसी कारण इन जहाजों का अपनी इच्छानुसार चलना थोड़ा कठिन होता था।

भारतीय जहाजों में समय और अक्षांश की स्थिति का पता लगाने के लिए एस्ट्रॉलेब नामक यंत्र का प्रयोग किया जाता था,

परन्तु पर्याप्त साक्ष्य न होने के कारण इसे एस्ट्रॉलेब नहीं कहा जा सकता, जिसका आविष्कार यूरोप में 1535 में हुआ था। मुगलकालीन चित्रों को देखने पर भी यह नहीं पता लगाया जा सकता कि भारतीय नाविक चुम्बकीय कम्पास का प्रयोग करते थे या नहीं, क्योंकि इसकी सही रूप में पहचान अभी तक नहीं हो पायी है। जहाज की दिशा बताने के लिए नाविकों के कार्ड का प्रयोग किया जाता था, जो रेखांकित व क्रमबद्ध होते थे। 17वीं शताब्दी में यूरोपीय जहाजों में नये प्रकार के यन्त्र लगाये जाने लगे जैसे कि दूरबीन, कम्पास, डेविस के क्वाड्रेंट, रात्रि दिशासूचक यन्त्र, मरकेटर के प्रक्षेपण चार्ट और लालटेन।

जहाज निर्माण

17वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारतीय जहाज उद्योग में कोई नयापन नहीं था, जबकि पश्चिमी तट पर पुर्तगालियों द्वारा भारतीय जहाजों के लिए यूरोपीय डिजाइन के जहाज बनाने के लिए काम होता था, जिससे उन्हें अच्छा लाभ मिल जाता था। क्योंकि ऐसा माना जाता था कि 100 से 200 टन की नाव बनाने के लिए इंग्लैण्ड में भारत के मुकाबले तीन गुना कम खर्च आता था। भारतीय जहाज निर्माण उद्योग में अचानक परिवर्तन आया, जिसको क्रान्तिकारी परिवर्तन कहा जा सकता है। अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी अपने जहाज सूरत में बनाती थी। यद्यपि भारतीयों ने अंग्रेजों से यह कला सीखी थी। भारतीय यूरोपीय मॉडल के जहाजों की नकल हू-ब-हू कर लेते थे और उनसे भी अच्छे जहाज बना लेते थे। इस तरह भारतीय कारीगर एक अच्छी जहाज निर्माण कला जान गये थे।

भारतीयों द्वारा यूरोपीय जहाजों की नकल करते हुए जो जहाज बनाए गए थे, वे यूरोपीय जहाजों से ज्यादा मजबूत होते थे। तख्तों को जोड़ने के लिए भी भारतीयों की तकनीक यूरोपियनों से अच्छी थी। भारतीय बड़ई जो पानी की टंकी बनाते थे, वह यूरोपियनों की तरह होती थी, परन्तु उससे थोड़ी भिन्न जरूर होती थी, क्योंकि यह भी यूरोपीय नकल पर आधारित थी। भारतीय जहाजों पर समुद्री कीड़े आदि न लगें, इसी कारण ये कारीगर तख्तों पर चूने का लेप लगा देते थे। जहाजों को जब किसी मरम्मत आदि की जरूरत पड़ती थी और उसको पानी से खींचकर जमीन पर लाया जाता था, तो जो रस्से इस काम में प्रयोग में लाये जाते थे, वे बहुत मजबूत होते थे, जिनकी तारीफ अंग्रेज पर्यटक भी करते हैं। भारत में जहाज निर्माण उद्योग अच्छा था व उसका विकास भी हुआ था और यहाँ अच्छे किस्म के जहाज भी बनाये जाते थे, परन्तु यदि इन जहाजों की तुलना यूरोपीय जहाजों से की जाये, तो उनमें कमी नजर आती थी। दोनों के जहाज तो एक ही दर्जे के होते थे, परन्तु नौका संचालक उतने कार्यकुशल नहीं बन पाये जितने कि यूरोपीय होते थे, और न ही वे यन्त्र प्राप्त कर पाये, जो यूरोपीय

80 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

अपने जहाजों में प्रयोग करते थे। भारतीयों द्वारा जहाज में काम आने वाले यन्त्रों में कमी को उजागर करते हैं। उस समय के लेख जिनसे पता चलता है कि भारतीयों द्वारा उस समय जहाज में काम आने वाले यन्त्रों को बनाने का प्रयास नहीं किया गया जैसे कि दूरबीन, जो कि उस समय जहाज चालक के लिए एक जरूरी यन्त्र होता था। भारत में जहाज में काम आने वाले यन्त्रों की कमी का पता एक अंग्रेजी पत्र से चलता है, जिसमें व्यापारियों ने इंग्लैंड से जहाज में काम आने वाले यन्त्रों के बारे में लिखा था कि कम्पास, लालटेन, रोजनामचे, पाल, सुए, पायलट के यन्त्र आदि भेजे जायें क्योंकि उनके पास इनकी कमी है और यदि अधिक मात्रा में इन्हें भेजा जाये, तो इनको भारत में बेचकर अच्छा लाभ भी कमाया जा सकता है। चूँकि जहाज निर्माण का ज्यादातर सामान इंग्लैंड से आता था, अतः यहाँ के व्यापारी अंग्रेजों को अपने यहाँ नौकरी देते थे।

तोपें

यदि हम यह देखें कि 16वीं और 17वीं शताब्दी में भारत ने तकनीकी दृष्टि से कहां तक तरक्की की थी, तो तोपें उस समय की सबसे उच्च तकनीक में आती हैं। तोप बनाना उस समय भारी उद्योग में शामिल था और हाथ से चलने वाली बन्दूक के निर्माण को लोग ज्यादा महत्त्व देते थे। भारत में आधुनिक तोप लाने का श्रेय निश्चित तौर पर बाबर को जाता है। परन्तु उसने स्वयं इस तकनीक को विकसित नहीं किया, बल्कि उसने इसे ईरान से प्राप्त किया था। पुर्तगाली इन्हें 16वीं शताब्दी में भारत लाये थे। इसके अन्तर्गत हम दो प्रकार की तकनीकों का अध्ययन करेंगे—(i) हाथ बन्दूक (ii) तोपें।

(i) हाथ बन्दूक—हाथ बन्दूक की एक तकनीक थी इसकी धकेलने वाली तकनीकी (Propelling Mechanism)। पहले की बन्दूकों में तोड़े (Match) या एक जलती हुई रस्सी को बारूद के बर्तन में डाला जाता था, जो सूराख से नली में जाता था, जिसमें पहले से बारूद भरा होता था। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में यूरोप में अच्छी तकनीक पर आधारित तोड़दार बन्दूकों का निर्माण कार्य प्रारम्भ हुआ।

यदि भारत के सम्बन्ध में बात की जाये, तो प्राप्त साक्ष्यों का पर्याप्त अध्ययन न हो पाने के कारण या फिर पर्याप्त साक्ष्य न होने के कारण भारत में तोड़दार बन्दूकों का निर्माण कब प्रारम्भ हुआ, यह पता लगा पाना कठिन है। यहाँ तक कि साक्ष्यों के अभाव में 1640 में जो पुरानी तोपें भारत में बड़ी मात्रा में प्रयोग की गई हैं वे तोड़दार बन्दूकें थीं या फिर एक तरह के हाथ से चलने वाली बिना तोड़दार बन्दूक थी, परन्तु 'अकबरनामा' से मिले एक लघु चित्र से पता चलता है कि ये तोड़दार बन्दूकें थीं। मुगलकालीन भारत में केवल तोड़दार बन्दूकें ही बनायी जाती थीं, ऐसा नहीं था।

अबुल फजल के एक लेख से पता चलता है कि अकबर के कारखाने में तोड़दार व ऐसी बन्दूकें भी बनायी जाती थीं, जिनको इस तरह से तोड़ा-मोड़ा जाता था कि तोड़े की आवश्यकता ही नहीं होती थी। जब 17वीं शताब्दी में यूरोप में फ्लिंट लॉक का प्रचलन हुआ, तो बन्दूक तकनीक में एक नया बदलाव आया और तोड़दार बन्दूकों की जगह नयी तकनीक पर आधारित बन्दूकों ने ले ली। भारत में यह लॉक कब आया और इस पर आधारित बन्दूकें कब बननी शुरू हुईं, यह साक्ष्यों के अभाव में कहना कठिन है, क्योंकि जमोरिन जो कालीकट का राजा था, ने 1623 में अपने एक लेख में लिखा था कि अभी तक उसके पास केवल तोड़दार बन्दूकें ही हैं, जिससे यह पता चलता है कि 1623 तक भारत में तोड़दार बन्दूकें ही प्रचलित थीं। नयी तकनीक पर आधारित इन बन्दूकों का चलन नहीं हुआ था और इसके बाद नयी तकनीक पर आधारित इन बन्दूकों का चलन कब हुआ, यह कह पाना कठिन है। लेकिन अनुमान के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि 17वीं शताब्दी में भारतीय बन्दूकों में फ्लिंट लॉक लगाये जाने लगे। लेकिन यह अनुमान पर आधारित होने के कारण इसकी सच्चाई में पर्याप्त सत्यता है या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता है। वर्नियर भी कहता है कि भारतीय कारीगर कभी-कभी यूरोपीय वस्तुओं की बड़ी अच्छी नकल कर लेते थे और भारतीय बन्दूकें उत्कृष्ट व पक्षियों का शिकार करने वाले अच्छे यन्त्र थे। शायद भारतीय फ्लिंट लॉक पर आधारित इन बन्दूकों की नकल करने में कामयाब हुए और वे इस पर आधारित बन्दूकें बनाने लगे हों और सेना के मुख्य हथियार के रूप में तोड़दार बन्दूकों का ही प्रचलन होता हो।

(ii) तोपें—भारतीय तोपों के बारे में प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि भारत में दो प्रकार से तोपें बनायी जाती थीं। पहली प्रकार की तोपों में बड़ी-बड़ी तोपें थीं। ये संभवतः कांसे की बनायी जाती थीं और इनको बनाने में वही तरीका अपनाया गया, जो ऑटोमन तुर्की राज्य में अपनाया गया था। बाबर के समय की तोपें भी तुर्की तकनीकी पर आधारित बनायी गईं। भारत में इन तोपों को बनाने के लिए कांसे का ही प्रयोग किया गया। 16वीं शताब्दी में सबसे भारी तोपें भारत में ही बनायी जाती थीं। इसके पीछे एक ही कारण नजर आता है या तो भारत में कांसे की ढलाई उत्कृष्ट तरीके से होती थी या उसमें किसी धातु को मिलाकर इसका इस्तेमाल किया जाता था। भारी तोपों में सबसे प्रसिद्ध तोप 'मलिक मैदान' थी, जिसको अहमदनगर में बनाया जाता था।

लेकिन ये भारी तोपें ज्यादा दिन तक चलन में न रह सकीं। इसके निम्नलिखित कारण थे :

- भारी होने के कारण ज्यादा गतिशील न होना।
- लम्बी नाल के कारण जगह पर रखना व निशाना लगाना मुश्किल कार्य था।

(iii) कांसा मंहगा होता था व लोहे से जल्दी घिस जाता था।

(iv) यूरोप में लोहे की हल्की धातुओं का चलन होना।

(v) अकबर ने हल्की तोपों के निर्माण पर ध्यान देना।

भारत में लोहे के बड़े टुकड़ों की ढलाई करने का कार्य एक कठिन कार्य था। भारत में बनी हुई लोहे की तोपें पिटवां लोहे की होती थीं। ये लोहे के डण्डे या बेलन के आकार की होती थीं, जिन्हें छल्लों से जोड़ा जाता था। 17वीं शताब्दी तक इसमें कोई विशेष उन्नति नहीं हो पायी थी। मुगलों ने इस कमी को पूरा करने के लिए यूरोपीय तोप बनाने वालों को नियुक्त किया और कमी को पूरा करने के लिए यूरोप से तोपों का आयात भी किया गया।

यूरोपीय कारीगर और वहाँ से आयात बन्दूकों के बावजूद मुगल साम्राज्य में यूरोपीय तकनीक पर आश्रित कोई कारखाना नहीं बनाया गया।

तोप की एक अन्य किस्म हथगोले का प्रयोग भारत में नहीं हुआ, जबकि चीन और यूरोप में उसका प्रचलन कभी पहले से होता था। 1648 में मोटार को शाहजहाँ ने समझा, परन्तु उसने उनकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया। उसने यह मान लिया था कि ये उसके किसी काम के नहीं हैं। इसका एक कारण हम यह भी मान सकते हैं कि भारतीय सेना के पास यान या रॉकेट थे, जो उस समय ज्यादा कारगर साबित होते थे। ये रॉकेट बांस के बने होते थे और उनमें लोहे के बेलन लगे होते थे व ज्वलनशील पदार्थ भी लगाये जाते थे। उनमें हथगोले लगाकर भी प्रयोग किये जाते थे।

ऊर्जा और ईंधन के स्रोत

आधुनिक यूरोप के औद्योगिक विकास की पृष्ठभूमि में जाकर देखें, तो इसके विकास में मनुष्य का इतना हाथ नहीं है जितना कि हवा और पानी और बाद में विशेष रूप से भाप का है। अध्ययनों से पता चलता है कि पानी का प्रयोग शक्ति के रूप में यूरोप में ही नहीं, बल्कि यूरोप के बाहर भी होता था। ईरान में भी पानी का प्रयोग शक्ति के रूप में होने लगा। वहाँ भी मक्का आदि पीसने के लिए पनचक्की और पवन चक्की का प्रयोग होता था। इसमें दोनों यन्त्र क्षैतिज रूप में चढ़ाये जाते थे, इसमें गियर की आवश्यकता नहीं होती थी।

ऊर्जा और ईंधन के स्रोत के अन्तर्गत हम निम्नलिखित बिन्दुओं पर चर्चा करेंगे :

(i) पनचक्की

(ii) पवन चक्की

(iii) ईंधन

(i) **पनचक्की**—भारत में पनचक्की का आगमन ईरान से हुआ, जैसा कि बाइजेंटाइन काल के आखिरी वर्षों के इतिहासकार केडरनोस के लेखों से पता चलता है। 17वीं शताब्दी में पनचक्की का प्रयोग दक्षिणी भारत में होने लगा था। हमें औरंगाबाद से मलिक

अम्बर की पनचक्की से इसका पता चलता है। कश्मीर में भी पनचक्की का प्रयोग होता था। परन्तु पानी का बहाव धीमा होने के कारण उत्तरी भारत में पनचक्की का प्रयोग कम ही हुआ और नदियों के मौसमी उतार-चढ़ाव के कारण भी पनचक्की नहीं लगायी गई थी। जैसा कि टामेस रो वर्णन करता है कि जल शक्ति का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में होता था व इसकी तकनीकी दक्षता में भी कोई कमी नहीं थी। मक्का पीसने के लिए पनचक्की और चावल दलने के लिए पानी से चलने वाले पेकोह का प्रयोग किया जाता था, जिनके उदाहरण हजारा जिले में मिलते हैं।

(ii) **पवन चक्की**—सीस्तान में पवन चक्की का प्रयोग सबसे पहले हुआ। यह मुगल साम्राज्य की सीमा के एकदम निकट था, जिससे यह मान लिया जाता है कि भारतीयों को भी पवन चक्की का प्रयोग पता था। परन्तु सीस्तान में जो पवन चक्की प्रयोग में लायी जाती थी, वह एक ऐसे देश के लिए थी, जहाँ तेज हवाएँ एक ही दिशा में चलती हों और वैकल्पिक शक्ति के स्रोत के लिए पानी उपलब्ध न हो। इसीलिए इसका प्रयोग अफगानिस्तान में नहीं हुआ और अहमदाबाद में पवन चक्की लगाने का प्रयास किया गया, परन्तु वह सफल नहीं हो पाया। इसको आसू-ए-बाद कहा जाता था और स्थानीय भाषा में इसको पवन चक्की कहा जाता था। लेकिन भारत में पवन चक्की का प्रयोग कब हुआ, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। भारत में भी पवन चक्की सफलतापूर्वक काम कर सकती थी। भारतीय तकनीकी में सूक्ष्म गियरों की कमी के कारण इसका विकास पर्याप्त मात्रा में नहीं हो पाया था। लकड़ी के पिन ड्रम गियर से रहट को चलाने के लिए जितनी शक्ति की आवश्यकता थी, उससे ज्यादा संचारित करने में वे अक्षम थे। तब तक धातु के गियर नहीं बने थे और लोहा उद्योग की पिछड़ी स्थिति को देखते हुए यह असंभव-सा लगता है। ऐसी स्थिति में पन-चक्की या पानी की सहायता से शक्ति संचार करने के किसी यन्त्र के विकास के बारे में सोचा नहीं जा सकता था।

(iii) **ईंधन**—तकनीकी में सहयोग करने के लिए व उसे बढ़ावा देने के लिए ईंधन की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका होती है, चाहे वह किसी भी रूप में हो। 16वीं-17वीं शताब्दी में चीन व यूरोप में कोयले को शक्ति के रूप में प्रयोग किया जाने लगा, परन्तु भारत अभी तक इससे अवगत नहीं था व भारत में कोयला उपलब्ध भी नहीं था। यह 1611 में सूरत में अंग्रेजों द्वारा जहाजों से लाया गया। मुगल दरबार में इस कोयले को समुद्री कोयले के नाम से पेश किया गया। इसे अद्भुत वस्तु के रूप में तो देखा गया, परन्तु इसका उपयोग न जानते हुए इसे ज्यादा मात्रा में आयात नहीं किया गया। भारत में कोयले का आविष्कार व उत्खनन क्यों नहीं किया गया? झरिया व वीरभूम की खानों से इसे क्यों नहीं निकाला गया? भारत में किसी ने इसकी उपयोगिता को क्यों नहीं समझा?—इन प्रश्नों के

82 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

उत्तर देना शायद कठिन हो सकता है। जहाँ यह कोयला मिलता है, संभवतः वहाँ इसकी औद्योगिक उपयोगिता न हो। कोयले को गहरी खानों से निकालने के लिए जिस विधि का प्रयोग किया जाता था, वह भारत में प्रचलित न हो, इसी कारण इसको न निकाला जाता हो, क्योंकि उस समय खानों की खुदाई दस-बारह फुट से ज्यादा नहीं की जाती थी। भारत में कोयले की उपयोगिता के महत्त्व को नहीं समझा गया, परन्तु इंग्लैण्ड में इसकी औद्योगिक विकास में भूमिका को पर्याप्त रूप से समझ लिया गया था।

धातु और रसायन तकनीकी

धातु और रसायन तकनीकी के अन्तर्गत निम्नलिखित धातुओं के उपयोग, उनके विकास और भारत के विकास में उनके महत्त्व को देखेंगे, इनमें हैं :

- (i) जिक
- (ii) लोहा
- (iii) रसायन
- (iv) आसवन
- (v) प्रशीतन
- (vi) कांच

(i) **जिक**—भारत में यदि धातु विज्ञान सम्बन्धी प्रक्रियाओं का अध्ययन आरम्भ किया जाये, तो पता चलता है कि भारत ने कुछ क्षेत्रों में पहल अवश्य की थी। जिक सम्बन्धी कार्यों में भारत और चीन में जिक उत्पन्न और अलग किया जाता था। इस प्रक्रिया का आरम्भ यूरोप में अठारहवीं शताब्दी में शुरू हुआ। अबुल फजल और मनुची के वर्णनों से इसके बारे में जानकारी मिलती है। अबुल फजल ने राजस्थान में जाँवर जिक की खानों का वर्णन किया है, जो आज भी सुप्रसिद्ध है। मनुची के वर्णन से पता चलता है कि भारत में बाजे बनाने के लिए ऐसी परिष्कृत धातु का प्रयोग किया जाता था जो यूरोप में ज्ञात नहीं थी। शायद यह जिक की धातु में मिश्रित पीतल का वर्णन कर रहा था। भारत में जिक की मिश्रित धातु की वस्तुएँ बनाने के लिए दक्ष कारीगर थे, लेकिन यह कहना मुश्किल है कि भारत में यह कार्य कब शुरू हुआ, क्योंकि मुगलकालीन स्रोतों से इसके सम्बन्ध में अधिक जानकारी नहीं मिल पाती है, लेकिन 1817 में हेन ने इसका वर्णन किया है।

(ii) **लोहा**—भारत के सम्बन्ध में कहा जाता है कि भारत अपनी सतह पर मिलने वाली धातुओं की उत्कृष्टता के मामले में भाग्यवान रहा। भारत में आन्ध्र प्रदेश में इन्दूर के पास की खान से एक धातु निकाली जाती थी, जिससे डैमस्क इस्पात बनाया जाता था। वैसे इस्पात का आयात ईरान व अन्य दूसरे देशों से भी किया जाता था। 17वीं शताब्दी में अंग्रेज लेखकों ने भारत में इस्पात का वर्णन किया है, जो 19वीं शताब्दी में भी मध्य ग्वालियर और नरवर में गलाया जाता था। मुगलकाल के अन्त तक भारत में ढलवाँ लोहा

बनाने की तकनीकी को भारतीयों ने अच्छी तरह से पहचान लिया था। 1708 में उड़ीसा का भ्रमण करते हुए अलेक्जैण्डर हेमिल्टन ने वर्णन किया है कि यहाँ लोहा अत्यधिक मात्रा में मिलता है और यह इतनी अधिक मात्रा में मिलता है कि यहाँ जहाजों के लंगर बनाने के लिए भी साँचे का प्रयोग किया जाता था। परन्तु वह कहता है कि यह इंग्लैण्ड से अच्छा नहीं था, लेकिन यह पता नहीं चल पाता है कि उड़ीसा में लोहे की ढलाई कैसे होती थी, क्या वहाँ वात्या भट्ठी का प्रयोग किया जाता था? शायद नहीं, क्योंकि धातु में संतोषजनक गुणवत्ता नहीं प्राप्त हो पायी थी। अच्छे ढलवाँ लोहे के न होने के कारण औद्योगिक तकनीक पर भी इसका प्रभाव पड़ा और उसके विकास में बाधा आयी। बन्दूकों, औजारों, मशीनों आदि को बनाने में इस लोहे का उपयोग हो सकता था, परन्तु अच्छी तकनीक न होने के कारण अच्छा लोहा नहीं बन पाता था, जिसके कारण इन औजारों को बनाने में पर्याप्त कमी का सामना करना पड़ता था।

(iii) **रसायन**—इसके अन्तर्गत लाख से बनी हुई चीजें आसवन और प्रशीतन की विकसित तकनीक के माध्यम से तैयार की जाती थीं। कांच की चीजें बनाने की तकनीक में अभी भी पर्याप्त कमी थी। यूरोप में रोगन बनाने की तकनीक का इस्तेमाल करके लाख की वस्तुओं को बनाने की तकनीक हासिल की गई।

(iv) **आसवन**—इस्लाम के प्रारम्भिक वर्षों में अरबों ने आसवन की प्रक्रिया से गुलाब जल निकालने की प्रक्रिया का आविष्कार किया। तेरहवीं शताब्दी में और सल्तनत की स्थापना के साथ अप्रवासियों द्वारा इस तकनीक को भारत लाया गया। मुगलकाल में इत्र बनाने का श्रेय नूरजहाँ की माँ असमत बेगम को जाता है, जिसका नाम इत्र-ए-जहाँगीरी रखा गया। जैसा कि जहाँगीर के वर्णन से पता चलता है कि यह आसवित गुलाब जल से प्राप्त सुगन्ध थी। आसवन विधि की खोज से अंगूर अंगूरी शराब बनाने में काम में लाया गया। अबुल फजल भी गन्ने के रस को आसवन करने के तीन तरीकों का वर्णन करता है। जिस मद्य का आसवन दो बार किया जाता था, उसे दो-आतीशा कहा जाता था। वर्नियर, फ्रांसीसी यात्री अबे कैरे आदि विद्वान आसवन विधि का उल्लेख करते हैं। आधुनिक मान्यता के अनुसार मद्य आसवन 12वीं-13वीं शताब्दी का आविष्कार था, जिसको यूरोपीय आविष्कार माना गया है। फोब्स के अनुसार अबुल फजल ने जो मद्य आसवन का उल्लेख किया है, वह शायद अरबी में इसका पहला उल्लेख था लेकिन जियाउद्दीन बरनी के वर्णन के अनुसार, “भारत में मद्य आसवन की प्रक्रिया बहुत पहले से चली आ रही थी। जब किसी ने पुर्तगालियों का नाम नहीं सुना था, तब सुल्तान अलाउद्दीन ने शराब बिकने पर रोक लगाई तो लोग अपने घरों में गन्ने के रस को आसवन करके मद्य बनाने लगे। इसका अर्थ यह हुआ कि यह

विधि मुगलों के भारत में आने तक अच्छे रूप में विकसित रूप में स्थापित हो चुकी थी।

(v) **प्रशीतन**—अबुल फजल भारत में पहली बार अकबर के शासन काल में शोरा द्वारा पानी को ठण्डा करने की प्रक्रिया का वर्णन करता है। जब अकबर की राजधानी लाहौर थी। 1586 तक तो पानी को ठण्डा करने के लिए बर्फ का प्रयोग किया जाता था। भारत में जब यूरोपीय यात्री आये और उन्होंने प्रशीतन की विधि में शोरा मिलाकर ठण्डा करने की विधि देखी, तो उन्हें यह विधि एकदम नयी लगी। *बहार-ए-आजम* शब्दकोश में इस विधि को पूर्ण रूप से भारतीय माना गया है और यूरोप में 1600 के आसपास ठण्डा करने के लिए यह मिश्रण प्रयोग किया जाने लगा। इसमें मुख्य पदार्थ बर्फ ही होता था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इस विधि में भारत ही यूरोप से आगे था। इसका विकास भारत में पहले हुआ, यूरोप में बाद में।

(vi) **कांच**—भारत में कांच उद्योग पिछड़ा हुआ था, वहीं यूरोप में यह उद्योग विकसित अवस्था में था। वहाँ पारदर्शी कांच की चादरें व बारीक लेन्स आदि बनाये जाते थे, परन्तु भारत में इस यूरोपीय तकनीक का प्रयोग करने के लिए कोई प्रयास नहीं किया गया। यहाँ तक कि भारत में आइने भी कांच के नहीं, धातु के बनाये जाते थे। मुगल दरबार में कांच की अत्यधिक माँग थी। जहाँगीर को जब तोहफे में यूरोपीय क्रिस्टल मिले, तो उसने उसकी प्रशंसा की।

बुनियादी औजार और सूक्ष्म उपकरण

बुनियादी औजार और सूक्ष्म उपकरणों के अन्तर्गत निम्नलिखित बिन्दुओं पर चर्चा की जा सकती है :

- (i) पेंच
- (ii) गियर
- (iii) क्रैंक
- (iv) पिस्टन
- (v) एस्ट्रोलेब
- (vi) समय दर्शाने के उपकरण।

(i) **पेंच**—16वीं शताब्दी के प्रारम्भ में या मध्य में इस धातु का प्रयोग दो टुकड़ों को जोड़ने के काम में आने लगा। आज भी इसका प्रयोग इसी रूप में होता है। यूरोप में जब इसके महत्व को समझा गया और इसका प्रयोग हथियारों को बनाने में किया जाने लगा, तो इसने टांका, रिबेट और पच्चर (Wedge-fitting) की जगह ले ली, क्योंकि इनमें बहुत कमियाँ थी। यूरोप में खराद के विकास में भी पेंच की महत्वपूर्ण भूमिका थी, क्योंकि पेंच में ठीक तरह से खाँचे बनाने पड़ते थे।

भारत में 15वीं या 16वीं शताब्दी में ही पेंच आ गया था, परन्तु यह अपरिष्कृत और यूरोपीय पेंच की नकल पर था। परन्तु भारत में इसने अपना रूप बदला और इसके उपयोग के महत्व को समझते हुए इसका सही रूप में विकास किया गया। परन्तु भारत में पेंच के विकास

में जो कमियाँ रह गयीं, वे भारतीय कारीगरों के द्वारा खराद का प्रयोग न किये जाने के कारण थीं, क्योंकि ये लोग पेंच में खाँचा बनाने के लिए खराद का प्रयोग नहीं करते थे, बल्कि टाँके का प्रयोग करते थे। इसी कारण पेंच वे प्रयोग को भारत में उतनी कामयाबी नहीं मिल पायी, जितनी कि यूरोप में।

(ii) **गियर**—भारत में पिन-ड्रम-गियर जैसा कि रहट में लगा होता था, बस वही गियर प्रयोग में लाया जाता था। रूई की ओटार्ई के लिए बार्म गियर का प्रयोग किया जाता था। ये मशीन के अत्यन्त आवश्यक यन्त्र होते हैं, जो चकरी की गति को घटाते या बढ़ाते हैं व दिशा भी नियन्त्रित करते हैं। अकबर के समय गियर प्रणाली में विकास हुआ। उसने एक ऐसी मशीन बनायी, जो एक बार में कई बन्दूकों की नलियों को साफ कर सकती थी, लेकिन रोचक बात यह है कि अकबर के समय में गियर प्रणाली के विकास के बावजूद भी इसका प्रयोग मशीनों में नहीं किया गया, बल्कि अभी भी पिन-ड्रम-गियर का ही प्रयोग किया गया।

(iii) **क्रैंक**—क्रैंक का विकास क्रैंक हथे से सीधे क्रैंक और जोड़ने वाला हण्डा और उससे बने हुए क्रैंक का विकास भारत के तकनीकी विकास में दिखाई नहीं देता है, इसीलिए इनमें से किसी में चक्राकार गति को पश्चात् गति में बदलने की शक्ति नहीं थी। इस तकनीकी का प्रयोग सिक्कों पर मुहर लगाने के लिए किया जा सकता था, लेकिन इसका विकास न हो पाने के कारण मानव द्वारा ही इस काम को किया जाता था। चूँकि मुहर लगाने वाली चक्की बिना क्रैंक और उससे जुड़ी हुई डण्डी के बिना काम नहीं कर सकती थी, इसीलिए इसके प्रयोग में पशु शक्ति का भी इस्तेमाल नहीं किया जा सका।

(iv) **पिस्टन**—पिस्टन के प्रयोग का सबसे सरल प्रयोग पिचकारी में देखा जा सकता है। मुगलकाल के चित्रों को देखने से लगता है कि पिचकारी का प्रयोग उस समय भी होता था व उससे पहले भी भारत में होता था। लेकिन इसके उत्पादन और आगे विकास के बारे में पर्याप्त साक्ष्य न होने का कारण पता नहीं चल पाता है।

(v) **एस्ट्रोलेब**—एस्ट्रोलेब एक सूक्ष्म यन्त्र था, जिसका बहुउद्देशीय रूप में इस्लामिक देशों में और भारत में प्रयोग किया जाता था। इसका लकड़ी के कारीगरों और गणितशास्त्र में प्रयोग किया जाता था। एस्ट्रोलेब का केवल खगोलीय प्रेक्षण के लिए ही प्रयोग नहीं किया जाता था, बल्कि इसका प्रयोग समय निश्चित करने और अक्षांश निर्धारित करने के लिए भी किया जाता था। उस समय के अक्षांश प्रेक्षणों को आज के अक्षांश प्रेक्षण से मिलाने पर पता चलता है कि इनके प्रेक्षण व आज के

84 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

प्रेक्षणों में बहुत मामूली-सा अन्तर है। इससे पता चलता है कि उस समय प्रयोग होने वाला एस्ट्रोलेब एक अच्छी एवं विकसित तकनीक पर आधारित था।

(vi) समय दर्शाने के उपकरण—16वीं शताब्दी में भारत में बनने वाले लघु चित्रों को देखने से पता चलता है कि भारत में समय मापने के लिए एस्ट्रोलेब के साथ-साथ दो और यन्त्र अक्षांश डायल जो अंगूठी के रूप का होता था और दूसरी रेत घड़ी होती थी। औरंगजेब की सेना में समय निर्धारण करने के लिए रेत घड़ी का प्रयोग किया जाता था व सिंकिंग-कप का भी इस्तेमाल किया जाता था। लेकिन भारत में इस मशीन घड़ी के प्रयोग के सम्बन्ध में कोई उत्साह और न ही कोई रुचि देखने को मिलती है। यूरोपीय कम्पनियों द्वारा भारतीय राजाओं को उपहार में मशीन घड़ियाँ देना अच्छा माना जाता था, परन्तु ओविंगटन ने 1690-93 में लिखा था कि :

भारत के लोगों ने अब तक हमारी घड़ियों की नकल नहीं की, हो सकता है इसलिए कि वे उनकी गति को ज्यादा देर तक नहीं रखते। यह संभव है कि यह इसलिए क्योंकि यहाँ इतनी धूल उड़ती है कि शायद वह घड़ियों के अन्दर जाकर उन्हें खराब कर देगी। परन्तु चीनियों ने हमारी घड़ियों के पुर्जे खोल लिये, जिससे वे नई घड़ी बना सकें और हो सकता है कुछ समय बाद उनसे भी बेहतर बनाएं।

मशीनी घड़ी अपने सूक्ष्म गियर की कमानी, पेंच, बैलैस और निकास बहुत सारे यान्त्रिक सिद्धान्तों के केन्द्रीकृत उपयोगिता का प्रतिनिधित्व करती है। इनकी बनावट में विकास, विस्तार और सिद्धान्तों के प्रयोग में अधिक उपयोग हो सकता था। घड़ी की सहायता से समय के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करके उस पर नियन्त्रण किया जा सकता था।

कागज और छपाई

कागज—कागज का आविष्कार चीन में पहली शताब्दी ईसवी में हुआ और फिर विश्व के अन्य भागों में इसका विस्तार होना प्रारम्भ हुआ। यह आठवीं शताब्दी में इस्लामिक देशों में आया। इतिहासकार पी.के. गोडे ने कागज के विस्तार और विकास के सम्बन्ध में एक शोध प्रस्तुत किया है। उसमें वे अलबरूनी के कथन का समर्थन करते हैं। उसके समय में (ग्यारहवीं शताब्दी) में भारत में लिखने के लिए कागज का प्रयोग नहीं किया जाता था। भारत में कागज चीन से सीधे नहीं आया, बल्कि गौरी के आक्रमण के पश्चात् यह भारत में लाया गया। 13वीं शताब्दी के अन्त तक अमीर खुसरो ने कागज निर्माण को समकालीन शिल्प बताया है। 14वीं शताब्दी तक भारत में कागज सस्ता हो गया था और इस बात का पता इसी से चलता है कि इस समय दिल्ली में कागज इतना

सस्ता हो गया था कि दिल्ली के हलवाई कागज में मिठाई रखकर बेचते थे।

छपाई—कागज के आ जाने से एक क्रान्तिकारी परिवर्तन तो हुआ, परन्तु जब कागज पर छपाई होने लगी, तो इस परिवर्तन में प्रगति का एक कदम और जुड़ गया। पहले मुहरों से छपाई होती थी व अब किताबों की छपाई भी इसी तकनीक से होने लगी। 17वीं शताब्दी में भारत में कपड़ों की छपाई ब्लॉक (टप्पों) से की जाती थी, परन्तु इस तकनीक का कागज छपाई में प्रयोग नहीं किया गया। इसके पीछे भी कोई विशेष कारण रहा होगा, परन्तु पर्याप्त साक्ष्य न होने के कारण किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता है। परन्तु ओविंगटन ने जो वर्णन किया है, उसके आधार पर कहा जाये, तो वह यह मानकर चलते हैं कि भारत में छपाई ब्लॉकों द्वारा इसलिए नहीं की जाती थी क्योंकि इससे कई लिपिकों की नौकरी जाने का खतरा था और शासक उस समय जनता की भलाई का विशेष ध्यान रखते थे। परन्तु इस कथन में कहाँ तक सच्चाई है, यह कहना कठिन है, परन्तु बाद में यह साबित हुआ कि लिपि की कठिनाइयाँ, जो चल मुहरों के लिए विशेष रूप से एक समस्या थी, इसके विकसित न हो पाने का प्रमुख कारण थी।

भारत में तकनीकी परिवर्तन की प्रकृति

अर्थव्यवस्था में तकनीकी के परिवर्तन में कोई आन्तरिक विरोध का सामना नहीं करना पड़ा। बागवानी और तोप में हुए परिवर्तनों को तो मुगल दरबार से सराहा गया और उसके लिए आवश्यक सहयोग भी दिया गया। व्यापारियों की माँग के अनुसार जहाज निर्माण क्षेत्र में अत्यधिक प्रतियोगिता को सामान्य किया गया। दूसरे क्षेत्रों में भी तकनीकी में परिवर्तन हुए और उनका विकास भी हुआ। इसके पीछे चाहे जो भी कारण रहे हों या तो कारीगरों के आर्थिक लाभ कमाने का कारण हो। इन तकनीकी परिवर्तनों में :

- (i) कृषि में नयी-नयी फसलें आयीं।
 - (ii) कपड़ा उद्योग में नये-नये औजार आये।
 - (iii) धातु की बनी चीजों में परिवर्तन हुआ। इनमें पेंच और बरमों-बरमों में बैल्ट ड्राइव को लाया गया।
 - (iv) मद्य आसवन विधि में परिवर्तन।
 - (v) पानी ठण्डा करने की तकनीक में परिवर्तन लाये गये।
- यदि देखा जाये तो ज्यादातर इन तकनीकों में परिवर्तन को लाने में ज्यादा पैसे और ज्यादा उपकरण भी नहीं लगाने पड़े। इन परिवर्तनों से तकनीकी में जो परिवर्तन आये, वे विकास के मार्ग में महत्वपूर्ण साबित हुए।

लेकिन यह भी देखने को मिलता है कि सभी क्षेत्रों में परिवर्तन नहीं हुए। अभी भी कुछ क्षेत्र इन तकनीकी परिवर्तनों से

अछूते रहे और ये क्षेत्र विशेष रूप से उन क्षेत्रों से जुड़े थे, जहाँ आर्थिक लाभ अधिक नहीं थे या कोई बाहरी चुनौती नहीं थी। जैसा कि हम देखते हैं कि उस समय कुछ क्षेत्रों में उस प्रकार की तकनीकी को नहीं अपनाया जा सका जैसी कि उस समय यूरोप में प्रचलित थी, जबकि उन क्षेत्रों में परिवर्तन की भारत में क्षमता थी। धातु विज्ञान और बुनियादी औजारों के क्षेत्र में उस तरह का परिवर्तन नहीं देखने को मिलता, जैसा कि उस समय यूरोप में प्रचलित था। इसके पीछे चाहे जो भी कारण रहे हों, परन्तु पुस्तक की छपाई न कर पाने का कारण क्या था?—इसके बारे में भी साहित्यिक साक्ष्यों के अभाव में समझा नहीं जा सकता है। उपर्युक्त तथ्य ये तो उजागर करते हैं कि भारत में तकनीकी परिवर्तन को उतने उत्साहजनक ढंग से नहीं लिया गया। कुछ क्षेत्रों में हुए तकनीकी परिवर्तन और कुछ क्षेत्रों के अछूते छूट जाने के कारण यही बात सामने आती है कि भारत में भी नये-नये आविष्कारों को अपनाया तो जा रहा था, परन्तु उतने उत्साहित और रुचिकर ढंग से नहीं जितना कि यूरोप में। तभी तो कुछ क्षेत्रों में परिवर्तन में भारत यूरोप से पीछे रह गया; जैसे—धातु विज्ञान, बुनियादी औजार व पुस्तक छपाई आदि के क्षेत्र में। 16वीं और 17वीं शताब्दी में यूरोप में परिवर्तन प्रमुख रूप से हुए। यदि सैद्धान्तिक रूप से देखें तो यह भी सत्य-सा ही लगता है कि पुस्तकों की छपाई न होने के कारण ज्ञान का प्रसार न हो पाया और ज्ञान को विस्तारित रूप से आगे बढ़ाया जा सकता था, परन्तु छपाई केवल उसी ज्ञान का विस्तार कर पाती, जो उपलब्ध हो। 17वीं शताब्दी में छपाई से धार्मिक विचारों और अन्धविश्वास सम्बन्धी छोटी-छोटी बातों का ही आसानी से प्रसार होता रहा।

भारत में काम करने वाले कारीगरों की कमी नहीं थी। कारीगर और शिल्पी कम से कम वेतन में भी गुजारा कर लेते थे। वर्नियर के अनुसार भारतीय कारीगरों के पास औजारों की कमी थी, फिर भी वे उत्कृष्ट वस्तुएं बना लेते थे और यूरोपीय वस्तुओं की नकल बखूबी कर लेते थे। इससे स्पष्ट होता है कि यदि कारीगर अपने काम में निपुण हों, तो कम औजारों से भी अच्छी एवं उत्कृष्ट चीजें बना सकता है। नयी तकनीकों के आने से जो काम एक कारीगर द्वारा कुशलता से किया जा सकता था, भारत में वही काम चार कारीगर करते थे। इसके पीछे कारण यह भी रहा होगा कि बेरोजगारी के डर से तकनीकी परिवर्तन को बढ़ावा नहीं मिला। भारतीय कारीगरों की सफलता की अपूर्ण सूची को उनके मशीनी उपकरणों को अपनाने की असफलता देखें तो उसमें अन्तर्विरोध नजर आता है, जो उस समय के यूरोपीय परिवेक्षक देखते हैं। अन्तर्विरोध था कि भारतीय कारीगरों के काम में तो निपुणता थी और वे अच्छे उपकरण बना सकते थे, परन्तु उनके औजार ज्यादा अच्छे नहीं थे। वर्नियर उस समय के कारीगरों के

बारे में लिखता है कि उनके औजार तो उच्च तकनीक पर आधारित नहीं थे। वे अपरिष्कृत होते थे। परन्तु कारीगरों के काम करने की कुशलता वाकई देखने लायक थी। वे यूरोपीय वस्तुओं की भी नकल बड़ी अच्छे ढंग से करते थे। कभी-कभी तो मूल वस्तु और नकल की गई वस्तु में अन्तर करना मुश्किल हो जाता था। भारत में एक अच्छी बात यह थी कि यहाँ कारीगर बहुत अधिक संख्या में उपलब्ध थे। इसका एक सबसे बड़ा फायदा यह था कि ये कारीगर अच्छा काम करते थे और उनको वेतन भी कम मिलता था। बाबर भी यही बताता है कि भारत में कारीगर बड़ी संख्या में उपलब्ध थे और वे कम वेतन में भी काम कर लेते थे, पर वे काम में निपुण होते थे। कारीगरों का वेतन कम होने के कारण वे अपने अच्छे औजार नहीं रख पाते थे और इस कारण वे अपनी मेहनत से ही अपने काम में निपुणता लाते थे।

भारत में काम करने वाले कारीगरों की निपुणता और विशिष्टता के आधार पर ही उनके कार्य करने वालों की जाति बन गयी और यह जाति उनके काम के आधार पर निर्धारित हो गयी। बाबर ने लिखा भी है कि “हर तरह के काम के लिए एक निर्धारित जाति थी, जिसमें पीढ़ियों से लोग वही काम करते आ रहे हैं।”

यूरोप में जो भूमिका शिल्प संघों ने कलाओं को बनाये रखने और संचारित करने में निभाई, भारत में जाति व्यवस्था ने वही कार्य किया। तकनीकी विस्तार में और इसके फैलाव में जो रुकावटें शिल्पियों के सामने आयीं, उनको हटाना या दूर करना कठिन कार्य तो रहा होगा। एक कारीगर के सामने एक समस्या या दोष यह भी था कि कारीगर वही काम करेगा, जो उसका पिता वर्षों से करता आ रहा है और वह उस उपकरण से भी कार्य नहीं करता था, जो उसकी जाति द्वारा स्वीकृत न कर लिया गया हो। परन्तु मॉरिस ने इस सम्बन्ध में जो वर्णन किया है, वह उल्लेखनीय है। वह लिखते हैं कि जाति की दीर्घकालीन धारणा ने श्रमिकों की गतिशीलता में कोई बाधा नहीं डाली। मुगलकाल में यूरोपियनों द्वारा लिखे गये साहित्य का यदि अवलोकन किया जाये, तो पता चलता है कि कहीं भी जाति के कारण कारीगरों की संख्या और उनकी कार्यकुशलता में अन्तर नहीं आया। उस समय के कारीगरों पर सामाजिक बंधन भी थे। मद्रास से मिली एक रिपोर्ट से पता चलता है कि उस समय कारीगरों को समुद्र पार करने की इजाजत नहीं थी।

जब कारीगर खुद वस्तु को बनाने वाला रहा होगा और तब भी जब वह भिन्न अवस्थाओं में किसी व्यापारी के संपर्क में रहा होगा। परन्तु यह स्थिति उस समय तक रही होगी जब तक कि कारीगर वस्तु अपने घर में बनाता होगा। कपड़ा बुनने वाले कारीगर भी यही तरीका अपनाते थे। वे जब किसी दूर बाजार के लिए कपड़ा बनाते थे, तो वे स्वयं कच्चा माल खरीदते थे और उससे

86 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

अपने घर पर कपड़ा बनाते थे। फिर दूर बाजारों में उस कपड़े को बेचने के लिए ले जाते थे। जब कभी व्यापारियों को अधिक कपड़े की जरूरत होती थी, वे कारीगरों को पेशगी देते थे और कभी-कभी वे कच्चा माल भी कारीगरों को देते थे। ऐसी स्थिति में प्रक्रिया में बदलाव आता था। इस स्थिति में बुनकर व्यापारी के अधीन हो जाता था। परन्तु कारीगर के काम करने के तरीके में कोई अन्तर नहीं आता था और उसकी कारीगरी में भी कोई अन्तर नहीं आता था। यदि व्यापारी कपड़े के लिए कुछ अलग से निर्देश भी देता, तो बुनकर को अपना करघा बदलना पड़ता था। इसमें आये खर्च का वहन भी व्यापारी ही करता था। यदि कच्चा माल महंगा होता था, तो उस पर व्यापारी नियन्त्रण रखते थे और वे बुनकर को अपने यहाँ बुलाकर काम करवाते थे।

कारीगरों की स्थिति में सबसे अधिक अलगाव उस समय आया, जब वे उन कारखानों में कार्यरत होते थे, जहाँ खासकर दरबार और अभिजात परिवार के सदस्यों के लिए कपड़ा बनाया जाता था। इससे कारीगरों की स्थिति पर यह असर पड़ता था कि उन पर नियन्त्रण बढ़ जाता था, क्योंकि कच्चा माल कीमती होता था और अभिजात वर्ग के लोगों के लिए कपड़ा बनाते समय उन पर नियन्त्रण व देखरेख ज्यादा होती थी। निम्न स्तर के उत्पादन के स्थान पर अभिजात या व्यापारी पूँजीपतियों द्वारा कारीगरों की नियुक्ति से मुगल भारत में शिल्प तकनीकी में कोई महत्वपूर्ण बदलाव नहीं आया। सस्ते में निपुण कारीगर मिलने के कारण सही अर्थ में एक पूँजीवादी संस्था का गठन नहीं हो सकता, वह भी जहाँ एक ही व्यक्ति उत्पादन में बड़ी संख्या में कारीगरों को वेतन पर रखे हुए था। ऐसा भी कोई उपबंध नहीं था कि अच्छे उपकरण मालिक की ओर से दिये जाते। ये स्वयं कारीगरों द्वारा ही लाये जाते थे।

मुगल भारत में तकनीकी की ओर बौद्धिक रुचि भी नहीं थी, जिससे मशीनी उपकरणों में वृद्धि हो पाती। मुगल साम्राज्य में शिल्प उत्पादन कृषि उत्पादन के शोषण पर विशेष रूप से निर्भर था। इसीलिए इसके तकनीकी विकास की सम्भावनाएँ क्षीण हो गईं। शहर और शहरी शिल्प कृषि उपज की अधिशेष पर आधारित था, जिसे मुगल शासक वर्ग द्वारा लिया जाता था।

सारांश

तकनीकी दृष्टिकोण से देखा जाये तो मुगल साम्राज्य में कई तकनीकी परिवर्तन हुए और भारतीय अर्थव्यवस्था के उत्पादन में सहयोग मिला। जैसा कि रहट से देखने को मिलता है। रहट के आविष्कार से यह फायदा हुआ कि अब पानी को अधिक गहराई से निकाला जा सकता था और पानी को उन जगहों पर पहुँचाया जा सकता था, जहाँ इसकी कमी होती थी। पानी की कमी के कारण

अच्छी फसल नहीं हो पाती थी। रहट के आने से अब पानी ज्यादा मात्रा में हर जगह समान रूप से उपलब्ध होने लगा और कृषि कार्य को बढ़ावा मिला। कपड़ा उत्पादन में आये तकनीकी परिवर्तन से अच्छी किस्म के कपड़े बनने लगे। कृषि कार्य में नयी फसलों, नयी तकनीकों के आ जाने से अर्थव्यवस्था के विकास को बढ़ावा मिला। कलम लगाकर नयी प्रजाति विकसित करने से कई प्रकार के फलों की गुणवत्ता बढ़ गयी। रेशम उत्पादन के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण विकास हुआ। कारीगरों की उत्कृष्टता व उनके काम में निपुण होने के कारण भी अर्थव्यवस्था के विकास में सहयोग मिला और वे अच्छी तरह अपने काम को कर सकते थे। वे यूरोपीय वस्तुओं की नकल भी आसानी से कर सकते थे, जबकि उनके उपकरण उतने उत्कृष्ट नहीं होते थे और उनको वेतन भी कम मिलता था।

परन्तु भारत में सभी तरफ यह विस्तार नहीं हुआ। भारत अभी भी कुछ क्षेत्रों में पिछड़ा हुआ था। शक्ति और ईंधन की तकनीकी में अपेक्षाकृत कम विस्तार हुआ। कांच निर्माण के क्षेत्र में भी भारत में अधिक प्रगति नहीं हुई थी, जबकि उसी समय यूरोप में यह तकनीकी अपने भरपूर विकास पर थी। कागज का निर्माण होने लगा था, परन्तु तब छपाई नहीं होती थी। सूक्ष्म उपकरणों के निर्माण में भी भारत ने अभी उतनी निपुणता हासिल नहीं की थी, जितनी कि उस समय यूरोप में हो चुकी थी।

प्रश्न-अभ्यास

प्रश्न 1. मध्यकालीन युग में कृषि तकनीक के विकास की चर्चा कीजिए।

उत्तर—आज भारत में कृषि क्षेत्र में विश्वस्तरीय तकनीकी का प्रयोग किया जाता है, परन्तु पहले स्थिति इसके एकदम विपरीत थी और कृषि में उस तकनीक का प्रयोग नहीं किया जाता था, जो उस समय यूरोप व अन्य देशों में इस्तेमाल की जाती थी। भारत में कृषि में इस्तेमाल होने वाले उपकरण उतने अच्छे नहीं थे, जितने कि यूरोप में इस्तेमाल किये जाते थे। भारतीय कृषि उपकरणों में ज्यादातर लकड़ी के उपकरणों का इस्तेमाल होता था। लोहे के उपकरण भी कम मात्रा में इस्तेमाल किये जाते थे, जैसा कि 17वीं शताब्दी में लिखी गयी अमानुल्ला हुसैनी की पुस्तक *गंज-ए-बदायुँद* से पता चलता है। कृषकों के उपकरणों में लकड़ी का प्रयोग अधिक होता था। लोहे का प्रयोग कम से कम होता था और इस बात में भी कोई सन्देह नहीं है कि कुशलता के दृष्टिकोण से लकड़ी के उपकरण लोहे के कम उपयोग या करीब-करीब नगण्य उपयोग के कारण कार्यकुशल नहीं होते थे।

मध्यकालीन कृषि तकनीकी के अन्तर्गत हम निम्नलिखित बिन्दुओं पर चर्चा करेंगे :

(i) नई फसलों का प्रारम्भ

(ii) सिंचाई तकनीकी

(i) **नई फसलों का प्रारम्भ**—भारतीय किसान रबी और खरीफ की दो फसलों के साथ कई प्रकार के अनाजों का उत्पादन करते थे। मध्यकाल में भारत और चीन ही ऐसे देश थे, जो भिन्न प्रकार की फसलें उपजाते थे। भारतीय कृषि में नयी फसलों के आगमन का महत्वपूर्ण काल 17वीं शताब्दी था। अमेरिका से तम्बाकू प्राप्त करके उसकी कृषि पश्चिमी तटवर्ती इलाकों पर शुरू की गई। मक्का को भारतीय जलवायु के अनुकूल बनाकर उसकी खेती शुरू की गई। इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि भारत में नयी-नयी फसलों के आने से कृषि कार्य में विकास हुआ और भारत में भी नयी-नयी फसलों को उगाने के लिए प्रोत्साहन मिला। इससे भारतीय कृषि को निश्चित रूप से फायदा हुआ। नयी फसलों के अन्तर्गत हम कुछ नयी तकनीकों पर चर्चा करेंगे :

(a) बागवानी

(b) रेशम उत्पादन

(a) **बागवानी**—17वीं शताब्दी में बागवानी पद्धतियों में नवीनता आयी। इसमें नयी तकनीक; जैसे—कलम लगाने का विकास हुआ और कुछ नये फल आदि भी आये। फलों की उपज और गुणवत्ता में भी वृद्धि हुई। भारत में हालाँकि पहले से ही कलम लगाने की तकनीक पता थी, क्योंकि मध्यकालीन पुस्तकों में पेड़ों के प्रवर्धन का वर्णन मिलता है, लेकिन कलम लगाने का मात्र एक तरीका नहीं है। इसके कई तरीके हैं, जो 17वीं शताब्दी में भारतीयों द्वारा अपनाए गये और इस तकनीक का विकास हुआ।

इन नयी तकनीकों के भारत में आने के दो कारण हो सकते हैं। मुगल दरबार और दरबारी जो ईरानी और मध्य एशियाई बागवानी परम्पराओं से प्रभावित थे। पुर्तगाली और यूरोपीय बागवानी से मूल रूप से जुड़े हुए थे। जहाँगीर के वर्णन से यह पता चलता है कि मुगल अधिकारी भी इन तकनीकियों को भारत लाये थे। शाहजहाँ के समय में कलम लगाने की तकनीक का विस्तार हुआ। मुगलकालीन पुस्तकों में आम की कलमबंदी का उल्लेख नहीं मिलता है। इसका वर्णन जहाँगीर के काल के लेखक अमानुल्ला हुसैनी ने किया है। वह वर्णन करता है कि जो प्रक्रिया आड़ू लगाने के लिए अपनायी जाती थी, वही आम के लिए अपनायी जाती थी। 17वीं शताब्दी में पुर्तगालियों ने पश्चिमी तट पर आम की कलम लगाकर इसकी फसल उत्पादन को बढ़ा दिया था। मनुची भी वर्णन करता है कि 17वीं शताब्दी में एक तरह का आम प्रवर्धित होता था, जिसकी प्रेरणा पुर्तगालियों से मिली थी।

(b) **रेशम उत्पादन**—रेशम उत्पादन का भारत में सबसे पहले वर्णन माहुआन के बंगाल सम्बन्धित लेखों से मिलता है। लेकिन इसमें कितनी सत्यता है, इसके बारे में पता नहीं है, क्योंकि मोरक्को से आने वाले यात्री इब्नबतूता जिन्होंने लगभग 100 साल

बाद बंगाल का वर्णन किया है। परन्तु उसके वर्णन में कहीं भी रेशम उत्पादन का वर्णन नहीं मिलता। माहुआन के लेखों से और इब्नबतूता के लेखों से संदेह तो होता है, परन्तु इतना तो पता चलता है कि बंगाल में मलबरी रेशम का उत्पादन होता था। लेकिन यह कहना मुश्किल है कि बंगाल में रेशम कहाँ से आया। यह चीन से आया जो एक तरह से रेशम का घर ही माना जाता था या फिर मंगोलों के सरंक्षण में तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दियों में रेशम उत्पादन विशेष रूप से अपनाया गया। चूँकि रेशम उत्पादन कृषि-आधारित उद्योग था, इसलिए इससे किसानों को लाभ हुआ और उनकी आमदनी बढ़ी।

(ii) **सिंचाई तकनीकी**—भारत में सिंचाई तकनीकियों का बड़े पैमाने पर प्रयोग किया जाता था। इसमें दो प्रकार की तकनीकियों का प्रयोग ज्यादा किया जाता था :

(a) बांध बनाकर

(b) लम्बी नहरों द्वारा

बांध बनाकर पानी रोका जाता था और फिर यह पानी छोटी नहरों द्वारा खेतों में पहुँचाया जाता था। लम्बी नहरों द्वारा पानी को बिना बांध के काफी दूर तक ले जाया जाता था। दक्षिणी भारत में छोटी नहरों का प्रचलन था और इनको ज्यादातर स्वायत्त सरदारों द्वारा बनाया जाता था। वहीं उत्तरी भारत में लम्बी नहरें मिलती थीं, जिनकी बनावट पर मध्य एशियाई और ईरानी प्रभाव नजर आता था। मुगल शासकों ने भी नहरें बनवायीं। इनके द्वारा बनवायी गयी नहरें लम्बी व प्रभावशाली थीं। इन नहरों में पानी किसी बांध द्वारा न रोककर सीधे भेजा जाता था, जिससे पानी की निरन्तरता कम होती जाती थी। हालाँकि मुगल बादशाहों और दरबारियों द्वारा इन नहरों को बनवाने का आंशिक उद्देश्य अपने फल उद्यान और बगीचों में पानी पहुँचाना था।

रहट—सिंचाई तकनीकी के अन्तर्गत रहट का वर्णन एक अलग महत्व रखता है, क्योंकि सिंचाई कार्य में रहट का योगदान महत्वपूर्ण था। यह लकड़ी की मशीन के आकार का एक यन्त्र था, जो पिन-ड्रम-गियर का महत्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करता है। रहट भारत में 13वीं-14वीं शताब्दी में आया था। 16वीं सदी में बाबर ने भी इसका वर्णन किया है कि रहट द्वारा सिन्धु व यमुना नदियों से पानी निकाला जाता था। 19वीं शताब्दी के बाद धातु के रहट आने पर इनका प्रयोग देश के कई भागों तक फैल चुका था। रहट में जहाँ जंजीर गहराई से पानी उठाने में सहायता करती थी, वहीं गियर द्वारा पशु शक्ति का प्रयोग किया जाता था। प्राचीन भारत पर लिखी गयी आधुनिक पुस्तकों से पता चलता है कि भारत में रहट का प्रयोग बहुत पहले से किया जाता था। परन्तु ए.एल. बाशम इससे पूरी तरह सहमत नहीं हैं, क्योंकि साहित्यिक स्रोतों में इसका साफ-साफ उल्लेख नहीं मिलता है और इससे इसके प्रयोग का

88 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

पता स्पष्ट रूप से नहीं चल पाता। परन्तु यह मानने में कोई संदेह नहीं होना चाहिए कि अरघट या घटि यन्त्र का प्रयोग भारत में ईसा के समय से ही प्रचलित था। इसमें पहिए को घुमाकर मिट्टी के बर्तनों से पानी लगातार निकाला जाता था। छठीं शताब्दी में बर्तनों की चैन का प्रयोग शुरू हो चुका था। इसका वर्णन हमें एक अभिलेख में मिलता है।

पंजाब में कृषि की सम्पन्नता का वर्णन अबुल फजल ने भी किया है और इसका श्रेय वह कुओं द्वारा सिंचाई को देता है। कुओं द्वारा पानी निकालने की किसी भी पद्धति जैसे रहट के प्रयोग द्वारा पंजाब में कृषि के विस्तार और उत्पादन को बढ़ावा मिला होगा।

प्रश्न 2. मुगलकाल में तोप के विकास पर चर्चा कीजिए।

उत्तर—16वीं और 17वीं शताब्दी में औद्योगिक तकनीकी की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियों को कई प्रकार की तोपों के अन्तर्गत देखा जा सकता है। तोप बनाना उस समय भारी उद्योगों में शामिल था और इस उद्योग को बढ़ावा देने के लिए पैसा भी खर्च किया जाता था। मुगलकाल में दो प्रकार की तोपें बनायी जाती थीं। इसमें पहली प्रकार की तोपें बहुत बड़ी-बड़ी बनायी जाती थीं और ये कांसे की बनायी जाती थी। इनको बनाने के लिए जो तरीका ऑटोमन तुर्की राज्य में अपनाया जाता था, वही तरीका यहाँ अपनाया जाता था और यूरोप में भी यही तरीका चलता था। बाबर ने भी इसी तरीके से तोपें ढलवायीं। भारत में कांसे में बढ़िया धातु मिलाकर उससे ढलाई की जाती थी, परन्तु 16वीं शताब्दी तक भारत में संसार की सबसे भारी तोपें बनायी जाती थीं।

परन्तु समय के अनुसार इन तोपों में परिवर्तन आये और 1600 तक आते-आते इन तोपों का प्रचलन बन्द हो गया, क्योंकि ये तोपें अब उतनी कारगर साबित नहीं हो रही थीं। इसका कारण था इनका भारी होना और इनकी नली बहुत लम्बी होती थी, जिसके कारण इन्हें रखना और निशाना लगाना मुश्किल हो जाता था और कांसा महंगा था व यह लोहे की अपेक्षा जल्दी घिस जाता था और लोहे की तोपें हल्की थीं, जो यूरोप में ज्यादा प्रचलित हो चुकी थीं। अकबर ने अपने समय में हल्की तोपों के निर्माण पर ध्यान दिया व भारतीयों ने भी इसे विकसित करने में रुचि दिखायी। भारत में बनी हुई तोपें पिटवां लोहे के डण्डे या बेलन के आकार की होती थी, जिन्हें छल्लों से जोड़ा जाता था। इस तकनीकी में और अधिक उन्नति व विकास 17वीं शताब्दी तक नहीं हो पाया था, परन्तु मुगल अधिकारी इस कमी को भली-भाँति समझते थे और वे यूरोप में प्रचलित हल्के लोहे की तोपों से भी प्रभावित थे, इसीलिए इन्होंने यूरोप से तोपों का आयात किया और यूरोपीय तोप बनाने वालों को भी नियुक्त किया। इनको अच्छा वेतन मिलता था। परन्तु यूरोपीय तकनीक पर आधारित तोपें बनाने का कारखाना मुगल

साम्राज्य में स्थापित नहीं किया गया। तोप की एक दूसरी किस्म भी थी, जिसका प्रयोग भारत में नहीं हो पाया था, जबकि यूरोप और चीन में इसका प्रचलन बहुत पहले से था। हालाँकि शाहजहाँ का ध्यान मोर्टर की तरफ गया, परन्तु उसने इनको बनाने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। भारत में इसका विकास न हो पाने के कारण यहाँ प्रचलित हथियारों में जो सेना में कारगर साबित हो रहे थे, इन हथियारों में मुख्यतः बाण या रॉकेट कहा जा सकता है। ये रॉकेट बाँस के बनाये जाते थे और उनमें लोहे के बेलन लगे होते थे व उनमें ज्वलनशील पदार्थ भरा जाता था। कभी-कभी इनमें हथगोले भी लगाये जाते थे। बाण का अपना महत्त्व था, जो उस समय भारतीय सेना में एक महत्त्वपूर्ण हथियार के रूप में शामिल था। तकनीकी दृष्टि से इसका बड़ा महत्त्व था, क्योंकि 19वीं शताब्दी में यूरोपीय सेना ने कॉनग्रीव रॉकेटों का प्रयोग किया जो भारतीय रॉकेट की तकनीक पर आधारित था।

इस प्रकार देखा जा सकता है कि भारतीय सेना में तोपों का विकास समय के साथ-साथ होता रहा और इसमें नयी तकनीकों को भी महत्त्व दिया गया। यूरोपीय ढंग की तोपें बनाने के लिए वहाँ के कारीगरों को भी नियुक्त किया गया और वहाँ की तोपें आयात भी की गईं।

प्रश्न 3. मध्यकालीन अर्थव्यवस्था में रहट और चरखे द्वारा किस प्रकार बढ़ावा मिला? विश्लेषण कीजिए।

उत्तर—रूई ओटने और धुनाई करने के औजार यानी लकड़ी की चर्खी और कमानी का प्रयोग हमें मुगलकाल से पहले ही देखने को मिलता है। इसके प्रयोग के सम्बन्ध में अजंता की गुफाओं से प्रमाण प्राप्त होता है। परन्तु इसके लिखित रूप से प्रयोग का उदाहरण 18वीं शताब्दी के शब्दकोश *बहार-ए-आजम* में देखने को मिलता है। *वैजयन्ती* और *अभिधान-चिन्तामणि* में भी इसके प्रयोग का उदाहरण देखने को मिलता है।

लेकिन चरखे के सम्बन्ध में इसका पूर्ण रूप से उल्लेख हमें 1350 में इसामी द्वारा लिखी गयी पुस्तक में मिलता है, जो दिल्ली *सल्तनत* का लेखक था। इसी सम्बन्ध में मालवा में 1469 में लिखे गये फारसी शब्दकोश से इसका चित्र मिला है। लेकिन यह बात रोचक है कि चीन में बहु-तकली चरखे प्रयोग में लाये जाते थे, परन्तु भारत में इनका प्रयोग नहीं के बराबर हुआ या यूँ कहें कि हुआ ही नहीं। इस सम्बन्ध में इतना तो मालूम पड़ता है कि भारत अभी तक वस्त्र बनाने की इस तकनीक में पिछड़ा हुआ था, क्योंकि भारत में यूरोप में प्रचलित चरखे जिसे उड़का कहा जाता था, का भी प्रयोग नहीं हुआ था। हाँ, इतना जरूर कहा जा सकता है कि भारत में यूरोप की तरह ही चरखे में डंडे (हत्थे) का प्रयोग किया जाने लगा था। इस हत्थे के प्रयोग से इतना तो जरूर हुआ कि इस तकनीकी के विकास ने वृद्धि की ओर पहला कदम जरूर बढ़ा दिया। आगे चलकर यह निश्चित रूप से फायदेमंद सिद्ध हुआ।

रहट—सिंचाई तकनीक में रहट एक महत्वपूर्ण तकनीकी थी। यह लकड़ी की मशीन के आकार का यन्त्र था, जो पिन ड्रम गियर (Pin-drum-gear) का महत्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करता है। रहट भारत में 13वीं-14वीं शताब्दी में आया था। 16वीं शताब्दी में बाबर ने भी इसका वर्णन किया है। वह लिखता है कि यह सिन्धु और यमुना पार के क्षेत्रों से पानी निकालने का महत्वपूर्ण स्रोत था। लेकिन 19वीं शताब्दी तक हम रहट का प्रयोग व्यापक स्तर पर देखते हैं और बाद में जब रहट धातु के बनने लगे, तो इसका प्रयोग और भी व्यापक हो गया। रहट में जहाँ उसकी जंजीर गहराई से पानी को उठाने में सहायक थी, वहीं गियर द्वारा पशु शक्ति का प्रयोग किया जा सकता था।

प्राचीन भारत के सम्बन्ध में लिखी गयी आधुनिक पुस्तकों से पता चलता है कि भारत में रहट का प्रयोग बहुत पहले से हो रहा था। परन्तु ए.एल. बाशम इस बात से अपनी सहमति नहीं रखते, क्योंकि साहित्यिक स्रोतों में इसका उल्लेख स्पष्ट रूप से नहीं हुआ है। परन्तु इस बात को मानने में कोई संदेह नहीं है कि अरघट या घटि यन्त्र के नाम से पानी निकालने की पद्धति ईसा के समय से ही प्रचलित थी। इसमें पहिये को घुमाकर मिट्टी के बर्तनों से पानी निकाला जाता था। छठी शताब्दी तक बर्तनों की चेन का प्रयोग शुरू हुआ। इसका उल्लेख एक अभिलेख में भी मिलता है। परन्तु गियर पद्धति का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। ऐसा कहा जाता है कि रहट का प्रयोग तुर्की विजय के साथ शुरू हुआ, सही नहीं लगता है। अबुल फजल लिखता है कि पंजाब के कृषि वैभव में कुओं द्वारा सिंचाई की महत्वपूर्ण भूमिका थी। अबुल फजल के सौ साल बाद सुजान राय भण्डारी पंजाब के बारे में लिखते हैं—यहाँ की कृषि अधिकांशतः वर्षा के पानी पर आधारित थी। इसमें आप्लावन और नहरों के पानी का कृषि के लिए कोई महत्व नहीं था, जो स्वाभाविक—सा लगता है। कुओं से पानी निकालने के लिए जिस भी तकनीक का प्रयोग किया गया हो; जैसे—रहट का—यह पंजाब में कृषि की उपज बढ़ाने में फायदेमंद साबित हुआ होगा।

एक ओर चरखे के आने से वस्त्र तकनीक में वृद्धि हुई। भले ही ये उन्नत प्रकार के न रहे हों, परन्तु इसे वस्त्र तकनीक में एक नयी तकनीक जरूर कहा जा सकता है। उसी प्रकार रहट के आने से सिंचाई तकनीक में वृद्धि हुई और सिंचाई का माध्यम सरल बना। कुओं से सिंचाई से कृषि को निश्चित रूप से लाभ हुआ।

प्रश्न 4. मध्यकालीन युग में बुनियादी औजार और सूक्ष्म उपकरणों की तकनीकी का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।

उत्तर—मध्यकालीन युग में कुछ बुनियादी औजार व सूक्ष्म उपकरण पहले से ही प्रचलन में थे, परन्तु कुछ का विकास इसी युग में हुआ और इससे अर्थव्यवस्था के विकास में निश्चित रूप

से लाभ हुआ, क्योंकि अब कारीगरों के पास अच्छे उपकरण आने लगे थे। इनके अन्तर्गत हम निम्नलिखित उपकरणों की चर्चा कर सकते हैं :

- (i) पेंच
- (ii) गियर
- (iii) क्रैंक
- (iv) पिस्टन
- (v) एस्ट्रोलैब
- (vi) समय दर्शाने के उपकरण आदि।

(i) पेंच—पेंच का सही रूप में प्रयोग और सही रूप 16वीं शताब्दी में सामने आया। अब इसको दो धातुओं को जोड़ने के लिए प्रयोग किया जाने लगा, जबकि प्राचीन यूनानी किताबों में इसका वर्णन धीरे चलने वाले और कम प्रेशर डालने वाले उपकरण के रूप में और पानी को ऊपर उठाने वाले यन्त्र के रूप में किया गया है। यूरोप में पेंच का प्रयोग हथियार बनाने के लिए होने लगा व पहले से प्रचलित खामियों मुक्त रिबेट, पच्चर, टांका आदि की जगह पेंच ने ले ली। खराद का विकास भी पेंच में ठीक तरह से खांचा बनाने के कारण ही हुआ। भारत में पेंच 15वीं या 16वीं शताब्दी में आया, परन्तु यह अभी तक अपने विकसित रूप में नहीं था। यह पुराने यूरोपीय मॉडल पर आधारित था, जो अपरिष्कृत था। भारतीय कारीगर पेंच का खांचा बनाने के लिए खराद का प्रयोग करने से बचते रहे, क्योंकि उन्हें टाँका लगाना अच्छी तरह से आता था। इसी कारण इस उपकरण में भारत में उतनी कामयाबी नहीं मिल पायी, जितनी कि यूरोप में, परन्तु इस तकनीकी का विकास जरूर हुआ। टाँका लगाकर पेंच बनाने से यह साबित होता है कि उस समय भारतीय कारीगरों के पास काटने और बरमा जैसे उपकरणों की कमी रही होगी।

(ii) गियर—भारत में एक ही तरह के गियर ज्यादा प्रयोग में लाये जाते थे, वे थे पिन ड्रम गियर। जैसा कि रहट में लगा होता था और वार्म गियर जिसका प्रयोग रूई की ओटाई के लिए किया जाता था। गियर मशीन के लिए एक आवश्यक उपकरण माने जाते हैं क्योंकि ये मशीन को न सिर्फ चलाते हैं, बल्कि दिशा नियन्त्रण भी करते हैं और चकरी चलाने की गति को घटाते या बढ़ाते भी हैं। अकबर के समय में एक चलने वाली गाड़ी चक्की का आविष्कार किया गया था। एक ऐसी मशीन बनायी गयी थी, जो एक ही बार में कई बन्दूकों की नलियों को साफ कर सकती थी। हालाँकि अकबर की गियर तकनीकी में विशेष रुचि थी, परन्तु फिर भी इसके विकास में कोई कार्य नहीं हो पाया। सिर्फ एक ही तकनीकी का प्रयोग किया जाता रहा, वह थी पिन-ड्रम-गियर पद्धति। इसीलिए भारत में गियर प्रणाली में ज्यादा विकास नहीं हो पाया था।

90 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

(iii) **क्रैंक**—भारत में सिककों की ढलाई बहुत बड़ी मात्रा में होती थी और इसके लिए मानव शक्ति के प्रयोग से ही इस कार्य को पूरा किया जाता था। इस शक्ति का प्रयोग व्यर्थ ही किया जाता था, क्योंकि भारत क्रैंक का विकास नहीं कर पाया था। इसी कारण इस कार्य के लिए किसी पशु शक्ति का प्रयोग भी नहीं हो पाया था। क्रैंक का विकास हथ्थे से सीधे क्रैंक और जोड़ने वाला हण्डा और उससे बने हुए क्रैंक का विकास भारत के तकनीकी विकास में दिखाई नहीं देता था। इसीलिए इनमें से किसी में चक्राकार गति को पश्चात् गति में बदलने की शक्ति नहीं थी।

(iv) **पिस्टन**—पिस्टन का सरल प्रयोग पिचकारी में देखा जा सकता है। भारत में पिचकारी का प्रयोग बहुत पहले से चला आ रहा था। क्योंकि मुगलकालीन भारतीय चित्रों में होली के दृश्यों को देखा जा सकता है जिनमें पिचकारी के प्रयोग को दिखाया गया है। परन्तु इस सम्बन्ध में आगे कोई विकास हुआ और इसका उत्पादन किया गया या नहीं, इस सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं मिलती है। चैन पम्प जिसमें चैन में लगा गोला पानी को ऊपर धकेलता था, का प्रयोग देखा जा सकता है, जो 17वीं शताब्दी में भारतीय बन्दरगाहों पर देखने को मिलता है और इस चैन पम्प को बनवाने के लिए अंग्रेज कारीगरों को भी नियुक्त किया गया।

(v) **एस्ट्रोलैब**—भारत में सबसे महत्वपूर्ण सूक्ष्म यन्त्रों में एस्ट्रोलैब को माना जा सकता है, जो धातु और लकड़ी के कारीगरों और गणितशास्त्रों की उपलब्धियों का प्रतिनिधित्व करता है। एस्ट्रोलैब का प्रयोग खगोलीय प्रेक्षणों में ही नहीं, बल्कि समय निश्चित करने और अक्षांश निर्धारित करने के लिए भी किया जाता था। उस समय के एस्ट्रोलैब के प्रेक्षणों को आज के प्रेक्षणों से मिलाने पर पता चलता है कि ये कितने शुद्ध मान निकाल सकते थे।

(vi) **समय दर्शाने के उपकरण**—16वीं शताब्दी के चित्रों से हमें समय दर्शाने के यन्त्रों का पता चलता है, जिसमें एस्ट्रोलैब के अलावा अक्षांश डायल और रेत घड़ी आदि थे। इसमें अक्षांश डायल अंगूठी के आकार का होता था, जो असमान घंटों को दर्शाता था। रेत घड़ी जल से अच्छी तरह कार्य करती थी। इससे समय के घंटों का समान इकाइयों में पता चलता था। औरंगजेब की सेना भी रेत घड़ी का प्रयोग करती थी। यूरोप में मशीन घड़ी प्रचलन में थी, परन्तु भारतीयों ने इसके प्रति कोई उत्साह नहीं दिखाया।

मशीन घड़ी का प्रयोग अच्छा माना जाता था, क्योंकि इस घड़ी की सहायता से जब जरूरत हो तब समय का पता किया जा सकता था व अपने नियन्त्रण में रखा जा सकता था। जब तक मशीन घड़ी कम मात्रा में आयात की जाती थी, तब तक भारतीय अर्थव्यवस्था को इससे शायद ही कोई लाभ हुआ हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय अर्थव्यवस्था में सूक्ष्म उपकरणों व बुनियादी उपकरणों के पर्याप्त लाभ हो सकते थे, परन्तु भारतीयों ने इनके प्रति विशेष रुचि नहीं दिखाई। यदि भारतीय

इनके प्रति विशेष रुचि दिखाते तो इससे भारतीय अर्थव्यवस्था को लाभ मिलता। यदि भारतीयों ने यूरोपीय उपकरणों की नकल करके इन्हें बनाया भी तो उनमें पर्याप्त खामियाँ रह गयी थीं जो उपयोगी साबित नहीं हो सके।

प्रश्न 5. मध्यकालीन तकनीकी परिवर्तनों की प्रकृति की चर्चा कीजिए।

उत्तर—मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था में तकनीकी परिवर्तनों में किसी प्रकार का विरोध नहीं दिखाई देता है। बागवानी और तोप जैसे क्षेत्रों में हुए परिवर्तन इस बात की पुष्टि कर देते हैं कि मुगल दरबार ने भी परिवर्तनों को प्रोत्साहित किया और उनका विरोध नहीं किया गया। उत्पादन करने वालों ने और कारीगरों ने तकनीकी परिवर्तन को अपनाया चाहे उन्होंने इसे भले ही आर्थिक लाभों से प्रेरित होकर अपनाया हो। कृषि क्षेत्र में देखें, तो नई उपजें आयीं। कपड़ा उद्योग में नये औजार आए और नये उपकरण आए। धातु की बनी चीजों में पेंच और बरमों में बेल्ट-ड्राइव को लाया गया। मद्य आसवन और पानी ठण्डा करने की तकनीकी के प्रति भी रुचि दिखाई गयी। अधिकतर क्षेत्रों में इन परिवर्तनों को लाने में ज्यादा पैसे व उपकरण भी नहीं लगाने पड़े। जहाँ एक ओर कुछ क्षेत्रों में ये परिवर्तन दिखाई देते हैं, वहीं दूसरी ओर कई महत्वपूर्ण क्षेत्रों में अभी भी परिवर्तनों का इन्तजार था। इसके पीछे कारण शायद इनका तात्कालिक लाभ न होना था, क्योंकि हम देखते हैं कि धातु विज्ञान और बुनियादी औजारों में परिवर्तन अभी उस स्तर का नहीं हुआ था, जिस स्तर का यूरोप में था।

भारतीय अर्थव्यवस्था में जहाँ एक ओर परिवर्तन हो रहे थे चाहे वे कम ही स्तर पर हों परन्तु परिवर्तन जरूर हो रहे थे, वहीं दूसरी ओर तकनीकी परिवर्तनों में ज्यादा उत्साहपूर्ण परिवर्तन देखने को नहीं मिलता है जैसा कि 16वीं 17वीं शताब्दी में यूरोप में देखने को मिलता है।

भारत के सम्बन्ध में एक बात बड़ी महत्वपूर्ण थी कि यहाँ बड़ी संख्या में कारीगर और शिल्पी थे जो कम वेतन में ही आसानी से उपलब्ध हो जाते थे। जैसा कि वर्नियर लिखता है कि भारतीय कारीगरों के पास औजारों की कमी थी। इस कमी के बावजूद उत्कृष्ट चीजें बना लेते थे और यूरोप में बनी चीजों की नकल भी बड़ी कुशलतापूर्वक कर लेते थे। भारतीय कारीगर अधिक मात्रा में काम में लगे होते थे। वहीं मशीनों के आने से इनके बेरोजगार होने का डर बना रहता था और इन कारीगरों को वेतन भी कम में मिलता था। इससे वे अपना गुजर-बसर तो कर सकते थे, परन्तु उपकरण व औजार नहीं खरीद सकते थे। परन्तु फिर भी वे इतने कुशल होते थे, कि किसी भी वस्तु की नकल करके उसे हूबहू बना देते थे, जिससे असली और नकल की गई चीजों में पहचान कर पाना मुश्किल हो जाता था। भारतीय कारीगरों की काम के

हिसाब से जातियाँ बन गयी थीं। जो काम एक कारीगर करता था, उसकी जाति के सभी कारीगर उसी काम को करते थे। बाबर ने भी वर्णन किया है कि हर काम को करने के लिए एक निर्धारित जाति थी, जिसमें पीढ़ियों से लोग वही काम करते आ रहे थे।

इस व्यवस्था से शिल्पों के बीच जो बाधा आई, उस पर काबू पाना और एक से दूसरे शिल्प में तकनीकी फैलाव में रुकावट आयी जिसे हटाना बड़ा मुश्किल काम था। एक कारीगर वही काम करता था जो पहले उसके पिता ने किया और कारीगरों की एक सबसे बड़ी खामी यह भी थी कि वह उस उपकरण से काम करना पसंद नहीं करता था जिसको उसकी जाति स्वीकृत नहीं करती थी। चाहे वह उसके लिए कितने ही महत्व का क्यों न हो और चाहे उसके प्रयोग न करने पर उसे कितना ही नुकसान क्यों न हो।

बुनकर जब किसी दूर बाजार के लिए कपड़ा बुनता था तो वह इसके लिए कच्चा माल स्वयं खरीदता था और इसे घर में ही बनाता था। फिर उसे बेचने के लिए बाजार में ले जाता था। जब किसी व्यापारी को निरन्तर सप्लाई की जरूरत होती थी तो वह कारीगरों या शिल्पियों को पेशगी पैसा या कच्चा माल भी देता था। इससे व्यापारियों को तो लाभ होता ही था, कारीगरों और शिल्पियों के कार्य पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। हाँ, जब उसे कुछ विशेष निर्देश दिये जाते थे, तो वह उनके अनुसार अपने कार्य में थोड़ा फेर-बदल जरूर कर लेते थे। अगर कच्चा माल कीमती होता था और मालिक के विशेष निर्देश के अनुसार काम करना होता था, तो वह कारीगर को अपने घर बुलाकर काम करवाता था। घरेलू परिस्थिति में कार्यरत कारीगरों की स्थिति में सबसे ज्यादा अलगाव तब आया जब वे उन कारखानों में कार्यरत होते थे जहाँ खास दरबार और अभिजात परिवारों के सदस्यों के लिए कपड़े बनाये जाते थे। कच्चा माल कीमती होता था और अभिजात वर्ग के उपभोक्ताओं की पसंद के कपड़े बनाने के लिए बहुत अधिक देखरेख की जरूरत होती थी। इससे तात्पर्य यह है कि जिन क्षेत्रों में कारीगर घर पर काम नहीं करता था, तो उसे घरवालों का सहयोग नहीं मिलता था, क्योंकि कारीगरों के घर पर काम करने का एक लाभ यह भी होता था कि उसके घरवाले उसके काम में हाथ बँटाते थे।

निम्न स्तर के उत्पादन के स्थान पर अभिजात या व्यापारी पूँजीपतियों द्वारा कारीगरों की नियुक्ति से मुगल भारत में शिल्प तकनीक में कोई महत्वपूर्ण बदलाव नहीं आया, बल्कि यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि सस्ते में निपुण कारीगर मिलने के कारण सही अर्थों में एक पूँजीवादी संस्था का गठन नहीं हो सकता था। वहाँ भी जहाँ एक ही व्यक्ति उत्पादन में बड़ी संख्या में कारीगरों को रखे हुए था। उस समय औजार और उपकरण देना मालिक की जिम्मेदारी नहीं थी। इससे यही पता चलता है कि उच्च श्रेणी के लोगों ने भी उन मशीनों, उपकरणों, औजारों पर पैसा नहीं लगाया, जिन पर कारीगर काम करते थे।

मुगलकालीन भारत में तकनीकी के परिवर्तन न होने का एक कारण यह भी हो सकता है कि बौद्धिक रुचि अधिक नहीं थी। यदि ऐसा होता तो मशीनी उपकरणों में आवश्यक उन्नति हुई होती। मुगल साम्राज्य में शिल्प उत्पादन कृषि उत्पादन के शोषण पर विशेष रूप से निर्भर होने के कारण तकनीकी के विकास में विकास की समभावनाएं कम हो गयीं। शहर और शहरी शिल्प कृषि उपज के अधिशेष पर आधारित था, जिसे मुगल शासक वर्ग द्वारा लिखा जाता था। शहर और गाँव में कोई लेन-देन नहीं होता था। 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब कृषि क्षेत्र में संकट आया, तो कृषि संकट के कारण व्यवस्था पूरी तरह चरमरा गयी। इसके कारण शहरी शिल्प का विकास हो रहा था। वह उससे आगे नहीं बढ़ पाया। इसी तरह से आया तकनीकी पिछड़ापन शहरों के पतन और शिल्प उत्पादन की मात्रा में कमी से और भी पीछे चला गया। इससे निश्चित रूप से भारत में तकनीकी भविष्य के विकास पर रोक लगी।

इस तरह हम कह सकते हैं कि मध्यकाल में तकनीकी प्रकार परिवर्तन तो हुए परन्तु वे उतनी मात्रा में नहीं हो पाये जिससे अर्थव्यवस्था को कोई लाभ मिल पाता। इसको कारीगरों की कमी या साम्राज्य की कमी या बौद्धिक रुचि न होना माना जा सकता है। हालाँकि कुछ क्षेत्रों में मुगल साम्राज्य ने परिवर्तनों को प्रोत्साहित तो किया, लेकिन यह कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित रह गया। ■■

परिवहन और संचार

8

प्रस्तावना

परिवहन और संचार किसी भी अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण अंग होते हैं। इनके बिना अर्थव्यवस्था के विकास और आर्थिक संतुलन की स्थिति को नहीं समझा जा सकता है। एक अच्छी संचार व्यवस्था अंतर्देशीय और स्थानीय स्तरों पर वस्तुओं के आदान-प्रदान में सहायता करती है। संचार व्यवस्था विभिन्न क्षेत्रों के सांस्कृतिक मूल्यों को आपस में जोड़ती है। विचार व धारणाएँ जो एक स्वस्थ समाज के अनिवार्य अंग हैं, संचार के माध्यम से उनका आदान-प्रदान होता है। यदि संचार व्यवस्था विकसित व व्यवस्थित होगी, तो इससे परिवहन को बढ़ावा मिलेगा और परिवहन सुचारु व सरल होगा, तो इससे पर्यटन को बढ़ावा मिलेगा। पर्यटन बढ़ेगा, तो इससे अर्थव्यवस्था के विकास को दिशा मिलती है। संचार और परिवहन एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं। मध्यकालीन भारतीय समाज तथा अर्थव्यवस्था को एक अच्छे संचार तथा परिवहन व्यवस्था से अत्यधिक लाभ हुआ।

जो कारक मध्यकालीन अर्थव्यवस्था के विकास में सहायक हुए, वे ही संचार और परिवहन के विकास में भी सहायक सिद्ध हुए। मध्यकालीन अर्थव्यवस्था में सबसे बड़ा परिवर्तन उस समय आया जब दिल्ली में तुर्क शासन स्थापित हुआ। एक नया राज्य स्थापित किया और कृषि अधिशेष एकत्र करने के तरीकों ने एक ऐसी मुद्रा व्यवस्था को विकसित किया, जो ग्रामीण संगठन पर आधारित थी। विभिन्न क्षेत्रों के मध्य व्यापारिक क्रियाकलाप और विभिन्न क्षेत्रों के मध्य व्यापार ने इस मध्यकालीन मुद्रा व्यवस्था का विकास और इसका भौगोलिक विस्तार भी किया। इसी कारण संचार व्यवस्था व प्राथमिक स्तर की परिवहन व्यवस्था का विकास हुआ। जैसे-जैसे इस मुद्रा व्यवस्था का विस्तार व इसका विकास होता गया; संचार व परिवहन व्यवस्था भी विकसित होती चली गयी। मध्यकालीन भारत के तटवर्ती इलाकों में बन्दरगाहों के मध्य के तटीय संचार को छोड़कर संचार व्यवस्था मूल रूप से भूमि पर आधारित थी। विभिन्न स्थानों और क्षेत्रों से गुजरते संचार नेटवर्क मार्ग का एक ऐसा आधार प्रदान करते थे, जिस पर व्यापारिक और गैर-व्यापारिक संचार क्रियाशील थे।

संचार मार्ग व सड़कें बनवायी गयीं। उनका सीमांकन भी हुआ, परन्तु वे पक्की नहीं हो पायी थीं। नदियों पर पुल बनवाये गये। रास्ते में यात्रियों को देर हो जाये या विश्राम करना हो, तो उनके लिए सरायें बनवायी गयीं। व्यापारिक सामान या अन्य बोझ एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए पहिये वाली गाड़ियों और जानवरों व मनुष्यों का उपयोग किया जाता था। सड़कें बनीं, तो व्यापार को भी प्रोत्साहन मिला। व्यापारी व्यापार के लिए अब दूर-दूर तक जाने लगे। क्षेत्रीय व्यापार से निकलकर अब अन्तर्देशीय व अन्तर्देशीय व्यापार होने लगा। व्यापारिक यात्राएँ नियोजित होती थीं और व्यापारियों के दलों का गठन होने लगा।

प्रस्तुत अध्याय में कुछ सफरनामों और संचार व परिवहन के विकास व उसका अर्थव्यवस्था में सहयोग क्या था, पर चर्चा की गई है। क्योंकि यदि कृषि और गैर-कृषि उत्पादन व आन्तरिक एवं तटवर्ती दोनों व्यापार की भाँति तेजी से बढ़ रहे होते हैं, तो स्पष्ट रूप से परिवहन एवं संचार माध्यमों का भी विकास उसी गति से होता है।

संचार मार्ग

यदि इतिहास को देखा जाये, तो इसमें कोई संदेह नहीं है कि भारत में संचार मार्गों का अस्तित्व प्राचीन काल से ही रहा है। भारतीय उपमहाद्वीप की भौगोलिक स्थिति ऐसी थी कि उत्तर-पश्चिम दिशा में स्थल मार्गों का विकास एक दुर्गम कार्य था। परन्तु यह भी सत्य है कि भारत और उसके उत्तर-पश्चिम के धार्मिक व व्यापारिक संपर्क हमेशा बने रहे। इसके कारण थे, वे प्राचीन मार्ग जिनके माध्यम से लोगों ने कठिनाइयों को दरकिनार करते हुए आपस में सम्पर्क बनाये रखा। हिमालय के मध्य स्थित दर्रा के माध्यम से यातायात हमेशा बना रहा। भारत के आन्तरिक भूमि खण्डों ने समस्त उपमहाद्वीप में सभी मार्गों पर संचार को निरन्तर बनाये रखा, परन्तु इसमें से कुछ मार्गों पर संचार कम और कुछ पर संचार ज्यादा लोकप्रिय हुआ।

मध्यकालीन भारत में महत्वपूर्ण आर्थिक विकास हुआ, जिसके परिणामस्वरूप संचार व्यवस्था को बढ़ावा मिला। पुराने मार्गों पर यातायात में वृद्धि हुई और नये संचार मार्गों का विकास हुआ। इससे

अर्थव्यवस्था के विकास में निश्चित तौर पर लाभ हुआ और व्यापार को सुचारु रूप से बढ़ाने में सहायता मिली। संचार मार्ग के अन्तर्गत हम निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से चर्चा करेंगे:

1. उत्तर और उत्तर-पश्चिम की ओर
2. पूर्व और पश्चिम की ओर
3. दक्षिण की ओर

1. उत्तर और उत्तर-पश्चिम की ओर—मध्यकालीन युग में दिल्ली और आगरा दो मुख्य केन्द्र थे जो प्रशासनिक केन्द्र के रूप में प्रयोग किये जाते थे और इन्हीं जगहों से उत्तर भारत के शासक अपने प्रशासन पर नियंत्रण रखते थे। आगरा और दिल्ली एक दूसरे से दूर स्थित थे, परन्तु महत्वपूर्ण केन्द्र होने के कारण दोनों के मध्य संचार व्यवस्था बने रहना आवश्यक था और मध्यकालीन भारत में एक अच्छी संचार व्यवस्था होने के कारण ही दोनों के मध्य सम्पर्क बना रहा। इसीलिए अधिकतर मार्ग इन्हीं दोनों मार्गों से शुरू होते थे और देश के विभिन्न क्षेत्रों तक जाते थे। इनमें मुख्य थे दिल्ली से उत्तर-पश्चिम की ओर जाने वाला मार्ग सरहिन्द, लाहौर, पेशावर, काबुल और बलख से होकर गुजरता था। यह मार्ग दो भागों में बँट जाता था। उनमें से एक अलग होकर दक्षिण-पश्चिम में सिन्ध के मुल्तान, भक्खर और थट्टा क्षेत्रों को जोड़ता था। लाहौर से उत्तर की ओर जाने वाला मार्ग सियालकोट से होकर गुजरता था। उसकी एक शाखा कश्मीर में श्रीनगर से होकर यारकन्द और काशगर की तरफ जाती थी। दिल्ली से बलख जाने वाले मार्ग पर काबुल एक जंक्शन में रूप में कार्य करता था। दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम की ओर दक्षिणी अफगानिस्तान के हेरात क्षेत्र में कन्धार और फराह की ओर मार्ग जाता था।

उत्तर और उत्तर-पश्चिम मार्गों में यात्रियों के विश्राम करने के लिए समुचित व्यवस्था थी। यूरोपीय यात्रियों के अनुसार इन मार्गों पर थोड़ी-थोड़ी दूर पर सराय बनी होती थी, जहाँ यात्री अपना सामान रखकर निश्चित होकर विश्राम कर सकते थे क्योंकि यहाँ सुरक्षा की भी समुचित व्यवस्था होती थी। सराय के बीच दूरी बड़े हिसाब से रखी जाती थी ताकि यात्री दिन ढलने से पहले एक सराय से दूसरी सराय में सुरक्षित पहुँच सकें। इन रास्तों में एक कठनाई और थी वे थी इन रास्तों में बड़ी-बड़ी नदियों का पड़ना। इन नदियों को यात्रियों द्वारा नावों से ही पार किया जा सकता था, क्योंकि पुलों की कोई स्थायी व्यवस्था तो थी नहीं।

2. पूर्व और पश्चिम की ओर—उत्तरी भारत के समतल मैदानी क्षेत्र में गंगा, यमुना, दोआब और पूर्व में गंगा बेसिन स्थित है। यह क्षेत्र स्थल मार्गों के दृष्टिकोण से एक महत्वपूर्ण नेटवर्क प्रदान करता है। यह नेटवर्क पूर्व में डेल्टा क्षेत्र, दिल्ली और आगरा को पूरे दोआब क्षेत्र से जोड़ता था। शेरशाह के सोनारगाँव जो ढाका के पास स्थित था, दिल्ली और पेशावर के पास अटोक के बीच

संचार नेटवर्क की पुनः स्थापना से बहुत पहले से ही देश के पूर्वी भागों के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्रों में हिंदूकुश पर्वतों तक के क्षेत्रों के साथ सम्पर्क थे। मौर्य साम्राज्य के स्थलमार्गीय सम्पर्क का अध्ययन करने से इसके स्थलमार्गीय सम्पर्कों के बारे में पता चलता है कि उनका स्थलमार्ग कितना सशक्त था। मौर्यों ने अपनी राजधानी पाटलिपुत्र और उत्तर-पश्चिम दिशा में पुरुषपुर के बीच ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में सम्पर्क बनाये रखा। मध्यकालीन युग में दिल्ली से होकर दो मार्ग पूर्व में राजमहल और कासिम बाजार तक जाते थे। ये मार्ग दोआब क्षेत्र को पार कर मुख्य रूप से गंगा के किनारे-किनारे उत्तरी और दक्षिणी दोनों तरफ से होकर जाते थे। जहाँ दक्षिणी मार्ग मथुरा, आगरा, इटावा, इस्लामाबाद, वाराणसी और पटना जैसे महत्वपूर्ण स्थानों को जोड़ता था और उत्तरी मार्ग बरेली, लखनऊ और जौनपुर होते हुए पटना की ओर जाता था और यहाँ से वह कासिम बाजार होते हुए हुगली, बालासोर, कटक और पुरी जैसे तटवर्ती इलाकों को जोड़ता था। ये सारे स्थान वस्तु निर्माण के केन्द्र थे। जॉ डेलोश ने पटना से पूर्व की ओर जाने वाले मार्गों का कुछ इस प्रकार वर्णन किया है:

“मुगल काल में पटना से गुजरने वाला राजपथ पूर्व में राजमहल को जोड़ता था। पटना इस काल में पाटलिपुत्र के दिनों की अपनी पुरानी ख्याति पुनः स्थापित कर चुका था। इसी प्रकार राजमहल भी कुछ समय के लिए 16वीं शताब्दी में बंगाल क्षेत्र की राजधानी रहा। यह मार्ग तंग परन्तु सुविधाजनक प्राकृतिक मार्ग से निकलकर मुँगेर होते हुए गंगा के दाहिने ओर से गुजरता था। डेल्टा के मुहाने पर यह दो मुख्य नदी तटों की ओर दो भागों में बँट जाता था—पूर्व में पद्मा और पश्चिम में भगीरथी-हुगली।”

पूर्वी मार्गों पर यात्रियों के लिए अच्छी सुविधाएँ उपलब्ध थीं। यात्री स्वयं भी इस बात का वर्णन करते हैं कि रास्ते में बहुत-सी सरायें थी, जहाँ रास्ते में यात्रियों को ठहरने के लिए स्थान मिलता था और उनके भोजन की व्यवस्था भी थी। महत्वपूर्ण शहरों में सरायें होती थी, जिसमें कुछ में तो गोदाम भी होता था। इसमें यात्री तथा व्यापारी अपना माल सुरक्षित ढंग से रख सकते थे। बड़ी-बड़ी नदियों को पार करने के लिए नौकाओं का सहारा लिया जाता था। क्योंकि सभी नदियों पर पुलों की व्यवस्था नहीं थी, केवल कुछ ही नदियों पर पक्के पुलों की व्यवस्था हो सकी थी। दिल्ली में यमुना को पार करने के लिए नावों का पुल बनाया गया था, जो यात्रियों को यमुना पार कराने में मदद करता था। वर्नियर ने दिल्ली शहर का वर्णन करते हुए लिखा है कि यह यमुना के तट पर बसा शहर था तथा उसके एक किनारे पर इस प्रकार बसा था कि देखने में इसकी आकृति अर्द्धचन्द्राकार जैसी लगती थी तथा इस स्थान पर नदी को पार करने के लिए केवल एक ही पुल था, जो नावों का बना हुआ था। देश के पश्चिमी क्षेत्र—राजस्थान, गुजरात, खानदेश आदि

94 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

दिल्ली और आगरा से संचार मार्गों के माध्यम से जुड़े हुए थे। सूरत या गुजरात के दूसरे बन्दरगाहों पर उतरने वाले यात्रियों का इन मार्गों पर आवागमन होता था और इसमें हर प्रकार के व्यापारी शामिल थे। दिल्ली से सूरत जाने के लिए दो भिन्न रास्ते थे—एक राजस्थान से होकर, दूसरा मालवा और खानदेश से होकर। राजस्थान से होकर जाने वाले मार्ग में नारनौल, साम्भर, अजमेर, अहमदाबाद, बड़ौदा, भड़ौच और सूरत पड़ता था। इसी मार्ग की एक और शाखा थी जो दिल्ली को आगरा से फरीदाबाद, होडल और मथुरा के रास्ते को जोड़ती थी। आगरा से यह शाखा पश्चिम की ओर मुड़कर फतेहपुर सीकरी, बयाना लालसोट और बंदर सिंदरी से होकर दिल्ली से आने वाले मार्ग से भारमुण्डा से थोड़ी दूर पूर्व में जा मिलती थी। राजस्थान से जाने वाला मार्ग मालवा और खानदेश से होकर जाने वाले मार्ग की अपेक्षा छोटा पड़ता था। परन्तु यात्रा की दृष्टि से यह थोड़ा कठिन था, क्योंकि यह राजस्थान के सूखे क्षेत्रों से होकर गुजरता था, जहाँ पानी की कमी थी। मालवा और खानदेश से होकर जाने वाला मार्ग आगरा से दक्षिण की ओर ग्वालियर, सिरोज, भीलसा होता हुआ बुरहानपुर, जो पश्चिम और दक्षिणी प्रायद्वीप की यात्रा के लिए एक महत्वपूर्ण जंक्शन था, पर पहुँचता था।

जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है दिल्ली-सूरत मार्ग जो राजस्थान से होकर जाता था, मालवा-खानदेश की अपेक्षा छोटा पड़ता था। उसका उपयोग अधिकतर वे व्यापारी करते थे, जो सूरत स्वामी बन्दरगाहों पर मानसून शुरू होने से पहले लंगर डाले अपने जहाजों का इंतजार करते थे। इस मार्ग पर सराय कम थीं जो केवल बड़े शहरों में ही थीं। कोटपुतली, ताबे और बयाना नील का प्रमुख केन्द्र था। इन वस्तुओं का व्यापार करने वाले व्यापारी अधिकतर राजस्थान मार्ग को ही चुनते थे। इस मार्ग में मही, नर्मदा और ताप्ती के अलावा नदियों का न होना भी विशेष रूप से लाभदायक था। बरसात में इसी मार्ग को अधिक पंसद किया जाता था, क्योंकि यहाँ कीचड़ वाले क्षेत्र अधिक नहीं थे।

3. दक्षिण की ओर—पूर्व और पश्चिम की ओर मार्गों में जैसा कि वर्णन किया गया है दक्षिण की ओर जाने वाले मार्गों में बुरहानपुर तक जंक्शन था। गोदावरी को पार कर दक्षिण की ओर जाते हुए बीदर से गुजरकर दक्षिण भारत की ओर जाने वाला मुख्य मार्ग हैदराबाद से जाकर जुड़ता था, जो उत्पादन और प्रशासन का महत्वपूर्ण केन्द्र था। हैदराबाद से यह पश्चिम की ओर और पूर्व की ओर दो भागों में बंट जाता था। पश्चिमी मार्ग गुलबर्गा, बीजापुर, बेलगाँव होते हुए गोवा में खत्म हो जाता था। पूर्वी मार्ग नरसापुर और मछलीपत्तनम को जोड़ता था और वहाँ से तटवर्ती क्षेत्रों से होते हुए दक्षिण में पुलीकट-मद्रास तक जाता था। पश्चिमी मार्ग मसालों के व्यापार, विशेष रूप से काली मिर्च के व्यापार के लिए उपयोग में लाया जाता था। पूर्वी मार्ग उन क्षेत्रों से होकर गुजरता था, जहाँ हीरे की खानें स्थित थीं और कपड़ा उत्पादन के केन्द्र थे।

कृष्णा और कावेरी नदी के बीच के क्षेत्रों में संचार मार्ग के सम्बन्ध में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। इस क्षेत्र के सम्बन्ध में जो जानकारी मिलती है वह जेम्स रेनेल की पुस्तक *मेमॉयर्स ऑफ ए मैप ऑफ हिन्दुस्तान ऑफ मोगुल एम्पार* और रॉबर्ट ओर्ग की पुस्तक *हिस्टोरिकल फ्रेगमेंट्स ऑफ द मोगुल एम्पायर* के आधार पर उपलब्ध हैं। जॉ डेलोश ने भी इन्हीं स्रोतों को पढ़कर उसके आधार पर ही दक्षिणी भारत की संचार व्यवस्था का वर्णन किया है, जो इस प्रकार है:

“हिन्दू साम्राज्य के पतन के बाद, प्रायद्वीप के दक्षिणी क्षेत्र में काफी लम्बे समय तक स्थिति अनिश्चित रही। स्वतंत्र राज्यों की स्थापना और मुगल तथा मराठा आक्रमणों से स्थिति और बिगड़ गई। यह स्थिति मैसूर के पठार में 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हैदर अली और टीपू सुल्तान द्वारा कावेरी नदी पर श्रीरंगपत्तनम् में एक नया राजनीतिक सत्ता केन्द्र स्थापित होने तक यथावत् बनी रही। इस अंतराल में उन मार्गों के अलावा जो हैदराबाद के अन्य डेल्टाओं की ओर जाते थे, जो कारोमण्डल के उत्तर में स्थित थे, के अतिरिक्त दक्षिण के स्थल मार्गों के बारे में हमें कोई सूचना प्राप्त नहीं होती है।”

कृष्णा और तमिल क्षेत्रों के स्थल संचार तटवर्ती मार्गों और स्थल मार्गों के बीच मिश्रित रूप से चलता था। बहुत सारे तटवर्ती बन्दरगाहों से सम्बन्धित स्थल मार्ग को लैगून और चौड़ी गहरी नदियाँ काटती थीं जिससे नावों की आवश्यकता थी। अन्तर्देशीय मार्ग गुंटूर, बंगोलू और नेल्लूरु से होकर जाता था, लेकिन पालवरकतु झील के अंचल को छोड़कर यह स्थल मार्ग विशेष रूप से बीच के तटवर्ती इलाकों से गुजरते हुए वर्तमान मार्ग के पूर्व की ओर ही जाता है।

डेलोश दक्षिण भारत के अन्य इलाकों का भी वर्णन करते हैं, जो इस प्रकार है:

“जहाँ तक प्रायद्वीप के अन्य क्षेत्र का सवाल है, तो उसके सम्बन्ध में जानकारी ओर्ग और रेनेल के मानचित्रों से मिलती है। जिन्होंने अपने मानचित्रों का आधार मुख्य रूप से फ्रेंच और अंग्रेजों की लड़ाई के दौरान सेना के यातायात मार्ग को तथा मैसूर अभियानों एवं इंजीनियरों की उन क्षेत्रों से सम्बन्धी रिपोर्टों को जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधीन हो गये थे, को बनाया।”

रेनेल का बनाया हुआ मानचित्र मुख्य मार्गों को चित्रित करता है जो श्री रंगपत्तनम से निकलकर पश्चिमी घाटों की ओर जाते हैं, फिर उत्तर में रायचूर दोआब की ओर। फिर दक्षिण के सुल्तान और विजयनगर के राजाओं के बीच प्राचीन आभियानों में प्रयुक्त मार्ग और अन्त में वह मार्ग जो दक्षिणी-पूर्व तमिल क्षेत्र की ओर जाता है। पठार की पूर्वी सीमा पर जहाँ पालारू, पेनाइयारू और कावेरी नदियाँ काटती हैं, वह मार्ग अधिक प्रयुक्त होता था, क्योंकि युद्धों में यह मार्ग सैनिक अभियानों में महत्वपूर्ण भूमिका के लिए जाना जाता था।

ये मार्ग और उन्हें जोड़ने वाली प्रशाखाओं से जो नेटवर्क बना हुआ था, वह प्राचीन मार्गों के अनुरूप ही था और आज के मार्ग से केवल छोटे खण्डों में ही भिन्न था। यह एक लम्बे शहरी सन्तुलन को इंगित करता है।

संचार के आधार

मध्यकाल में संचार व्यवस्था को सुविधा की आवश्यकता थी, जिसके सहारे यात्री अपनी यात्रा की कठिनाइयों पर विजय पा सकते थे। मध्यकालीन युग में यात्रा करने वाले यात्रियों की कठिनाइयों में रास्ते के जोखिम व राह में देर होने पर सुरक्षित स्थान पर रुकना दो ही कठिनाइयाँ मुख्य होती थीं। यात्री हमेशा चाहते थे कि उनकी यात्रा रास्ते में विघ्नरहित हो और उन्हें रुकने के लिए सुरक्षित स्थान मिले, लेकिन सुविधाओं की प्रकृति इस बात पर निर्भर करती थी कि विभिन्न मार्गों पर यातायात व यात्रियों का आवागमन कितना है। इस दृष्टिकोण से देखा जाये तो यह बात सामने आती है कि जो मार्ग जितने अधिक चलते थे अर्थात् जिन मार्गों पर यात्रियों का आवागमन अधिक होता था, उन मार्गों पर यात्रियों के लिए सुविधाएँ अधिक होती थीं और अन्य मार्गों की अपेक्षा बेहतर होती थी। जिन मार्गों पर यात्रियों का आवागमन कम होता था, वहाँ सुविधाएँ कम होती थीं। संचार माध्यम में अन्य सहायक सुविधाएँ भी थीं, जो निम्न प्रकार थीं:

1. सड़कें
2. पुल
3. सराय और विश्राम सम्बन्धी अन्य सुविधाएँ।

ऊपर वर्णित सुविधाएँ संचार में सहायक थीं। इन पर हम एक-एक करके चर्चा करेंगे और इनके महत्व को समझेंगे, क्योंकि ये बुनियादी सुविधाएँ थीं। इन सुविधाओं के बिना कोई भी संचार सुचारु रूप से नहीं चल सकता था। मध्यकाल में ये सुविधाएँ कितनी बेहतर थीं व यात्रियों को इन सुविधाओं से कितना लाभ होता था, यह हम नीचे दिये जा रहे वर्णन से ही समझ पायेंगे:

1. सड़कें—सड़कों के सम्बन्ध में जानने के लिए हम उस समय यात्रियों द्वारा किये गये सड़कों के वर्णन से ही पता लगा पाते हैं। उस समय यात्रियों ने सड़कों का जो वर्णन किया है, उससे पता चलता है कि उस समय सड़कें कैसी थीं, वे यात्रा करने लायक थीं या नहीं, आदि। मध्यकाल में आने वाले विदेशी यात्रियों ने भी उस समय की सड़कों का वर्णन किया है। उनके वर्णन से हमें पता चलता है कि अधिकतर रास्ते मिट्टी को कूट कर बनाये जाते थे। उन्हें और बेहतर बनाने के लिए कुछ खास नहीं किया जाता था। डेलोश ने भी इन मार्गों का निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया है:

“30 से 50 फुट की चौड़ाई का गलियारा जंगल साफ करने के बाद उसमें जिस हिस्से तक सड़क बनानी होती थी, उसके दोनों तरफ छोटी-छोटी खाई खोदते थे। उसके ऊपर को समतल

करके गड़ों को चिकनी मिट्टी, गाद, रेत, छोटे पत्थर या बजरी जो भी उस क्षेत्र में मिलते थे, उससे इस तरह भरा जाता था कि वह बीच में थोड़ा-सा ऊँचा हो जाता था और उसमें पानी नहीं रुकता था।

ये प्राकृतिक पगडंडियाँ उस ग्रामीण समाज के लिए बेहतर थीं, जो अपने साधनों के भीतर इन्हें बनाये रखते थे अर्थात् उस समय उनके जो साधन थे, वे इसी के माध्यम से इनकी देखभाल व सुरक्षा कर सकते थे। इस प्रकार भारत में काफी बड़े हिस्सों में संचार परिवहन के लिए छोटे-मोटे सुधार और क्षेत्र को समतल बनाने का काम चल जाता था। स्थानीय और क्षेत्रीय मार्ग भी अधिकतर इसी तरह के होते थे।”

मध्यकाल में संचार में प्राकृतिक व्यवहार्यता एक महत्वपूर्ण कारक थी अर्थात् प्राकृतिक संसाधनों की संचार में महत्वपूर्ण भूमिका थी और मध्यकालीन सड़कों के बारे में एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह थी कि पक्की सड़कें कम थीं, जो रोड़ी डालकर बनायी जाती थीं। ये मुख्य शहरों तक ही होती थीं जिसमें आगरा और दिल्ली महत्वपूर्ण थे।

अतः हम यह कह सकते हैं कि मध्यकाल में सड़कें ज्यादा उपयोगी नहीं थीं। वे संचार में अधिक सहायक नहीं होती थीं। फिर भी यात्रियों के लिए एक मार्ग का काम तो करती ही थीं और यात्रियों को उनके गंतव्य तक पहुँचाने में सहायक थीं।

2. पुल—यदि पुल की परिभाषा दी जाए, तो साधारण से शब्दों में पुल उसे कहेंगे जो नदी, दलदल, ढाल आदि को पैदल या पहिये वाले यातायात द्वारा पार करने में सहायता करे। यदि सबसे पहले पुल की कल्पना की जाये, तो यह कोई चपटा पत्थर या पेड़ का तना होगा, जिसको नदी या नाले पार करने के लिए इस्तेमाल किया गया होगा। प्राचीन काल में तीन प्रकार के पुल मिलते हैं:

1. शहतीर पुल
2. झूलेनुमा पुल
3. मेहराब पुल

पुलों के ये तीनों प्रकार अलग-अलग या एक साथ मिलकर पुल बनाये गये होंगे। शहतीर पुलों में सबसे सरल आकार के पुल कड़ी पुल एक विस्तार प्राप्त था, जिसमें अक्सर दो या अधिक खम्भों को एक के उपर एक रखकर जोड़ा जाता था, जिसे और अधिक लम्बा किया जा सकता था।

झूलेनुमा पुल तंग घाटियों को पार करने के लिए प्रयोग किया जाता था। इसे एक रस्से या ऐसी ही किसी चीज से दोनों किनारों पर पेड़ के तनों के साथ बांध दिया जाता था।

मेहराब पुल में ईंट या पत्थर को जिप्सम या अच्छे चूने मसाले से जोड़कर अर्द्धगोलाकार आकार दिया जाता था।

प्राचीन भारत में ही कई तरह के शहतीर और झूलेनुमा पुलों का प्रचलन था, परन्तु मेहराब पुलों का प्रचलन तुर्की विजय के

96 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

बाद ही शुरू हुआ। इसमें सबसे पुराना पुल जो अलाउद्दीन द्वारा बनाया गया था, वह गम्भीर नदी पर बना हुआ है। समय के साथ-साथ पुल भी श्रेणीगत होते गये। वे इस बात पर निर्भर करते थे कि उनको बनाने के लिए कौन-सी सामग्री उपलब्ध है न कि कौन-सी कारीगरी। विभिन्न प्रकार की सामग्री जो भी उस क्षेत्र में उपलब्ध होती थी, का प्रयोग करके उस क्षेत्र में पुल बनाये जाते थे। इस प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की सामग्रियों से पुल बनाये जाते थे। वे उसी क्षेत्र विशेष या भौगोलिक संरचना की विशेषता बन जाती थी। प्रायः पुल पहाड़ी क्षेत्रों में बनाये जाते थे; जैसे-कश्मीर आदि। क्योंकि ये लकड़ी के बने होते थे, जो उन क्षेत्रों में अधिक मिलती थी। नौका पुल मैदानी क्षेत्रों में तत्काल साधन के रूप में नदी पार करने के लिए बनाये जाते थे। पक्के पुलों में मेहराब पुल आते थे। 13वीं सदी के अधिकतर पक्के पुल मेहराब वाले होते थे। अतः मध्यकाल में पुल क्षेत्रों के हिसाब से बनाये जाते थे। जहाँ जिस प्रकार की सामग्री उपलब्ध थी, उसी को लेकर वहाँ पुल बनाये जाते थे। ऐसा नहीं है कि सारे क्षेत्रों में एक ही प्रकार के पुल बनाये जाते थे।

पक्के पुलों का प्रयोग तुर्की विजय के बाद ही देखने को मिलता है। 13वीं शताब्दी में प्रचलन में आये मेहराब के पुलों से जगह का चुनाव और सामग्री का उपयोग कारीगरों के लिए सम्भव हुआ। फिर भी दिल्ली सल्तनत के समय तक पुलों का निर्माण कम ही हो पाया। ऐसा किस कारण हुआ, इसका सही कारण तो नहीं पता चल पाता है, परन्तु फिर भी इस तकनीक को प्रोत्साहित करने वाले कारणों के अभाव में इनका विकास नहीं हो पाया। इसके पीछे कुछ आर्थिक कारण भी रहे होंगे।

पुल निर्माण की दिशा में 16वीं शताब्दी में एक परिवर्तन आया। इस समय स्थल मार्गों पर मनुष्यों और माल यातायात काफी बढ़ गया था। पैदल यात्रियों के अलावा भार ढोने वाले पशुओं का उपयोग भी बढ़ा। चूँकि मुगल साम्राज्य के दो महत्त्वपूर्ण शहरों आगरा और दिल्ली को ज्यादातर स्थान या विभिन्न क्षेत्र स्थल मार्गों द्वारा ही जोड़ते थे। इन मार्गों पर यात्रियों की सुविधा के लिए पुल बनाये गये और पहले से बने पुलों का पुनः निर्माण किया गया।

यातायात अधिक था फिर भी नदियों पर पक्के पुल बनाये गये। साधारण यात्री इन नदियों को नावों से पार करते थे। कई नदियों पर नाव हमेशा रहती थी, जो नये यात्रियों को नदी पार कराने में सहायता करती थी। अक्सर साधारण यात्री ऐसी जगह से नदी पार करते थे जहाँ से नदी पार करना आसान होता था अर्थात् जहाँ पानी कम हो या नदी की चौड़ाई अपेक्षाकृत कम हो। सेना उतारने के लिए पैटून पुल (Pontoon Bridge) का प्रयोग किया जाता था। ये पुल स्थायी नहीं होते थे और तत्काल प्रयोग के लिए बनाये जाते थे तथा अस्थायी होते थे और इन पुलों को आवश्यकता

पूरी होने के बाद हटा दिया जाता था। उस समय के वर्णनों से पता चलता है कि कुछ नदियों पर नौका पुल भी बनाये जाते थे, जो बड़ी नदियों के दोनों किनारों पर बसे हुए शहरों को जोड़ने के उद्देश्य से बनाये जाते थे। अधिकतर पहाड़ी क्षेत्रों में लकड़ी के पुल भी बनाये जाते थे।

भारत में प्राचीन काल से ही पुलों का प्रचलन था। परन्तु तुर्की विजय के बाद पक्के पुल बनाये जाने लगे। फिर भी इनका दिल्ली सल्तनत तक अधिक प्रयोग नहीं हो सका। ये भी अधिक संख्या में नहीं बनाये जा सके, परन्तु मुगल काल में यात्रियों की संख्या को देखते हुए पुलों का निर्माण होना शुरू हुआ और इसमें सभी प्रकार के पुल बनाये जाते थे, चाहे वे क्षेत्र की विशेषता के हिसाब से ही क्यों न बनाये गये हों।

3. सराय और विश्राम सम्बन्धी अन्य सुविधाएँ—मध्यकाल में यात्री जब यात्रा करते थे, तो उन्हें अपनी यात्रा पूरी करने में काफी समय लगता था। यात्रा करते समय उन्हें रात को व विश्राम के लिए रुकना पड़ता था क्योंकि उस समय यात्रा के लिए आज जैसे साधन उपलब्ध नहीं थे अर्थात् ये यात्री विश्राम करने के लिए या रात्रि बिताने के लिए जिस स्थान पर रुकते थे, उसे सराय कहते थे। चूँकि रास्ते में मुश्किलें व जोखिम थे। व्यापारियों-यात्रियों को ठहराने के लिए जगह की आवश्यकता होती थी। ये यात्री सरायों का प्रयोग करते थे। मुख्य मार्ग पर जो सराय बनी होती थीं, वे यात्रियों और उनके जानवरों के लिए स्थान, रहने के लिए व खाने-पीने की सुविधा भी उपलब्ध कराती थी। सरायें अधिकतर समकोणीय अहाते वाली होती थीं। जहाँ एक बड़े प्रवेश द्वार से अन्दर जाकर अन्दर दीवार के साथ छोटे-छोटे कमरे होते थे। ऐसा कहा जाता है कि 13वीं शताब्दी में भारत में पहली बार सराय तुर्कों द्वारा बनवायी गयी। भारत में ईसाई धर्म के आगमन से पहले ही यात्रियों को ठहराने व मार्ग में उनकी सुरक्षा के लिए स्थान उपलब्ध कराये जाते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में प्रशासन द्वारा यात्रियों की सुविधा के लिए विश्रामगृहों का निर्माण एक पुण्य कार्य माना जाता था। अशोक के काल में तो प्रमुख मार्गों पर विश्रामगृह निर्मित किये जाने के ठोस प्रमाण मिलते हैं। यह प्रमाण हमें अशोक के सातवें स्तम्भ लेख पर खुदी राजाज्ञा से मिलता है।

सराय एक संस्था के रूप में कार्य करती थी जो तुर्कों की देन थी। परन्तु इन सरायों में भारतीय समाज के अनुसार बदलाव जरूर आये होंगे। 13वीं शताब्दी तक दिल्ली सल्तनत में बड़ी सरायें बनने लगी थीं, परन्तु ये मुख्य शहरों के बाहर प्रमुख मार्गों पर ही बनायी जाती थीं। सराय के निर्माण में शेरशाह का योगदान निश्चित रूप से उल्लेखनीय रहा। उसने मार्ग में थोड़ी-थोड़ी दूरी पर सरायों का

निर्माण कराया और उसके द्वारा निर्मित की गई सरायों का वर्णन उसके समय के इतिहासकारों ने भी प्रशंसनीय रूप में किया है। यूरोपीय यात्रियों और फारसी इतिहासकारों ने भी इन सरायों का वर्णन किया है। ये वर्णन करते हैं कि मध्यकाल में सरायों का जाल-सा बिछा हुआ था, जो शहरों, कस्बों और मुख्य मार्गों पर स्थापित होती थीं। अबुल फजल ने 'अकबरनामा' में लिखा है कि 1578 में कारीगरों को आदेश दिया गया कि वे राजधानी में शहर के अलग-अलग हिस्सों में सराय बनायें और उनकी देखभाल के लिए उन्हें दयालु और उदार व्यक्तियों को दें, जिससे गरीब और जरूरतमंद लोगों को रहने की जगह के लिए इंतजार न करना पड़े। इस आदेश का विशेष प्रभाव पड़ा। अंग्रेज यात्रियों ने भी इन सरायों का प्रभावी रूप से वर्णन किया है। जॉन जार्डिन ने लिखा है कि इस शहर में कई अच्छी सरायें थीं, जहाँ यात्री मुफ्त या कम पैसे में रह सकते थे। इसी प्रकार के यात्रा वृत्तांत अन्य शहरों के सम्बन्ध में भी उपलब्ध हैं।

मुगल भारत में सराय जैसी दूसरी संस्थाएँ भी थीं। उनमें से जैनियों की धर्मशाला या पोसल कहा जाता था। जैन व्यापारी धर्मशाला या पोसल को शहरों में अपनी बिरादरी के लोगों के रहने के लिए और पूजा करने के लिए बनवाते थे। धर्मशाला या पोसल संरचना में सराय जैसी ही होती थीं, परन्तु उनमें कुछ भिन्नताएँ भी होती थीं, जो सराय और धर्मशाला के भेद करती थीं। ये अंतर निम्नलिखित थे:

1. धर्मशाला या पोसल अधिकतर शहरों में होती थीं, परन्तु सराय मार्गों और शहर दोनों जगह होती थीं।
2. सराय सबके लिए होती थीं। इसमें यात्री रुक सकते थे, जबकि धर्मशाला या पोसल केवल जैन बिरादरियों के लिए ही होती थी।
3. धर्मशाला या पोसल जैन समुदाय की धार्मिक संस्थाओं का अंग होती थीं, जबकि सराय धार्मिक नहीं होती थीं। इनका उद्देश्य सभी यात्रियों को रहने व खाने-पीने की सुविधा उपलब्ध कराना था।

यदि दक्षिण भारत में सरायों के सम्बन्ध में देखा जाये, तो यहाँ भी सरायों जैसी संस्था का वर्णन मिलता है। वह कोल्ट्री कहलाती थी, जो यात्रियों की सुविधा के लिए ही बनायी जाती थी। यह तीन तरफ से घिरा होता था और सामने से खुला होता था, जहाँ दीवार की जगह स्तम्भ छत को आधार प्रदान करते थे। कोल्ट्री में ठहरने और खाना पकाने की सुविधा होती थी। दक्षिणी भारत में मौसम को देखते हुए अलग-अलग कमरे नहीं बनाये जाते थे। भारत में सरायों को यात्रियों की सुविधा के लिए बनाया जाता था, जो उस समय की संचार सुविधाओं में शामिल था और इससे यात्रियों को काफी फायदा मिलता था और वे अपनी यात्रा में सुरक्षा और विश्राम दोनों पा जाते थे।

डाक संचार—समाचारों, सरकारी और गैर-सरकारी कागजों और पत्रों के लिए एक संगठित संचार व्यवस्था की आवश्यकता थी। इसीलिए डाक संचार की स्थापना की गई। मध्यकालीन युग के प्रारम्भिक वर्षों की संचार व्यवस्था के बारे में अपर्याप्त सूचना उपलब्ध है। मुगलकाल के स्रोतों के विस्तृत वर्णन से हमें पहले की डाक संचार व्यवस्था के बारे में जानकारी मिलती है। इरफान हबीब ने मध्यकालीन डाक व्यवस्था पर पर्याप्त रूप से प्रकाश डाला है। उन्होंने मध्यकालीन डाक व्यवस्था का जो वर्णन किया है, उसका संक्षिप्त रूप यहाँ दिया जा रहा है।

17वीं शताब्दी में साम्राज्य का एक अधिकारी दरोगा-ए-डाक-ए-कुल-मुमालिक-ए-महरूमा कहलाता था। वह साम्राज्य की पूरी डाक व्यवस्था का अधीक्षक होता था। उसकी सिफारिश पर प्रांतों में दरोगा-ए-डाक नियुक्त किये जाते थे, जो बाद में सबानिह-निगार का पद संभालने लगे। दरोगा-ए-डाक का अधिकारक्षेत्र सूबे की सीमा से अलग भी हो सकता था। सरकारी डाक संस्था का नाम डाक चौकी था। हर चौकी पर धावक के अलावा दो घोड़े होते थे। हैमिल्टन के अनुसार ये चौकियाँ मुख्य मार्गों पर हर 10 मील की दूरी पर कारवाँ सरायों में स्थित होती थीं। सरकारी डाक देने वाले पैदल धावक मिओरा कहलाते थे।

फौजदार, थानेदार, जमींदार हर चौकी पर एक चौकीदार रखते थे, जिससे नलवा (सरकारी डाक) आते ही बिना एक मिनट की देरी किये धावक को दे दी जाये। इसका मतलब है कि हर चौकी पर कम से कम दो मेउरा रखे जाते थे, क्योंकि उनका चौबीस घंटे वहाँ रहना आवश्यक था। मेउरा को उसके पेशे के अनुरूप जल्दी भागने के लिए विशेष शिक्षा दी जाती थी। मेउराओं को शाही गुर्जरदारों (वह अधिकारी जो अत्यन्त आवश्यक आदेश ले जाते थे) के साथ भी रहना पड़ता था और इनको अहदियों के साथ भी जाना पड़ता था, जो शाही आदेश या तोहफे ले जाते थे या फौजदार, जमींदार या थानेदार द्वारा मुहैया कराये हुए चौकीदारों को अपने अधिकारक्षेत्र में नियुक्त करने जाते थे।

आइन-ए-अकबरी में मेउरा के वेतन का वर्णन किया गया है। सरकारी कागजात और संदेशों को पहुँचाने का दूसरा साधन घुड़सवार संदेशवाहक थे।

सरकारी डाक सेवाएँ केवल सरकारी कागज और पत्राचार के लिए ही उपलब्ध थीं। मेउरा द्वारा गैर-सरकारी पत्र ले जाने की भी प्रवृत्ति थी, परन्तु 1683 में जारी किये गये एक दस्तक द्वारा इस पर रोक लगा दी गयी।

जी.एन. क्लार्क ने मुगलकालीन डाक व्यवस्था के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—17वीं शताब्दी के यूरोप में एक परिवर्तन जो क्रान्तिकारी कहा जा सकता है, वह था सबके लिए सरकारी डाक सेवा की उपलब्धि। व्यक्तिगत संचार के साधन गति, नियमितता

98 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

और सुरक्षा में सरकारी रिले-प्रथा की बराबरी कभी नहीं कर सकते थे।

परिवहन

मध्यकालीन परिवहन व्यवस्था में जानवरों की भूमिका महत्वपूर्ण थी और मध्यकालीन परिवहन जानवरों द्वारा खींची जाने वाली गाड़ियों पर निर्भर था। इसके अतिरिक्त तीव्र गति से यात्रा के लिए यात्री व्यक्तिगत और समूह में चलने वाले यात्री अक्सर घोड़ों का प्रयोग करते थे। ऐसी स्थिति में वे अपने साथ ज्यादा सामान नहीं ले जा सकते थे। मध्यकालीन भारत में सामान ढोने के लिए आदमी और पशु दोनों का प्रयोग किया जाता था। नीचे दिये जा रहे बिन्दुओं से हम मध्यकालीन परिवहन के सम्बन्ध में जानेंगे:

1. पहिये वाले परिवहन
2. पल्लेदारी

1. पहिये वाले परिवहन—परिवहन में पहिये वाले परिवहन विशेष रूप से पहिये वाली गाड़ियों का ज्यादा प्रचलन था। इनका उपयोग अधिकतर माल ढोने के लिये किया जाता था। मुगलकालीन यात्रा वृत्तांतों के वर्णनों से हमें उस समय के परिवहन के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है। यात्रियों के वर्णन से यात्रियों के समूह कि वह कितना बड़ा है और उसमें कितनी गाड़ियाँ प्रयोग की जा रही हैं, के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है। इन गाड़ियों का प्रयोग माल ढोने के साथ-साथ बच्चों, औरतों, बीमार व कमजोर लोगों के लिए परिवहन उपलब्ध कराने के लिए भी किया जाता था।

जॉ डेलोश ने मध्यकाल में प्रयोग की जाने वाली पहियों वाली गाड़ियों के सम्बन्ध में शोध करके लिखा। उसका वर्णन हम निम्न प्रकार कर सकते हैं:

“उस समय मुख्य रूप से दो प्रकार की गाड़ियाँ प्रयोग में लायी जाती थीं—यात्रियों के परिवहन के लिए दूसरी माल ढोने के लिए। पहली प्रकार की गाड़ी जिसका उपयोग यात्रियों के परिवहन के लिए किया जाता था, उसे बैल खींचते थे। कभी-कभी इन्हें घोड़े भी खींचते थे। इन पर एक बैठने के लिए सीट के सहारे रखी गई पालकी होती थी, जिसकी सजावट यात्री की सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुसार की जाती थी, जिसमें एक या उससे अधिक यात्री बैठ सकते थे। पश्चिम भारत में अच्छी नस्ल के बैलों द्वारा जो अच्छी गति से चलते थे, के द्वारा एक दिन में लगभग 50 कि. मी की दूरी तय की जा सकती थी। पूर्वी बिहार में जहाँ बैल उतने सक्षम नहीं होते थे, उनके द्वारा एक दिन में 20 से 30 कि.मी. तक की यात्रा की जा सकती थी।

ज्यादा मजबूत गाड़ियाँ जिनमें तिलियों वाले पहिये लगे होते थे, उनको माल ढोने के लिए प्रयोग में लाया जाता था। ये गाड़ियाँ 600 किलो से ज्यादा भार नहीं उठाती थीं। एक दिन में एक गाड़ी

कम ही दूरी तय कर पाती थी, औसतन 20 कि.मी., परन्तु यह भारवाहक पशुओं की गति की तुलना में श्रेष्ठ थी।”

डेलोश के वर्णन से हमें मध्यकालीन परिवहन में प्रयोग होने वाली गाड़ियों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। जैसा कि उपर्युक्त वर्णन किया गया है इसमें किस प्रकार की गाड़ियाँ थीं, उनकी गति सीमा आदि के बारे में बताया गया है, जो मध्यकालीन परिवहन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थीं।

2. पल्लेदारी—मध्यकालीन भारत में पल्लेदार के रूप में मनुष्य व पशु दोनों का प्रयोग किया जाता था। ये भारत के विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न मात्रा में उपलब्ध थे। भिन्न-भिन्न प्रकार की नस्लों के पशुओं का इसमें प्रयोग किया जाता था। प्रयोग करने से पहले उन्हें प्रशिक्षित किया जाता था। इनकी भार ढोने की क्षमता गति और वे कितनी दूरी एक दिन में तय कर सकते थे, के आधार पर श्रेणीबद्ध करके प्रयोग किया जाता था। इसी श्रेणी में अलग-अलग पशुओं की अलग-अलग श्रेणी बनायी जाती थी, जो तेज गति से चलते थे व अधिक माल ले जा सकते थे, उनको ऊपरी श्रेणी में रखा जाता था जैसे घोड़े व खच्चर। दूसरी श्रेणी में बैल व भैंसें आते थे, क्योंकि ये पशु भार तो अधिक ले जा सकते थे, परन्तु इनकी गति धीमी होती थी। इनको लम्बी दूरी के लिए व अधिक सामान ले जाने के लिए प्रयोग किया जाता था। ऊँटों व हाथियों का प्रयोग भी माल ढोने के लिए किया जाता था। ऊँटों का रेगिस्तानी इलाकों में ज्यादा प्रयोग किया जाता था व हाथियों का प्रयोग ज्यादा भारी सामान को कम दूरी तक ले जाने के लिए किया जाता था।

जब कम दूरी तक सामान पहुँचाना हो या व्यक्ति को यात्रा करनी हो, तो पालकी या डोली का प्रयोग किया जाता था, जिसे मनुष्यों द्वारा उठाया जाता था व एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाया जाता था।

साधारणतः माल ढोने के दो तरीके थे। मनुष्यों द्वारा जब माल एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता था तो वे कपड़े या सूखी घास का गोल गोला-सा बनाकर उसे अपने सिर पर रखते थे। उसके दोनों सिरों पर दो टोकरे लकड़ी के सहारे लटकाकर टांगे जाते थे। उसमें सामान रखकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाते थे। इन तरीकों का प्रयोग क्षेत्र के हिसाब से बदलता रहता था व सामाजिक समूहों के आधार भी इन तरीकों में बदलाव होते रहते थे।

डोली का प्रचलन भी काफी व्यापक था। डोली दो प्रकार की होती थी जैसा कि डेलोश ने वर्णन किया है। एक वह जिसमें बांस के डण्डों में पालकी लटकायी जाती थी, जिसकी सजावट व आराम की मात्रा उसमें चलने वाले व्यक्ति के सामाजिक स्तर पर निर्भर करती थी। दूसरी दो समान्तर डण्डों पर लटकायी जाती थी।

पदों से ढकी रहती थी जिसमें राजा, रानी या हरम की औरतें यात्रा करती थीं या इन्हीं में मन्दिर की मूर्तियों का जलूस भी निकाला जाता था।

सारांश

संचार व्यवस्था राज्य के लिए इसलिए अत्यन्त आवश्यक होती है, क्योंकि राज्य की आर्थिक प्रगति, प्रभावशाली प्रशासन आदि के लिए एक सुचारु व सशक्त प्रशासन की आवश्यकता होती है। परिवहन और संचार व्यवस्था के विकास के कारण ही व्यापार और वाणिज्य को प्रोत्साहन मिला। भारत में सभी क्षेत्र संचार मार्गों से जुड़े हुए थे और यात्रियों की सुविधाओं का विकास भी हुआ। विश्रामगृह, पुलों आदि का विकास किया गया जिनके माध्यम से परिवहन सरल व सुचारु बना। परिवहन के लिए पहिये वाली गाड़ियों, मनुष्यों, बैलों, ऊँटों, हाथियों आदि का प्रयोग किया गया। पुल भी क्षेत्रों में उपलब्ध सुविधा के अनुसार बनाये गये। परिवहन के लिए उतना विकास तो मध्यकाल में नहीं हो पाया, परन्तु फिर भी इसको विकसित करने के लिए उपाय जरूर किये गये। यात्रियों के रास्ते की जोखिम को कम करने व उनके विश्राम के लिए सराय आदि बनायी गयीं।

मध्यकाल में संचार व्यवस्था में डाक-व्यवस्था का विकास भी हुआ और डाक व्यवस्था के द्वारा राज्य को भिन्न क्षेत्रों से सूचनाएँ मिलने लगीं।

प्रश्न-अभ्यास

प्रश्न 1. मध्यकाल में उत्तरी भारत की संचार व्यवस्था पर एक विस्तृत नोट लिखिए।

उत्तर-मध्यकालीन उत्तरी भारत की संचार व्यवस्था का वर्णन हम इसके संचार मार्गों के माध्यम से जान सकते हैं। ये संचार मार्ग संचार व्यवस्था में कितने सहायक थे और इनके द्वारा कौन-कौन से क्षेत्र जुड़ते थे, का वर्णन करने पर ही हमें यहाँ की संचार व्यवस्था के सम्बन्ध में सही जानकारी मिल पाती है।

भारत में प्राचीन काल से ही संचार मार्गों का अस्तित्व रहा है। हिमालय के नीचे कई ऐसे दर्रे हैं जिन पर यातायात लगातार रहा है। इस प्रकार भारत के आन्तरिक भूमिखण्डों ने समस्त उप-महाद्वीप में सभी मार्गों पर संचार को अनवरत बनाये रखा, परन्तु इनमें से कुछ मार्ग दूसरों की अपेक्षा ज्यादा लोकप्रिय रहे।

भारतीय इतिहास के मध्यकाल को देखने से महत्वपूर्ण आर्थिक विकास नजर आता है, जिसके परिणामस्वरूप संचार व्यवस्था को विशेष प्रेरणा मिली। नये संचार मार्ग बनाये गये। पुराने संचार मार्गों में यातायात में वृद्धि हुई।

मध्यकालीन युग में आगरा और दिल्ली दोनों प्रशासनिक केन्द्र थे, जहाँ से उत्तर भारत के शासक अपने प्रशासन पर नियंत्रण रख

सकते थे। एक अच्छी संचार व्यवस्था के लिए आवश्यक था कि दिल्ली और आगरा का दूसरे क्षेत्रों से सम्पर्क बना रहे। इसीलिए अधिकतर स्थल मार्ग दिल्ली और आगरा से प्रारम्भ होकर भारतीय उपमहाद्वीप के भिन्न दिशाओं में जाते थे। दिल्ली से उत्तर-पश्चिम की ओर जाने वाला मार्ग सरहिन्द, लाहौर, पेशावर, काबुल और बल्ख से होकर गुजरता था। उत्तर और उत्तर-पश्चिमी मार्गों पर यात्रियों को विश्राम करने की सारी सुविधाएँ उपलब्ध थीं। इन मार्गों पर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर सरायें बनवायी गयी थीं जहाँ यात्री रुककर विश्राम करते थे और फिर अपनी यात्रा शुरू करते थे। सरायों के बीच दूरी का खास ध्यान रखा जाता था। इन सरायों के बीच आपस में इतनी दूरी रखी जाती थी कि यात्री एक स्थान से दूसरे स्थान तक दिन ढलने से पहले पहुँच जाये।

उत्तरी भारत का समतल मैदानी क्षेत्र गंगा-यमुना दोआब और पूर्व में गंगा बेसिन में स्थित है। यह क्षेत्र भी स्थल मार्गों का एक अच्छा नेटवर्क प्रदान करता था जिससे संचार व्यवस्था को सुचारु रूप से चले रहने में सहारा मिलता था। यह दिल्ली और आगरा को पूरे दोआब क्षेत्र से जोड़ता था जो पूर्व में डेल्टा क्षेत्र तक विस्तृत था। शेरशाह ने सोनार गाँव से दिल्ली और अटोक के बीच संचार नेटवर्क की पुनः स्थापना से बहुत पहले से ही देश के पूर्वी भागों के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्रों में हिन्दूकुश पर्वतों तक के क्षेत्रों के साथ सम्पर्क स्थापित किया।

संचार व्यवस्था को समझने के लिए संचार में प्रयुक्त होने वाली आधारभूत चीजों के विषय में जानना जरूरी है, क्योंकि ये आधारभूत चीजें संचार व्यवस्था को चलाने के लिए अत्यन्त आवश्यक होती हैं और किसी भी संचार व्यवस्था को सफल या असफल बनाने के लिए जिम्मेदार होती हैं। मध्यकालीन संचार व्यवस्था को सुविधाओं की आवश्यकता थी, जिनके सहारे यात्री अपनी यात्रा के दौरान आने वाली मुश्किलों से निजात पाते थे।

मध्यकालीन युग में यात्री जिन परिस्थितियों में यात्रा करते थे, उसमें जोखिम बना रहता था। क्योंकि रास्ते दुर्गम और उबड़-खाबड़ होने के साथ-साथ मार्गों पर चोर व डाकुओं का भय बना रहता था। यात्रियों को अपने लूटे जाने का भय रहता था। इसी के लिए शासकों ने सराय बनवायी, जहाँ यात्री रुककर अपना सामान रखकर विश्राम करते थे और रात भी गुजारते थे। फिर अपनी यात्रा शुरू करते थे।

संचार व्यवस्था में सबसे महत्वपूर्ण होती हैं सड़कें। सड़कें अच्छी होंगी, तो यातायात बढ़ेगा और व्यापारियों आदि को अपना सामान लाने-ले जाने में सुविधा होगी। मध्यकालीन सड़कों के सम्बन्ध में जानकारी यात्रियों द्वारा किये गये यात्रा-वृत्तांत से ही मिलती है मध्यकालीन सड़कें पगडंडियों की तरह होती थीं और मात्र मिट्टी कूटकर इन्हें बनाया जाता था। ऊपरी सतह को और

100 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

अच्छा बनाने के लिए कुछ खास नहीं किया जाता था। कुछ सड़कों पर रोड़ी डालकर भी बनाया जाता था, जो केवल मुख्य शहरों तक ही होती थीं।

मध्यकाल में पुल भी संचार व्यवस्था में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका रखते थे। उस समय में पुल ज्यादा कारगर तो नहीं थे और ये क्षेत्र में उपलब्ध सुविधा के अनुसार बनाये जाते थे न कि सब जगह एक ही प्रकार के पुल बनाये जाते थे। कई प्रकार के पुल बनाये जाते थे, जो जगह व उपलब्ध सामग्री के आधार पर बनाये जाते थे।

मध्यकाल के प्रारंभिक वर्षों में देखें, तो हम जान पाते हैं कि जैसे-जैसे मुद्रा व्यवस्था का विकास होता गया, इसने संचार व्यवस्था को विकसित करने में सहायता की। धीरे-धीरे जैसे-जैसे मुद्रा अर्थव्यवस्था की रूपरेखा स्पष्ट होती गयी संचार और परिवहन में और विशेषताएँ स्पष्ट नजर आने लगीं। मध्यकालीन भारत में तटवर्ती इलाकों में बन्दरगाह के मध्य के तटीय संचार को छोड़कर संचार व्यवस्था मूल रूप से भूमि पर आधारित विभिन्न स्थानों और क्षेत्रों से गुजरते संचार नेटवर्क मार्ग एक ऐसा आधार प्रदान करते थे, जिस पर व्यापारिक और गैर-व्यापारिक संचार क्रियाशील था। इन संचार मार्गों पर सड़कें बनवायी गयीं, उनका सीमांकन भी किया गया, परन्तु वे पक्की नहीं होती थीं। नदियों पर पुल भी बनवाये गये। यात्रियों के रुकने के लिए विश्रामगृह बनवाये गये। वस्तुओं को ढोने के लिए जानवरों और मनुष्यों का प्रयोग किया जाता था। व्यापारिक दल में विकास हुआ।

प्रश्न 2. यात्रियों को ठहरने के लिए किस प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध थीं? इसका विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तर-मध्यकालीन भारत में यात्रियों के ठहरने के लिए जो स्थान बनवाया जाता था, उसे सराय कहते थे। ये सराय मार्गों पर व शहरों में भी होती थीं। उस समय परिवहन सम्बन्धी अच्छी व्यवस्था नहीं थी, जैसा कि आज है। यात्री व व्यापारी अपनी अधिकतर यात्रा पैदल, गाड़ी और घोड़ों से करते थे। एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने में बहुत समय लगता था। रास्ते दुर्गम थे और इन पर जोखिम भी होती थी। डाकू-लुटेरों का भय निरन्तर बना रहता था। इसी कारण यात्री व व्यापारी रात के समय कम ही यात्रा करते थे। वे रात को जिस जगह पर रुकते थे, वहीं शासकों द्वारा सराय बनवायी गई होती थी। यहाँ यात्री अपना सामान सुरक्षित ढंग से रखकर विश्राम करते थे। यहाँ उनको खाने-पीने की चीजें भी उपलब्ध करायी जाती थीं और यात्री विश्राम करके पुनः अपनी यात्रा प्रारम्भ करते थे।

सराय के अहाते अधिकतर समकोणीय अहाते होते थे, जहाँ एक बड़े प्रवेश द्वार से अन्दर जाकर अन्दर दीवारों के सहारे कमरे बने होते थे। 13वीं शताब्दी में पहली बार सराय तुर्कों द्वारा बनवायी गयी थीं।

भारत में बहुत पहले से ही यात्रियों के ठहरने के लिए स्थान उपलब्ध कराये जाते थे जिसमें मार्गों की सुरक्षा व यात्रियों के विश्राम का समुचित प्रबंध किया जाता था। चन्द्रगुप्त के समय से ही प्रशासन द्वारा यात्रियों के ठहरने के लिए विश्रामगृहों का निर्माण एक परोपकारी कार्य माना जाता था। अशोक के सातवें स्तंभ लेख से हमें उसके द्वारा बनवाये गये विश्रामगृहों के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है।

सराय एक संस्था के रूप में कार्य करती थी, परन्तु ये सरायें भारतीय समाज के अनुरूप बदलती रहीं। दिल्ली सल्तनत में बड़ी-बड़ी सराय बनवाई गईं। ये सराय शहरों व मुख्य मार्गों पर बनवायी जाती थीं। शेरशाह के समय बहुत-सी सरायों का निर्माण हुआ, जिससे मार्गों की सुरक्षा हुई और यात्रियों को ठहरने के लिए स्थान उपलब्ध हुआ। शेरशाह के समय इन सरायों के माध्यम से इतनी सुरक्षा प्रदान की जाती थी कि उस समय के इतिहासकारों ने वर्णन किया है कि यदि रात्रि के समय कोई बुढ़िया अपने सिर पर सोने की भरी टोकरी लेकर चलती थी, तो उसे कोई हानि नहीं पहुँचा सकता था। शेरशाह ने मार्गों में थोड़ी-थोड़ी दूरी पर सराय बनवायी थी, जिससे मार्गों की समुचित सुरक्षा व्यवस्था उपलब्ध हुई और यात्रियों को ठहरने का स्थान भी उपलब्ध हुआ।

यूरोपीय यात्री व फारसी लेखक भी इन सरायों का वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि ये सराय कस्बों, शहरों और मुख्य मार्गों पर स्थित थीं। अबुल-फजल के द्वारा लिखे गये 'अकबरनामा' में भी इन सरायों को बनवाने का उल्लेख मिलता है कि अकबर ने 1578 में आदेश दिया था कि राजधानी में शहर के अलग-अलग हिस्सों में सराय बनवायी जायें और देखभाल के लिए उन्हें उदार व दयालु व्यक्ति को दें, जिससे गरीब और जरूरतमंद लोगों को रहने के स्थान के लिए इंतजार न करना पड़े।

मुगलकालीन भारत में सराय जैसी एक अन्य संस्था जैनियों की धर्मशाला या पोसल थी। परन्तु ये सराय से भिन्न होती थीं। जहाँ एक और सराय सभी के लिए स्थान उपलब्ध कराती थीं। वहीं ये केवल जैन बिरादरी के लिए ही स्थान उपलब्ध कराती थीं और इनमें केवल जैन धर्मावलंबी ही रुक सकते थे। इनको पूजा के उद्देश्य से भी प्रयोग किया जाता था। ये धर्मशाला या पोसल अधिकतर शहरों में ही होती थीं, जबकि सराय मार्गों व शहरों दोनों जगह होती थीं। ये जैनों की धार्मिक संस्था के रूप में कार्य करती थीं, जबकि सराय सभी धर्मों के लोगों के लिए स्थान उपलब्ध कराती थीं।

दक्षिण भारत में सराय जैसी एक संस्था थी, जिसे कोल्ट्री कहा जाता था। यह भी यात्रियों की सुविधा के लिए ही बनवायी जाती थीं। यहाँ यात्री को ठहरने व खाना पकाने की सुविधा उपलब्ध थी।

मध्यकालीन मार्गों के सम्बन्ध में देखा जाये, तो सराय इन मार्गों पर अपनी महत्वपूर्ण भूमिका के लिए जानी जाती थीं, जिससे यात्रियों को सुरक्षा व ठहरने का स्थान उपलब्ध होता था और ये सरायें उन मार्गों को भी लोकप्रिय बनाती थीं, क्योंकि जिस मार्ग पर जितनी सुरक्षा व सुविधा होती थी, यात्री उस मार्ग को अधिक पसंद करते थे व अपनी यात्रा इन्हीं मार्गों पर करते थे।

मध्यकालीन भारत में उत्तर और उत्तरी-पश्चिमी मार्गों में यात्रियों के विश्राम करने के लिए समुचित सुविधाएँ उपलब्ध थीं। यूरोपीय यात्रियों का कहना है कि इन मार्गों पर कभी बड़ी संख्या में सरायें थीं और ये थोड़ी-थोड़ी दूरी पर बनायी जाती थीं। सरायों को बनवाने के लिए दूरी का विशेष ध्यान रखा जाता था। एक सराय में यात्री ठहरने के बाद जब अपनी यात्रा शुरू करता था, तो वह अगली सराय तक दिन ढलने से पहले पहुँच जाये, इतनी दूरी पर दूसरी सराय बनवायी जाती थी, ताकि यात्री को मार्ग में कोई असुविधा न हो और उसका कोई नुकसान भी न हो।

यात्रियों के ठहरने के लिए पूर्वी मार्ग पर भी सराय का निर्माण किया गया था। जहाँ यात्रियों के ठहरने के साथ-साथ खाने का प्रबंध भी किया जाता था। मुख्य शहरों में कई सरायें होती थीं। कुछ सरायों में गोदाम की सुविधा भी उपलब्ध होती थी, जिसमें यात्री अपना समान सुरक्षित ढंग से रख सकते थे, निश्चित होकर विश्राम कर सकते थे।

मध्यकालीन भारत में सरायों की अपनी विशेषता थी, जिनका उद्देश्य सिर्फ यात्रियों को सुविधा पहुँचाना था, जिससे वे अपनी यात्रा विघ्नरहित होकर पूरी कर सकें। यात्रियों को सुविधा उपलब्ध करायी जाती थी। मार्गों की सुरक्षा होती थी जिससे चोर, डाकू और लुटेरों का भय कम होता था।

प्रश्न 3. मुगलकालीन भारत में डाक संचार व्यवस्था की मुख्य विशेषताओं की विवेचना कीजिए।

उत्तर—समाचारों, सरकारी और गैर-सरकारी कागजों और पत्रों के लिए एक संगठित संचार व्यवस्था की आवश्यकता थी, इसीलिए डाक संचार की व्यवस्था की गई। वैसे तो मध्यकालीन युग के सम्बन्ध में डाक व्यवस्था थी, उसके सम्बन्ध में अपर्याप्त सूचना ही उपलब्ध है। परन्तु मुगलकालीन स्रोतों में डाक व्यवस्था का वर्णन किया गया है। इरफान हबीब ने मध्यकालीन डाक व्यवस्था के सम्बन्ध में अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उसी के आधार पर हम मध्यकालीन डाक व्यवस्था के सम्बन्ध में जान पाते हैं।

मध्यकालीन डाक व्यवस्था में जिन अधिकारियों का वर्णन किया जाता है, उनमें दरोगा-ए-डाक-ए-कुल-मुमालिक-ए-महरुमा डाक विभाग का अधीक्षक होता था। उसी की सिफारिश पर क्षेत्रों में दरोगा-ए-डाक नियुक्त किये जाते थे, जो बाद में सवानिह-निगार

का पद संभालते थे। दरोगा-ए-डाक का अधिकारक्षेत्र एक सूबा और उस सूबे से अलग क्षेत्र भी हो सकता था।

जो सरकारी डाक सेवा होती थी, उसे चौकी के नाम से जाना जाता था। हर चौकी पर धावक होते थे। धावक के अलावा हर चौकी पर दो घोड़े होते थे। चौकी हर 10 मील पर स्थित होती थी और जो सरकारी डाक देने वाले पैदल धावक होते थे, उन्हें मिओरा कहा जाता था। फौजदार, थानेदार, जमींदार हर चौकी पर चौकीदार रखते थे जिससे नलवा (सरकारी डाक) आते ही बिना एक मिनट की देरी किये उसे धावक को दे दी जाये। इसका मतलब यह हुआ कि हर चौकी पर कम से कम दो मिओरा होते थे, क्योंकि चौकी पर उनका चौबीस घण्टे रहना जरूरी था। मिओरों को उनके पेशे के अनुरूप तेज दौड़ने के लिए विशेष प्रशिक्षण दिया जाता था। मिओरों को गुर्जबरदारों, अहदियों आदि के साथ भी रहना पड़ता था, जो शाही डाक तथा अत्यन्त आवश्यक डाक, उपहार आदि ले जाते थे।

अबुल फजल द्वारा लिखित *आइने अकबरी* में मेउरा के वेतन आदि का वर्णन मिलता है। सरकारी कागजात, संदेश आदि पहुँचाने के लिए घुड़सवार संदेशवाहक भी होते थे।

सरकारी डाक सेवा केवल सरकारी कागजात और पत्राचार के लिए ही उपलब्ध थी। मेउरा द्वारा गैर-सरकारी पत्र भी ले जाने की प्रवृत्ति थी, परन्तु 1683 में जारी किये गये एक दस्तक द्वारा इस पर रोक लगा दी गयी।

प्रश्न 4. निम्नलिखित विषयों पर लगभग 400 शब्दों में टिप्पणी लिखिए:

(क) मध्यकालीन पुल

(ख) पहिए वाले परिवहन।

उत्तर—(क) मध्यकालीन पुल—पुल किसी ऐसी बनावट को कहा जा सकता है जो नदी, दलदल, ढाल आदि को पार करने में सहायता करे। यदि सबसे पहले पुल की कल्पना की जाये, तो यह कोई पेड़ का तना व चपटा पत्थर रहा होगा, जिसकी सहायता से नदी, नाले आदि को पार किया गया होगा।

प्राचीन काल से ही भारत में पुलों का प्रचलन था। तीन प्रकार के पुल थे—(1) शहतीर पुल (2) झूलेनुमा पुल (3) मेहराब पुल। ये तीनों प्रकार की शैलियाँ अलग-अलग या तीनों मिलकर प्रयोग में लायी जाती थीं।

शहतीर पुल दो प्रकार के होते थे—(1) प्रास पुल (2) नावों का पुल।

प्रास पुल बनाने के लिए शहतीरों को एक-दूसरे के ऊपर इस तरह रखा जाता था कि ऊपर की हर तह नीचे वाले से थोड़ी निकली हुई हो। सबसे ऊपर शहतीर ढकने के लिए थोड़ी जगह रह जाती थी। नाव के पुल भी शहतीर पुलों की तरह ही होते थे, जो

102 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

नीचे पानी में तैरते हुए सहारे से टिके रहते थे। इस प्रकार के पुल उस समय बनाये जाते होंगे, जब नदी में पानी कम हो। झूलेनुमा पुल को तंग घाटियों के लिए प्रयोग किया जाता रहा होगा। मेहराब पुल जिप्सम या अच्छे चूने मसाले से जोड़कर पक्के बनाये जाते थे। प्राचीन काल से ही भारत में शहतीर व झूलेनुमा पुल देखने को मिलते हैं। परन्तु मेहराब पुलों का प्रचलन भारत में तुर्की विजय के बाद ही प्रारम्भ हुआ।

समय के साथ-साथ पुल श्रेणीगत होते गये। ये क्षेत्र की विशेषता पर निर्भर करते थे कि वहाँ किस प्रकार का पुल बनाया जाये। क्योंकि पुल बनाने का काम वहाँ उपलब्ध सामग्री पर निर्भर करता था न कि कारीगरी पर। अलग-अलग प्रकार की उपलब्ध सामग्री के हिसाब से अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग पुल बनाये गये जैसे पहाड़ी क्षेत्रों में प्रास पुल बनाये जाते थे, जो कि लकड़ी के बने होते थे और इन क्षेत्रों में लकड़ी की उपलब्धता थी। नौका पुल समतल मैदानी क्षेत्रों में बनाये जाते थे जो तात्कालिक नदी पार करने के लिए बनाये जाते थे। पक्के पुलों की अलग श्रेणी थी, जिसमें मेहराब वाले पुल आते थे। 13वीं शताब्दी के अधिकतर पुल मेहराब वाले ही थे।

दिल्ली सल्तनत में पुलों का अधिक विकास नहीं हो पाया, परन्तु 16वीं शताब्दी में जैसे-जैसे यातायात का बोझ बढ़ता गया, वैसे-वैसे इन पुलों का निर्माण होना शुरू हुआ, ताकि यातायात सुचारु रूप से चलता रहे।

एक अन्य प्रकार के पुल का प्रचलन भी था, जिसको सेना आदि पार करने के लिए बनाया जाता था। इसको पैटून पुल कहते थे। यह तात्कालिक आवश्यकता के लिए बनाया जाता था और आवश्यकता पूरी होने पर इसे हटा दिया जाता था।

मुगलकाल में पुलों का विकास होना शुरू हुआ और दिल्ली सल्तनत की अपेक्षा ये अधिक मात्रा में बनवाये गये।

(ख) पहिये वाले परिवहन—पहिये वाले परिवहन, परिवहन माध्यम में सबसे उपयोगी थे। इनका प्रयोग अधिक माल ढोने के लिए व अधिक दूरी पर इस माल को ले जाने के लिए किया जाता था। यात्रियों द्वारा किये गये यात्रा वर्णनों से ही हम मध्यकाल में प्रयुक्त होने वाली पहिये वाली गाड़ियों की संख्या, उनकी गतिशीलता, उनके भार ढोने की क्षमता आदि के सम्बन्ध में जान सकते हैं। इन गाड़ियों का प्रयोग माल ढोने के साथ-साथ बच्चों, औरतों, कमजोर बूढ़े लोगों के परिवहन के लिए भी किया जाता होगा।

जॉ डेलोश ने मध्यकालीन पहिये वाली गाड़ियों के परिवहन पर शोध किया है। उन्होंने ही वर्णन किया है कि

“मध्यकाल में दो तरह की गाड़ियाँ प्रचलन में थीं। यात्रियों के परिवहन के लिए और दूसरी प्रकार के माल ढोने के लिए पहले प्रकार की गाड़ी जो यात्री उद्देश्य से प्रयोग की जाती थी उसे बैल खींचते थे और उसमें एक सीट बनी होती थी, जिसमें पालकी लगी होती थी। पालकी की सजावट उसमें बैठने वाले यात्री की सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुसार की जाती थी। इसमें एक या एक से अधिक यात्री बैठ सकते थे। पश्चिमी भारत में अच्छी नस्ल के बैल मिलते थे, जो गाड़ी की गति को तेज रखने में सहायक होते थे। इन बैलों द्वारा चलने वाली गाड़ी एक दिन में 50 कि.मी. तक की यात्रा करती थी, वहीं पूर्वी बिहार में जहाँ अच्छे बैल नहीं मिलते थे, वहाँ ये गाड़ियाँ धीमी गति से चलती थीं और एक दिन में औसतन 20 से 30 कि.मी. तक की यात्रा करती थीं।

ज्यादा मजबूत गाड़ियाँ जिनमें तीलियों वाले पाहिये लगे रहते थे, माल आदि ढोने के काम आती थीं। इन भारी गाड़ियों को कई जोड़ी बैल खींचते थे।

एक गाड़ी में अधिक से अधिक 600 कि.ग्रा. तक वजन भरा जाता था, इससे अधिक नहीं। एक दिन में ये गाड़ियाँ 20 किमी तक की दूरी तय कर पाती थीं, जो अपेक्षाकृत कम थी, परन्तु फिर भी भार ढोने वाले पशुओं की यह गति उस समय की श्रेष्ठ गति थी।



भारतीय इतिहास में अठारहवीं शताब्दी



प्रस्तावना

भारत के लिए 18वीं शताब्दी का काल उथल-पुथल भरा रहा। यह वह समय था जब पहले से चली आ रही परम्पराएं टूट रही थीं। मुगल साम्राज्य घोर विपत्ति में घिरा हुआ था। इसे चारों ओर से विद्रोहियों व आक्रमणकारियों का कहर झेलना पड़ रहा था। इसमें जहाँ एक ओर अफगानी आक्रमणकारी आक्रमण पर आक्रमण कर रहे थे, वहीं दूसरी ओर देश के ही लोग मुगल साम्राज्य की नींव हिलाने पर तुले हुए थे। अफगानी आक्रमणकारियों में मुख्यतः नादिरशाह (1739), अहमदशाह अब्दाली (1748-1767) को कह सकते हैं वहीं मराठे पेशवा, किसान समूह (जाट, रोहिल्ला, और सिख) लगातार आक्रमण कर रहे थे। सैन्य अधिकारी तंत्र इन आक्रमणों को रोकने में विफल था। आर्थिक व्यवस्था चरमरा गयी थी जिसका सीधा असर कुलीन व भद्र लोगों के जीवन स्तर पर पड़ना शुरू हो चुका था। यही नहीं, मुगल कुल के दो बादशाहों—अहमदशाह (1748-54), शाह आलम (1759-1816)—को अन्धा कर दिया गया और आलमगीर द्वितीय (1754-1759) की हत्या आपसी गुटबंदी के कारण कर दी गयी। यह सब इतनी तीव्र गति से हो रहा था कि आश्चर्यजनक—सा लगता है। औरंगजेब के समय साम्राज्य क्षेत्रीय पराकाष्ठा पर था परन्तु 1730 तक आते-आते साम्राज्य कई क्षेत्रीय खण्डों में विभाजित हो चुका था। इसमें कई क्षेत्रीय शासन उभरे; जैसे—अवध की नवाबी, बंगाल की निजामत, मराठा, जाट आदि साम्राज्य के दीर्घकालिक व सबसे हिंसक विरोधी के रूप में उभरकर सामने आये। आगे आने वाले 30 वर्षों में भारत के राजनैतिक पटल पर एक नयी तस्वीर उभरकर सामने आयी, जिसने भारत की राजनैतिक परिस्थिति का नक्शा ही बदल दिया। यह था यूरोपीय ईस्ट इण्डिया कम्पनी जिसने पूर्वी भारत के कई क्षेत्रों को जीत लिया था और अब वह भारत के अन्य भागों को जीतने के लिए भी लालायित नजर आ रही थी। यह कम्पनी ललचाई नजरों व दृढ़ इरादों के साथ भारत के अन्य भागों को जीतने के लिए भरसक प्रयास कर रही थी।

18वीं शताब्दी में हुए इतने सारे परिवर्तनों के कारण ही आधुनिक इतिहासकार 18वीं शताब्दी के इतिहास की ओर आकर्षित

हुए और 18वीं शताब्दी के इतिहास से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ लिखे गये, परन्तु इन इतिहासकारों में जहाँ एक ओर सहमति नजर आती है, वहीं कुछ बिन्दुओं पर इनमें मतभेद भी है। जैसे—पुरानी व्याख्या के अनुसार मुगल शासन का पतन औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता की नीति के फलस्वरूप हुआ, परन्तु आज इस मत को सर्वसम्मति से अस्वीकार कर दिया जाता है। क्योंकि जहाँ औरंगजेब ने मराठा, जाट और कुछ राजपूत वंशों के विरोध का सामना किया वहीं उसे समान रूप से मुस्लिम कुलीन वर्ग और अधिकारियों के विरोध का भी सामना करना पड़ा जो शाही दरबार में गुटबंदी व संघर्षों को बढ़ावा दे रहे थे, वहीं दूसरी ओर कई राजपूत शासक साम्राज्य के प्रति वफादार भी बने रहे।

पुरानी धारणा है कि यह शताब्दी नैतिक और सांस्कृतिक पतन की शताब्दी थी। परन्तु यह धारणा सही नहीं है। इस धारणा के प्रति सही दृष्टिकोण बनाने के लिए ही अब आंचलिक क्षेत्रों के सक्रिय सांस्कृतिक जीवन के अध्ययन पर विशेष जोर दिया जा रहा है। इससे हमें पता चलता है कि कई क्षेत्र ऐसे थे जिन्होंने मुगल संस्कृति को न सिर्फ आगे बढ़ाया बल्कि उसे अपनी क्षेत्रीय संस्कृति में शामिल भी किया। इन क्षेत्रों में हम लखनऊ व हैदराबाद को देख सकते हैं। 18वीं शताब्दी में सांस्कृतिक मूल्यों को बढ़ावा देने के लिए कुछ क्षेत्रों का विकास भी हुआ। इन्हें हम निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से देख सकते हैं:

- बनारस 18वीं शताब्दी में धार्मिक शिक्षा और तीर्थ केन्द्र, व्यापार, बैंकिंग के केन्द्र के रूप में उभरा।
- बंगाल में नाडिया संस्कृत शिक्षा और दाय भाग हिन्दू कानून सम्बन्धी शिक्षा का केन्द्र था।
- विष्णुपुर में क्षेत्रीय स्थापत्य कलाओं और संगीत की विविध शैलियाँ उभरीं।
- दक्षिण में मराठा शासकों के संरक्षण में तंजौर एक प्रसिद्ध धार्मिक संगीत नाट्य परम्पराओं का केन्द्र बन गया।

आज इतिहासकार मुगल साम्राज्य के पतन को किसी धार्मिक कट्टरता और किसी शासक विशेष की जिम्मेदारी नहीं मानते और न ही किसी व्यक्तिगत असफलता के कारण मुगल साम्राज्य का

104 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

पतन हुआ। यह पतन संरचनात्मक प्रक्रिया से घटने वाली दैहिक असफलता का परिणाम था। कुछ लोग इस पतन के पीछे आर्थिक कारण मानते हैं जो कि एक अति शोषक शासक वर्ग के कारण उत्पन्न हुआ। वहीं कुछ इतिहासकार इसके पीछे क्षेत्रीय उत्थान की प्रक्रिया को जिम्मेदार मानते हैं।

लेकिन 18वीं में शताब्दी के मुगल साम्राज्य के पतन के पीछे क्षेत्रीय राज्यों के सुदृढ़ होने को ही एक कारण मात्र मानना सही नहीं होगा। इस शताब्दी में कई मूल परिवर्तन हुए। इतिहासकारों ने इसकी व्याख्या की है, जो आपस में नहीं मिलती है। इतिहासकारों के बीच कई मतभेद के मुद्दे रहे हैं; जैसे-कम्पनी का व्यापारिक कम्पनी से राजनैतिक सत्ता में परिवर्तन; दूसरा, भारत में उपनिवेशवाद की जड़ें बाहर से थीं या स्थानीय थीं। तीसरा, इसके सामाजिक व आर्थिक प्रभाव क्या थे?

अठारहवीं शताब्दी की प्रमुख विशेषताएँ

18वीं शताब्दी में हुए परिवर्तनों में हम मुख्यतः निम्नलिखित कारण देखते हैं। पहला, जब मुगल साम्राज्य का विभाजन हुआ और वह क्षेत्रीय और उससे छोटी सत्ताओं में बंट गया। साम्राज्य में आये संकट में जिसके कारण वह छोटी-छोटी सत्ताओं में बंट गया। यही इस परिवर्तन का मुख्य कारण है। जहाँ यह क्षेत्रीय और सामाजिक गुटों में राजनैतिक शक्ति का पुनः वितरण मात्र था, वहीं इसी शताब्दी में दूसरा सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन उस समय आया जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने प्लासी (1757) और बक्सर (1763) के युद्धों के पश्चात् राजनैतिक हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया। इसके परिणामस्वरूप कई परिवर्तन हुए। सबसे बड़ा परिवर्तन सामुद्रिक व्यापार संगठन पर हुआ। ईस्ट इण्डिया कंपनी का अब भारत पर प्रभुत्व स्थापित हो चुका था और उसने अपने राजनैतिक आधिपत्य को सैनिक और व्यापारिक कार्यों में प्रयुक्त किया।

इतिहासकार 18वीं शताब्दी के प्रभावों को पूर्ण रूप से स्पष्ट रूप से समझने के लिए इस शताब्दी को एक लम्बी शताब्दी के रूप में देखते हैं और इसके बहुत पीछे जाकर इस शताब्दी में हुए परिवर्तनों के कारण खोजते हैं। नयी व्याख्याओं के अनुसार इस शताब्दी की राजनैतिक गतिशीलता के बीज 1680 के आसपास मुगल साम्राज्य के विखण्डन में देखे जा सकते हैं। विघटनकारी परिणामों में 1720 के पश्चात् क्षेत्रीय राज्यों में स्थिरता के लक्षण दिखाई देते हैं। 1750 से कम्पनी के आधिपत्य में नये राजनीतिक सम्बन्धों का प्रारम्भ होता है। यह प्रक्रिया 1820 तक चली, जिसमें सभी स्वदेशी राज्यों का अंग्रेज शासित क्षेत्रों में विलय कर लिया गया या वे कम्पनी के सहायक बन गये या सन्धि द्वारा मित्र बन गये।

इस शताब्दी में क्षेत्रों के राजनीतिक पुनर्स्थिति के साथ क्षेत्रीय आर्थिक पुनरुत्थान भी हुआ। कुछ स्थानों पर आर्थिक अवनति भी हुई और कुछ स्थानों पर आर्थिक उन्नति भी देखने को मिलती है। पुराने प्रचलित मत की आज के मत से यदि तुलना की जाये, तो

यह बात सामने आती है कि कम्पनी के सत्ता में आने से देशी राज्यों पर जोर तो पड़ा, परन्तु वे एकदम नष्ट नहीं हुए। गाँव में जहाँ कम्पनी का शासन सबसे अधिक अन्तर्वेधी था, में भी व्यापार और कृषि में थोड़े परिवर्तनों के साथ समृद्धि आई और यह समृद्धि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में भी बनी रही जब तक कि यह धीरे-धीरे समाप्त नहीं हो गई।

हाल में की गई व्याख्या के अन्तर्गत भारतीय अर्थव्यवस्था और विश्व अर्थव्यवस्था के मध्य सम्बन्ध को दर्शाया गया है। हिन्द महासागर, अटलांटिक महासागर और प्रशान्त महासागर के साथ एक विस्तृत व्यापारिक नेटवर्क का हिस्सा था और प्रारम्भिक आधुनिक व्यापार के यूरोपीयकरण ने 18वीं शताब्दी में भारत के व्यापारिक जीवन की प्रवृत्ति और भविष्य पर प्रभाव डाला। व्यापार के इस लम्बे दौर में भारत ने हमेशा ही वस्तु और सेवाएं प्राप्त की। लेकिन इस भाग का निर्धारण यूरोपीय व्यापारिक नेटवर्क द्वारा ही होता था। भारत को इससे पर्याप्त लाभ होते थे और इससे अधिक धन भी भारत में आता था। भारत का व्यापारिक जीवन और पूँजी विस्तृत रूप से सम्बन्धों के सिलसिलों से जुड़ी हुई थी जिसकी प्रेरणा आगरा, दिल्ली के साथ-साथ अफ्रीका, दक्षिण-पूर्व एशिया व यूरोप से आती थी।

अठारहवीं शताब्दी में 17वीं शताब्दी की तुलना में विश्वव्यापी आर्थिक विस्तार हुआ और भारत के समुद्री व्यापार में भी बढ़ोतरी हुई। इसका सीधा-सा मतलब यह निकलता है कि उस धारणा में कोई दम नहीं है, जो भारत 18वीं शताब्दी को आर्थिक पृथक्करण का युग मानता है।

अठारहवीं शताब्दी सम्बन्धी वाद-विवाद

18वीं शताब्दी में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन बड़ी तीव्रता के साथ हुए और इन परिवर्तनों की हर विषय में अलग-अलग व्याख्याएँ मिलती हैं, जो एक-दूसरे से भिन्न हैं। वास्तव में यह विवाद इस शताब्दी को दो भागों में बांटे जाने से शुरू होता है और भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के समर्थकों को भी दो भागों में बांटा जा सकता है। यदि 1750 तक के समय को लें तो दो प्रकार के मत मिलते हैं—साम्राज्य केन्द्रित और क्षेत्र केन्द्रित। 1750 के बाद भी दो मत सामने आते हैं—भारतीयता और यूरोपीयकरण के समर्थकों का।

कुछ इतिहासकार यह दृष्टिकोण रखते हैं कि मुगल साम्राज्य के पतन के बड़े भयानक परिणाम हुए। ये मानते हैं कि इसके पतन से देश में राजनीतिक अव्यवस्था और अराजकता आ गयी। यह व्याख्या पतन को संरचना के विध्वंस होने के रूप में देखती है। इसके अनुसार साम्राज्य के पतन के बाद जो राज्य उभरे, वे अपने को पहले से ज्यादा विकसित नहीं कर पाये, जितने कि वे मुगल काल में विकसित थे। यह विचारधारा जाट, सिख, मराठों के विरोधी आन्दोलन को लुटेरों के दल से अधिक कुछ नहीं मानती है।

दूसरी विचारधारा जो घटनाओं को क्षेत्रीय व स्थानीय स्तर पर देखती है। यह विचारधारा उस विचारधारा के विपरीत है, जो

साम्राज्य को केन्द्र के रूप में मानती है। यह विचारधारा साम्राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले सामाजिक समूहों को अपना केन्द्र मानती है। यह विचारधारा बताती है कि उन्होंने किस प्रकार आर्थिक और राजनैतिक परिदृश्य बदलते ही अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए उसमें शामिल हो गये।

इस विचारधारा के अनुसार एक स्तर पर मुगल क्षेत्रीय शासन को बदल दिया गया जिसके परिणामस्वरूप बंगाल, अवध और हैदराबाद जैसे राज्यों की स्थापना हुई। दूसरे स्तर पर मुगल साम्राज्य के विरोध में मराठा, सिख जैसी राजनैतिक शक्तियों का उदय हुआ। ये शक्तियाँ भले ही मुगल साम्राज्य के विरोध में खड़ी हुई हों, परन्तु इन्होंने जो राजनैतिक तंत्र बनाया उसमें अधिकांशतः मुगल प्रशासनिक पद्धतियों का प्रयोग किया गया। इस बदले हुए क्षेत्रीय परिप्रेक्ष्य में मुगल कुलीन वर्ग को अनेक क्षेत्रों में अपनी शक्ति और मजबूत करने का मौका दिया। इसके अतिरिक्त उनके परिवारों और आश्रितों को कृषि पर मालिकाना हक स्थापित करने और राज्य भूमि को इजारे पर देने का मौका मिला, जो धीरे-धीरे आने वाले समय में उनकी पुष्टि जायदाद बन गई। क्षेत्रों में व्यापारिक विकास से इनकी स्थिति और मजबूत हुई।

1750 के बाद की स्थिति के सम्बन्ध में यूरोपवादी विचारधारा ब्रिटेन को एक विजयी विस्तारवादी के प्रभुत्व में मानती है, जिसने भारत को अराजकता और अव्यवस्था के माहौल से मुक्त किया। यदि राष्ट्रवादी विचारधारा को देखा जाये, तो वे बताती हैं कि 18वीं शताब्दी में भारत में फैली अराजकता एक क्षणिक परन्तु भयंकर भूल थी, जिसने पनपते हुए राष्ट्र को विदेशी शक्ति के हवाले कर दिया और अपने आपको एक उपनिवेश बना दिया। मार्क्सवादी विचारधारा अंग्रेजी शासन को एक बुराई के रूप में व्याख्यायित करती है जिससे सामन्तवादी विघटन का अन्त हुआ। हाल के कुछ विद्वान अंग्रेजी शासन को एक ऐसे रूप में देखते हैं जो निरन्तर लाभ वाली वस्तुओं और बाजारों की खोज में था। उसे किसी देश विशेष की उन्नति से कुछ लेना-देना नहीं था। ये अलग-अलग दृष्टिकोण होने के बावजूद भी 18वीं शताब्दी के बारे में इतिहासकारों में कुछ समानताएँ भी हैं। इनमें पहली मान्यता यह है कि व्यवस्था और स्थिरता एक सार्वभौमिक राजनीतिक व्यवस्था में ही हो सकती है और चूँकि यह स्थिरता 18वीं शताब्दी में समाप्त हो गई इसीलिए 18वीं शताब्दी में अव्यवस्था अराजकता और पतन आया। दूसरी यह मान्यता भी समानता रखती है कि इस शताब्दी में विच्छिन्नता थी। दोनों विचारधाराओं के समर्थक अंग्रेजी शासन को वियोजन मानते हैं, जिसका भारतीय संस्कृति से कुछ लेना-देना नहीं था।

भारत में विदेशी शासन का आना किसी शक्ति के बल पर थोपा गया नहीं मानते, बल्कि भारतीय समाज की परिस्थितियों ने अंग्रेजी शासन को भारत में बढ़ावा दिया। इसका मतलब यह हुआ कि भारत में अंग्रेजी शासन का आना भारतीय समाज में पल रही कमियों के कारण और महानगरीय स्वार्थों के साथ-साथ भारतीय

कारकों का भी योगदान रहा। यदि भारतवादी दृष्टिकोण रखने वालों की विचारधारा को देखा जाये तो वे 18वीं शताब्दी को अराजकता का काल नहीं मानते। उनके अनुसार मुगल साम्राज्य के बाद जो क्षेत्रीय राज्य बने, उन्होंने भारत को राजनैतिक सफलता देने का प्रयास किया। भारतवादी विचारधारा भारत में आर्थिक स्थिति के चरमराने को नहीं मानते। वे मानते हैं कि 18वीं शताब्दी में भी भारत में व्यापारिक और सैन्य कुशलता बनी रही। लेकिन इसका प्रयोग कम्पनी ने अपने लाभ के लिए किया। जहाँ एक ओर इस जबरदस्ती में अंग्रेजी शासन के आने का देश में विरोध हुआ, वहीं यदि इसके पीछे कारण देखा जाये कि भारत में अंग्रेजी शासन का आगमन क्यों हुआ, तो इसके पीछे भारतीय कारक भी जिम्मेदार नजर आते हैं। अंग्रेजी शासन का मुख्य आधार भारतीय शासन प्रणाली के आदर्श, कृषि, व्यापारिक प्रबंध, मानव संसाधन की दक्षता थे। परन्तु अंग्रेजी शासन ने उन्हें अपनी आवश्यकता के अनुसार ढाल लिया। भारतवादी मान्यता 18वीं शताब्दी को किसी गति अवरुद्धता के रूप में प्रदर्शित नहीं करती, बल्कि इसके अनुसार उसमें गहरी निरन्तरता थी जो बनी रही और पहले से चली आ रही संस्थाएँ और संरचनाएँ बनी रहीं। हाँ, इतना जरूर हुआ कि उनका रूप बदल गया और चारों ओर व्यावसायिक प्रक्रियाओं का विस्तार हुआ।

मुगल साम्राज्य, उसका पतन और

अठारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ

मुगल साम्राज्य के पतन के सम्बन्ध में कई कारण माने जाते हैं। उसमें से नैतिक भ्रष्टता का सिद्धांत, कमजोर शासन और साम्प्रदायिक नीति को ज्यादा गम्भीर कारक के रूप में मान्यता देना सही नहीं है। क्योंकि ये कारक मुगल साम्राज्य के पतन के लिए जिम्मेदार जरूर थे, परन्तु सिर्फ इन्हीं के कारण एक साम्राज्य का पतन हो गया, ऐसी मान्यता ठीक नहीं मानी जाती है। उत्तरवर्ती मुगल शासकों ने इस पतन को रोकने की कोशिश की लेकिन घटनाएँ इतनी तेजी से घट रही थीं कि किसी एक व्यक्ति विशेष के लिए इसे रोक पाना असम्भव था। और फिर ऐसे भी कोई साक्ष्य नहीं मिलते हैं कि उत्तरवर्ती मुगल शासकों ने इसे रोकने का कोई प्रयास ही नहीं किया। मुगल साम्राज्य के पतन के बारे में जो अन्य विचारधाराएँ प्रचलित हैं उनमें से कुछ विचारधाराएँ यह मानती हैं कि तीव्रता से बिखरती संरचना साम्राज्य की आर्थिक और जागीरदारी व्यवस्था में आये संकट ने साम्राज्य को जोखिम में डाल दिया। इस विचारधारा के समर्थक इरफान हबीब भी हैं और उनके विचार इस सम्बन्धी में ज्यादा वजन रखते हैं। वे कहते हैं कि मुगल साम्राज्य में किसानों से अधिक से अधिक अधिशेष लिया जाता था। इसने एक त्रिपक्षीय संघर्ष को जन्म दे दिया जिसमें कुलीन वर्ग, जमींदार और किसान शामिल थे। यह संघर्ष स्वयं में इतना बढ़ गया कि इसे रोक पाना या खत्म करना असम्भव कार्य बन गया। सतीश चन्द्र मानते हैं कि मुगल साम्राज्य के पतन का कारण अधिकारियों की

106 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

जागीर प्रथा की कुशलता को बनाये रखने में असमर्थता थी, जिसने आपसी गुटबंदी और संघर्ष को बढ़ावा दिया। मुगल साम्राज्य के पतन का मुख्य कारण जागीरों की अत्यधिक कमी थी। औरंगजेब के दक्षिण अभियानों के परिणामस्वरूप भूमि आबंटन को लेकर भूमि चाहने वालों की संख्या में वृद्धि हुई, जिससे जागीरदारी व्यवस्था चरमरा गई। लेकिन जॉन रिचर्ड्स इससे अलग तर्क देते हैं। वे कहते हैं कि बे-जागीरी (जागीर के बिना) कोई समस्या नहीं थी क्योंकि उस क्षेत्र में भू-आबंटन की कोई कमी नहीं थी परन्तु समस्या दक्खन स्थानीय विशिष्ट वर्गों द्वारा एक उचित व्यवस्था की स्थापना करना था। दक्खन में उचित शासन प्रबन्ध करना मुगल साम्राज्य के लिए एक समस्या थी। साम्राज्य को सुदृढ़ न कर पाना साम्राज्य की प्रमुख समस्या के रूप में था और यह समस्या इसलिए बनी रही क्योंकि स्थानीय अभिजन कृषक वर्ग को सही तौर पर साम्राज्य समाविष्ट नहीं कर पाया था, जिसके कारण साम्राज्य में दरार पड़ गई।

एक अन्य इतिहासकार मार्शल हॉगसन एक बड़ा ही रोचक तर्क प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि तीनों साम्राज्यों-ऑटोमन, सफविद और मुगल साम्राज्यों-का पतन इसलिए हुआ कि वे एक ही धर्म का पालन करते थे। उनका पतन इसलिए हुआ क्योंकि वे जिसके कारण सफल हुए थे वह था गोला-बारूद का प्रयोग, वे समय के अनुसार बदलती तकनीकों का प्रयोग नहीं कर सके। लेकिन क्या यह तर्क भारत के सम्बन्ध में लागू होता है? इक्तिदार आलम खान ने अपना ध्यान गोला-बारूद के केन्द्रीकरण और प्रतिरोध के बीच की समकालिक अनुकूलता की ओर आकृष्ट किया है। बन्दूक, तोप, गोला-बारूद का प्रयोग जहाँ राज्य ने अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए किया, वहीं प्रजा ने इसका प्रयोग राज्य के हस्तक्षेप के विरोध में किया। तत्कालीन परिस्थितियों में तकनीकी ज्ञान को सामान्य जनता तक पहुँचने से रोका नहीं जा सकता था। गोला-बारूद, अस्त्र-शस्त्र पर एकमात्र राज्य का नियंत्रण नहीं था। जमींदार, चौधरी और प्रमुख कृषक वर्गों के पास अपनी सशस्त्र सेनाएं थी। मराठा, सिख और जाटों के अलावा ग्रामीण क्षेत्रों में विशिष्ट व्यक्तियों के पास पर्याप्त मात्रा में बन्दूकें थीं। इन लोगों को अपने समाज व जाति में कुछ उच्च स्थिति के कारण अधिकार भी मिले हुए थे। इससे जरूरत पड़ने पर वे अपनी सैन्य संख्या को बढ़ा भी सकते थे। मुगल सेना के पास यद्यपि पर्याप्त मात्रा में सैन्य सामग्री थी, परन्तु उन्हें फिर भी इन स्थानीय सरदारों से खतरा रहता था, क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों की स्थिति उनके अनुकूल थी। मुगल साम्राज्य के पतन को समझने के लिए इसके पीछे दीर्घकालिक और अल्पकालिक दोनों कारणों को जानना जरूरी होगा।

दीर्घकालीन कारणों में यह है कि मुगल साम्राज्य ने शक्ति के केन्द्रीकरण के लिए नई संस्थाओं की नींव रखी, परन्तु इससे साम्राज्य की सांस्थानिक और आर्थिक व्यवस्थाओं में समय-समय पर संकट आया जिसका समाधान मुगल शासक प्रभावशाली रूप

से नहीं कर सके। इसमें हम निम्नलिखित कारणों को भी देख सकते हैं:

- (i) सरकार भू-राजस्व निर्धारण (जमा) और वास्तविक कर वसूली (हासिल) में सामंजस्य स्थापित नहीं कर पायी।
- (ii) ग्रामीण क्षेत्रों से राजस्व प्रेषण में 20 प्रतिशत तक की क्षति को कम करने में अक्षम सिद्ध हुई।
- (iii) सरकार स्थानीय और विशिष्ट वर्ग के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं कर पायी। दोनों हमेशा एक-दूसरे के विरोधी रहे। इसमें समय-समय पर कुछ मेल अवश्य दिखा, परन्तु यह दीर्घकालीन सिद्ध नहीं हुआ। इसका उदाहरण हम अकबर की राजपूत नीति से ले सकते हैं, परन्तु यह नीति पूरे राजपूताना क्षेत्र तक विस्तृत नहीं थी और न ही इसमें सभी राजपूत वंशज शामिल थे, न ही यह संघर्ष को रोक पायी।
- (iv) सरकार द्वारा साम्राज्य में दूर-दूर फैले छोटे-छोटे जमींदारों से कोई व्यावहारिक सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश नहीं की गई।

अल्पकालिक कारकों में हम दक्खन में उभरी समस्या को देख सकते हैं। इन कारकों में मुख्य रूप से इस प्रकार हैं:

- (i) उत्तरी भारत में गंगा-यमुना दोआब क्षेत्र में चले आ रहे जाटों और मेवातियों के विरोधी आन्दोलन और पंजाब में सिखों के आन्दोलनों ने अब भयंकर रूप धारण कर लिया था।
- (ii) पूर्वी भारत में जहाँ 17वीं शताब्दी में व्यापार और वाणिज्य का विस्तार हुआ था, पेशकश वसूली में अब कठिनाई हो रही थी, क्योंकि जमींदारों ने राजस्व व्यवस्था के ढीलेपन का अपने हित में लाभ बटोरना शुरू कर दिया था। इससे राजनैतिक स्थिरता को तो कोई आँच नहीं आयी, परन्तु आर्थिक संकट जरूर सामने आने लगा।
- (iii) भारत और पश्चिमी एशिया के साथ अत्यन्त लाभप्रद व्यावसायिक सम्पर्क टूट गया।

एक अन्य विचारधारा यह मानती है कि मुगल साम्राज्य के प्रसिद्ध बन्दरगाह सूरत को इस समय जिन आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था, उसका महत्वपूर्ण कारण साम्राज्य का पतन ही था।

इन अल्पकालिक संकटों ने पहले से चले आ रहे संकटों को बढ़ावा दिया और अन्ततः साम्राज्य पतन के गर्त में धंसता चला गया।

मुगल साम्राज्य के पतन को समझने के लिए केन्द्रीकरण-विकेन्द्रीकरण की अन्तर्जातीय प्रक्रियाओं और संकटों को समझने के लिए केन्द्र और स्थानीय क्षेत्रों के निरन्तर बदलते हुए और समझौतावादी सम्बन्धों और कुलीन वर्गों और स्थानीय सरदारों के

बीच निरन्तर तनावों को भी देखकर चलना होगा क्योंकि इन रिश्तों को मात्र राजकीय आदेशों के बल पर जिन्दा नहीं रखा जा सकता था। ये हमेशा उजागर रहे और बदलते रहे।

केन्द्र और राज्यों के बदलते सम्बन्धों से हमें क्षेत्रों और केन्द्र के बीच सम्बन्धों का पता भी चलता है। साम्राज्य द्वारा केन्द्रीकरण की जितनी कोशिश की गई, क्षेत्रीय दलों को उतना ही अधिक लाभ हुआ। उन्होंने केन्द्रीकरण की इस प्रक्रिया को अपनाया और इसका लाभ अपने हित के लिए उठाया।

क्षेत्रीयकरण की प्रक्रिया

क्षेत्रीयता मुगल साम्राज्य के लिए कितनी जिम्मेदार थी, यदि इस कारण को जानने की कोशिश की जाये तो यह निश्चित रूप से इसके पतन के लिए एक विकल्प के रूप में सामने आता है। आंद्रे वीक 'फितना' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि साम्राज्य व्यवस्था अन्दर से ही विनाशकारी थी। गुटबंदी और अपकेन्द्रक शक्तियाँ लगातार केन्द्र से अलग हो रही थीं। स्टीफन ब्लेक मुगल राज्य में पैतृक नौकरशाही और अत्यंत सैन्यीकृत और केन्द्रीय पहलुओं में सन्तुलन को बनाये रखने को कठिन कार्य मानते हैं। वे कहते हैं कि इसमें एक अजीब-सी असंगति पैदा हो गई थी। मुगल शासक एक पैतृक, अत्यधिक व्यक्तिगत शासन और अपनी सैनिक आकाक्षाओं के बीच दरार को बांध नहीं पाये। मुगल अपनी सेना को कामयाब बनाने के लिए एक स्वतंत्र सैन्य नौकरशाही की प्रथा को स्थापित नहीं कर पाये।

केन्द्र की गुटबंदी से लेकर स्थानीय और क्षेत्रीय विशिष्ट वर्गों द्वारा स्वयं को सुदृढ़ बनाना लगातार चलता रहा और इसका असर राज्य पर पड़ना शुरू हुआ, जो साम्राज्य को अन्ततः पतन के गर्त में ले गया। इन वर्गों की प्रकृति सब जगह एक-सी नहीं थी। अवध के लोग समाज के उच्च वर्ग के लोग थे। बाकी स्थानों के लोग कुछ निम्न श्रेणी में गिने जाते थे। इनमें पंजाब में जाट, किसान या बंगाल में बसे हुए इलाकों के छोर पर सद्गोप जमींदार थे।

अठारहवीं शताब्दी की राजनैतिक प्रक्रियाओं पर हाल में हुए अध्ययन द्वारा तीन प्रकार की शासन प्रणाली के बारे में बताया गया है। इसमें प्रथम प्रकार की शासन प्रणाली मुगल शासन में पहले से चली आ रही शासन प्रणाली की प्रतिकृति थी। अवध और बंगाल के नवाब केवल नाम के ही मुगल सूबेदार थे और उत्तराधिकारी राज्यों के रूप में इन राज्यों में शासन करते थे। इन्होंने मुगलों द्वारा शुरू की गई शासन प्रणाली की रीतियों और प्रकृतियों को अपनाया। दूसरी श्रेणी में वे राज्य आते थे, जिनकी स्थापना मुगल साम्राज्य से हट कर हुई थी। इसमें जाट, सिख व मराठा राज्य आते थे। इन राज्यों से मुगल साम्राज्य को वास्तविक रूप में व निरन्तर खतरा बना रहा। तीसरी श्रेणी में जो राजनैतिक संरचनाएं आती थीं उनमें हिन्दू, मुसलमान और आदिवासी सम्मिलित थे। इनके कई स्थानीय प्रभाव के क्षेत्र थे जो अर्द्धस्वाधीन राज्यों की सीमाओं पर स्थित थे। जाट जमींदारों ने जब गंगा-यमुना दोआब से राजपूतों को भगा

दिया, तो उन्होंने उत्तर में अवध तक विजय, प्रवसन और व्यवस्थापन द्वारा कई छोटे-छोटे राज्य स्थापित किये। बनारस, बंगाल, वर्दमान और कासिम बाजार के जमींदारों ने कृषि उपनिवेशिकता, ठेके पर कृषि और व्यापार द्वारा अपने राज्य को संगठित किया। भारत की उत्तर-पूर्व सीमा में अहोम राजाओं ने मुगलों को 1680 में आगे बढ़ने से रोका और असम में तब तक हिन्दू राज्य कायम रखा, जब तक कि इसे अंग्रेजों ने जीत नहीं लिया।

इन क्षेत्रीय राज्यों की प्रकृति कितनी मुगल थी?

ये जो क्षेत्रीय राज्य उभर रहे थे, इनकी प्रकृति एकदम नहीं बदल गयी थी। ये मुगल साम्राज्य की नीति और प्रशासन की नीतियों को बनाये रखे हुए थे। हाँ, इनमें कुछ परिवर्तन अवश्य हो गये थे। क्षेत्रीय सरकार और प्रशासन पर हाल में हुए अध्ययन से पता चलता है कि 18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उत्तर भारत में होने वाले राजनैतिक परिवर्तनों से इन क्षेत्रों में मुगलों द्वारा अपनाई जा रही राजनैतिक प्रणाली में अचानक अंतर नहीं आया। बंगाल, हैदराबाद और अवध के मुगल प्रदेशों का स्वतंत्र प्रदेशों में परिवर्तन के संकेत औरंगजेब के शासन के अन्तिम वर्षों में मिलने शुरू होते हैं। इन प्रदेशों में परिवर्तन दीर्घकालिक रूप में आये और शक्ति का विखण्डीकरण हुआ। उत्तराधिकारी राज्यों के शासक जो मुगलों द्वारा नियुक्त नाममात्र के गवर्नर जैसे दक्खन, अवध और बंगाल के नवाब-इन्होंने शाही दरबार में प्रचलित सांस्कृतिक मूल्यों और प्रथाओं को अपने प्रदेशों में प्रचारित व प्रसारित किया। इन राज्यों ने मुगल शासन प्रणाली को ही अपनाया और अपनी कोई अलग शैली नहीं बनायी। उन्होंने अपने प्रदेशों में मुगल साम्राज्य में प्रचलित रीति-रिवाजों व प्रथाओं को ही अपनाया। अरकोट के नवाबों ने जिनका राज्य अंग्रेजों की सहायता से चल रहा था, उन्होंने भी अपने राज्य में मुगल साम्राज्य में प्रचलित नीतियों को ही अपनाया। ये तो मुस्लिम प्रदेशों की बात थी जो मुगलों से प्रभावित थे और उनका अनुसरण करना चाहते थे। यदि हम हिन्दू राज्यों को देखें, तो उन्होंने भी अपने राज्यों में मुगलों की नीतियों और सिद्धांतों से हटकर ज्यादा कुछ परिवर्तन नहीं किये, बल्कि थोड़े फेर-बदल के साथ मुगल साम्राज्य की नीतियों को अपनाये रखा। जैसे मराठा क्षेत्रों की बात की जाये तो इन्होंने मुगलों की भूराजस्व प्रणाली को अपनाया। यह बात अलग है कि इनके अधिकारियों के नाम मुगल अधिकारियों से भिन्न होते थे। सिखों ने खालसा जैसी संस्था की स्थापना की, जो मुगलों की तीव्र विरोधी थी परन्तु इन्होंने भी मुगलों की प्रणालियों और सिद्धांतों से एकदम मुंह नहीं मोड़ा। इन्होंने राजस्व इकट्ठा करने का वही तरीका अपनाया, जो मुगल अपनाते थे और मुगलों की ही तरह जागीर प्रथा के अनुसार भूमि का आबंटन करते थे। शासनतंत्र की भाषा फारसी ही बनी रही। इन सभी राज्यों में फारसी भाषा का महत्त्व उसके प्रशासन व संस्कृति के क्षेत्र में बना रहा।

108 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

परन्तु ऐसा नहीं था कि ये राज्य मुगलों की नीतियों, प्रणालियों और सिद्धान्तों में सभी को अपनाते थे और इनमें मुगल साम्राज्य से अलग कोई भिन्नता नहीं थी। वे अपने राज्य में मुगलों की ही नीतियों का पालन करते थे, ऐसा नहीं था। इनमें भिन्नताएं थीं, इन्होंने मुगलों के आदर्श अपने राज्य में स्थापित नहीं किये। उन्होंने मुगल सिद्धान्तों का प्रयोग किया, परन्तु बहुत सीमित स्तर पर और समय के साथ-साथ उसे अपने अनुरूप ढाल लिया। इन भिन्नताओं को निम्न प्रकार देखा जा सकता है।

सबसे पहली बात यह थी कि इन राज्यों को मुगल कुलीनों ने ही स्थापित किया था और मुगल शासन में प्रचलित जागीरदारी प्रथा से खुश नहीं थे। उसमें उन्हें कमियां नजर आती थीं, जबकि इनको सत्ता इसी जागीरदारी प्रथा द्वारा प्राप्त हुई थी। इसी कारण सभी सूबेदारों ने इस जागीरदारी प्रथा को या तो नहीं अपनाया या फिर इसमें अपने-अपने अनुरूप परिवर्तन करके इसे लागू किया। बंगाल के नवाब मुर्शीद कुली खां ने राज्य द्वारा आबंटित सभी जागीरों वापस ले लीं और इनके धारकों को उड़ीसा भेज दिया। अवध में जागीरदारी प्रथा का ढांचा ही कायम रहा। वहाँ बड़ी-बड़ी जागीरों को छोटी-छोटी जागीरों में तब्दील करके बांटा गया। हैदराबाद में जागीरदारों की शक्ति को कम करने के लिए दफ्तरदार और ताल्लुकादार जैसे अधिकारियों की नियुक्ति की गई, जो जागीरदारों पर कड़ी निगाह रखते थे क्योंकि ये अधिकारी सीधे नवाब के अधीन होते थे। राज्य के अधिकारियों की प्रशासनिक और आर्थिक अधिकारों को अलग रखने की शक्ति समाप्त कर दी गई। बंगाल में मुर्शीद कुली खां और दक्खन के आसफजहाँ ने दीवान और सूबेदार के दोहरे कार्य को अपने पास समाहित कर लिया। अवध में बुरहान-उल मुल्क ने सूबेदारी और फौजदारी के ऊँचे पदों को एकीकृत कर दिया।

दूसरी बात इन राज्यों के आर्थिक क्षेत्रों में देखने को मिलती है। इन राज्यों के आर्थिक प्रबंध में भी मुगल साम्राज्य से भिन्नता थी। इन्होंने अर्थिक उद्देश्य से प्रेरित होकर राजस्व नकद लेना शुरू किया और उसकी वसूली और प्रबंध राज्य द्वारा नियुक्त वेतनभोगी अधिकारियों या मध्यस्थ जमींदारों को न सौंपकर इजारेदारों (ठेके के कृषक) को दे दी। अठारहवीं शताब्दी में इजारेदारी की प्रथा पूरे भारत में व्यापक रूप से फैल गई थी जिसे मुगल अनुचित मानते थे। इजारेदारी प्रथा को इतिहासकार भी एक विनाशक तत्त्व के रूप में देखते हैं। दिलबाग सिंह ने राजस्थान में इस प्रथा का अध्ययन करके यह पता लगाया है कि इजारे के ठेके का हिसाब निर्धारित राजस्व के आधार पर नहीं, बल्कि पिछले पांच-सात साल के राजस्व की वास्तविक वसूली के आधार पर होता था। इससे निष्ठुर राजस्व वसूली पर अपने आप रोक लग जाती थी, परन्तु इस प्रथा में खामियां भी थीं। अवध और बनारस के अध्ययन से यह पता लगाया गया कि इससे राजस्व तो बढ़ा और राज्य को इससे लाभ भी हुआ और उसके प्रशासनिक खर्च अधिकारियों के वेतन आदि

कम हो गये। इससे राज्य की आर्थिक व्यवस्था में भिन्न लोगों को हिस्सा लेने का अवसर प्राप्त हुआ।

इन राज्यों में तीसरी भिन्नता यह थी कि इन राज्यों में और धनी वर्गों के बीच गहरा सम्बन्ध स्थापित हुआ। मुगल साम्राज्य के पतन का समय और बैंकिंग फर्मों का क्षेत्रीय और स्थानीय स्तरों पर राजस्व वसूली के क्षेत्र में बढ़ता प्रभाव दोनों एक ही समय पर हुआ। यह योगदान 18वीं शताब्दी तक और अधिक बढ़ गया था।

1750 तक आते-आते बैंकरों का भू-राजस्व वसूली पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो गया था, क्योंकि उधार या नकद देने वाले वे ही थे। उन्हीं के द्वारा दिये गये पैसों से लोग इजारेदार बन गये थे और इन बैंकरों के एजेंट गांव-गांव जाकर उस जमीन से राजस्व एकत्रित करने लगे जो लोग उधार पैसा लेकर उनके पास गिरवी रख जाते थे। भारत की इस आर्थिक व्यवस्था में धनवान व्यापारियों और महाजनों ने जमकर लाभ कमाया। 1760 तक ये व्यापारी या बैंकर छोटे-छोटे राज्यों में महत्त्वपूर्ण राजनैतिक गुट बन गये। बंगाल जैसे राज्य में विशिष्ट व्यापारियों को नमक व शोरा का एकाधिकार दिया गया और जहाँ ये दोनों चीजें उत्पादित होती थीं, उन क्षेत्रों में इनका राजनैतिक नियंत्रण स्थापित हो गया। बैंकर खास मुगल क्षेत्रों से दूर जाकर बसने लगे। इनमें मुख्य क्षेत्र थे फरुखाबाद, लखनऊ, मुर्शिदाबाद, पटना और बनारस। यहाँ बसकर इन लोगों ने शासकों और इजारेदारों को धन उधार देना प्रारम्भ किया। राजस्व वसूली का आश्वासन इनको हुण्डी के रूप में मिल जाता था।

इन राज्यों की एक चौथी भिन्नता यह थी कि इन राज्यों के सहारे ही अंग्रेज भारतीय राजनैतिक जीवन में कपटतापूर्वक प्रवेश करने लगे। व्यापारिक लेन-देन था, परन्तु भारतीय शासन अंग्रेजों की जल व थल शक्तियों से भी अपरिचित नहीं थे। मुगल सेना के अस्त्र खानों व तोप खानों में भी यूरोपीयों की नियुक्ति की जाती थी। अठारहवीं शताब्दी में स्थिति बदल गयी। जैसे-जैसे बड़े-बड़े क्षेत्रीय राज्य यूरोपीय ढंग से अनुशासित और सशस्त्र सेना रखने लगे, जैसा कि पी.जे. मार्शल ने लिखा भी है कि “यूरोपीय उन राज्यों में घुस गये, जो पैसे से सेवा खरीदना चाहते थे।”

इसकी पूर्ण अभिव्यक्ति 1740 के आसपास देखी जा सकती है। कर्नाटक युद्ध में फ्रांसीसियों और अंग्रेजों ने भारतीय नवाबों की ओर से युद्ध में भाग लिया और इसके द्वारा उनके लिए राज्य निर्माण में अपनी भूमिका निभाने का अवसर प्राप्त हुआ और अब वे ऐसा अक्सर करने लगे और धीरे-धीरे अंग्रेज भारत के राजनैतिक परिदृश्य पर छाने लगे।

अठारहवीं शताब्दी की अर्थव्यवस्था

18वीं शताब्दी में भारतीय अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में जो लिखा गया है, उसमें दो समस्याओं पर अधिक वाद-विवाद हुआ है। इसमें पहली आर्थिक संदर्भ में थी, जिसमें भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से क्षेत्रीयकरण को देखा गया है। ये क्षेत्रीयकरण किस प्रकार के लक्षण थे, आर्थिक विस्तार के या संकट व स्थैतिकता

के? वाद-विवाद का दूसरा बिन्दु उपनिवेशवाद के प्रारम्भिक वर्षों में अर्थव्यवस्था में आए परिवर्तनों से सम्बन्धित है।

उत्तर मुगलकालीन राजतंत्रों के निर्माण के सम्बन्ध में जो समकालीन साहित्य लिखा गया है, उसमें दिये गये विवरणों के आधार पर यह घटना अराजकता और आर्थिक अनिश्चितता की स्थिति थी, परन्तु इसमें संदेह नहीं है कि यह विवरण बढ़ा-चढ़ा कर दिया गया हो। इन परिवर्तनों से कुछ तो उथल-पुथल जरूर हुई होगी। कहीं ये शान्तिपूर्वक हो गये होंगे, तो कहीं इन परिवर्तनों से उथल-पुथल जरूर मची होगी जैसा कि बंगाल और अवध में ये परिवर्तन शान्तिपूर्ण रहे, वहीं पंजाब और दक्खन में इनसे हंगामा हुआ। मराठों के विरुद्ध गम्भीर दोषारोपण किये जाते हैं, जिसमें कहा जाता है कि 18वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में उन्होंने गुजरात जो एक समृद्ध व्यापारिक केन्द्र था, को उजाड़ दिया। 1740 में पूर्वी भारत को और 18वीं शताब्दी के अन्त में राजस्थान को लूटा। परन्तु इनका अर्थव्यवस्था पर कितना असर पड़ा, क्या भारत में 17वीं शताब्दी में हुई आर्थिक प्रगति को इन अस्थायी अर्थव्यवस्थाओं ने कोई नुकसान पहुँचाया? यदि स्टुअर्ट गार्डन के मालवा में किये गये अध्ययन को देखें तो पता चलता है कि जब राज्य जीते जा चुके और मराठा शासन सुरक्षित हो गया, प्रशासन कामयाब हो गया और मुगल सिद्धान्तों पर आधारित नियंत्रित रूप से राजस्व की मांग की जाने लगी। कृषि को भी प्रोत्साहन मिला और व्यापार में तो नयी जान ही फूंक दी गई। सिंधिया, गायकवाड और भोंसले 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शक्तिशाली सेनाएँ रखने में कामयाब हुए, तो उन्होंने इसका प्रयोग भूराजस्व प्रणाली में परिवर्तन करने में भी किया। 18वीं शताब्दी के अन्त तक पंजाब अपनी समस्याओं से उभरने लगा था। साम्राज्य विघटन की प्रक्रिया से पनप रहा था। रोहिलाखण्ड, फर्रुखाबाद और बनारस में स्थायी राज्य स्थापित हो चुके थे। अधिकांश राज्यों की विस्तारवादी प्रक्रिया जारी थी। अवध ने रोहिलाखण्ड के अफगानों से बहुत सारा क्षेत्र छीन लिया था। दक्षिण में मैसूर के सुल्तान ने मालाबार तट के अधिकांश क्षेत्र अपने कब्जे में ले लिए थे। राजनैतिक गठन की इन भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं से यह नहीं लगता कि मुगल साम्राज्य के पतन से देश पर घोर आर्थिक संकट के बादल घिर आये थे।

नये शहरी केन्द्रों का आविर्भाव

विकास के सम्बन्ध में कोई भी ठोस सबूत न होने के कारण विकास की इस प्रक्रिया के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था कृषि प्रधान थी। अठारहवीं शताब्दी में शहरी विकास का स्तर न बढ़ा, न इसमें कमी आई। परन्तु कुछ लेखक इस बात पर अंगुली जरूर उठाते हैं। वे तर्क देते हैं कि इस समय में शाहजहाँनाबाद की अवनति हुई और पंजाब के शहर सरहिन्द को धक्का पहुँचा। मथुरा जो 18वीं शताब्दी के मध्य तक एक समृद्ध और घनी आबादी वाला शहर था, को 1756 में अहमदशाह अब्दाली द्वारा लूट लिया गया। परन्तु

इस समय भी आगरा जो मुगल साम्राज्य का सबसे प्रसिद्ध नगर माना जाता था, अपनी समृद्धि और प्रतिष्ठा बनाये हुए था, जिसे न तो अफगानों द्वारा और न ही मराठों द्वारा लूटा गया था। अन्य छोटे शहरों का भी विकास हो रहा था। जैसे बल्लभगढ़, भरतपुर और कुम्भेर जैसे-शहरों का विकास भी हुआ और हाथरस व पानीपत व्यापारिक केन्द्रों के रूप में विकसित हुए। उत्तरी भारत में शहरीकरण का मिश्रित रूप मिलता है। भारत के दूसरे भागों में भी शहरी संकुचन नहीं हुआ। समकालीन प्रेक्षण कलकत्ता की जनसंख्या और इसके विस्तार की बात बताते हैं। 1765 में मुर्शिदाबाद को संसार के सबसे धनी शहरों में गिना जाता था। क्लाइव ने भी इस शहर के बारे में कहा था कि यह शहर उतना ही व्यापक, घनी आबादी वाला और धनी है, जितना लंदन। इन दोनों में बहुत बड़ा अन्तर सिर्फ इतना ही है कि मुर्शिदाबाद के लोगों के पास बहुत अधिक जमीन-जायदाद है, जो दूसरे में नहीं है। बंगाल के प्रमुख शहरों के अलावा मध्यम स्तर के उपभोक्ता शहर भी 18वीं शताब्दी में तीव्रता से उपभोग, व्यापार और निवास के मध्यवर्ती केन्द्र का रूप धारण कर रहे थे। इनमें शामिल थे-भगवानगोला, अजीमगंज, कटवा, कलाना, चिनसुरा और चिटगोंग आदि।

पश्चिमी भारत में जहाँ एक ओर सूरत की आंशिक तौर पर अवनति हुई, तो वहीं बम्बई की उन्नति उसके बराबर और उससे कहीं अधिक थी। मध्य भारत में न तो राजनैतिक अशान्ति हुई और न ही शहरी अवनति हुई। मालवा में 1720 के आसपास मराठों की लूटपाट ने शहरी विकास में कोई बाधा नहीं डाली, बल्कि यह विकास मुगल सरकार के शहरों की तरह निर्विघ्न रूप से होता रहा। 1760 के आसपास उज्जैन सिंधिया की राजधानी बना और उसका विकास होना प्रारम्भ हुआ तो इन्दौर का विकास होल्करों की राजधानी के रूप में होना प्रारम्भ हुआ। यह शहर इस शताब्दी के अन्त तक बड़े समृद्ध व्यापारिक केन्द्र के रूप में उभरकर सामने आया। पूना शहर ने भी बड़ी उन्नति की। यह छोटा शहर मराठों की राजधानी बना और चन्देरी सिल्क का बड़ा बाजार बन गया। बुरहानपुर, जो आगरा-सूरत मार्ग में पड़ने वाला एक गोदाम मात्र था, अब भीतरी प्रदेश को छोड़कर यह पूर्व में पुणे, नागपुर, लखनऊ और इलाहाबाद के साथ अपने आपको सम्मिलित कर लिया। दक्षिण में साम्राज्य की अवनति का थोड़ा-सा असर पड़ा और वहाँ भी शहरों का विकास निरन्तर होता रहा। मद्रास का विकास हुआ। हैदराबाद में नया शासन स्थापित होने से इसका भी अभूतपूर्व विकास हुआ। दोनों ही शहर व्यापारिक रूप से महत्त्व तो रखते थे, इनमें कुलीन वर्ग भी निवास करते थे। इसीलिए शहरों की महत्ता पहले से कहीं अधिक बढ़ गयी। प्रारम्भ में साम्राज्य की अवनति से कारोमण्डल तट पर कुछ क्षेत्रों के विकास में बाधा पहुँची परन्तु मसूलीपत्तनम, नागापत्तनम और देवपत्तनम आदि शहर जल्दी ही इस झटके से उभर गये और राजनैतिक स्थिरता के कारण

110 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

पनपे, उन्हें पहले जिन्जी के नायकों और बाद में बेहतर विकसित तन्जौर के क्षेत्रीय राज्य से प्राप्त हुई।

सामुद्रिक व्यापार का विस्तार

भारत की आर्थिक स्थिति में सामुद्रिक व्यापार का योगदान बहुत महत्वपूर्ण था। 18वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पश्चिम एशिया संकट और मराठों के आक्रमण से सूरत बन्दरगाह तबाह हो गया था। आंग्ल-फ्रांसीसी युद्धों के कारण कर्नाटक के व्यापार में अल्प समय के लिए कुछ रुकावट आयी, परन्तु इतना सब होने के बाद भी भारत में यूरोप के साथ सामुद्रिक व्यापार निरन्तर रूप से चलता रहा। जहाँ 1700 से 1750 के बीच गुजरात से डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी के निर्यात में कमी आयी, तो यह 1700 और 1752 के बीच होने वाले व्यापार में लगातार वृद्धि होती रही और यह सन्तुलन बना रहा। यह व्यापार 17वीं शताब्दी में होने वाले व्यापार से अधिक था। शताब्दी के अन्त तक डचों की प्रभुता निश्चित रूप से समाप्त हो चुकी थी, परन्तु अंग्रेजी व्यापार में निश्चित रूप से वृद्धि हो रही थी। बंगाल का स्थान अब व्यापार की दृष्टि से महत्वपूर्ण हो गया था। कुछ इतिहासकार यह मानते हैं कि बंगाल का यह स्थान अंग्रेजी विजय के परिणामस्वरूप ही सामने आया, क्योंकि जब तक अंग्रेजों ने बंगाल को विजित नहीं किया था। यूरोपीय बाजार में निर्यात होने वाली एशियाई बाजार की चीजों में बंगाल का स्थान नगण्य था, परन्तु इस कथन में पर्याप्त सच्चाई नहीं लगती है। बल्कि प्लासी युद्ध के पहले होने वाले बंगाल में आयात किये गये बुलियनों की संख्या से पता चलता है कि 10 मिलियन सालाना बुलियन आयात होता था, जबकि एशिया से प्राप्त बुलियन कभी भी 2 मिलियन से अधिक नहीं रहा। भारत में अंग्रेजी उपनिवेश स्थापित होने से पहले ही भारत और यूरोप का व्यापार पहले से ही चल रहा था। इस सम्बन्ध के कारण भारत और यूरोप के व्यापार में बढ़ोतरी हुई और भारतीय अर्थव्यवस्था में अधिक बुलियन का समावेश हुआ। प्लासी की विजय से इस व्यापार की संरचना में बदलाव आया।

अठारहवीं शताब्दी में इस व्यापार का विस्तार सकारात्मक रहा। इतिहासकार ओम प्रकाश द्वारा किए गए अपने अध्ययन से उन्होंने यह बात बताई है कि इस व्यापार विस्तार ने आय, उत्पादन और रोजगार के अवसर पैदा किये। इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि इस शताब्दी के मध्य तक अकेले बंगाल में ही शिल्प क्षेत्र में रोजगार में 10 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई। कलकत्ता के पास अंग्रेजी कम्पनी द्वारा खरीदी गई रसद की सूची से यह बात पता चलती है कि चावल व चीनी जैसी वस्तुओं के दाम में जरूर बढ़ोतरी हुई। इसका यह अर्थ निकलता है कि चाँदी के बुलियन के आ जाने से पैसे की सप्लाई में जो बढ़ोतरी हुई, उससे पूरे क्षेत्र में उत्पादन और कीमतें दोनों में समकालीन वृद्धि हुई होगी।

क्षेत्रीय अर्थव्यवस्थाओं में बुलियन के आ जाने से क्षेत्रीय अर्थव्यवस्थाओं में जोरदार उछाल आया और उसमें से पर्याप्त रकम शाही खजाने में नजराने के तौर पर भेजी जा रही थी, परन्तु इसमें से अधिकांश पूंजी क्षेत्रों में ही रुकी हुई थी। कम्पनी के एक प्रेक्षण को मानें तो यह प्रेक्षण बताता है कि बंगाल में बुलियन के आने से बंगाल में 25 करोड़ रुपयों की वृद्धि हुई। यह शताब्दी के मध्य तक का आकलन प्रस्तुत करता है। इस तरह से बढ़ती हुई क्षेत्रीय अर्थव्यवस्था से क्षेत्रीय पुनर्गठन भी हुआ जिससे क्षेत्रीय जमा में बढ़ोतरी और सरकार द्वारा नकद कर वसूल करने की प्रमुखता का द्योतक था।

भारतीय इतिहासकार इस बात पर जोर देते हैं और उनमें सर्वसम्मति भी है कि 18वीं शताब्दी में होने वाली राजनैतिक उलटफेर ने निश्चित तौर पर व्यापार के नेटवर्क को भंग कर दिया। यह विशेष तौर पर पूर्व-पश्चिम और आगरा-सूरत के अक्ष पर रहा। इस बात से कतई इनकार नहीं किया जा सकता कि विघटन नहीं हुआ विघटन तो जरूर हुआ परन्तु यह किस हद तक और किस सीमा तक हुआ, यह पता नहीं लग पाया है। क्योंकि इस समय के राजस्व की मात्रा में कोई कमी नजर नहीं आती। 1571-72 में 4,60,000 रुपये से सूरत का राजस्व 1721 में बढ़कर 700,000 हो गया। कैम्बे में कुल राजस्व 1719 में 1,20,000 रुपये से बढ़कर 1755 में 2,85,000 हो गया। इसी प्रकार भड़ोच में कर का भाग 1714 में 45,000 रुपये था जो 1726 में बढ़कर 50,000 रुपये हो गया। वस्तु संचार और लेन-देन के बहाव से गांवों में उत्पादन और उपभोग पर प्रभाव पड़ा। दूसरे स्थानों पर भी व्यापार में ज्यादा गिरावट नहीं आयी।

उपर्युक्त वर्णन से यह पता चलता है कि क्षेत्रीयकरण ने पिछली शताब्दी में हो रहे व्यापार को इस क्षेत्रीयकरण ने किसी प्रकार कम नहीं किया और न ही कोई नुकसान पहुँचाया। मुगल राजपथों के यातायात में भी किसी प्रकार की कोई कमी नहीं आयी। यदि यह कमी कहीं-कहीं आयी, तो दूसरी जगह पर हुई बढ़ोतरी ने इसे पूरा कर दिया। पूरी शताब्दी में बनजारों (अनाज ढोने वाले) का आवागमन बनारस से मिर्जापुर होकर दक्खन जाना बना रहा। इससे पता चलता है कि लम्बी दूरी के व्यापारिक एकीकरण में पश्चिम भारत (मालवा) राजस्थान और उत्तरी भारत के बीच प्रचलित हुण्डी प्रथा उपयोगी सिद्ध हुई। हुण्डी के व्यापारी अपना कार्य इतनी कुशलता से कर रहे थे कि वे मराठा क्षेत्रों में भी जहाँ नजराने देने के एक जटिल चक्र प्रचलित पर भी अपना अधिकार जमाये रहे और उन्होंने पूर्वी भारत के मामले में भी ऐसा ही किया, जहाँ से राजस्व बाहर जा रहा था। कर्ज अभी भी मिल जाता था और भेजी जाने वाली रकम को लम्बी दूरी तक भेजा जा सकता था। बंगाल के सम्बन्ध में देखा जाये तो यहाँ चावल व चीनी के बदले कारोमण्डल तट से कपड़ा, मालद्वीप से कौड़ी और लाल सागर क्षेत्र से पैसा आता था। कपड़े के उत्पादन के मामले में इस

शताब्दी में क्षेत्रीय विशेषीकरण बढ़ा। उत्पादन पहले से अधिक हो रहा था, जो अग्रिम अनुबन्धों से सम्बन्धित था। इसमें बुनकरों और किसानों को व्यापारियों के एजेंट कच्चा माल, पैसा, बीज आदि दे देते थे और बदले में फसल या कपड़ा उत्पादन के रूप में लेते थे। जिससे उत्पादन को बढ़ावा मिला।

गाँव की स्थिति के सम्बन्ध में यदि देखा जाये तो उत्पादकता बढ़ाने के लिए दीर्घकालीन तकनीकी सुधारों के अभाव में वह किस कारण सम्भव हुई। इसके पीछे क्या कारण रहा? यह कृषि क्षेत्र के बढ़ने से सम्भव हुई या तीव्र विपणन से या कृषि श्रमिकों को नियन्त्रण में रखने के नये-नये तरीकों से क्योंकि 18वीं शताब्दी में ये तीनों ही तरीके उपस्थित थे परन्तु अलग-अलग व भिन्न-भिन्न रूप में। पंजाब में भूमि की समिति में कमी दर्ज की जा रही थी और दिल्ली, आगरा के आसपास के क्षेत्रों में भी उतार-चढ़ाव का दौर चल रहा था। दक्खन व मराठा क्षेत्रों में कृषि सुधार की दिशा में कार्य प्रगति पर था। इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राजस्थान में भी बड़े महत्वपूर्ण ढंग से कृषि कार्य में सुधार हुआ। भू-राजस्व की तुलना में कीमतें अधिक तेजी से बढ़नी शुरू हुई जिससे कृषकों को कृषि में विस्तार करने के अलावा कोई विकल्प नजर नहीं आ रहा था। साथ ही नकदी फसलों का प्रचलन भी बढ़ा। प्रशासन अनाज को कर के रूप में लेता था। नकदी फसलें बाहर भेजी जाती थीं। रिचर्ड ईस्टन ने गंगा डेल्टा में पूर्व की स्थिति की अपेक्षा अब कृषि क्षेत्र के विस्तार के सम्बन्ध में लिखा है। यहाँ धान की उपज को बढ़ावा मिला और अधिक मात्रा में धान की फसल का उत्पादन शुरू हुआ, जिसका फायदा न सिर्फ यहाँ रहने वाले लोगों को हुआ, बल्कि कलकत्ता जैसे विकसित होते शहर के निवासियों और पश्चिम के बुनकर क्षेत्रों के निवासियों को भी पर्याप्त मात्रा में खाद्य पदार्थों की प्राप्ति हुई। अधिक कर वसूली से नये बाजार केन्द्रों का उदय हुआ।

भूमि को विकसित करने में कई लोग शामिल थे। इसमें धनी, जमींदार, इजारेदार और व्यापारी शामिल थे। महाराष्ट्र, अवध और बिहार में विस्तृत रूप से नये-नये बाजार स्थापित हो रहे थे जिनको पेंट, बाजार और गंज के नाम से जाना जाता था। गाँव स्तर के बाजार को हाट के नाम से जाना जाता था। इनकी संख्या में अप्रत्याशित रूप से वृद्धि हुई क्योंकि गाँवों में इन्हीं के माध्यम से आदान-प्रदान होता था। मराठा दक्खन में बटाई को वाटेकारी कहा जाता था और पूर्वी भारत में बटाईदार, अधियार या बर्गदार कहलाते थे। आश्रित-श्रम अवध और पूर्वी भारत तक फैला हुआ था। भारत में कृषि क्षेत्रों में दास-प्रथा और बंधुआ मजदूरी में वृद्धि हो रही थी।

देशी राज्यों में 18वीं शताब्दी में जो आर्थिक प्रगति हो रही थी, इसके सम्बन्ध में कोई संदेह नहीं है। यह निश्चित रूप से चल रही थी। जहाँ जनसंख्या वृद्धि के आंकड़े कम मिलते हैं, वहीं इन राज्यों में कृषि विस्तार और व्यापार में वृद्धि के आंकड़े पर्याप्त रूप में उपलब्ध हैं। साम्राज्य के खण्डीकरण का क्षेत्रीय अर्थव्यवस्था पर

कुछ क्षेत्रों को छोड़कर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। क्षेत्रीय अर्थव्यवस्थाओं की स्थिति अच्छी थी। इस बदलते हुए राजनैतिक माहौल में समूचे भारत के व्यापार में समृद्धि आयी और ये विस्तारित भी हुए।

1757 के बाद की अवधि को भारतीय अर्थव्यवस्था की एक बहुत बड़ी विभाजक रेखा के रूप में देखा जाता है। पी.जे. मार्शल जिन्होंने 18वीं शताब्दी में कम्पनी के शासन का पुनर्मूल्यांकन किया और बताया कि कम्पनी के भारत में राजनैतिक सत्ता स्थापित करने के चार प्रमुख उद्देश्य थे:

1. व्यापारिक प्राधिकार को बदलकर सम्पूर्ण अधिकार में परिवर्तन को निश्चित करना।
2. सीमित क्षेत्रीय अनुदानों को कम्पनी की सम्पत्ति में बदलना।
3. राजस्व अधिक से अधिक इकट्ठा करना।
4. कम्पनी की सुरक्षा के लिए सशस्त्र सेना का प्रबन्ध करना।

प्रारम्भ में कम्पनी का जो आशावाद और आडम्बरपूर्ण आत्मावलोकन था, वह धीरे-धीरे मंद पड़ता गया और अंग्रेज भी इन अधिकारों को जताने के लिए थोड़ी सतर्कता से काम लेने लगे, क्योंकि वे भारतीय राज्यों के मामले में दखलंदाजी नहीं करना चाहते थे। उन्हें अपने स्वार्थों के कारण सुरक्षित देखना चाहते थे। वे विदेशी शासक थे और उनके पास शक्ति भी थी, परन्तु वे आम जनता के अधिक सम्पर्क में नहीं थे, जिसके कारण उनकी उपलब्धि सीमित ही रही।

18वीं शताब्दी के अन्त में भारतीय अर्थव्यवस्था की दिशा निर्धारण में कम्पनी की क्या भूमिका थी, यह जानने के लिए कम्पनी के अधिकार और नियन्त्रण के परिदृश्य को समझना जरूरी है। मुगल साम्राज्य का पतन कम्पनी की सत्ता स्थापित करने में सहायक जरूर हुआ परन्तु वह उसका कारण नहीं बना। यह कम्पनी को एक अवसर के रूप में हाथ लगा और जिसका पूरा-पूरा फायदा कम्पनी ने उठाया और अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए इसका लाभ लिया। पहले की विचारधारा यह मानती थी कि साम्राज्य के पतन से स्थिति एकदम अव्यवस्थित हो गयी थी, परन्तु यह विचार पूर्ण रूप से सत्य नहीं था। इसी कारण इसमें अब संशोधन किया गया है कि थोड़ी-बहुत व्यवस्था तो अभी बाकी थी, परन्तु वह भौगोलिक रूप तक ही सीमित थी और उसकी क्षतिपूर्ति भिन्न-भिन्न स्तरों पर व्यापारिक रूप से होती रही।

कम्पनी की सफलता इन व्यापारिक तरीकों को खत्म करने में ही थी और कम्पनी ने बड़ी चालाकी से अव्यवस्था का सहारा लेकर सेना का गठन किया और उसे शक्तिशाली बनाया और अपने प्रतिद्वन्द्वियों पर अपना आधिपत्य जमाया।

कम्पनी को जो व्यापारिक छूट प्राप्त हुई, जिसे उसने बाद में राजनैतिक पूँजी के रूप में इस्तेमाल किया, जिसे मुगलों और उनके सूबेदारों द्वारा कम्पनी को प्रान्तों में प्रदान किया गया था। कम्पनी के व्यावसायिक और सैनिक स्वार्थ थे, जिनका उद्देश्य यह था कि कम्पनी किसी भी कीमत पर अपने स्वार्थ को सिद्ध करती रहे। इस

112 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

उद्देश्य में उसे सफलता भी मिली। कम्पनी के शासन के प्रारम्भिक वर्षों में बदलाव की स्थिति में भी उन्हें देश के राजनैतिक, व्यापारिक सहयोगियों से अपनी सैनिक-आर्थिक आवश्यकताओं को आगे बढ़ाने की स्वीकृति प्राप्त थी।

ब्रिटिश साम्राज्य के प्रारम्भिक वर्षों के आर्थिक परिणाम क्या रहे? इसे समझने के लिए उसके क्षेत्रीय आयामों को समझना जरूरी है। यह साम्राज्य अपने सौ सालों के क्रम में अपने स्वरूप में आया और यह देशी राज्यों पर विजय, सहभागिता और सहयोजन द्वारा अखिल भारतीय साम्राज्य के रूप में स्थापित हो गया। कम्पनी ने 1757 और 1792 के बीच उत्तर और पूर्वी भारत का 3,88,500 वर्ग कि.मी. क्षेत्र अपने कब्जे में ले लिया था। सी.ए. वेली के अनुसार भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के निर्माण की शुरुआत उस समय हुई जब नेपोलियन से युद्ध के कारण ब्रिटेन के साधनों पर दबाव पड़ रहा था और इसकी विशेषता थी कि राष्ट्र की प्रतिष्ठा और शक्ति की धारणा तथा अधीनस्थ बनाने की नैतिकता एवं ब्रिटेन की नस्ली श्रेष्ठता थी, एक एकनिष्ठ सोच। 1815 में अंग्रेजों द्वारा भारत का अधिकांश भाग हथियाने का प्रयास चल रहा था और 1856 तक यह भाग 25.60 लाख हो गया, जो अंग्रेजों के कब्जे में था। यह कुल मिलाकर भारत का 60 प्रतिशत भाग अंग्रेजों के कब्जे में आ गया।

भारत के अधिकांश इतिहासकार कम्पनी को अधिक मजबूत और अच्छी संरचना वाली व शक्तिशाली मानते हैं। वे कहते हैं कि कम्पनी में शुरू से ही कर को अत्यधिक बढ़ाने की कठोर प्रवृत्ति थी। इसने भारत और यूरोप के बीच चले आ रहे व्यापार की तस्वीर ही बदल दी। इसी के कारण भारतीय धन का बहाव ब्रिटेन की ओर होने लगा।

इस विनाशकारी और शोषक प्रवृत्ति ने भारतीय अर्थव्यवस्था पर बड़ा भयंकर प्रभाव डाला। शिल्प उत्पादन और कृषि क्षेत्र में उथल-पुथल हो गयी। कुल मिलाकर देखा जाये तो यह स्थिति बहुत विनाशकारी व कंगाल कर देने वाली थी। बंगाल कम्पनी का प्रारम्भिक वर्षों में मुख्य केन्द्र रहा और पैसे का स्रोत भी यही रहा। बंगाल जो कम्पनी के शासन का प्रथम केन्द्र भी था, से मिले आंकड़ों को यदि देखा जाये तो यहाँ कृषि उत्पादन का 40 से 45 प्रतिशत तक भूमि कर के रूप में वसूल किया जाता था और यह रकम लगातार बढ़ाई जा रही थी। कर की रकम तो बढ़ाई जा रही थी, परन्तु यह नहीं कि इस प्रणाली में कोई अन्तर किया जा रहा हो। यह वसूली केवल नकद होती थी और इससे मौद्रिकीकरण को जरूर बढ़ावा मिला। कम्पनी के कर एकत्र करने का तरीका पुरानी परम्पराओं से एकदम भिन्न था। ऐसे समय में जब कीमतें गिर रही होती थी, तो मुगल कर अधिकारी अक्सर माल के रूप में कर वसूलते थे, जिससे किसानों पर अधिक भार न पड़े, परन्तु यह लचीला तरीका अब एकदम बन्द कर दिया गया था। कम्पनी हमेशा नकद रूप में कर देती थी। वह इस बात की परवाह नहीं

करती थी कि कीमतें गिर रही हैं। इससे कृषि व्यवस्था पर क्या असर पड़ेगा, कृषकों पर क्या असर पड़ेगा, कृषि के लिए मौसम कैसा रहा है या फसल बर्बाद हो गयी है। कम्पनी अपना राजस्व केवल नकद वसूलती थी और वह किसी बात की परवाह नहीं करती थी चाहे उससे कृषकों पर कोई भी असर क्यों न पड़े।

लेकिन यदि यह मानकर चला जाये कि कर की वसूली केवल नकद होती थी, तो इसके पीछे यह भी देखना होगा कि कर का बोझ बढ़ा या नहीं। यह उस समय प्रचलित दामों को देखने से पता चल जायेगा। इस बारे में केवल इतना ही पता चल पाता है जो कि सदेहास्पद लगता है कि कर का बोझ बढ़ गया था और वस्तुओं के दाम कम हो गये थे क्योंकि कर की वसूली जबरदस्ती होती थी, लेकिन कृषि उपज और गैर-कृषि उत्पादों के दामों में पर्याप्त वृद्धि हुई। यदि सबसे रूढ़िवादी अनुमान को माना जाये तो यह पता चलता है कि 18वीं शताब्दी में कृषि उत्पादों की कीमतें दुगनी हो गयी थीं। 1790 के बाद इन दामों में कुछ कमी जरूर आयी, परन्तु शताब्दी के मध्य में जो स्थिति थी अब उससे अधिक दाम हो गये थे और यह स्थिति 1795 तक चलती रही। 1800 के बाद ही कीमतें कुछ कम हुई, लेकिन यह भी 1736-40 में जितनी कीमतें थीं, उससे कम नहीं हुई। इसका बोझ सीधा छोटे व सीमान्त किसानों पर पड़ा। जमींदार व बड़े व्यापारी इस दबाव को आसानी से झेल गये और समृद्ध भी बने। कुछ इतिहासकार कहते हैं कि इसी समय जोतदार या समृद्ध किसानों का उदय हुआ।

1773 में बंगाल के कारखानों से जारी किये गये कम्पनी के दस्तावेजों से पता चलता है कि अंग्रेज, डच और फ्रेंच कम्पनियों द्वारा जो निवेश किया गया और निजी यूरोपीय व्यापारियों द्वारा कुल निवेश पूरे साल में कमाये जा सकने वाले पैसों का दुगना था। यदि व्यापार को देखा जाये तो 1777 और 1797 के बीच यहाँ से दुगना निर्यात हुआ जिसमें अधिकतर कपड़ा, खाद्य वस्तुयें और दूसरा कच्चा माल सम्मिलित था जिसके बदले कीमती धातुएँ और निर्मित सामान आयात किया जाता था। ब्रिटेन के लिए अभी तक भारत कच्चे माल का स्रोत या गोदाम नहीं बन पाया था। के.एन. चौधरी का कहना है कि “1757 की क्रांति के बाद पचास सालों में भी व्यापार परम्परागत धाराओं से प्रभावित हो रहा था।” इस प्रकार के विवरणों से यह बात सामने आती है कि अठारहवीं शताब्दी में बंगाल की वाणिज्यिक अर्थव्यवस्था की जीवतंता में कोई अन्तर नहीं आया था। अभी तक भी वह सुचारु रूप से चल रही थी। अंग्रेजी शासन का उस पर अभी ज्यादा असर पड़ना शुरू नहीं हुआ था।

बंगाल के अलावा अन्य जगहों पर भी व्यापारिक सौदे के अच्छे बाजार स्थापित हो रहे थे। इस शताब्दी के अन्तिम वर्षों में बुन्देलखण्ड, गाजीपुर और मिर्जापुर बंगाल में बनी चीजों के लिए पश्चिम और दक्षिणी भारत में अच्छे बाजार बन गये थे। बनारस से बने कपड़े का 43 प्रतिशत तक भाग पश्चिम भारत में बेचा जाता

था। 49 प्रतिशत बंगाल भेजा जाता था। वहीं से इसे जहाजों से विदेशों में भेजा जाता था। बाकी 8 प्रतिशत उत्तरी और दक्षिणी प्रान्तों में भेजा जाता था। बनारस में बना रेशम जो वहाँ का सबसे महंगा कपड़ा होता था, पश्चिमी और उत्तरी बाजारों में बेचा जाता था, जबकि बंगाल में सूती कपड़ा बनता था और यह ज्यादा कीमती नहीं होता था, फिर भी भारत के इस क्षेत्रीय विभाजन उत्पादन में इसके आन्तरिक व्यापार पर कोई असर नहीं पड़ा था। गुजरात और मध्य भारत से रूई मालवा से अफीम और नील भारत के सामुद्रिक व्यापार की मुख्य चीजें थीं जो पहले से भारत के सामुद्रिक व्यापार में आयी कमी को पूरा करने में सहायक बनीं। भारतीय सामान की न सिर्फ यूरोप में बल्कि उत्तरी अमेरिका, इण्डोनेशिया में भी अच्छी मांग थी। 1790 तक पश्चिम एशिया के बाजारों में फिर से जान आयी और अफीम के उत्पादन पर कम्पनी का एकाधिकार था, परन्तु इससे ज्यादा असर नहीं पड़ा और यह प्रयास उतना सफल भी नहीं हुआ जितना कि कुछ इतिहासकार इसे मानते हैं। बी.बी. चौधरी ने इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि इन नकदी फसलों के उत्पादन या विक्रय हेतु अग्रिम भुगतान व्यवस्था के बावजूद बाजार गठजोड़ विशेषकर कीमतें ही कृषकों का इन फसलों की ओर स्वतंत्र रवैया निर्धारित करती थी। किसान अग्रिम आने वाली रकम को अपनी निश्चित आय मानकर उसका स्वागत करते थे। चूँकि नील की मांग अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में बहुत बढ़ गयी थी, इसी कारण अब नील का उत्पादन भी इसकी क्षेत्रीय विशेषताओं के कारण माना जाने लगा। बंगाल, बिहार और बनारस ऊँचे दर्जे का नील बनाते थे। अवध में मध्यम श्रेणी का और दोआब व पश्चिमी क्षेत्रों में साधारण श्रेणी का नील बनता था।

इस शताब्दी में एकदम उलटफेर नहीं हुआ। समाज में कुछ अन्य बातें भी थीं, जो निरन्तर चलती रहीं। राज्य और महाजनों के बीच वित्तीय सम्बन्ध जो क्षेत्रीय प्रसार के दौरान स्थापित हुए थे, अभी तक बने हुए थे, बल्कि समय के साथ वे गहराते जा रहे थे। प्लासी के युद्ध के दौरान कुछ महाजनों ने कम्पनी का साथ दिया था परन्तु इसकी समाप्ति के बाद कुछ बदलाव आये। जगत सेठ की पुरानी महाजनी व्यवस्था में कमी आयी परन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनी की बंगाल में होने वाली आय भारतीय महाजनों को दी गई अग्रिम धनराशि पर ही निर्भर करती थी। बनारस के व्यापारियों का समर्थन महत्वपूर्ण था जो हुण्डी के माध्यम से पैसा भारत के कोने-कोने में भेजते थे और उसी के बल पर अंग्रेज अपनी सेना को पैसा बंगाल से दक्षिण या पश्चिम में भेज सकते थे। भारतीय महाजनी प्रथा को कम नहीं आंकना चाहिए और न ही कम्पनी की वित्तीय चालाकी का प्रतिरोध करने में इनको कम आँकना चाहिए। 18वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में बंगाल में किये गये महाजनी प्रथा के प्रेक्षकों से यह बात सामने आती है कि बंगाल के महाजन इस समय भी अपनी पारम्परिक व्यावसायिक प्रथा के अनुसार काम कर रहे थे। उन्होंने कम्पनी को सहयोग तो जरूर दिया परन्तु अपनी

शर्तों पर। यह उन्हीं के कारण था कि कम्पनी द्वारा 1835 में बंगाल में बार-बार मुद्रा में सुधार करने का प्रयास असफल रहा। बंगाल ही इस महाजनी प्रथा के सम्बन्ध में अकेला उदाहरण नहीं है, बल्कि अन्य जगहों के उदाहरण भी हैं कि किस प्रकार कम्पनी और महाजनों के बीच प्रारम्भिक वर्षों में सम्बन्धों को स्थायित्व मिला।

भारत के पूर्वी भागों में जो राजनैतिक सत्ता में बदलाव आये उससे क्षेत्रीय व्यापारी जो अच्छे-खासे समृद्ध थे, की दशाओं पर कुछ असर जरूर पड़ा, परन्तु पटना और बिहार के अन्य क्षेत्रों को देखा जाये तो पता चलता है कि ये समृद्ध महाजनी प्रतिष्ठान न सिर्फ टिके रहे, बल्कि फलते-फूलते भी रहे, क्योंकि ये कम्पनी के संरक्षण में उसकी रकम भेजने का काम बड़े कुशल तरीके से करते रहे। पश्चिम भारत में यह प्रथा कम्पनी की वित्तीय कमजोरी के कारण बढ़ती रही। यहाँ कम्पनी को निश्चित ही पैसों की कमी का सामना करना पड़ रहा था। इससे निकलने के लिए कम्पनी को देशी महाजनों की जरूरत थी।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से यह पता चलता है कि कम्पनी के शासन में महाजनी प्रथा अभी भी सुचारु रूप से चल रही थी, जिसको बनाये रखना कम्पनी की अपनी भी जरूरत थी। हाँ, कुछ क्षेत्रों में इस पर हल्का-फुल्का असर जरूर पड़ा परन्तु महाजनी प्रथा 18वीं शताब्दी में एकदम खत्म हो गयी या एकदम अवनति के गर्त में पहुँच गयी, ऐसा नहीं था।

अंग्रेजी व्यापार के निरन्तर विस्तार ने विशेषकर चीन के साथ अंग्रेजों के गैर-सरकारी व्यापार ने इस सम्बन्ध को और दृढ़ बना दिया। 1752-58 के बीच गैर-सरकारी व्यापार बंगाल के समूचे व्यापार का 7.6 प्रतिशत था। 1759-1764 के बीच 6.8 प्रतिशत और 1766-1772 के बीच 5.96 प्रतिशत था। 1790-1799 के बीच यह बढ़कर 41.88 प्रतिशत हो गया था। इस व्यापार में अत्यधिक वृद्धि हुई और समृद्ध लोगों में व्यापार के लिए पर्याप्त अवसर सामने आये। यह भारतीय साहूकारों के लिए फायदेमंद हुआ क्योंकि वे निजी व्यापारियों को नकद रकम देते थे या अपना पैसा एजेंसियों में लगाते थे। ये कम्पनियाँ कलकत्ता और बम्बई में कार्यरत थीं। ये चीन से अफीम और कपास बेचने के लिए पैसे का प्रबन्ध करती थीं।

दक्षिणी भारत के सम्बन्ध में देखा जाये तो दक्षिणी भारत में कम्पनी और महाजनों के सम्बन्ध के दस्तावेज स्पष्ट नहीं हैं। परन्तु इतना तो जरूर स्पष्ट होता है कि कम्पनी ने देशी महाजनों से अपने सम्बन्ध कम्पनी की सत्ता को बनाये रखने के लिए बनाये थे। दक्षिणी भारत में कम्पनी और महाजनों के सम्बन्ध में कोई विशेष भूमिका नहीं थी, परन्तु कम्पनी के साथ महाजनों की भूमिका लगातार बढ़ती रही, जिसकी कम्पनी को अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए आवश्यकता थी और कम्पनी दूसरे गुटों से भी आर्थिक सहायता प्राप्त करती थी। कम्पनी जब भारत में अपने राजनैतिक सम्बन्ध विकसित कर रही थी तो उन्हें दुबाशों की जरूरत पड़ती

114 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

थी जिनका अर्थ होता था दलाल/दुभाषिया। इन्होंने कम्पनी से बहुत धन कमाया था। ये व्यावसायिक सम्प्रदाय के होते थे और इनके पास इतना धन इकट्ठा हो गया था कि ये अब कम्पनी को धन उसकी वित्तीय सहायता के लिए भी देने लगे। कोरोमण्डल के चेट्टी व्यापारी और ब्राह्मण इजारेदारों ने भी कम्पनी के लिए साहूकारों और लेखाकारों दोनों की भूमिका निभाई। कम्पनी और बम्बई के गैर-सरकारी अधिकारियों ने काली मिर्च और इलायची के व्यापार में बहुत लाभ कमाया। इन देशी व्यापारियों ने कम्पनी को हर सम्भव सहायता देने की कोशिश की जैसा कि मालाबार तटवर्ती इलाके में कम्पनी को उन्होंने व्यावसायिक सुविधाएं प्रदान की। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिणी भारत में कम्पनी के प्रारम्भिक वर्षों में कम्पनी को व्यापारियों और शक्तिशाली समूहों का सहयोग मिला। इन लोगों के लिए 18वीं शताब्दी बढ़ते हुए व्यापारिक सम्बन्धों की शताब्दी थी।

बंगाल में कम्पनी ने जब हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया और यह सफल भी रहा तो यहाँ के शासकों ने बाजारों में जो पूर्व-नियन्त्रण स्थापित कर रखे थे, वे सभी हटा लिये गये। इसी की वजह से जमींदार चौकियां बढ़ गयी थीं और अब कर निर्धारण में जमींदारों की मनमर्जी चलने लगी थी। वे पक्षपातपूर्ण रवैये को अपनाते हुए अलग-अलग मूल्यों पर कर वसूल करते थे। इससे व्यापारियों और जमींदारों के बीच तनाव बढ़ा। कम्पनी ने हस्तक्षेप करके गैर-कृषि करों को नियंत्रित किया और इसका परिणाम यह हुआ कि 1773 और 1790 के बीच स्थिति में कुछ सुधार हुआ। इसमें सबसे प्रमुख कारण था आन्तरिक उपभोग की वस्तुओं पर चौकियों द्वारा लिये जा रहे कई प्रकार के करों की समाप्ति। इस कदम को सफल बनाने के लिए कम्पनी ने कलकत्ता, हुगली, मुर्शिदाबाद, ढाका और पटना में पांच सीमा शुल्क केन्द्र स्थापित किये। दूसरी समस्या जो जमींदारों और तालुकदारों को लेकर थी, इनका बाजार पर पूर्ण नियन्त्रण था। 1790 में कम्पनी द्वारा इसे भी समाप्त कर दिया गया। कम्पनी ने इन बाजारों को एकत्रित किया और व्यापार सम्बन्धित करों को अलग-अलग कर दिया। अब कर लागू करने का अधिकार केवल कम्पनी को था। इस पूरी कार्यवाही ने आन्तरिक व्यापार की संरचना को सरल बनाया।

राज्य व्यापारियों और भूमिपतियों की आय का पुनर्गठन हुआ। इन नीतियों का बंगाल में यह असर पड़ा कि यहाँ बाजारों की संख्या में वृद्धि हुई। बाजारों की वृद्धि से किसानों को निश्चित रूप से लाभ मिला क्योंकि वे अब एक विकसित बाजार से अपना सम्बन्ध बना सकते थे।

भूमिपति जिन्होंने भीतरी क्षेत्रों में बाजार स्थापित कर रखे थे कृषकों को उधार देते थे और कृषि कार्य में सुधार के लिए वित्तीय सहायता भी देते थे। अब वे भी इस व्यापार में शामिल हो गये। अवध, महाराष्ट्र, प्रायद्वीपीय भारत में 18वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में स्थिति यद्यपि अनुकूल नहीं थी फिर भी कुलीन और भद्र

लोगों द्वारा यहाँ बाजार स्थापित किये गये। महाराष्ट्र में तो बाजारों ने छोटे-छोटे शहरों का ही रूप ले लिया था। जैसा कि सुमित गुहा बताते हैं कि यहाँ तरह-तरह के लोगों द्वारा व्यापार भू स्वामित्व और ठेके पर राजस्व वसूली को अपनाया गया। अब यहाँ बड़े-बड़े भूमिपतियों द्वारा नील की खेती सीधी शुरू कर दी गयी क्योंकि उनको इसमें लाभ निश्चित रूप से नजर आ रहा था, परन्तु अधिकतर लोग अब भी नील और अफीम के व्यापार में अपना पैसा एजेन्सियों के माध्यम से ही लगाना पसंद करते थे।

अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में भारतीय अर्थव्यवस्था : उभरते हुए परिवर्तन

कम्पनी का भारत में शासन स्थापित होना और उसके द्वारा भारतीय गतिविधियों में हस्तक्षेप जो हर क्षेत्र में व्याप्त था, के सम्बन्ध में यह कहना कि भारत में कुछ नहीं बदला या जो कुछ बदला वह भारत के भले के लिए बदला, ठीक नहीं होगा। क्योंकि कम्पनी भारत का हित नहीं देख रही थी। वह तो भारत को हर क्षेत्र में लूटने वाली लालच भरी निगाहों से देख रही थी। उसका रुझान यूरोपीय था और वह वाणिज्यवादी थी। कम्पनी द्वारा अपनी सारी नीतियाँ, सारे लक्ष्य आर्थिक लाभ को ध्यान में रखकर क्रियान्वित किए गए, जिसमें उसका अपना हित सध सकता था। कम्पनी ने वे ही नीतियाँ लागू कीं। उसने भारतीयों के हितों का ख्याल नहीं किया, क्योंकि कम्पनी को सिर्फ और सिर्फ लाभ चाहिए था।

कम्पनी द्वारा लागू किया गया स्थायी बन्दोबस्त उसके अपने हित का साधन था। स्थायी बन्दोबस्त एक ऐसा व्यावसायिक और सामाजिक अधिनियम था जिसके द्वारा बंगाल में कर व्यवस्था को स्थायित्व और कम्पनी ने अपने व्यापार में लाभ कमाने के उद्देश्य से लागू किया था। इसके द्वारा कर वसूलने का अधिकार जमींदारों को दे दिया गया जो निजी जायदाद में शामिल कर दिया गया और इसे बेचा जा सकता था जबकि मुगलकाल में यह जमींदारों को सौंपा तो गया था परन्तु वे उसे अपनी निजी जायदाद नहीं बना सकते थे और न ही वे इसे बेच सकते थे। परन्तु अब जमींदार यह दोनों कार्य कर सकते थे। इस स्थायी बन्दोबस्त से बंगाल के गांवों में व्यक्तिगत स्वामित्व की धारणा ने जन्म लिया। छोटे किसानों को बहुत कष्ट झेलना पड़ा, इसमें कोई शक नहीं कि इसको लागू करने से किसानों की मुश्किलों में अत्यधिक बढ़ोतरी हुई।

अंग्रेजों की इस नीति से जहाँ एक ओर जिनके पास भूमि थी और व्यावसायिक सम्पत्ति थी, को सहारा दिया। यह उन्होंने अपना शासन प्रारम्भिक वर्षों में जमाने के लिए किया, वहीं दूसरी ओर गरीब लोगों को तो नुकसान ही झेलने पड़े। कम्पनी की कर बढ़ोतरी की नीति बड़ी कठोर थी। कम्पनी नकद रूप में कर इकट्ठा करती थी, चाहे फसल कैसी भी क्यों न हो। इससे किसानों के पास कोई सहारा नहीं बचता था, जैसा कि मुगल प्रशासन में अक्सर मिलता रहता था। ये किसान अक्सर अकाल और भुखमरी के शिकार बनते

थे। परन्तु क्या यह सोचना सही है कि कृषि व्यवस्था एकदम तबाह हो गयी थी और किसानों में तबाही मच गयी थी। वास्तविक स्थिति और भी जटिल थी। राज्य के उत्तरी छोर पर बड़े नदी मुहानों पर कृषि कार्य तेजी से चल रहा था जिसका लाभ निश्चित रूप से जमींदारों-जोतदारों को मिल रहा था। उनकी स्थिति और अधिक मजबूत होती जा रही थी। उत्तरी सीमाओं के जोतदार कर्ज देते थे और कम दूरियों के कृषि व्यापार कार्य में लगे थे। इस शताब्दी के अन्तिम वर्षों में ग्रामीण स्तरीकरण बढ़ा।

दक्षिण भारत के सम्बन्ध में देखा जाये तो वहाँ अंग्रेजों का हस्तक्षेप होने से नकद सौदों में बढ़ोतरी हुई और किसान भू-स्वामियों ने गाँव के ठेकेदारों के रूप में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली। ये भू-स्वामी जिन्हें मिरासदार कहा जाता था खेती के साथ-साथ इजारेदारी और स्थानीय स्तर पर कृषि प्रबंध का कार्य भी संभालते थे। महाजन मिरासदारों ने गाँव में ठेके पर कर वसूली के लिए अपनी जमीन, श्रमिक और विविध वाणिज्यिक सम्पत्तियों के माध्यम से विभिन्न वित्तीय साधनों को एकत्र किया। इससे गाँव के जो कम अधिकार वाले समूह थे उनकी स्थिति में बदलाव आया और उन्हें मजबूरीवश सामाजिक और आर्थिक अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। डेविड वाश ब्रुन यह बताते हैं कि कम्पनी ने किस प्रकार सीधा हस्तक्षेप दो विरोधी तत्त्वों, पारम्परिक सामाजिक सम्बन्धों और आधुनिक अनुबन्ध की विधि को एक साथ लाकर किया। इसमें पहला, मौजूद सामाजिक संरचना को बनाये रखने के लिए था और दूसरा, बढ़ते हुए व्यापारिक अवसरों को अपने अनुकूल बनाये रखने के लिए था। ये दोनों ही श्रमिकों के लिए हानिकारक थे। जहाँ एक ओर पारम्परिक रूप से चले आ रहे श्रमिक नियन्त्रण के बन्धनों को कानूनी वैधता प्रदान की गई, वहीं दूसरी ओर कृषि मजदूरी माँग और पूर्ति के आधार पर तय की जाने लगी तथा वे कान्ट्रैक्ट द्वारा बाध्य थे। पहले की स्थिति से भी कम्पनी एक व्यापारिक कम्पनी थी, जो कठोरता के साथ अपना काम करना भली प्रकार जानती थी। कुछ क्षेत्रों में कम्पनी को व्यापार में एकाधिकार भी था और इस एकाधिकारी व्यापारी के रूप में उनका उन उत्पादकों के प्रति व्यवहार बहुत कठोर था, जो उसके नियन्त्रण में लेन-देन करते थे। माल की डिलीवरी के मामले में भी कम्पनी का रवैया सख्ती का था। वह हमेशा बुनकरों से कम मजदूरी पर कार्य कराना चाहती थी। जब खाने-पीने की चीजों के दाम बढ़ गये, तो आम आदमी को इससे परेशानी होने लगी। यह बात भी महत्व रखती है कि जब अकाल पड़ा तो इसमें मरने वालों की संख्या में ज्यादातर वे लोग थे जो कम्पनी के ही कारखानों में कार्य करते थे। पार्थ सारथी ने दक्षिण भारत के कारोमण्डल टट के बुनकरों का अध्ययन करके यह पता लगाया कि वे कारीगरों की उन समस्याओं पर नजर डालते हैं जो दिन-ब-दिन उनके लिए बढ़ती चली जा रही थी। उनके अनुसार अब कारीगर एक ऐसे नये किस्म के नियन्त्रण में आ गये थे, जहाँ उनके कई परम्परागत

अधिकार छिनते चले गये। इससे उनकी मजदूरी कम हो गयी थी, जो उनके लिए आर्थिक तंगी अपने साथ लेकर आयी थी।

परन्तु यदि बंगाल का अध्ययन देखा जाये तो वहाँ के सूती बुनकरों के साथ यह कठोर समस्या नहीं थी। बहुत-से कारीगरों ने इससे बचने के तरीके भी ढूँढ लिये थे और साधारण सूती कपड़े के बाजार थे और यहाँ अभी बढ़िया सूती कपड़ा अभी भी उत्पादित किया जा रहा था। इससे ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि सूती कपड़े का उत्पादन करने वाले गाँव के व्यापारी अभी भी अपना कार्य अच्छी तरह से चला सकते थे। बंगाल का सूरत को रेशम निर्यात 1766 में .45 मिलियन रुपये से घटकर 1789 में .03 मिलियन रुपये हो गया था, वहीं उत्तर भारत का बाजार इस समय अच्छा चल रहा था। 1789 में गाँवों में बंगाल के कच्चे रेशम का उपभोग 1.99 मिलियन रुपये था, जो 1790 में .92 मिलियन रुपये से बढ़कर 1789 में 5.54 मिलियन रुपये हो गया। व्यापारिक लेन-देन के क्षेत्र, मात्रा और परिमाण बढ़ने के बावजूद कम्पनी के हस्तक्षेप का यह परिणाम निकला कि इसने भारतीय अर्थव्यवस्था को यूरोपीय ढंग से होने वाले व्यापार उत्पादन के चक्र में ढाल लिया। परन्तु यह एकीकरण एकदम नया नहीं था। यह भारत में 17वीं शताब्दी में ही शुरू हो गया था जब भारत का यूरोप के साथ स्थायी रूप से व्यापार प्रारम्भ हो गया था। 18वीं शताब्दी में आयी इस प्रक्रिया की तीव्रता ने इसे और विस्तारित कर दिया। अब एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह आया कि भारतीय अर्थव्यवस्था भी विश्व अर्थव्यवस्था के साथ जुड़ गयी। विश्व अर्थव्यवस्था में होने वाले उतार-चढ़ाव अब भारतीय अर्थव्यवस्था को भी प्रभावित करने लगे। इस पद्धति से कई भारतीय लोग समृद्ध बने और वाणिज्यिक अवसरों से आर्थिक लाभ में जो वृद्धि हुई, उससे कहीं अधिक भारत से निकास हुआ। इससे देश को कोई विशेष लाभ नहीं मिला। इससे देश में वित्तीय और वाणिज्यिक मुनाफाखोरी शुरू हो गयी। गैर-सरकारी रूप से अंग्रेजों ने और व्यक्तिगत रूप से इजारेदार अंग्रेजों ने अफीम और नील के बढ़ते व्यापार और राजनैतिक क्षेत्रों में व्याप्त भ्रष्टाचार ने इन्हें लाभ कमाने का अवसर दिया। इस प्रकार से इकट्ठी की जा रही धनराशि भारत से अंग्रेज गैर-सरकारी व्यक्तिगत नौ-परिवहन कम्पनियों द्वारा और पुर्तगाली वाणिज्यिक कम्पनियों के माध्यम से पूर्वी एशिया विशेषकर मकाओ और केण्टन जो दोनों चीन के दक्षिण छोर पर स्थित बन्दगाह थे, को भेजी जाती थी, जहाँ बसे प्रवासी यूरोपीय इससे लाभ कमाते थे। इन एजेंसियों के माध्यम से ही यूरोपीय व्यक्तियों के वेतन अधिशेष और प्रायः गैर-कानूनी ढंग से कमाया गया धन भारत से बाहर भेजा जाता था। गैर-सरकारी धन के साथ-साथ भारत के अधिशेष का बहुत बड़ा हिस्सा ब्रिटेन को नजराने के रूप में भेजा जाता था, जो भारत से धन निकासी के रूप से ही जाता था। यह प्रारम्भिक वर्षों में भारतीय अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों में से एक महत्वपूर्ण प्रभाव था। एक अनुमान के अनुसार यह निकासी 4 मिलियन पाउंड

116 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

थी, जिसमें सरकारी व गैर-सरकारी दोनों प्रकार की निकासी सम्मिलित थी। यह अनुमान 1780 और 1790 के आसपास का था। भारत से धन की निकासी के रूप में निश्चित तौर पर बहुत अधिक धनराशि भारत से बाहर भेजी जा रही थी।

यह शोषण भारतीय अर्थव्यवस्था को पंगु बनाने में सफल रहा। वस्तुओं के दाम शताब्दी के अन्त तक स्थिर रहे और धन की निकासी निरन्तर होती रही, जिसका बुरा प्रभाव भारतीय अर्थव्यवस्था पर पड़ रहा था। भारत से इतनी बड़ी मात्रा में रकम को ब्रिटेन भेजे जाने से ब्रिटेन के भारत और चीन के साथ व्यापार सन्तुलन में घाटा हुआ था। उसमें अन्तर कम हो गया जिससे कम्पनी को मौका मिल गया कि वह धन को भारत में अपनी सत्ता विस्तार के लिए मोड़े।

सारांश

18वीं शताब्दी के बारे में प्रचलित धारणा के सम्बन्ध में कि यह राजनैतिक, आर्थिक, नैतिक और सांस्कृतिक अवनति की सदी थी, के सम्बन्ध में देखने से पता चलता है कि इस शताब्दी में परिवर्तन तो हुए और कुछ क्षेत्रों में बदलाव भी हुए, परन्तु हर तरफ हर क्षेत्र में अवनति हुए, ऐसा उपर्युक्त अध्ययन व इस अध्याय से नहीं लगता है। इस शताब्दी में बदलाव तो हुए परन्तु कुछ क्षेत्रों में उन्नति भी हुई और पहले से हो रही अवनति की क्षतिपूर्ति भी हुई।

18वीं शताब्दी की मुख्य विशेषता मुगल साम्राज्य का पतन था और इसी समय नये-नये क्षेत्रीय राज्यों का भी उदय हो रहा था और शताब्दी के मध्य में अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना से भारतीय इतिहास में एक बदलाव आया जिसका व्यापक असर पड़ा। 18वीं शताब्दी की व्याख्या करते समय इतिहासकारों के दो दृष्टिकोण सामने आते हैं, जिसमें पहले साम्राज्य केन्द्रित विचारधारा रखते हैं। ये बताते हैं कि मुगल साम्राज्य के पतन के साथ ही सभी क्षेत्रों में उथल-पुथल मच गयी और मुगल साम्राज्य का पतन भारत के लिए विध्वंसक रहा। इससे अव्यवस्था व अराजकता का दौर उत्पन्न हो गया। हर क्षेत्र में अवनति होने लगी। दूसरी विचारधारा जो क्षेत्र केन्द्रित है, वे इस बात को मानकर चलती है कि मुगल साम्राज्य के पतन से अराजकता और अव्यवस्था नहीं फैली, बल्कि विभिन्न सामाजिक एवं आर्थिक क्रियाओं से क्षेत्र उन्नति के पथ पर अग्रसर हुए। राजनैतिक समस्याएं तो थीं, परन्तु इन्होंने अर्थव्यवस्था में किसी प्रकार की कोई रुकावट नहीं डाली और भारतीय अर्थव्यवस्था का विस्तार हुआ। क्षेत्र केन्द्रित विचारधारा वाले इतिहासकार यह मानते हैं कि यह प्रक्रिया अंग्रेजी शासन के प्रारम्भिक वर्षों तक कायम रही, परन्तु इसमें कई बदलाव आये जिससे भारतीय अर्थव्यवस्था पर आर्थिक बोझ पड़ा।

अभ्यास-प्रश्न

प्रश्न 1. “अठारहवीं शताब्दी सार्वभौमिक रूप से अवनति की शताब्दी थी।” टिप्पणी कीजिए।

उत्तर—अठारहवीं शताब्दी मुगल साम्राज्य की अवनति का काल था। इस शताब्दी के शुरू से अन्त तक भारतीय व्यवस्था में

कई परिवर्तन हुए। इस शताब्दी को लेकर इतिहासकारों में मतभेद रहा है और उनकी विचारधाराएँ आपस में नहीं मिलती हैं। इस शताब्दी में अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी का व्यापारिक कम्पनी से राजनीतिक सत्ता में परिवर्तन हुआ। इस कम्पनी का भारतीय समाज पर व इसकी अर्थव्यवस्था पर भी व्यापक असर पड़ा।

अठारहवीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य के पतन के कई परिणाम हुए। इसमें से कुछ तो अत्यन्त घातक सिद्ध हुए। मुगल साम्राज्य के पतन से राजनीतिक अव्यवस्था व अराजकता व्याप्त हो गयी थी। साम्राज्य के पतन के साथ ही नये राज्यों का उदय हुआ, पर वे अपना विकास उतना नहीं कर पाये जितना कि उनका मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत विकास हुआ था। क्षेत्रीय शासन को मूलतः बदल दिया गया जिससे बंगाल, अवध और हैदराबाद जैसे राज्यों का उदय हुआ।

यदि राष्ट्रवादी विचारधारा के अन्तर्गत 18वीं शताब्दी को देखा जाये, तो ये मानते हैं कि इस शताब्दी में भारत में फैली अराजकता देश के इतिहास में क्षणिक परन्तु भयंकर भूल थी जिसने पनपते हुए राष्ट्र को विदेशी शक्ति के हवाले कर दिया। 18वीं शताब्दी के सम्बन्ध में कुछ इतिहासकार यह मानते हैं कि व्यवस्था और स्थिरता एक सार्वभौमिक राजनैतिक व्यवस्था में ही हो सकती है और चूंकि यह व्यवस्था 18वीं शताब्दी में समाप्त हो चुकी थी इसीलिए इस काल में अव्यवस्था, अराजकता और पतन आया।

18वीं शताब्दी में ही हुए परिवर्तनों में यह परिवर्तन भी महत्वपूर्ण है कि इस समय तीन नई प्रकार की शासन प्रणालियों का उदय हुआ। इसमें प्रथम प्रकार की शासन प्रणाली मुगल शासन में पहले से चली आ रही शासन प्रणाली की प्रतिकृति थी। अवध और बंगाल के नवाब केवल नाम के ही मुगल सूबेदार थे और उत्तराधिकारी राज्यों के रूप में इन राज्यों में शासन करते थे। इन्होंने मुगलों द्वारा शुरू की गई शासन प्रणाली की रीतियों और प्रक्रतियों को अपनाया। दूसरी श्रेणी में वे राज्य आते थे जिनकी स्थापना मुगल साम्राज्य से हटकर हुई थी। इसमें जाट, सिख और मराठा राज्य आते थे। इन राज्यों से निश्चित तौर पर मुगल साम्राज्य को हमेशा खतरा बना रहा। तीसरी श्रेणी में वे राज्य आते थे जिसमें हिन्दू, मुसलमान और आदिवासी सम्मिलित थे। इन तीनों ही प्रणालियों का विकास और विस्तार मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात् हुआ। पहले मुगल साम्राज्य एक-सी शासन प्रणाली के अन्तर्गत शासन करता था। 18वीं शताब्दी में तीन-तीन नयी शासन प्रणालियाँ सामने आयीं।

भारत में कम्पनी का शासन स्थापित होने के बाद कई परिवर्तन हुए, जिनका सीधा असर भारतीयों पर पड़ा क्योंकि यह कम्पनी वाणिज्यवादी कम्पनी थी। उसका सारा रुझान यूरोपवादी था। यह किसी भी तरह से भारतीय हितों के सम्बन्ध में नहीं सोचती थी। कम्पनी का मुख्य लक्ष्य सिर्फ आर्थिक लाभ कमाने का था और इसकी सारी नीतियाँ व कार्य इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए

होते थे। कम्पनी ने कई नीतियाँ शुरू कीं। वे सभी क्षेत्रों से सम्बन्धित रहीं, परन्तु उनमें कृषि सम्बन्धी नीतियाँ अधिक भयंकर साबित हुई। कृषि सम्बन्धी नीतियों में स्थायी बन्दोबस्त एक ऐसा व्यावसायिक और सामाजिक अधिनियम था जिसे कम्पनी ने बंगाल में कर व्यवस्था में स्थायित्व लाने के लिए बनाया था। इसके अन्तर्गत कर वसूली के अधिकार को जमींदारों को दे दिया गया और कम्पनी ने अपने कर का हिस्सा निश्चित कर लिया। अब जमींदार कृषकों से मनमाना कर वसूल करते थे।

18वीं शताब्दी में कम्पनी का शासन स्थापित होना भारतीयों के लिए और भारतीय अर्थव्यवस्था व संस्कृति के लिए सही नहीं था। अब अंग्रेज हर तरफ हस्तक्षेप करने लगे थे। मुगल साम्राज्य के पतन से व्यवस्था में भी परिवर्तन होने लगे।

प्रश्न 2. 'साम्राज्य-केन्द्रित' दृष्टिकोण की समालोचना कीजिए। क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि 18वीं शताब्दी 'अराजकता और अव्यवस्था' से पूर्ण शताब्दी थी?

उत्तर—अठारहवीं शताब्दी में इतनी तीव्रता से परिवर्तन हुए कि हर विषय पर इतिहासकारों के अलग-अलग मत हैं। फिर भी इस शताब्दी के सम्बन्ध में इतिहासकारों के मतों को मुख्यतः दो विचारधाराओं के अन्तर्गत बाँटा गया है। इसमें पहली थी साम्राज्य-केन्द्रित और दूसरी क्षेत्र-केन्द्रित विचारधारा।

साम्राज्य-केन्द्रित विचारधारा के अन्तर्गत इतिहासकार मानते हैं कि मुगल साम्राज्य के पतन से विध्वंसक परिणाम सामने आये। देश में अव्यवस्था और अराजकता फैल गयी। 18वीं शताब्दी में दो परिवर्तन देखे जाते हैं। इनमें पहला है कि मुगल साम्राज्य का विभाजन हुआ और वह क्षेत्रीय और उससे भी छोटी संस्थाओं में बंट गया, जिसके परिणामस्वरूप उसका विखण्डन हुआ। दूसरा परिवर्तन था शताब्दी के मध्य में स्थापित होने वाला ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन जिसने प्लासी और बक्सर के युद्धों के बाद राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त कर लिया। इसके परिणामस्वरूप भी कई परिवर्तन आये। सबसे बड़ा परिवर्तन सामूहिक व्यापार में आया, जिस पर अब कम्पनी ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। उसने अपने राजनीतिक आधिपत्य को सैनिक और व्यापारिक कार्यों में प्रयुक्त किया।

विघटनकारी परिणामों में क्षेत्रीय राजनीति में स्थिरता आयी। कम्पनी के शासन से नये राजनीतिक सम्बन्धों का विकास हुआ। कम्पनी ने 1820 तक प्रायः सभी स्वदेशी राज्यों का विलय कर लिया, या तो ये राज्य उनके सहायक बन गये या उनके मित्र बने रहे।

18वीं शताब्दी में परिवर्तन तो हो रहे थे और उनका असर भारतीय परिदृश्य पर भी पड़ रहा था, परन्तु कुछ इतिहासकारों का मानना है कि ये परिणाम इतने विध्वंसक नहीं थे जितना इनको बताया जाता है। ये बताते हैं कि राजनीतिक पुनर्व्यवस्था के साथ क्षेत्रीय आर्थिक पुनरुत्थान भी हुआ और कुछ स्थानों पर अवनति

भी हुई। वहीं दूसरे स्थानों पर जिनका नेतृत्व स्थानीय भूमिपति वर्ग और व्यापारिक वर्ग कर रहा था, वह उन्नति भी देखने को मिलती है। पहले से चला आ रहा मत था कि शताब्दी के मध्य से आर्थिक अव्यवस्था पर जोर पड़ना शुरू हो गया था। परन्तु आज के नये विचार जो सामने आये हैं, उनमें कहा गया है कि कम्पनी ने जब अपनी सत्ता भारत में स्थापित की तो देशी राज्यों पर जोर तो पड़ा परन्तु वे एकदम नष्ट हो गये, ऐसा नहीं हुआ। बंगाल जहाँ कम्पनी का शासन सबसे पहले स्थापित हुआ था और सबसे अधिक था, में भी थोड़े परिवर्तनों के साथ व्यापार और कृषि में समृद्धि आई। और यह समृद्धि इतनी थी कि 19वीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों तक यह उन्नति बनी रही जब तक कि 18वीं शताब्दी की यह समृद्धि धीरे-धीरे समाप्त नहीं हो गई।

18वीं शताब्दी में जो नये-नये राज्य उदय हुए, जिनका उदय मुगलों के विरोध में हुआ था परन्तु उन्होंने जो राजनितिक तन्त्र स्थापित किये उसमें उन्होंने ज्यादातर मुगल प्रशासनिक पद्धतियों का ही प्रयोग किया। इन राज्यों के शासकों ने जमींदारी प्रथा को संदेहपूर्ण दृष्टि से देखा, जबकि इस प्रथा से ही उन्हें शक्ति प्राप्त हुई थी। इसी कारण इन सभी शासकों ने या तो इस प्रथा को त्याग दिया या उसमें अपने अनुसार परिवर्तन करके लागू किया। इन राज्यों के आर्थिक क्षेत्र को देखा जाये तो यह बात सामने आती है कि इन राज्यों के आर्थिक प्रबन्ध में भी मुगल साम्राज्य से भिन्नता थी। इन्होंने अपने आर्थिक लाभ के लिए राजस्व वसूली को इजारेदारों (ठेके के कृषकों) को सौंप दिया। 18वीं शताब्दी में इजारेदारी की प्रथा सम्पूर्ण भारत में व्याप्त हो चुकी थी जिसे मुगल अनुचित मानते थे। इतिहासकार इस शताब्दी की इस प्रथा को विनाशक मानते हैं क्योंकि इससे कृषकों पर जोर पड़ता था, जबकि दिलबाग सिंह द्वारा राजस्थान में किये गये अध्ययन से यह बात सामने आती है कि इजारे के ठेके का निर्धारण राजस्व के हिसाब से नहीं, बल्कि पिछले पांच-सात सालों के राजस्व का हिसाब लगाकर होता था। इससे निष्ठुर राजस्व की वसूली पर रोक लग जाती थी। हाँ, इसमें कुछ कमियाँ तो जरूर थीं। अवध और बनारस के अध्ययन से पता चलता है कि इससे राजस्व बढ़ा और राज्य को इससे लाभ भी हुआ और इसके प्रशासनिक कार्य, अधिकारियों के वेतन आदि कम हो गये। इससे राज्य की आर्थिक व्यवस्था में भिन्न-भिन्न लोगों को हिस्सा लेने का अवसर प्राप्त हुआ। उपर्युक्त वर्णन से 18वीं शताब्दी को सिर्फ अराजकता व अव्यवस्था की शताब्दी नहीं कहा जा सकता। अब हम इस शताब्दी में हो रहे आर्थिक व्यवस्था के परिवर्तनों को देखेंगे कि क्या उनमें भी अराजकता व अव्यवस्था व्याप्त थी।

18वीं शताब्दी में भारतीय अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है, उसमें मुख्यतः दो समस्याएं वाद-विवाद का बिन्दु रही हैं। इसमें पहली आर्थिक संदर्भ की है, जिसमें भिन्न दृष्टिकोणों से क्षेत्रीय आर्थिक सम्बन्धों को देखा गया है। दूसरा

118 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

बिन्दु उपनिवेशवाद के प्रारम्भिक वर्षों में अर्थव्यवस्था में आये परिवर्तनों से सम्बन्धित था। उत्तर मुगलकालीन साहित्य में जिस आर्थिक स्थिति का वर्णन किया गया है उसमें इसे अराजकता और आर्थिक अनिश्चितता की स्थिति बताया गया है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह बहुत कुछ बढ़ा-चढ़ा कर लिखा गया होगा। इतना तो जरूर है कि इन परिवर्तनों से कुछ तो उथल-पुथल जरूर हुई होगी, पर वहीं यह शान्तिपूर्ण रही होगी, तो कहीं इससे शान्ति भंग भी हुई होगी। इस सम्बन्ध में बंगाल, पंजाब और अवध के उदाहरण को देखा जा सकता है। बंगाल और पंजाब में यह शान्तिपूर्ण रही, वहीं पंजाब में इसने शान्ति जरूर भंग की। इस शताब्दी के इतिहास में मराठों के सम्बन्ध में बहुत दोषारोपण किये गये हैं कि इन्होंने भी व्यवस्था भंग करने का काम किया और इस शताब्दी में भारत को आर्थिक व राजनैतिक नुकसान पहुंचाया। मराठों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि इन्होंने 18वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में गुजरात, जो एक समृद्ध व्यापारिक केन्द्र था, को उजाड़ दिया। 1740 में पूर्वी भारत और इस शताब्दी के अन्तिम वर्षों में राजस्थान को लूटा गया। परन्तु इस लूट का भारतीय अर्थव्यवस्था पर 18वीं शताब्दी में कितना अन्तर पड़ा। यह ज्यादा नहीं था और व्यवस्था अब भी सुचारु रूप से चल रही थी। 18वीं शताब्दी में भारतीय सामूहिक व्यापार में 17वीं शताब्दी के मुकाबले विश्वव्यापी आर्थिक विस्तार हुआ और भारत का सामूहिक व्यापार भी बढ़ा।

इस प्रकार हम कह सकते हैं 18वीं शताब्दी अराजकता और अव्यवस्था भी शताब्दी नहीं थी। इसमें कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन जरूर हुए परन्तु वे ज्यादा विध्वंसक थे और इनसे अराजकता व अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न हो गयी हो, ऐसा नहीं था। नये-नये क्षेत्रीय राज्यों का गठन जरूर हुआ परन्तु उनसे व्यापार, अर्थव्यवस्था पर इतना असर नहीं पड़ा कि अराजकता का दौर आया हो।

प्रश्न 3. अठारहवीं शताब्दी का अध्ययन क्षेत्रीय राज्यों में गुंजायमान सामाजिक और आर्थिक गतिविधियों के संदर्भ में कीजिए।

उत्तर—मुगल साम्राज्य में केन्द्र की गुटबन्दी से लेकर स्थानीय और क्षेत्रीय विशिष्ट वर्गों द्वारा स्वयं को सृष्टि बनाना शुरू कर दिया था। इन वर्गों की प्रकृति सभी जगह एक-सी नहीं थी। 18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उत्तर भारत में होने वाले राजनैतिक परिवर्तनों में नये-नये राज्यों की स्थापना हुई, परन्तु इन राज्यों ने अपने राजनैतिक तन्त्र बनाये जो मुगलों से ज्यादा अलग नहीं थे। इन्होंने मुगलों की ही सामाजिक और आर्थिक नीतियों का अनुसरण किया। बस उसमें थोड़ा-बहुत अन्तर जरूर आया। अवध और बंगाल के नवाबों ने शाही दरबार के कई सांस्कृतिक मूल्यों को और कई प्रथाओं को अपनी राजधानी में प्रचारित-प्रसारित करवाया। इन राज्यों ने मुगल शासन प्रणाली का ही प्रयोग अपने राज्य में किया। यहाँ तक कि मराठों ने भी अपना राज्य मुगलों के विरोध में खड़ा किया और स्वतंत्र रूप से सत्ता संभाली। परन्तु राजस्व इकट्ठा

करने का उन्होंने वही तरीका अपनाया, जो मुगलों ने अपनाया था। यह अलग बात है कि मुगलों और उनके अधिकारियों के नाम अलग-अलग होते थे। सिखों ने खालसा जैसी सामुदायिक संस्थाओं की स्थापना की जो मुगलों के तीव्र विरोधी थे, परन्तु वे मुगल सिद्धांतों के आधार पर ही राजस्व इकट्ठा करते थे और मुगलों की जागीर प्रथा की भांति ही उन्होंने भी भूमि के खण्डों का हस्तांतरण किया। शासनतन्त्र की भाषा फारसी ही थी। 18वीं शताब्दी में जब इन नये राज्यों का उदय हुआ तो इनमें कुछ परिवर्तन सामाजिक व आर्थिक क्षेत्रों में हुए, जो पहले से अर्थात् मुगल काल से चले आ रहे थे। अब इन क्षेत्रीय राज्यों ने उनमें परिवर्तन किये। इन राज्यों का मुख्य उद्देश्य आर्थिक लाभ कमाना था। इन्होंने आर्थिक लाभ के लिए राजस्व नकद लेना शुरू किया। उसकी वसूली के लिए मुगलों की तरह वेतनभोगी अधिकारी नहीं रखे, बल्कि इसकी वसूली को ठेके पर कराने लगे जिसे इजारेदारी प्रथा कहा गया। मुगल शासक इस प्रथा को बहुत अनुचित समझते थे। यह प्रथा 18वीं शताब्दी में सम्पूर्ण भारत में व्याप्त हो चुकी थी। इतिहासकार भी इस प्रथा को बुरा मानते आये हैं परन्तु दिलबाग सिंह ने राजस्थान में इस प्रथा का अध्ययन करके यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि थोड़ी बुराइयों के साथ यह प्रथा सही थी। इससे निष्ठुर राजस्व की उगाही पर रोक लग जाती थी। इजारे के ठेके का हिसाब निर्धारित राजस्व के हिसाब से नहीं, बल्कि पिछले पाच-सात सालों की वास्तविक आय के आधार पर किया जाता था। इजारेदारी से राजस्व को बढ़ाया गया जिससे राज्य को लाभ हुए परन्तु प्रशासनिक खर्च कम हो गये। इससे भिन्न-भिन्न लोगों को राज्य की आर्थिक गतिविधियों में हिस्सा लेने का अवसर प्राप्त हुआ। अब समृद्ध लोगों ने भी कृषि प्रबन्ध में पैसा या तो स्वयं जमीन इजारे पर लेकर या जो लोग इस कार्य में लगे थे, उन्हें पैसा देकर हिस्सा लिया। क्षेत्रीय राज्यों में आकार और उसकी भौगोलिक स्थिति पर यदि ध्यान न रखा जाये तो यह कहा जा सकता है कि राज्य और धनी वर्ग के लोगों के बीच एक सम्बन्ध स्थापित हो गया था। मुगल साम्राज्य के पतन के समय बैंकिंग फर्मों का क्षेत्रीय और स्थानीय स्तर पर राजस्व वसूली में प्रभाव बढ़ता जा रहा था। यह नियन्त्रण 18वीं शताब्दी में और बढ़ गया था, और बैंकरों का भूराजस्व वसूली पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो गया था क्योंकि उधार या नकद देने वाले वे ही व्यापारी थे। 1760 के आसपास बहुत सारे छोटे-छोटे राज्यों में ये व्यापारी बैंकर प्रमुख राजनीतिक गुट बन चुके थे। बंगाल जैसे राज्यों में विशिष्ट व्यापारियों को नमक और शोरा जैसी वस्तुओं पर एकाधिकार मिल गया, तो इन लोगों के नियन्त्रण में अब वह क्षेत्र भी आ गया जहाँ से ये लोग शोरा प्राप्त करते थे और इस क्षेत्र में अब उनका राजनैतिक प्रभाव भी बढ़ना शुरू हो गया। इस प्रकार 18वीं शताब्दी में बहुत से छोटे-छोटे राजनैतिक गुटों का बनना प्रारम्भ हो चुका था।

18वीं शताब्दी में जो एक और महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ, वह यह था कि अंग्रेज किस तरह धीरे-धीरे भारत के राजनैतिक जीवन में लालच भरे अपने उद्देश्यों के साथ प्रवेश कर गये थे। भारतीय शासक यूरोपियों की जल और थल दोनों शक्तियों से भली-भांति परिचित थे। मुगल सेना के शस्त्रागार में यूरोपीयों की नियुक्ति होने लगी थी। 18वीं शताब्दी में यह स्थिति बदली और बड़े-बड़े क्षेत्रीय राज्य यूरोपीय ढंग से अनुशासित और सशस्त्र पैदल सेना रखने लगे। 18वीं शताब्दी में शहरी विकास का स्तर भी बढ़ गया था जैसा कि इस शताब्दी के सम्बन्ध में कहा जाता है कि क्षेत्रीयता उत्पन्न होने से सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन बड़े विध्वंसक सिद्ध हुए, परन्तु शहरों के विकास और नये व्यापारिक केन्द्रों के विकास ने इन क्षेत्रों के विकास में सहयोग दिया। कुछ लेखक कहते हैं कि शहरों अवनति हुई और शाहजहाँनाबाद की भी अवनति हुई। दूसरे शहरों जैसे पंजाब में सरहिन्द को भी धक्का लगा। मथुरा जो 18वीं शताब्दी में एक समृद्ध और घनी आबादी वाला शहर था, उसको 1756 में अहमदशाह अब्दाली द्वारा लूटा गया और उसे भारी नुकसान पहुँचाया गया, परन्तु आगरा अभी भी जो मुगल साम्राज्य का सबसे महत्वपूर्ण शहर था, अपनी समृद्धि को बनाये हुए था दूसरी ओर बल्लभगढ़, भरतपुर और कुम्भेर जैसे छोटे शहरों का भी विकास हो रहा था।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन से यह पता चलता है कि 18वीं शताब्दी में क्षेत्रीय स्तर पर सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन हो तो रहे थे पर वे सारे विध्वंसक थे या वे सारे भारत के भविष्य के लिए खतरा उत्पन्न कर रहे थे, यह पूर्ण रूप से सत्य नहीं होगा। 18वीं शताब्दी में क्षेत्रीय राज्यों में सामाजिक और आर्थिक गतिविधियाँ अच्छी तरह से बदल रही थीं जिनका इन राज्यों को लाभ मिल रहा था परन्तु इसमें थोड़े परिवर्तन जरूर हो गये थे।

प्रश्न 4. 18वीं शताब्दी के संदर्भ में इतिहासकारों की क्षेत्र-केन्द्रित विचारधारा का परीक्षण कीजिए।

उत्तर—18वीं शताब्दी की सबसे महत्वपूर्ण घटना मुगल साम्राज्य का पतन और क्षेत्रीय सत्ता के केन्द्रों का विकास था। 18वीं शताब्दी की व्याख्या इतिहासकारों ने दो दृष्टिकोणों से की है। इसमें दोनों विचारधाराओं को मानने वाले इतिहासकार अपने-अपने पक्ष के सम्बन्ध में तर्क रखते हैं। ये दोनों विचारधाराओं में पहली विचारधारा साम्राज्य-केन्द्रित विचारधारा है। इनका मानना है कि मुगल साम्राज्य का पतन इतना विध्वंसक था, जिसके परिणाम भी घातक हुए। चारों तरफ अराजकता व अव्यवस्था फैल गयी। क्षेत्रीय राज्य बने, जो सिर्फ अपने स्वार्थ व आर्थिक लाभों को बढ़ाने के लिए कार्य करते थे। दूसरी विचारधारा जो क्षेत्र-केन्द्रित विचारधारा थी, जो यह मानती है कि मुगल साम्राज्य के पतन के परिणामस्वरूप कोई विध्वंसक परिणाम सामने नहीं आये और न ही अराजकता व अव्यवस्था का दौर आया। इस विचारधारा के इतिहासकारों का मानना है कि मुगल साम्राज्य के पतन के बावजूद विभिन्न क्षेत्रों में

सामाजिक व आर्थिक सेवाओं में सरगमी आयी। राजनैतिक समस्याएँ तो बनी रहीं, परन्तु इन्होंने आर्थिक प्रगति में कोई रुकावट नहीं डाली।

इस क्षेत्र-केन्द्रित विचारधारा के इतिहासकार अपनी विचारधारा में साम्राज्य के विभिन्न भागों में रहने वाले सामाजिक समूहों को बताते हैं। ये बताते हैं कि इन्होंने किस प्रकार राजनैतिक और आर्थिक प्रक्षेप-पंथों की गति को अपनी स्वार्थसिद्धि में बदल लिया। इन्होंने एक स्तर पर मुगल साम्राज्य का जो मूल था उसे ही बदल दिया और इसके परिणामस्वरूप बंगाल, अवध व हैदराबाद जैसे राज्यों की स्थापना हुई जिनका अपना शासन स्थापित हुआ और दूसरे राज्यों की भी स्थापना हुई। जो मुगल साम्राज्य से एकदम हटकर थे और इन्होंने मुगल साम्राज्य के विरोध में इन राज्यों का निर्माण किया था। ये राज्य थे—मराठा, सिख, जाट आदि।

लेकिन क्षेत्र-केन्द्रित विचारधारा के इतिहासकार मानते हैं कि भले ही ये राज्य मुगल साम्राज्य के विरोध में बने हों और इन्होंने अपना राजनैतिक तन्त्र अलग से स्थापित किया हो, परन्तु इन्होंने इस तंत्र में अब भी मुगल साम्राज्य की नीतियों व पद्धतियों को अपनाये रखा। इस बदले परिदृश्य में अधिकारियों ने मुगल कुलीन वर्ग को क्षेत्रों में अपनी शक्ति और मजबूत करने का मौका दिया। इजारेदारी प्रथा को बढ़ावा दिया और क्षेत्रों में व्यापारिक विकास मजबूत हुआ।

अंग्रेजों की बढ़ती हुई शक्ति को एकतरफा प्रक्रम न मानकर भारत के साथ यूरोप की एक लम्बे अरसे से सम्बद्धता थी। ये मानते हैं कि किस तरह भारतीय समाज की परिस्थितियों ने ही अंग्रेजी साम्राज्य को बढ़ावा दिया। इस तर्क के पीछे ये कारण बताते हैं कि अंग्रेजी शासन के निर्धारण में महानगरीय स्वार्थों के साथ-साथ भारतीय कारकों का भी योगदान रहा। ये मानकर चलते हैं कि 18वीं शताब्दी को मात्र अराजकता से भरपूर शताब्दी नहीं कहा जा सकता। उनके अनुसार मुगल साम्राज्य के पतन के बाद जो क्षेत्रीय राज्य उदय हुए, उन्होंने राजनैतिक स्थिरता लाए और मुगल साम्राज्य से भारत आर्थिक संकट में घिर गया या जो पहले स्थिति थी उससे भी भयंकर स्थिति अब पैदा हो गयी थी। ये इतिहासकार ऐसा नहीं मानते। ये मानते हैं कि 18वीं शताब्दी में भी भारत में व्यापारिक और सैन्य कुशलता बनी रही। 18वीं शताब्दी किसी अवरुद्धता को प्रदर्शित नहीं करती, बल्कि यह शताब्दी तो गहरी निरंतरता की शताब्दी थी। इसमें पहले से चली आ रही समस्याएँ और सरंचनाएँ बनी रहीं, परन्तु उनका रूप जरूर बदल गया था। चारों ओर व्यावसायिक प्रक्रियाओं का विस्तार हुआ।

पुरानी धारणा यह थी कि यह शताब्दी नैतिक अवनति और सांस्कृतिक पतन का काल था, लेकिन यह धारणा पूर्ण रूप से सही नहीं थी। अब क्षेत्रों के अध्ययनों और उनके सांस्कृतिक जीवन पर विशेष जोर दिया जा रहा है। इसमें कई क्षेत्रीय राज्यों ने मुगल सांस्कृतिक जीवन को अपनाया और उसे आगे बढ़ाया। लखनऊ,

120 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

हैदराबाद साहित्य और कला संरक्षण और सांस्कृतिक विकास के मुख्य केन्द्र बन गये। 18वीं शताब्दी में बनारस धार्मिक शिक्षा और सांस्कृतिक विकास का मुख्य केन्द्र बन गया। इसमें धार्मिक शिक्षा और तीर्थयात्रा के केन्द्र के साथ-साथ उत्तर भारत में बैंकिंग और व्यापार के केन्द्र के रूप में उभरा। बंगाल में नाडिया संस्कृत शिक्षा और दायभाग हिन्दू कानून सम्बन्धी शिक्षा का केन्द्र थे और विष्णुपुर में क्षेत्रीय स्थापत्य कलाओं और संगीत की विविध शैलियाँ पनपीं।

क्षेत्र-केन्द्रित विचारधारा मुगल साम्राज्य के पतन को किसी अवनति या अव्यवस्था के रूप में नहीं लेती। यह धारणा मुगल साम्राज्य के पतन के सम्बन्ध में जो विचार रखती है, उसमें यह बताया गया है कि इसके पतन से थोड़े-बहुत परिवर्तन तो अवश्य हुए, परन्तु इनसे सामाजिक-सांस्कृतिक व आर्थिक विकास अवरुद्ध हो गया, ऐसा नहीं हुआ। इस समय भी पर्याप्त मात्रा में हर क्षेत्र में उन्नति हुई। नये राज्यों के उदय होने से पूरी व्यवस्था बदल गयी, ऐसा नहीं हुआ बल्कि इन राज्यों ने कुछ हद तक मुगल साम्राज्य के रीति-रिवाज, प्रशासनिक नीतियाँ, संस्कृति आदि को बनाये रखा और उनको अपनी राजधानी में प्रचारित-प्रसारित करवाया।

प्रश्न 5. अठारहवीं शताब्दी में भारतीय अर्थव्यवस्था का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर—अठारहवीं शताब्दी में भारतीय अर्थव्यवस्था की दो समस्याओं पर काफी वाद-विवाद रहा है। इनमें पहली समस्या यह है कि आर्थिक संदर्भ जिसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के क्षेत्रीयकरण दिखाई देता है। इस क्षेत्रीयकरण के क्या प्रभाव दिखाई दिये? आर्थिक विस्तार के लक्षण क्या थे—संकट के या स्थैतिकता के। दूसरा उपनिवेशवाद के प्रारम्भिक वर्षों में अर्थव्यवस्था में आये बदलाव से सम्बन्धित था।

अठारहवीं शताब्दी की अर्थव्यवस्था भी मुख्यतः कृषि प्रधान ही रही। अठारहवीं शताब्दी में शहरी विकास का स्तर बढ़ा न कि घटा, लेकिन समकालीन लेखक इस पर असहमति दर्शाते हैं। लेकिन अभी तक आगरा अपनी समृद्धता बनाये हुए था और नये शहर बल्लभगढ़, भरतपुर, कुम्भेर जैसे छोटे शहरों का भी विकास हो रहा था। हाथरस तथा पानीपत जैसे व्यापारिक केन्द्रों का विस्तार हुआ। 1765 में मुर्शिदाबाद संसार के सबसे धनी शहरों में गिना जाता था।

भारत के आर्थिक स्थायित्व का दूसरा लक्षण था सामुद्रिक व्यापार में महत्वपूर्ण विस्तार। अठारहवीं शताब्दी में पश्चिम एशिया संकट के कारण और मराठा आक्रमणों से सूरत के बन्दरगाह को गहरा नुकसान पहुँचा। आंग्ल-फ्रांसीसी युद्धों के कारण कर्नाटक को अल्प समय के लिए रुकावट आयी, परन्तु इन सबके होने के बावजूद भी भारत का यूरोप के साथ सामुद्रिक व्यापार निरन्तर चलता रहा। बंगाल से होने वाले निर्यात में भी लगातार वृद्धि होती रही, जिससे सन्तुलन बना रहा। अठारहवीं शताब्दी में होने वाले

व्यापार के विस्तार से आय, उत्पादन और रोजगार के अवसर पैदा हुए। यदि बंगाल को ही देखा जाये तो इस शताब्दी के मध्य तक बंगाल में 10 प्रतिशत रोजगार में वृद्धि हुई। कलकत्ता के आसपास कम्पनी द्वारा खरीदी गयी रसद से पता चलता है कि चावल और चीनी जैसी वस्तुओं के दाम अवश्य बढ़ गये थे। इससे यह प्रतीत होता है कि चाँदी का बुलियन आ जाने से पैसे की आपूर्ति में जो बढ़ोतरी हुई, उससे पूरे क्षेत्र में उत्पादन और कीमतों दोनों में समकालीन वृद्धि दिखाई देती है।

गांव के सम्बन्ध में देखा जाये, तो यहाँ उत्पादन बढ़ाने के लिए तकनीकी में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था, लेकिन कृषि क्षेत्र में उन्नति व विकास हुआ। यह उन्नति और विकास किस कारण था इसके पीछे तीन कारण देखे जाते हैं:

1. तीव्र विपणन
2. कृषि क्षेत्र बढ़ने से
3. कृषि श्रमिकों को नियन्त्रण में रखने के नये तरीकों से

अगर देखा जाये तो यह पता लगता है कि अठारहवीं शताब्दी में ये तीनों ही तरीके मौजूद थे। इनको अलग-अलग और तीनों को एक साथ भी देखा जा सकता है। पंजाब की भूमि की स्थिति में जहाँ कमी हो रही थी वहीं दिल्ली और आगरा क्षेत्र भी इस तीव्र उतार-चढ़ाव से जूझ रहे थे। दक्खन में मराठों के नियन्त्रित क्षेत्र में कृषि-कार्य में सुधार हो रहा था और राजस्थान में कृषि क्षेत्र में सुधार कार्य चल रहा था। भू-राजस्व बढ़ने की तुलना में कीमतें तेजी से बढ़ रही थीं जिससे कृषकों को कृषि क्षेत्र में उत्पादन को बढ़ाने की दिशा में प्रेरणा मिली। बंगाल में गंगा डेल्टा के पूर्व की ओर रुख बदलने से कृषि क्षेत्र में विशेष विस्तार हुआ। इससे धान की खेती के लिए नयी जमीन मिली और धान की खेती का विस्तार हुआ। इससे कलकत्ता जैसे बढ़ते हुए शहरों के निवासियों को और पश्चिम में कपड़ा बुनकरों क्षेत्रों के निवासियों के लिए खाद्य पदार्थों की प्राप्ति सुलभ हुई। अधिक कर वसूली से नये बाजारों का उदय हुआ, जो पूर्व में बिहार तक विस्तृत थे। अवध और इलाहाबाद में शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में बढ़ती हुई समृद्धि के साक्ष्य मिलते हैं।

भूमि-सुधार कार्य में कई लोग और एजेंसियाँ शामिल थीं। इसमें धनी जमींदार, इजारेदार और व्यापारी शामिल थे। महाराष्ट्र, अवध, बिहार और बंगाल में पेट, बाजार और गंज के नाम से विस्तृत रूप से नये बाजार स्थापित हो रहे थे। पुराने केन्द्रों को फिर से स्थापित किया जा रहा था।

मुगल साम्राज्य के पतन से स्थानीय अर्थव्यवस्था पर और कुछ केन्द्रीय क्षेत्रों को छोड़कर शायद ही कोई प्रभाव पड़ा हो। क्षेत्रीय अर्थव्यवस्थाओं की स्थिति अच्छी थी। बदलते राजनैतिक माहौल में समूचे भारत में व्यापार नेटवर्क समृद्ध हुए। कुछ क्षेत्रों में इनका विस्तार भी हुआ। इस विस्तार से जिन क्षेत्रों में अवनति हुई थी, उनका सन्तुलन बना।

18वीं शताब्दी में कम्पनी के शासन का पी.जे. मार्शल पुनः मूल्यांकन करते हैं। वे कहते हैं कि कम्पनी की राजनैतिक सत्ता स्थापित करने के पीछे चार कारण थे। इसमें पहला था व्यापारिक प्राधिकार को बदलकर सम्पूर्ण अधिकार में परिवर्तन को निश्चित करना। दूसरा था सीमित क्षेत्रीय अनुदानों का कम्पनी की सम्पत्ति के रूप में रूपान्तरण करना। तीसरा था राजस्व का एकत्रीकरण और इसे अधिक से अधिक बढ़ाना। चौथा था कम्पनी की सुरक्षा के लिए सशस्त्र सेना का प्रबन्ध करना। लेकिन शुरू में कम्पनी ने जो इन अधिकारों को पाने के लिए गति दिखाई थी वह अब धीरे-धीरे मंद पड़ने लगी और अंग्रेज अब बड़ी सावधानी से काम लेने लगे। वे अब भारतीय राज्यों के मामले में दखलंदाजी नहीं करना चाहते थे। वे इन्हें अपने लाभ के लिए सुरक्षित देखना चाहते थे। वे विदेशी शासक थे, इस नाते उन पर कुछ प्रतिबंध अवश्य लागू होते थे और फिर आम जनता से वे अभी दूर थे और उनसे उनका सम्बन्ध अभी भी विदेशी और देशी का बना हुआ था अर्थात् अभी तक वे भारतीय जनमानस को नहीं समझ पाये थे।

ब्रिटिश साम्राज्य के प्रारम्भिक वर्षों के आर्थिक परिणामों को समझने के लिए इसके क्षेत्रीय आयामों को समझना जरूरी है। यह साम्राज्य अपने एक सौ सालों के क्रम में अपने स्वरूप में आया और देशी राज्यों पर विजय, सहभागिता और सहयोजन द्वारा यह धीरे-धीरे अखिल भारतीय साम्राज्य में बदल गया। कम्पनी का यह शासन कठोर कर ढांचे पर टिका हुआ था और इसने भारत और यूरोप के बीच चले आ रहे व्यापार के स्वरूप को बदल दिया। इसने भारतीय धन को ब्रिटेन भेजना शुरू कर दिया, जो भिन्न-भिन्न रूपों में ब्रिटेन की ओर जाना प्रारम्भ हो गया था। इस धन को ब्रिटेन की ओर भेजने के इनके तरीके अलग-अलग थे। इसका सीधा प्रभाव भारतीय अर्थव्यवस्था पर पड़ना शुरू हो गया था। शिल्प उत्पादन एवं कृषि क्षेत्र में इससे बहुत प्रभाव पड़ा। निश्चित तौर पर यह जो धन निकासी का दौर चला था, यह विनाशकारी और अर्थव्यवस्था को कंगाल कर देने वाला था।

बंगाल जिसको कम्पनी के वित्तीय प्रयोगों की प्रयोगशाला भी कहा जाता है, वहाँ से प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर पता चला है कि यहाँ कृषि उत्पादन के 40 से 45 प्रतिशत तक कर के रूप में वसूल किया जाता था और कर की यह माँग बढ़ाई भी जाती थी। परन्तु यदि पुरानी व्यवस्था को देखा जाये तो पता चलता है कि नवाबों के समय में यहाँ कर वसूली 65 से 90 प्रतिशत के बीच की जाती थी। इस मुकाबले में यह 40 से 45 प्रतिशत सही भी था। परन्तु कम्पनी के वित्तीय व्यवहार का एक पहलू यह भी था जो पुरानी व्यवस्था से एकदम भिन्न था। ऐसे समय में जब कीमतें गिर गयी हों, तो मुगल अधिकारी अक्सर माल के रूप में कर लेते थे, जिससे किसानों पर अधिक बोझ नहीं पड़ता था। परन्तु कम्पनी के समय में यह लचीला व्यवहार एकदम बन्द कर दिया गया। कम्पनी

सिर्फ अपना आर्थिक लाभ देखती थी और सारा राजस्व नकद रूप में वसूल करती थी, चाहे वह मौसम या फसल कृषकों के लिए कैसी भी क्यों न रही हो। इसका परिणाम यह हुआ कि गरीब किसानों पर अधिक बोझ बढ़ता चला गया। खासकर जब फसलें बर्बाद हो जाती थीं या अच्छी फसल पैदा नहीं हो पाती थी, जिसका कारण वर्षा या कोई अन्य कारण रहा हो।

1790 तक गुजरात और मध्य भारत से रूई और मालवा से अफीम और नील भारत के सामुद्रिक व्यापार के मुख्य अंग बन चुके थे। ये इसलिए भी महत्वपूर्ण हो गये थे क्योंकि ये भारतीय व्यापार में पहले से चली आ रही कमी को अब आंशिक रूप से पूरा कर रहे थे। भारतीय सामान की मांग उत्तरी अमेरिका, यूरोप व इण्डोनेशिया में बढ़ रही थी। इस समय तक पश्चिम एशिया के बाजार भी सक्रिय हो गये थे। इस समय नकदी फसलों के उत्पादन और विक्रय हेतु अग्रिम भुगतान व्यवस्था के बावजूद बाजार गठजोड़ विशेषकर कीमतें ही कृषकों का इन फसलों की ओर स्वतंत्र रवैया निर्धारित करती थीं। किसान अग्रिम धनराशि को आय का निश्चित साधन मानकर उसका स्वागत करते थे। नील की अन्तर्राष्ट्रीय मांग ने इसके उत्पादन में कुछ क्षेत्रीय विशेषताएँ भी ला दी थी। बंगाल, बिहार और बनारस का नील अच्छे दर्जे का माना जाता था। अवध का नील मध्यम दर्जे का, दोआब और पश्चिमी क्षेत्रों का नील निम्न दर्जे का माना जाता था। राज्य और महाजनों के सम्बन्ध को देखा जाये जो कि अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण माने जाते थे, इनके बीच वित्तीय सम्बन्ध निरन्तर चलता रहा। क्षेत्रीय प्रसार के दौरान भी इनके सम्बन्ध बने रहे और ये निरन्तर गहराते जा रहे थे।

18वीं शताब्दी बढ़ते हुए व्यावसायिक अवसरों का समय था। यहाँ बंगाल का उदाहरण लिया जा सकता है। यहाँ कम्पनी के हस्तक्षेप करने से पूर्व शासकों के काल में जमींदारों द्वारा आन्तरिक बाजारों पर लागू किये गये नियन्त्रण हटा दिये गये थे, जिसका परिणाम यह हुआ कि जमींदारी चौकियाँ बढ़ गयी थीं। कर निर्धारण में जमींदार पक्षपातपूर्ण रवैये द्वारा अलग-अलग रेट से कर वसूलते थे। कम्पनी ने हस्तक्षेप करके गैर-कृषि करों को हटाया, जिसके परिणामस्वरूप स्थिति में थोड़ा सुधार हुआ। कम्पनी ने सर्वप्रमुख आन्तरिक उपभोग की वस्तुओं पर चौकियों पर लिये जा रहे करों को हटाया। इसकी देखभाल के लिए कलकत्ता, हुगली, मुर्शिदाबाद, ढाका एवं पटना में पाँच सीमा शुल्क केन्द्र स्थापित किये गए।

कुल मिलाकर देखा जाये तो 18वीं शताब्दी अराजकता और अव्यवस्था की शताब्दी नहीं थी। अब भी अर्थव्यवस्था सुचारु रूप से चल रही थी। नये-नये बाजार स्थापित हो रहे थे और नये व्यापारिक केन्द्र भी स्थापित हुए व कुछ पुराने व्यापारिक केन्द्रों में सुधार भी हुआ। कम्पनी का शासन स्थापित होने से भी अर्थव्यवस्था एकदम छिन्न-भिन्न नहीं हुई, परन्तु उसमें कुछ बदलाव जरूर आ गये थे।

प्रश्न 6. अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में भारतीय अर्थव्यवस्था में आपको कौन-कौन सी निरन्तरतायें और बदलाव नजर आते हैं?

उत्तर—भारत में कम्पनी का शासन स्थापित होने से भारत में जो बदलाव हुए, वे सब खराब थे या सारा बदलाव भले के लिए हुआ, यह कहना ठीक नहीं होगा। ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक वाणिज्यिक कम्पनी थी। इसका स्वरूप यूरोपीय था। इसका रुझान भी यूरोपवादी था। इसे किसी भी तरह से भारतीय कहना ठीक नहीं होगा। सरकार का सारा ध्यान उसके आर्थिक लाभों पर निर्भर होता था। वह सिर्फ अपने आर्थिक लाभों का ध्यान रखती थी। भारत के आर्थिक लाभों से उसका कुछ लेना-देना नहीं था। कम्पनी की सारी नीति उसके अपने लाभ के लिए होती थी, चाहे वह किसी भी क्षेत्र में हो। कम्पनी कर वसूली के मामले में भी अत्यन्त कठोरता से काम लेती थी। वह कृषकों की सुविधाओं का ध्यान नहीं रखती थी। उसे इस बात से कोई लेना-देना नहीं था कि फसल कैसी हुई है। सूखा या अकाल तो नहीं पड़ा, जिससे करों को कुछ कम किया जा सके। उसे सिर्फ अपना आर्थिक हित साधना होता था। किसानों को किसी प्रकार का कोई सहारा नहीं होता था, जैसा कि पिछले शासन में उन्हें अक्सर मिल जाता था। इससे किसानों के समक्ष भुखमरी या अकाल की नौबत आ जाती थी। राज्य के उत्तरी छोर पर और बड़े नदी मुहानों पर कृषि कार्य तेजी से चल रहा था, जिसका लाभ जमींदार और जोतदार ले रहे थे। उनकी स्थिति जमींदारों, बटाईदारों और कृषि मजदूरों की तुलना में अच्छी थी।

दक्षिण भारत के सम्बन्ध में यदि भारतीय अर्थव्यवस्था में हो रहे परिवर्तनों को देखा जाये, तो अंग्रेजों के हस्तक्षेप से जहाँ एक ओर नकद सौदों की परिधि बढ़ी, वहीं दूसरी ओर मिरासदार (किसान भूस्वामी) गाँव में ठेकेदारों के रूप में अपनी स्थिति मजबूत करने लगे। ये मिरासदार अब खेती के साथ-साथ इजारेदारी भी संभालने लगे थे। महाजन मिरासदारों ने अपनी जमीन श्रमिक और विविध वाणिज्यिक सम्पत्ति के माध्यम से विभिन्न वित्तीय साधनों को एकत्र करना शुरू किया। उनके लिए गाँव की कर वसूली का ठेका लेना अब आसान हो गया था। परन्तु इससे गाँव की कमजोर स्थिति वाले लोगों की दशा में विशेष बदलाव आया। उन्हें मजबूर होकर सामाजिक और आर्थिक अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। कम्पनी ने सीधा हस्तक्षेप जो किया था वह दो विरोधी तत्त्वों के बीच था। उन्होंने पारम्परिक सामाजिक सम्बन्धों और आधुनिक अनुबन्ध की विधियों को एक साथ लाकर संगठित किया। इसमें पहला मौजूद सामाजिक संरचना को बनाये रखने के लिए था और दूसरा बढ़ते हुए व्यापारिक अवसरों को अपने अनुकूल ढालने के लिए था। परन्तु इन दोनों से श्रमिकों की दशा और दयनीय हो गयी थी।

व्यापारिक लेन-देन, मात्रा, परिमाण बढ़ने के बावजूद कम्पनी के हस्तक्षेप का यह परिणाम निकला कि इसने भारतीय अर्थव्यवस्था को यूरोपीय ढांचे में ढाल लिया, परन्तु इसे एकदम नया नहीं कहा जा सकता। इसकी प्रक्रिया तो 17वीं शताब्दी से ही शुरू हो गयी थी जब यूरोपीय व्यापार का भारतीय अर्थव्यवस्था में विस्तार हुआ। अठारहवीं शताब्दी में तो बस इसकी गति तेज हो गयी थी।

18वीं शताब्दी में भारतीय अर्थव्यवस्था में एक महत्वपूर्ण बदलाव यह भी आया कि भारतीय अर्थव्यवस्था अब विश्व अर्थव्यवस्था के साथ के उतार-चढ़ाव के साथ बंध गयी थी। अब विश्व अर्थव्यवस्था में किसी भी तरह का कोई उतार-चढ़ाव होता, तो उसके लक्षण भारतीय अर्थव्यवस्था में स्पष्ट रूप से देखे जा सकते थे। इस भारतीय अर्थव्यवस्था के लक्षण से कई भारतीय समृद्ध हुए। परन्तु इन बड़े हुए वाणिज्यिक अवसरों से आर्थिक लाभ में जो वृद्धि हुई, उसके अधिकांश अंश का भारत से निकास हुआ। इससे देश को अनुकूल लाभ नहीं मिला, क्योंकि भारत से बहुत-सा धन अंग्रेजों द्वारा विभिन्न रूपों में भारत से बाहर भेजा जा रहा था। देश में वित्तीय और वाणिज्यिक मुनाफाखोरी व्याप्त हो गयी थी, जिसको नियन्त्रित कर पाना संभव नहीं हो पा रहा था। कम्पनी द्वारा इसके अधिकारियों द्वारा और गैर-सरकारी व्यक्तियों द्वारा भी भारत से धन ब्रिटेन की ओर भेजा जा रहा था। यह व्यवस्था भारत को कंगाल बनाने के लिए काफी थी।

प्रश्न 7. नीचे दिये गए शब्दों पर 20-20 शब्द लिखिए।

- | | |
|--------------------|--------------------|
| 1. फ्लोरीन | 2. जगत सेठ |
| 3. जागीरदारी प्रथा | 4. जोतदार |
| 5. मनसबदारी प्रथा | 6. तालुकदार |
| 7. जमींदार | 8. जजमानी व्यवस्था |
| 9. वाणिज्यीकरण | 10. निरौद्योगीकरण |
| 11. रैयतवाड़ी | |

उत्तर—1. फ्लोरीन—यह एक चाँदी का सिक्का था जिसका प्रचलन 12वीं शताब्दी में इटली के शहर फ्लोरिन में हुआ इसीलिए इसका नाम फ्लोरीन पड़ा। इसकी कीमत 40 सेण्ट होती थी। भारत में डच व्यापारियों ने इसका व्यापक रूप से प्रयोग किया।

2. जगत सेठ—यदि इस शब्द का शाब्दिक अर्थ देखा जाये तो पूरे विश्व का महाजन (बैंकर) होता है। यह उपाधि बंगाल के जैन महाजनों को मिली हुई थी। बंगाल में जगत सेठ ने सिराज के खिलाफ उसके दुश्मनों का साथ दिया, जिसके कारण प्लासी का युद्ध हुआ और सिराज हार गया।

3. जागीरदारी प्रथा—इसके अन्तर्गत कुलीन वर्ग के लोगों को वेतन के बदले भूमि दी जाती थी। इस प्रकार आबंटित क्षेत्र जागीर कहलाते थे और जिसके पास ये जागीर होती थी, उसे जागीरदार कहा जाता था। जागीरें हस्तांतरणीय होती थीं। जागीरदारों को भूमि के एक निश्चित क्षेत्र से प्राप्त आय को रख लेने का अधिकार भी था।

4. जोतदार—यह गाँव का भूमिपति होता था। जोतदार जमींदार से दीर्घकालीन पट्टे पर जमीन लेकर उसे ठेके पर देता था और उस पर बंटाई के आधार पर खेती करवाता था। जमींदार उसे पट्टे पर जमीन इसलिए देता था, क्योंकि कम लागत में खेती करायी जा सके। उस जमीन पर किसानों का भी परम्परागत रूप से अधिकार होता था।

5. मनसबदारी प्रथा—मनसब का अर्थ पद होता है। मुगल अधिकारियों को मनसब दिया जाता था। यह दोहरा होता था—जात और सवार। जात के धारक का सरकारी पदानुक्रम में स्थान नियत होता था तथा इससे उसके व्यक्तिगत वेतन का निर्धारण होता था, जबकि सवार उसे सैन्य दलों, घोड़े, घुड़सवार आदि की संख्या बताता था।

6. तालुकदार—यह शब्द जमींदार के लिए ही प्रयोग होता था। इस शब्द का प्रचलन हम सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में देखते हैं। जमींदार को तालुकदार भी कहा जा सकता था।

7. जमींदार—जमींदारों का एकत्रित किये गए कुल राजस्व के कुछ हिस्से पर अधिकार होता था। साधारणतया यह दर 10 प्रतिशत होती थी, लेकिन भिन्न क्षेत्रों में इसे 20 प्रतिशत तक भी देखा गया है। जब जमींदार प्रशासन के लिए कर इकट्ठा करता था तो उसे नानकार कहते थे और जब प्रशासन जमींदार को बीच में न लाकर सीधे राजस्व इकट्ठा करता था, तो उसका मालिकाना अधिकार होता था।

8. जजमान व्यवस्था—जजमान का शब्दिक अर्थ होता है संरक्षक। इस व्यवस्था के अन्तर्गत एक गाँव में भिन्न जातियों के

सदस्य अपने संरक्षकों जो सामान्यतः प्रभुत्वशाली जातियों के सदस्य होते थे, के लिए विभिन्न प्रकार के कार्य या सेवाएँ करते थे। सेवा करने वाली जातियाँ आनुवांशिक सम्बन्धों के माध्यम से अपने संरक्षकों से जुड़ी रहती थीं। निम्न जातियों के सदस्य विशिष्ट धर्म के लोगों की सेवा करते थे, जो उनके जजमान कहलाते थे और ये विशिष्ट वर्ग उनके संरक्षक/जजमान के रूप में होते थे। जैसे—गाँव में नाई, धोबी बढई, कुम्हार, मोची आदि अपने जजमानों/संरक्षकों की सेवा करते थे और बदले में उन्हें मौसमी अन्न, वस्त्र, धन आदि मिलता रहता था।

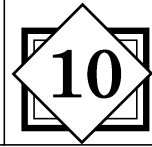
9. वाणिज्यीकरण—वाणिज्यीकरण उस प्रक्रिया को कहते हैं, जिसमें स्वयं के लिए उत्पादन न करके बाजार के लिए उत्पादन किया जाता है। यह शब्द लम्बी दूरी के व्यापार या निर्यात व्यापार के लिए अधिक उत्पादन करने के सम्बन्ध में इस्तेमाल किया जाता है। इसका अर्थ उत्पादन की प्रक्रिया या सम्बन्धों में गुणात्मक परिवर्तन के अर्थ के रूप में भी प्रयोग किया जाता है।

10. निरौद्योगीकरण—निरौद्योगीकरण को दो अलग-अलग तर्कों से समझा जा सकता है। इसमें पहला है उन्नीसवीं शताब्दी में जो उद्योगों का हास हुआ और दूसरा उद्योगों का विकास न होना या नये उद्योगों में पूँजी निवेश करके उन्हें स्थापित न किया जाना।

11. रैयतवाड़ी—ब्रिटिश शासन द्वारा यह व्यवस्था बम्बई व मद्रास और असम-बर्मा क्षेत्रों में लागू की गई थी। इसमें भूराजस्व का आकलन उन व्यक्तियों पर लागू होता था, जो भूमि के वास्तविक उपभोक्ता थे।

शिल्प उत्पादन, तकनीकी परिवर्तन और औद्योगीकरण

निरौद्योगीकरण : विभिन्न दृष्टिकोण



प्रस्तावना

उन्नीसवीं सदी में भारतीय इतिहासकारों का लेखन के मुख्य मुद्दा भारत का निरौद्योगीकरण रहा है। भारत के परम्परागत कारीगरी उत्पादन में हास, कताई करने वाले कारीगरों, बुनकरों की आय को जो क्षति पहुँची उसका मुख्य कारण ब्रिटेन में निर्मित सूती कपड़ा और यहीं निर्मित वस्तुओं की जो बाढ़-सी आयी वहीं इसका मुख्य कारण बनी। राष्ट्रवादी नेताओं में गौधी जी, दादाभाई नौरोजी, तिलक आदि नेताओं ने ब्रिटेन से भारत आ रही चीजों के बारे में बताया कि उनसे भारत को कितना नुकसान उठाना पड़ रहा है। राष्ट्रवादी विचारधारा के लोगों ने बताया कि ब्रिटेन ने भारत को इस चक्र में फँसा लिया है कि भारत मशीन-निर्मित उत्पादों का जो कि भारत को ब्रिटेन से आयात होते थे, का आयातक ही बना रहे और कृषि सम्बन्धी उत्पादों का निर्यातक बना रहे। ब्रिटिश माल के आयात से भारत में जो परिणाम सामने आये, वे भयंकर साबित हुए। उनमें से मुख्य थे :

- बुनकरों की दयनीय दशा
- कृषि पर अत्यधिक निर्भरता
- आम जनसंख्या के जीवन स्तर में गिरावट
- अकालों की अधिकता

भारत के परम्परागत उद्योगों का विनाश हो रहा था। यदि भारत एक स्वतंत्र राष्ट्र होता, तो वह अपने उद्योगों के संरक्षण के लिए कुछ करता, परन्तु एक औपनिवेशिक सत्ता में वह कुछ नहीं कर सकता था। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासकों ने मुक्त व्यापार की नीति का अनुसरण किया, जिससे लंकाशायर के सूती उद्योगों के उत्पाद भारत में बिना सीमा शुल्क दिये आ जाते थे। इससे भारतीय अर्थव्यवस्था पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

प्रारम्भिक राष्ट्रवादी विचार और उनके आलोचक

भारत में निरौद्योगीकरण किस समय शुरू हुआ, यह बिन्दु भी इतिहासकारों के लिए विवाद का विषय रहा है। निरौद्योगीकरण कब शुरू हुआ?—उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में या अन्त में या फिर

बीसवीं शताब्दी में। इस सम्बन्ध में इतिहासकार अपने-अपने विचार रखते हैं। जिन लेखकों ने 1857 के बाद की आधी शताब्दी को निरौद्योगीकरण और कृषिकरण का काल बताया है, उनमें प्रमुख रूप से आर.पी. दत्ता 'इण्डिया टुडे' (1957), के.एस. शेलवाकर ने 'द प्रॉब्लम ऑफ इण्डिया' (1950) और कोलिन क्लार्क ने 'कन्डीशन्स ऑफ इकॉनॉमिक प्रोग्रेस' में अपने विचारों को व्यक्त किया है। ये बताते हैं कि भारत में निरौद्योगीकरण का समय 1857 के बाद से ही शुरू हो गया था। हालाँकि इन राष्ट्रवादी लेखकों की आलोचना तो बहुत पहले से शुरू हो गयी थी, परन्तु इसका जोरदार ढंग से विरोध 1881 से 1931 के मध्य हुई नियमित जनगणना के व्यवसाय-सम्बन्धित आंकड़ों के विश्लेषण के आधार पर किया गया। भारत में निरौद्योगीकरण का मुद्दा जनगणना आंकड़ों में दिये गये प्रमाणों की त्रुटिपूर्ण व्याख्या से उभरता है। जनगणना को भिन्न-भिन्न व्यवसायों का वर्गीकरण करने का आधार भी प्रारम्भिक जनगणना और बाद की जनगणना रिपोर्टों में बदल जाता है।

1881 की जनगणना रिपोर्ट में गलत आंकड़े दिये गये थे। इसमें इस्तेमाल की गई गलत व्याख्या के आधार पर औद्योगिक व्यवसायों में कार्यरत जनसंख्या और अनुपात को अधिक आँकने से सम्बन्धित मामले ने समस्या को जन्म दिया।

1968 का निरौद्योगीकरण सम्बन्धी विवाद

ब्रिटिश लेखक कि भारतीय राष्ट्रवादी लेखकों की विचारधारा से सहमत नहीं होते। वे राष्ट्रवादियों की इस बात पर आलोचना करते हैं कि भारतीय लेखकों ने भारत में वस्त्रों के बाजारों की अनदेखी करते हुए भारत में ब्रिटिश निर्यातों के नकारात्मक प्रभाव को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाया है। ऐसे लेखकों में हम मॉरिस डेविड मॉरिस का नाम ले सकते हैं। वे भारतीय लेखकों की इस बात पर आलोचना करते हैं कि राष्ट्रवादी लेखकों ने किसी सिद्धान्त को कठोरता के साथ नहीं लागू किया। अपने लेखन में जिसके कारण उनका लेखन एकतरफा नजर आता है और जो सिर्फ ब्रिटेन के नकारात्मक प्रभावों को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाते हैं, मॉरिस के अनुसार भारत में परम्परागत उद्योगों की अवनति किस प्रकार हुई।

इस सम्बन्ध में ज्यादा प्रमाण उपलब्ध नहीं है और वे आगे कहते हैं कि राष्ट्रवादी लेखकों ने इस बात को नजरअंदाज कर दिया है कि भारत में वस्त्र की मांग के वक्र की दक्षिण की तरफ बढ़ जाने की सम्भावना थी। मॉरिस यह तर्क देते हैं कि यदि यह मान लिया जाये कि भारत में घरेलू बाजारों का विस्तार बढ़ा और चूँकि यह विस्तार जनसंख्या में वृद्धि, प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि होने से लोगों की क्रय शक्ति में वृद्धि पर निर्भर करता है, तो देश में मशीन-निर्मित वस्तुओं के आयात का भारतीय परम्परागत कारीगरी उद्योगों पर बहुत कम या के बराबर हास हुआ होगा।

मॉरिस के इस मत पर भारतीय लेखकों ने विपिन चन्द्र, तपन राय चौधरी आदि लेखकों ने 'इण्डियन इकॉनॉमिक एंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू, 1968' में तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की। ये लेखक मानते हैं कि भारतीय बाजारों में आने वाले आयातों की वृद्धि इतनी तीव्र और आकस्मिक थी कि इससे कारीगरी उत्पादन की अवन्ति अवश्यभावी थी और मॉरिस ने उन स्रोतों को नजरअंदाज कर दिया, जो सरकारी तथा अकाल की रिपोर्टों में आंखों देखे वर्णन पर आधारित वृत्तान्त बहुत है, जो परम्परागत हस्तशिल्प उद्योगों के विनाश और बुनकरों की आर्थिक समिति को बताते हैं। ये लेखक यह तो मानते हैं कि जनसंख्या बढ़ जाने से घरेलू बाजार का थोड़ा-बहुत विकास हुआ हो लेकिन ऐसे सबूत बहुत कम हैं जो यह साबित करें कि 19वीं शताब्दी में प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि हुई है। ये प्रमाण इस ओर तो इशारा करते हैं कि प्रतिव्यक्ति आय में गिरावट आयी। 19वीं सदी के दौरान ब्रिटेन के सूती वस्त्र उद्योग में परिवर्तन हुए। उससे वहाँ उत्पादन में आने वाली लागत में कमी होती चली गयी जिनसे लंकाशायर के उत्पादों की देश में बाढ़-सी आ गयी थी। मॉरिस यह भी बताते हैं कि भारत में आयातित सूत के मूल्य में कमी हो जाने से भारतीय बुनकरों को अच्छा कपड़ा कम लागत पर पैदा करने में मदद मिली लेकिन भारतीय बुनकरों के लिए यह ज्यादा मददगार साबित नहीं हुई जितनी कि मॉरिस ने बताया है। विपिन चन्द्रा यह मानते हैं कि सूत के आयातों का बुने हुए वस्त्रों के मुकाबले अनुपात काफी कम था। 1869 और 1889 के बीच कपड़े का आयात 25.5 मिलियन स्टर्लिंग बढ़ गया, जो 12½ गुना वृद्धि दर्शाता है, जबकि सूत का आयात केवल 1.8 मिलियन बढ़ा, जो मात्र चार गुना वृद्धि थी। इसके अलावा ब्रिटिश बुनकरों की उत्पादन क्षमता भी बढ़ रही थी जबकि भारतीय बुनकरों की उत्पादन क्षमता लगातार कम होती जा रही थी। विपिन चन्द्रा मानते हैं कि थार्नर ने जो शोध किया है वह यह दर्शाता है कि जनगणना के आंकड़े निरौद्योगीकरण के मसले को साबित करने या न करने के लिए बहुत अविश्वसनीय हैं। तपन राय चौधरी जो मॉरिस के आलोचक हैं, वे मानते हैं कि भारतीय उद्योगों व बुनकरों का विनाश ब्रिटेन से आयातित माल के सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। यह एकदम नहीं हुआ बल्कि लम्बे समय तक

चलकर यह सम्भव हुआ। वे यह भी मानते हैं कि शुद्ध रूप से हस्तशिल्पों का कोई विनाश नहीं होता, जैसा कि मॉरिस मानते हैं। राय चौधरी यह भी मानते हैं कि भारतीय हस्तशिल्प उद्योग 20वीं शताब्दी तक जीवित रहा। हाँ, ये इतना जरूर मानते हैं कि उन देशों में जिनमें औद्योगीकरण देर से सम्भव हुआ, वहीं विकास की जो सम्भावनाएँ थीं उन्हें औपनिवेशिक शासन लील गया। डी०आर० गाडगिल यह स्वीकार करते हैं कि भारतीय ग्रामीण बुनकर ब्रिटिश प्रतियोगिता से अछूता रहा।

कुछ इतिहासकार मानते हैं कि हस्तशिल्प क्षेत्र में भिन्न-भिन्न उद्योगों का अपना-अपना पथ होता है, इसमें कुछ का विनाश होता है, तो कुछ का विकास भी होता है। कुछ का रूपांतरण हो जाता है और कुछ नए उद्योग मशीनों द्वारा बनाये गये उपकरणों के माध्यम से उभरते हैं।

गंगा घाटी के बिहार क्षेत्र में निरौद्योगीकरण

जनगणना से प्राप्त आंकड़ों से निरौद्योगीकरण की पुष्टि नहीं होती है। लेकिन यदि ए०के० बागची की विचारधारा को देखा जाये तो यह पता चलता है कि निरौद्योगीकरण व्याप्त था। बागची के तर्कों का आधार 1809-13 के बुखानन-हैमिल्टन सर्वे व 1901 की जनगणना से प्राप्त आंकड़ों की तुलना है। इन्होंने दोनों की तुलना करके यह निष्कर्ष निकाला है कि बिहार के द्वितीयक उद्योगों पर आश्रित जनसंख्या का प्रतिशत 18.6 से कम होकर 8.5 रह गया था। गंगा घाटी के बिहार क्षेत्र की यह अवन्ति 19वीं शताब्दी में हुई थी। यह कथन राष्ट्रवादी कथन की ही पुष्टि करता है लेकिन विकजिआनी बागची के इस तर्क को चुनौती देते हैं। उन्होंने तर्क दिया है कि बुखानन द्वारा एकत्र किये गये इकट्टे आँकड़ों को मार्टिन ने 1838 में तालिकाबद्ध किया था और इसीलिए इस बात की जरूरत थी कि लंदन इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी में मौलिक रिकॉर्ड देखे जायें। बुखानन का सर्वे भी ज्यादा विश्वसनीय नहीं था। इसके पीछे यह कारण था कि 10 मील प्रतिदिन के हिसाब से 25,000 मील से ज्यादा दूरी तय की गई थी और वह स्थानीय सूचकांकों पर निर्भर थे, जिसके द्वारा करों के डर से या कम्पनी के हस्तक्षेप से गलत सूचनाएँ देने की ज्यादा सम्भावनाएँ थीं।

बागची ने 19वीं सदी के प्रारम्भ में रोजगार में लगे लोगों का अध्ययन किया था और इसी के आधार पर उन्होंने बिहार में निरौद्योगीकरण को स्पष्ट किया। बागची द्वारा एकत्र किये गये आंकड़ों पर आपत्तियाँ व्यक्त की जाती हैं। इसमें यह महत्वपूर्ण है कि बागची के अनुसार 19वीं शताब्दी में कताई करने वाले कारीगर 19वीं शताब्दी में इतना कमा रहे थे कि वे स्वयं अपना भरण-पोषण करने में सक्षम थे। कताई कमाई का मुख्य साधन थी, भले ही उससे भरण-पोषण न हो रहा हो। विकजिआनी यह मानते हैं कि कताई करने वाले कारीगर बहुत कम पैसा कमा रहे थे और उन्हें यदि अंशकालिक कताई करने वाला कारीगर कहा जाये, तो ठीक होगा।

126 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

इतिहासकार कृष्णमूर्ति जहां इस बात से सहमत हैं कि 19वीं शताब्दी में औद्योगिक गतिविधियों में संलग्न लोगों की संख्या में कमी आयी, वहीं उन्होंने एक महत्वपूर्ण पहलू की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है। उनका कहना है कि बागची ने 1809-13 में कारीगरों संख्या का अनुमान उनके परिवारों के सदस्यों की संख्या से गुणा करके प्राप्त किया है। यह विधि बिहार क्षेत्र के कारीगर परिवारों द्वारा अन्य औद्योगिक क्रियाकलापों में निर्भरता बढ़ाकर दिखलाती है। कृष्णमूर्ति बताते हैं कि बहुत-सी महिलाओं के लिए केवल कताई ही रोजगार और आजीविका का माध्यम नहीं था। वे कहते हैं कि 1809-13 में महिला श्रमिकों को कताई श्रमिकों के अंतर्गत न रखकर यदि उन्हें चावल का परिष्करण करने वाले मजदूरों की संख्या में रखा जाना चाहिए था और मोटे वस्त्र के निर्माण में भी श्रमिक संलग्न थे। गया, पटना, शाहबाद, मोतिया या गाजी मोटे कपड़े उत्पादन के केन्द्र बन गये थे, जिसे उत्तर-पश्चिमी क्षेत्रों में बेचा जाता था। वे आगे बताते हैं कि छोटे-छोटे उद्योग पूरी तरह से नष्ट नहीं हो गये थे। ये अभी भी चल रहे थे। इनमें मुख्य तौर पर कालीन उद्योग, पटना की करघा दरियाँ, चमड़ा उद्योग को जरूर विदेश निर्मित जूता आने से धक्का लगा, परन्तु यह उद्योग पूरी तरह से नष्ट हो गया हो, ऐसा नहीं हुआ। अभी भी भारतीय बाजारों को चमड़े की आवश्यकता थी क्योंकि उससे अभी भी भारतीय बाजारों के लिए चमड़े की बाल्टियाँ, धौकनियाँ, तेल व शीरे को रखने के लिए जार बनाये जाते थे। चर्मकारों की स्थिति बिगड़ी क्योंकि खालों का निर्यात होने लगा। मिट्टी के बर्तन बनाने का व्यवसाय भी 19वीं सदी तक जीवित रहा। फसल तैयार होने के समय दिये जाने वाले अग्रिम भुगतान अब कम होने लगे थे।

निरौद्योगीकरण की प्रक्रिया में क्षेत्रीय विभेद

यदि औपनिवेशिक काल में परम्परागत उद्योगों की प्रकृति के बारे में जो अध्ययन हुए हैं उनको देखा जाये तो निरौद्योगीकरण के सम्बन्ध में समझना थोड़ा मुश्किल हो जाता है, क्योंकि ज्यादातर इतिहासकार भी यह मानकर चलते हैं कि बीसवीं शताब्दी में निरौद्योगीकरण के बारे में ज्यादा प्रमाण नहीं मिलते। इतिहासकार तीर्थकर राय यह मानते हैं कि हस्तशिल्प और हस्तकरघा उद्योग का उत्पादन कपड़ों के घरेलू बजार में बढ़ जाता है, लेकिन इसमें कितनी सच्चाई है यह देखने के लिए यदि 1911 और 1931 के बीच के जनगणना आकड़ों को देखा जाए, तो सूती, रेशमी और ऊनी बुनाई उद्योग में गिरावट आयी। यहां तक की मिट्टी के बर्तन, तेल निकालने वाले, ठठरे और चावल कूटने वाले व्यवसायों में भी कमी आयी। लकड़ी, धातु और चमड़ा उद्योग में ज्यादा बदलाव नहीं हुआ।

उद्योग में पुरुष श्रमिक

उद्योग समूह	1911 (मिलियन में)	1931 (मिलियन में)
वस्त्र	2.685	2.531
कपास	1.921	1.761
रेशम	0.078	0.057
ऊन	0.103	0.064
धातुएँ	0.658	0.660
पीतल के बर्तन	0.101	0.084
चमड़ा	0.247	0.257
लकड़ी	1.312	1.306
चीनी-मिट्टी के बर्तन	0.768	0.728
मिट्टी के बर्तन	0.652	0.601
खाद्य उद्योग	0.806	0.706
चावल कूटना	0.128	0.103
पोशाक तथा प्रसाधन सामग्री	2.676	2.566
भवन निर्माण	0.752	0.528

यदि 19वीं सदी के बारे में विचार किया जाये तो यह सदी उतनी निराशाजनक नहीं दिखाई देती जितना कि इसका वर्णन राष्ट्रवादी लेखकों ने किया है क्योंकि यह विचार इसलिए तर्कसंगत बना कि अब क्षेत्रीय भिन्नताओं पर अधिक जानकारी मिलनी शुरू हो चुकी है। ब्रिटिश मशीन-निर्मित वस्तुओं की जो बाढ़ भारत में आयी थी उससे सबसे अधिक प्रभावित क्षेत्र पूर्वी भारत और वहां की अर्थव्यवस्था हुई। यह क्षेत्र ब्रिटिश शासकों को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त होने से प्राप्त हुआ था। इस क्षेत्र में कारीगरों की दयनीय दशा तो प्लासी के युद्ध के बाद ही होनी शुरू हो गई थी। मद्रास प्रेसीडेंसी में मशीन-निर्मित वस्तुओं का जो प्रवाह था, वह बंगाल प्रेसीडेंसी से कम था और 19वीं शताब्दी में वस्त्रों का निर्यात भी बंगाल में लगातार कम होता चला गया। पश्चिमी भारत के मामले में मशीन-निर्मित वस्तुओं का अन्तर्प्रवाह यातायात की सुविधा के अभाव में देरी से शुरू हुआ। उदाहरण के लिए यदि हम देखते हैं कि 1881 में राजस्थान में केवल 400 मील रेलवे लाइन थी। प्रथम विश्व युद्ध तक काफी लोगों तक जो यहाँ रहते थे, यह मशीन-निर्मित समान नहीं पहुंच पाया था। राजस्थान में मशीन-आयातों की प्रतियोगिता देरी से शुरू हुई, बल्कि यहाँ मशीन निर्मित कपड़ों से उतनी प्रतियोगिता नहीं करनी पड़ी जितनी कि भारत में ही निर्मित कपड़ों से करनी पड़ी। रेलवे ने भी प्रतियोगिता को बढ़ावा दिया। बम्बई की भारतीय मिलों से आसानी से राजस्थान माल भेजा जाना सम्भव हुआ और यहाँ से कपास देश के अन्य भागों को भेजा जाने लगा।

निरौद्योगीकरण की प्रक्रिया में क्षेत्रीय विभेद के अन्तर्गत हम इसको दो भागों में बाँटकर अध्ययन करेंगे, जो इस प्रकार हैं :

1. दक्षिण भारत में निरौद्योगीकरण
2. पश्चिमी और मध्य भारत में निरौद्योगीकरण

दक्षिण भारत में निरौद्योगीकरण

19वीं शताब्दी में कोनरॉड स्पेकर ने मद्रास प्रेसीडेन्सी का अध्ययन किया। उन्होंने यह बताया कि मद्रास में बंगाल की अपेक्षा कम वस्तुएँ लंकाशायर से आती थीं, लेकिन इसके बावजूद भी दोनों क्षेत्रों के विदेशी व्यापार में बदलाव आया है। इसके पीछे वे कृषि उत्पाद के निर्यात को कारण के रूप में देखते हैं। 1845 में मद्रास बोर्ड ऑफ रेवेन्यू इन्क्वायरी के आधार पर यह कहा गया कि पिछले 25 वर्षों में वहाँ करघों तथा बुनकरों की संख्या बढ़ गई थी। 1871 में बोर्ड ऑफ रेवेन्यू में कहा गया कि 1850 के उत्तरार्द्ध से करघों की संख्या में 20 से 25 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई, लेकिन भारतीय परम्परागत वस्त्र उद्योग का भाग्य कृषि उत्पादों और उसके परिणामस्वरूप होने वाले घरेलू बाजारों के विस्तार और संकुचन पर निर्भर करता था जो कि कुछ इस प्रकार था—अकाल, महामारी जिन्हें लघु अवधि के संकट कहा जाता है। ये बुनकरों के लिए मृत्यु, अप्रवासन और दरिद्रता लेकर आते थे। सूत के मूल्य में जो वृद्धि हुई थी, वह भी भारतीय बुनकरों की कमर तोड़ देती थी। भारतीय बुनकर इन दोनों संकटों को सहन करते थे, तो निश्चित रूप से उन पर असर पड़ता था, क्योंकि इससे उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति भी कम होती थी। 1830 में जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी की कई व्यापारिक बस्तियाँ बन्द हो गई थीं, तो मद्रास प्रेसीडेन्सी में भी वस्त्रों के निर्यात में कमी आया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के इस निवेश को हटा लिये जाने से यह हुआ कि उत्तम प्रकार का कपड़ा बनना बंद हो गया और उसकी जगह अब मोटे किस्म का सूती वस्त्र बनने लगा। इससे हथकरघों को बढ़ावा मिला क्योंकि मोटे किस्म का कपड़ा इन पर ही बनता था। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में एक बदलाव यह आया कि भारत अब मोटे सूती वस्त्रों का अधिक मात्रा में उत्पादन करने लगा था, क्योंकि अंग्रेजी कपड़े की गुणवत्ता गिर रही थी। यदि दक्षिण भारत के सम्बन्ध में देखा जाये तो कारोमण्डल तट से जब कम्पनी ने अपने संगठन बंद करने शुरू कर दिये तो उत्तम कपड़े के उत्पादन, करघा आदि के क्षेत्र में गिरावट क्योंकि कम्पनी अभी तक इन्हें बढ़ावा दे रही थी। मोटे किस्म के कपड़े का उत्पादन होने लगा व स्थानीय रुचि के अनुसार उत्पादन करके परम्परागत क्षेत्र प्रतियोगिता से बच पाया।

मोटे वस्त्र की ओर रुझान से बुनकरों की आय कम हो गई क्योंकि मोटे वस्त्रों के मामले में कच्चे माल की जो कीमत होती थी, वही अन्तिम कीमत निर्धारित करती थी और बुनकरों को इस कम आय पर ही अपना गुजारा करना पड़ा। 1877 में आये अकाल से बुनकर और कृषक दोनों पर बहुत फर्क पड़ा, क्योंकि बुनकरों को अपने लिए अन्न खरीदने के लिए ज्यादा दाम चुकाने पड़ रहे थे। इसी के साथ किसानों की क्रयशक्ति भी कम हो रही थी, क्योंकि बुनकरों को अपने उत्पाद हानि उठाकर बेचने पड़ रहे थे। औसतन यह 30 प्रतिशत रही होगी। बम्बई में अधिक मात्रा में सूत का आयात किया जाता था। आयात की लागत अधिक होने के

कारण यह मद्रास क्षेत्र से आगे नहीं बढ़ पाया था। कच्चे माल और श्रम की आपूर्ति के अभाव के कारण भारत में परम्परागत किस्म के मोटे सूती कपड़े को ही बेहतर समझा जाता था। जहाँ यूरोपीय सूत मजबूती और शुद्धता की दृष्टि से ज्यादा लाभप्रद था, वहीं देसी सूत रंगाई के लिए ज्यादा उपयुक्त था। कुल मिलाकर यूरोपीय सूत ताने के लिए और भारतीय सूत बाने के लिए प्रयोग किया जाता था, स्पेकर के अनुसार संख्यात्मक दृष्टि से देखा जाये तो परम्परागत वस्त्र उद्योग का कोई विनाश नहीं हुआ। स्थानीय विभेदों को यदि छोड़ दिया जाए, तो 1820 से 1870 के बीच करघों की संख्या बढ़ती नजर आती है। मोटे वस्त्र का बढ़ता रुझान आपूर्ति की समस्या और सामाजिक-आर्थिक तनाव के बावजूद थी। कई उत्पाद अपने उत्पादन का विस्तार कर रहे थे।

सस्ते और ज्यादा आकर्षक जापानी मर्सराइज्ड सूत ने न केवल भारतीय मिलों के बने सूत की जगह ले ली, बल्कि इसने हथकरघा क्षेत्र को भारतीय मिलों से प्रतियोगिता करने में मदद भी की। कई जगहों पर जहाँ भारतीय मिलों ने मोटे वस्त्र को प्रभावित किया था। वहाँ बुनकरों ने लुंगियों तथा मद्रासी रूमालों का उत्पादन किया, जहाँ अभी तक यह छोटे स्तर पर उत्पादित किया जा रहा था। मद्रास के रूमाल पूर्वी और पश्चिमी तथा दक्षिणी अफ्रीका को निर्यात किये जाते थे जहाँ उसका इस्तेमाल कई रूपों में होता था; जैसे—पदें, गाड़ियों के कवर आदि। लुंगियों का इस्तेमाल दक्षिणी-पूर्वी एशिया और श्रीलंका में होता था। वस्त्र पहनने के तरीकों में आये बदलाव ने भी हथकरघा उद्योग पर प्रभाव डाला। इसमें मुख्य रूप से थे—उत्तर भारत में साड़ियों की बढ़ती मांग, दक्षिण भारत में ब्लाउजों का बढ़ता इस्तेमाल। पहले जिन वस्त्रों को ब्राह्मण लोग इस्तेमाल करते थे, अब उनको गैर-ब्राह्मण लोग भी इस्तेमाल करने लगे। गरीब लोगों में कृत्रिम रेशम की बढ़ती मांग ने हथकरघा उद्योग को बढ़ावा दिया।

पश्चिमी और मध्य भारत में निरौद्योगीकरण

1840 तक सम्पूर्ण भारत के लिए ब्रिटिश औद्योगिक उत्पाद आर्थिक कारकों को प्रभावित करने लगे थे। 1839 और 1840 के आंकड़ों पर यदि नजर डाली जाये, तो भारत ब्रिटिश वस्त्र निर्यातकों की मुख्य मंडी बन गया था। शताब्दी के अंत तक भारत में ब्रिटेन से आयात होने वाले वस्त्रों में 40 प्रतिशत तक बढ़ोतरी दर्ज की गई और 1870 में भारतीय मिलें भी अपना उत्पादन बढ़ा रही थीं। इन सभी कारणों को यदि ध्यान में रखकर भारतीय हथकरघा उद्योग पर नजर डाली जाये, तो इसमें निश्चित तौर पर गिरावट आ रही थी। 19वीं शताब्दी में भारतीय हथकरघा उद्योग घरेलू मांगों की पूरी तरह पूर्ति कर रहा था। यह कारण भी यह दर्शाता है कि भारतीय हथकरघा उद्योग की दशा में लगातार गिरावट आती जा रही थी। सेन्ट्रल प्रॉविन्स या पश्चिमी भारत में 20वीं शताब्दी में हथकरघा

128 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

उद्योग घरेलू बाजारों के 40 प्रतिशत भाग पर नियंत्रण बनाये हुए था और अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा यह आगे था। 20वीं शताब्दी के दौरान ही बुनकरों की स्थिति में बदलाव आने शुरू हो गये थे। फ्लाई शटल के आ जाने से हथकरघा बुनकरों के कपड़े के कुल उत्पादन तथा उपभोग की हिस्सेदारी में गिरावट की प्रवृत्ति धीमी हो गई, लेकिन बुनकरों की आय नहीं बढ़ी। सैन्ट्रल प्रॉविन्स की तथ्य तलाशने वाली कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में कहा था कि 1932 और 1940 के बीच प्रांत में हथकरघों की संख्या में 25 प्रतिशत की कमी आयी, लेकिन करघों की संख्या कम होने से उस पर आश्रित जनसंख्या का बोझ कम होने से भी कपड़ा उत्पादन कम नहीं हुआ, बल्कि यह कुछ हद तक बढ़ा ही था। यह सब उत्पादन में वृद्धि होने के कारण हुआ, क्योंकि अब हथकरघा उद्योग वालों ने अपने हथकरघों में फ्लाई शटल का प्रयोग करना शुरू कर दिया था। उत्पादन भी इस प्रक्रिया में इस तकनीक ने बड़ा सहयोग किया। लेकिन बुनकरों की आय में कोई बढ़ोत्तरी नहीं हुई जैसा कि हारनेट्टी बताते हैं कि एक बुनकर की अनुमानतः औसत प्रतिव्यक्ति आय 1939-40 में लगभग 93 रुपये प्रतिवर्ष या चार आना प्रतिदिन थी। हालांकि उत्पादकता में वृद्धि के कारण हथकरघा क्षेत्र में बुनकरों की संख्या कम हो जाने के बावजूद उत्पादन बढ़ पाता है, लेकिन आय वही बनी रही, जो 19वीं शताब्दी के अन्त में थी।

हथकरघा उत्पादन के स्वरूप में ही परिवर्तन नहीं हो रहे थे जो तकनीकी कारण से थे, बल्कि स्थान में भी परिवर्तन हो रहे थे। जिन हथकरघा उत्पादों को प्रतियोगिता का सामना नहीं करना पड़ता था, वे केवल कुछ ही क्षेत्रों में केन्द्रित हो जाते थे। इनमें मुख्य केन्द्र थे—नागपुर, उमरेर, पौनी, बुरहानपुर आदि। बुनकरों की स्थिति में संरचना और जाति दोनों तरह से परिवर्तन हो रहे थे। कोष्टी और मोमिन जैसे बुनकर जो अच्छे तथा उच्च कुशलता के कारीगर माने जाते थे, ये अपनी जाति के कारण जुड़े थे, पुराने व्यवसायों में ही बने रहे। ये सूती मिलों में रोजगार स्वीकार नहीं करते थे, लेकिन गांव के कारीगर जो अपेक्षाकृत ज्यादा कुशल नहीं थे और जो मोटे कपड़े की बुनाई करते थे, इनके लिए बुनाई अंशकालिक रोजगार था। ये अपने परम्परागत व्यसाय में बने नहीं रह सके और इन्होंने फैक्ट्री और कृषि क्षेत्र में भी रोजगार की तलाश की। लेकिन बदलते फैशन तथा प्रतियोगिता ने हथकरघा बुनकरों की स्थिति में बदलाव ला दिया। हालांकि मशीन-निर्मित सूत ने हथकरघा उद्योग के लिए मदद की, लेकिन इससे बिचौलियों की भूमिका बढ़ गयी। 1860 के दशक में सैन्ट्रल प्रॉविन्स में बुनकरों को अग्रिम धनराशि देने की प्रथा अपने पैर पसार रही थी और यह जिस कारण विकसित हो रही थी उसके कारण इस प्रकार ये शहरी क्षेत्रों में हाथ से बुने वस्त्र के हास और बुनकरों की मिलों में निर्मित सूत पर बढ़ती निर्भरता थी। इससे बुनकरों को बिचौलियों

पर निर्भर होना पड़ा। उनके मुनाफे भी कम हो गये तथा वे बाजारों के उतार-चढ़ाव के शिकार बने। फ्लाई शटल को बुनकरों के लिये फायदेमंद माना जाता है क्योंकि इसने इन्हें प्रतियोगिता में बने रहने के लिए सहारा दिया। परन्तु शुरू-शुरू में बुनकरों ने इस तकनीकी को स्वीकार नहीं किया। इसके पीछे जाति की कठोरता तथा अंधविश्वासों को जिम्मेदार माना जाता है। कोष्टी सैन्ट्रल प्रॉविन्स में लम्बे समय से बुनाई के व्यवसाय में कार्यरत थे। यह कर्मकांड के अनुसार बुनकरों की शुद्ध जाति थी। पदनसाली जो हैदराबाद राज्य में रहने वाले हिन्दू प्रवासी थे और गंगा घाटी के मोमिन जो मुसलमान प्रवासी थे उन दोनों में जाति सम्बन्धी कम अंधविश्वास थे। फ्लाई शटल के प्रयोग तथा सहकारिता आन्दोलन के फैलाव ने सैन्ट्रल प्रॉविन्स के हथकरघा क्षेत्र को घरेलू तथा विदेशी मिलों के क्षेत्र में प्रतियोगिता से बचाया।

निरौद्योगीकरण और रोजगार पर प्रभाव

‘19वीं सदी में वस्त्र उद्योग में रोजगार’ विषय पर माइकल टॉमी ने एक संक्षिप्त लेख में यह बताया है कि 1790-1830 तथा 1850-1880 के मध्य और अन्त में निरौद्योगीकरण के प्रभाव ज्यादा घातक थे। अपनी गणनाओं के आधार पर वे इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि बंगाल में रोजगार क्षति 2,44,000 F. T. J. E (Full Time Job Equivalent—पूर्ण समय रोजगार समतुल्य) तथा बाकी देश में लिए यह 56,000 थी। इस F. T. J. E की गणना कताई करने वाले कारीगरों और श्रमिकों के आंकड़ों के आधार पर की गई है, जबकि इस समय में काम करने वाले लोग अंशकालिक श्रमिक होते थे।

कलकत्ता से होने वाले निर्यात को यदि देखा जाये, तो इसमें गिरावट आयी। यह निर्यात 14 मिलियन रुपये से घटकर 1 मिलियन रुपये रह गया था। यदि प्रतिशत में कहें तो इसमें 95 प्रतिशत की गिरावट आयी वहीं बाकी देश के निर्यात में गिरावट को देखा जाये तो यह गिरावट 11 मिलियन से घटकर 8 मिलियन पर आ गयी थी, जो कि 30 प्रतिशत थी।

इस प्रकार उपर्युक्त आंकड़े यह दर्शाते हैं कि रोजगार में सबसे अधिक गिरावट बंगाल के पूर्वी प्रान्त में अधिकतम थी लेकिन यदि वस्त्र निर्यात की क्षति देखी जाये, तो यह कुल निर्यात की 2/3 थी, जो अधिक नहीं थी। रोजगार के सम्बन्ध में क्षेत्रीय बदलाव भी आते हैं और बुनकरों के पास दोनों विकल्प मौजूद थे कि वे रेशम की बुनाई करें या फिर आयातित सूत की।

रोजगार के क्षेत्र में वास्तविक हास 1850 के बाद ही आया। जब भारतीय उत्पादन भारतीय उपभोग का केवल 40 प्रतिशत ही रह गया। हथकरघा उत्पादन की अधिकतम क्षति 1850-1880 की अवधि में होती है जब भारत में वस्त्रों का आयात 1500 मिलियन गज या 6 गज प्रतिव्यक्ति बढ़ा। इस अवधि में कुल उपभोग का

अनुमान 11 गज प्रतिव्यक्ति बैठता है। फ्यूरेवर्कर (Feurewerker) ने यह अनुमान लगाया है कि 1870-1910 के मध्य भारत से आयात किये गये सूत तथा बाद में जापान से आयात किये गये सूत के कारण हुए रोजगार की क्षति उसकी निरपेक्ष संख्या से दुगुनी थी। हालांकि पूरी 19वीं शताब्दी में हथकरघा उद्योग में रोजगार में क्षति होती है। लेकिन 1800-1850 की अवधि में जनसंख्या वृद्धि कुछ हद तक वस्त्रों के निर्यात में गिरावट के प्रभाव को प्रभावहीन कर देती है। इस बिन्दु पर टॉमी मॉरिस के कथन का समर्थन करते हैं। 1930 तक प्रतिव्यक्ति आयात घटकर जो प्रथम विश्व युद्ध के पहले तक जो 8 गज प्रतिव्यक्ति था, 5 गज प्रतिव्यक्ति रह जाता है और भारतीय हथकरघों का भाग अब विदेशी मिलों की प्रतियोगिता के बजाय भारतीय मिलों की प्रतियोगिता पर ज्यादा निर्भर था। 'द केम्ब्रिज इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया-II' में यह तर्क दिया गया है कि 1881 तथा 1911 के बीच सामान्य श्रम और कृषि से जुड़े अन्य कार्यों का श्रम शक्ति में हिस्सा नहीं बदलता है। यह केवल 72.4 से बढ़कर 74.4 प्रतिशत हो जाता है। इस अवधि में औद्योगिक उत्पादन का हिस्सा 10.6 प्रतिशत से घटकर 9.1 प्रतिशत रह जाता है, लेकिन यह इस कारण था कि औद्योगिक उत्पादन और विक्रेताओं की अलग-अलग श्रेणियों के आधार पर इसका वर्गीकरण किया गया था।

चमड़े के क्षेत्र में श्रमिकों के रोजगार में जो हास तेजी से हो रहा था, उसका कारण तेजी से उभर रही चर्मशोधनशालाएँ और शू-फैक्ट्रियाँ थीं, जो धीरे-धीरे स्थानीय चमड़े और श्रमिकों की जगह ले रही थी और इसी तरह मिट्टी के बर्तन बनाने, तेल निकालने तथा खाद्यान्नों को परिष्करण करने के क्षेत्र में भी रोजगार में कमी आ रही थी। यदि केवल पुरुष श्रमिकों की संख्या को ध्यान में रखकर गणना की जाये तो कुल हस्तशिल्प उद्योगों का हिस्सा कुल रोजगार में कम नहीं हुआ था लेकिन यदि पुरुष व महिला दोनों श्रमिकों को मिलाकर गणना की जाये, तो 1911 और 1951 के बीच 9.6% से इनका रोजगार प्रतिशत 8.7 आता है। इसे निरौद्योगीकरण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि औद्योगिक उत्पादन में सापेक्ष और निरपेक्ष रूप से महत्वपूर्ण वृद्धि होती है।

निरौद्योगीकरण पर नवीन लेखन

यदि साहित्य पर ध्यान दिया जाये तो परम्परागत हस्तशिल्प के बने रहने के कारणों में मुख्य रूप से यह तर्क सामने आता है कि मोटे वस्त्र उत्पादन की तरफ अधिक रुझान था, जो गरीब जनसंख्या की पूर्ति के लिए स्थानीय बाजारों में उपलब्ध था। लेकिन हस्तशिल्प उत्पादन के बने रहने के कारणों को नये ढंग से तलाशने का काम हाल के वर्षों में तीर्थकर राय, डगलस, हेन्स तथा यानागासावा ने किया है। ये लेखक परम्परागत कारीगरी उत्पादन क्षेत्र में ज्यादा आशावादी नजर आते हैं।

राय के विचारानुसार चार प्रक्रियाएँ थीं, जो हथकरघा उत्पादन क्षेत्र को प्रभावित करती थीं :

1. उत्पादक उन क्षेत्रों में विविधीकरण करते हैं, जहाँ उन्हें मिल के उत्पादन से प्रतियोगिता का सामना नहीं करना पड़ता।
2. समय के साथ-साथ बुनकरों के बीच असमानता आती है और कुछ बुनकर इसका लाभ भी उठाते हैं।
3. बुनाई का उन शहरी केंद्रों में संकेंद्रण बढ़ता है, जहाँ उत्पादन की विधियाँ ग्रामीण क्षेत्रों में ज्यादा अग्रणी थीं।
4. तकनीकी में इस तरह के परिवर्तन हुए जो हथकरघा क्षेत्र को प्रभावित करते हैं।

राय ने यह विचार दिया है कि 20वीं सदी के दौरान दक्षिणी और पश्चिमी भारत में हथकरघा फैक्ट्रियों को बढ़ावा मिला तथा बड़े बुनाई क्षेत्रों में ऐसे कारखानों की स्थापना हुई जिनकी उत्पादन क्षमता अधिक थी; जैसे-शोलापुर, सलेम तथा नागपुर में ऐसे कारखाने थे जिनमें 20वीं सदी के मध्य तक 10,000 से 20,000 तक की क्षमता थी। व्यापक उत्पादन तथा व्यापार का दक्षिण में अधिक विकास हुआ, क्योंकि इस क्षेत्र में करघे को ज्यादा वरीयता दी जाती थी, क्योंकि ये क्षेत्र अभी बदलते फैशन की दौड़ से अलग थे। उत्तर तथा उत्तर पूर्वी भारत में जहाँ बुनाई एक ग्रामीण क्रियाकलाप बनी हुई थी वहाँ व्यापारी साहूकारों ने उत्पादक बुनकरों को अपने नियंत्रण में कर लिया था। हथकरघों के माध्यम से शरीर का आवरण बनाने वाले वस्त्रों को तैयार किया गया। करघों से बने डिजायन जिनमें मुख्य रूप से बॉर्डर वाले वस्त्र लोकप्रिय थे, जबकि मिलों में मध्य गणना वाले सूती कपड़े व प्रिंट वाले कपड़ों का उत्पादन होता था। 1930 में छोटे स्तर पर पावर-लूम क्षेत्र में जो विकास हुआ, वह अच्छे श्रेणी के हथकरघा के समान ही था। तीर्थकर राय यह बताते हैं कि 20वीं शताब्दी में भारत और चीन में हथकरघों का उत्पादन 30 प्रतिशत तक बढ़ा। इतना ही नहीं, 20वीं शताब्दी के मध्य तक संसार के अन्य देशों में भी करघा बुनकरों की संख्या में वृद्धि हुई। मिस्र, सीरिया और जावा ऐसे देश थे। परन्तु यह वृद्धि अल्प समय के लिए देखी गई। तीर्थकर राय बताते हैं कि हथकरघा उद्योग बना रहा, क्योंकि सजावटी और जटिल बुनाई जो दृढ़ता से बनी रही जो महंगे उत्पादों या विलासिता की वस्तुओं से सम्बन्धित नहीं थी। मिलों के कारण जो प्रत्यक्ष प्रतियोगिता बनी थी, वह हथकरघों को प्रभावित करने वाला कारण नहीं कहा जा सकता। वास्तव में यह विकास दोनों क्षेत्रों में उत्पादकों के ध्रुवीकरण पर आधारित था। राय अपनी गणना के आधार पर यह बताते हैं कि हथकरघों की घरेलू बाजारों में हालाँकि कई उतार-चढ़ाव आये परन्तु इनका विकास लगातार ऊपर की ओर होता है। हथकरघों का घरेलू बाजारों में हिस्सा 1900-04 तथा 1935-39 के बीच बढ़कर 27.6 से 31.6 प्रतिशत हो गया,

130 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

जबकि इसी अवधि में आयातों का हिस्सा गिरा, जो 57.4 से गिरकर 11.8 प्रतिशत गया। भारतीय मिलों का हिस्सा बढ़ा, जो 15 प्रतिशत से बढ़कर 56.6 प्रतिशत हुआ। लेकिन 1915-19 के वर्षों में हथकरघों के बाजारों में गिरावट कच्चे माल की वजह से आयी होगी।

यदि कमाई को देखा जाये तो मिल क्षेत्रों में और हथकरघा क्षेत्रों में वेतन स्तर काफी समान थे। बुनकरों की उजड़ती दर को यदि मासिक वेतन में बदलकर देखा जाये तो यह मिल के वेतन से 10 प्रतिशत कम थी। हालाँकि यह भी था कि एक बुनकर साल के दो-तिहाई हिस्से में ही काम करता था लेकिन युद्ध के अन्तरालों के दौरान छोटे बुनकरों के परिवारों की आय और कारखाना मजदूरों की आय में अन्तर बढ़ जाता था। इस अन्तर को तकनीकी परिवर्तन के कारण माना जा सकता है। 1930 के दशक के दौरान हथकरघा क्षेत्र का हिस्सा गैर-कपास उत्पादन के विकास के कारण बढ़ा। इनमें मुख्यतः वे उत्पाद आते थे जो उत्तम कपास तथा शुद्ध रेशम के बीच में मध्यवर्ती उत्पाद थे। हथकरघा क्षेत्र में जो उत्पाद थे, उनका मूल्य महंगे और उच्च गुणवत्ता वाले उत्पादों की दिशा में विविधिकरण के कारण भी बढ़ा। तीर्थकर राय ने अपनी पुस्तक 'ट्रेडिशनल इंडस्ट्री इन द इकॉनॉमी ऑफ कोलोनियल इंडिया' में लिखते हैं कि मुख्य कारण के रूप में भारतीय उद्योगों के विनाश के लिए औपनिवेशिक शासन ही जिम्मेदार था। जबकि उनकी पुस्तक में औपनिवेशिक शासन के सार्वजनिक प्रभाव की बात कही गई है। यह पुस्तक इस बात पर बल देती है कि लम्बी दूरी के व्यापार से भारत, ब्रिटेन या यूरोप के कारीगरों पर जो प्रभाव पड़े, वे कुछ समानताएं लिए हुए थे। तीर्थकर राय ने मार्क्सवादी राष्ट्रवादी विचारधाराओं का भी इस बात में खण्डन किया है कि सबूत यह नहीं कहते कि औपनिवेशिक सत्ता का विनाशकारी प्रभाव हुआ। जहां हथकरघा उद्योग प्रतियोगिता के कारण कुछ नुकसान हुआ, वहीं गैर-प्रतियोगिता वाले वस्त्र उत्पादन में लम्बी दूरी के व्यापार का अनुभव सकारात्मक और सर्जनात्मक रहा। दूसरी ओर वे रोजगार के बारे में प्रमाणों को अस्पष्ट और संदिग्ध मानते हैं। वह इसलिए कि ये प्रमाण हथकरघा या कारीगरी उत्पादन में होने वाले तकनीकी तथा संगठनात्मक परिवर्तनों को ध्यान में नहीं रखते एक और जो बात महत्वपूर्ण है जिसकी ओर राय हमारा ध्यान खींचते हैं वह है कि भारत में औद्योगीकरण की लम्बी अवधि के स्वरूप के साथ मेल नहीं खाती, क्योंकि स्वतंत्रता के बाद भी यहाँ अनौपचारिक क्षेत्र काफी महत्वपूर्ण बना रहा। यदि आंकड़ों को देखा जाये तो यह बात स्पष्ट होती है। 1991 में भी औद्योगिक रोजगार का 75 प्रतिशत पंजीकृत फैक्ट्रियों से बाहर था। 1911 में अनुपात 95 प्रतिशत था। औद्योगिक प्रगति को इस आधार पर नहीं आंका जा सकता कि औद्योगिक क्रांति, आदि औद्योगीकरण, उत्पादन और विनिमय, मशीनें आदि एकदम बदल देती हैं। बल्कि

औद्योगीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसको कारीगरी उत्पादन में श्रम के उपयोग के कई मिश्रित तरीके से इस्तेमाल किये जाते हैं।

राय यह मानते हैं कि भारत वेतनभोगी श्रम के बदलाव और औद्योगिक संगठन में सुधार की दृष्टि से औद्योगीकरण होता है, लेकिन यह जो परिवर्तन की प्रक्रिया थी, कमजोर थी। अपनी पुस्तक 'ट्रेडिशनल इंडस्ट्री इन द इकॉनॉमी ऑफ कोलोनियल इंडिया' में वे यह भी लिखते हैं कि भारत कोई महत्वपूर्ण संरचनात्मक परिवर्तन या आर्थिक विकास का अनुभव नहीं कर रहा था। भारतीय उद्योगों को विकास के लिए प्रेरित करने वाले कारण जिनमें हम मुख्य रूप से कृषि की उत्पादकता में वृद्धि, घरेलू मांग में वृद्धि आदि को मान सकते हैं, औद्योगीकरण के धीमा होने के कुछ अन्य कारण भी थे, जिनमें प्रमुख रूप से निम्नलिखित थे :

- जनसंख्या की उच्च वृद्धि दर।
- स्थायी निवेश को वित्त प्रदान करने वाली संस्थामूलक साधनों की सीमित उपलब्धि।
- वित्त या प्रबंधन के नये प्रतिमानों का न होना।
- निम्न गुणवत्ता वाले श्रम की प्रचुरता आदि।

ये ऐसे कारण थे जिन्होंने औद्योगीकरण के विकास को विरुद्ध किया। सामाजिक कारणों को यदि देखा जाये तो इसमें जाति प्रबंध बड़ा महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसने परम्परागत व्यवसायों में प्रवेश और विकास को प्रतिबंधित किया और इसी कारण भारत में आर्थिक पिछड़ेपन को बढ़ावा मिला। इसको हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि कोई कारीगर अपनी जाति की अनुमति के बिना उससे कोई अलग कार्य नहीं कर सकता था या कोई नया औजार इस्तेमाल नहीं कर सकता था। इससे तकनीकी का प्रवेश तो कारीगरी में अवरुद्ध हुआ ही, साथ ही इससे भारत में आर्थिक पिछड़ापन भी आया। राय और हेन्स दोनों ने ही औपनिवेशिक काल में भारत के परम्परागत उद्योगों में हुए बदलाव को इंगित किया है। इनको प्रमुख रूप से वे इस प्रकार बताते हैं :

- स्थानीय उपयोग के लिये उत्पादन से दूर के बाजार के लिए उत्पादन प्रक्रिया।
- स्थानीय से लम्बी दूरी के व्यापार की तरफ बदलाव।
- लम्बी दूरी के व्यापार के विकास से उत्पादक व उपभोक्ता के व्यवहार में बदलाव आदि।

अन्य बदलावों के अन्तर्गत स्थानीय उत्पादन में काते गये सूत, जरी तथा रंगों का उत्पादन कम हुआ। इससे आयात को बढ़ावा मिला। धातुओं में आयात की जाने वाली चादरों और काँच के काम में ढाँचों का इस्तेमाल बढ़ा। औपनिवेशिक काल में शहरों के विकास में मुख्य रूप से आर्थिक कारण जिम्मेदार थे। उत्पादों की बिक्री के लिए तत्काल स्थान पर होने वाली बिक्री अब अनुबंध पर आधारित व्यवस्था का स्थान लेने लगी। उत्पादों की गुणवत्ता में गिरावट आई, जिसका कारण दूर के व अज्ञात उपभोक्ताओं के

लिए उत्पादन का होना था। वाणिज्यीकरण से जो समस्याएँ उभरकर आईं उनसे निपटने के लिए शहरों ने या तो गुणवत्ता में सुधार लाने की कोशिश की या व्यापक बाजारों के लिए उत्पादों को सरलता से उपलब्ध कराया। इसमें कुछ शहरों के उदाहरण देखे जा सकते हैं; जैसे—सूरत की जटी, मिर्जापुर के कालीन, मुरादाबाद का पीतल ऐसे शिल्प उत्पाद थे जिन्होंने अपने को बाजार के अनुकूल बनाया। यह तो निश्चित रूप से कहा जाता है कि रोजगार में गिरावट आयी, परन्तु इस गिरावट के लिए जिम्मेदार कारणों में सिर्फ आयात को ही माना जाये, यह सही नहीं है। यह कमी कुम्हारों और ठठेरों, चावल की कुटाई करने वाले, परिधान और प्रसाधन के क्षेत्र में रोजगार में लगे लोगों की संख्या में न थी और इन क्षेत्रों को बुरी तरह से प्रभावित किया। राय के विचार से इन उद्योगों के ह्रास के कारण के रूप में 'वृहत् आर्थिक संक्रमण के प्रभाव' के रूप में देखना चाहिए, लेकिन इसे अभी ठीक प्रकार से समझा नहीं जा सकता है।

अगर ब्रिटिश नीति को इन उद्योगों पर पड़ने वाले प्रभाव के रूप में देखा जाये, तो वह अप्रत्यक्ष रूप से दिखाई देता है। हालांकि इस बात से तो इन्कार नहीं किया जा सकता कि भारतीय हस्तशिल्पों का विनाश हुआ। मशीनों द्वारा कार्य होने से ऐसा नहीं होता था कि व्यक्ति की महत्ता एकदम नगण्य हो जाती। इसमें श्रमिकों को भी स्थान दिया जाता है, जो मशीनों पर कार्य करते हैं। 1900-1947 के मध्य देखा जाये तो श्रमिकों की आय भी प्रति श्रमिक 17 प्रतिवर्ष की चक्रवृद्धि दर से बढ़ती है। इसी अवधि में प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय 7 प्रतिशत की दर से बढ़ती है। यह सब मार्क्सवादी विचारधारा से अलग हटकर है। इसमें राष्ट्रीय आय के आंकड़ों को इकट्ठा करके यह सिद्ध करने की कोशिश की गई है कि औपनिवेशिक काल में उत्पादकता में वृद्धि होती है। लघु उद्योगों में ह्रास होता है। परन्तु यदि 1901 और 1947 के बीच आय की गणना की जाये, तो यह 72 प्रतिशत बढ़ जाती है।

परम्परागत हस्तशिल्प उद्योग जिसको 'गरीबों का गरीबों के लिए उद्योग' कहा जाता है, ये कम आय स्वीकार करके अपने को बचा नहीं सके और ह्रास के गर्त में चले गये। निम्न उत्पादकता वाले श्रमिकों की संख्या में लगातार हो रही कमी की गलत व्याख्या करके उसे हस्तशिल्प उद्योग के पतन का कारण मान लिया जाता है, जो सही नहीं है, क्योंकि ऐसे तकनीकी परिवर्तन भी हो रहे थे, जिन्होंने उत्पादकता बढ़ाने में सहायता की। इन तकनीकी परिवर्तनों के अन्तर्गत निम्नलिखित परिवर्तनों को रखा जा सकता है :

- फ्लाई शटल का उपयोग
- पीतल के बर्तन बनाने, चादर बनाने में पॉलिश का आविष्कार।
- जरी उत्पादन में तारों की चादर बनाने में शक्ति का प्रयोग।
- वनस्पति रंगों तथा वस्त्रों में ताना बनाने वाली मशीनें।

— शिल्पों के शहरीकरण से शहरी केन्द्रों का विकास भी हुआ।

उदाहरणार्थ अध्ययन

उदाहरण के लिए हम पीतल, चमड़ा उद्योग में हुए विकास पर नजर डालेंगे। इसके अन्तर्गत हम इन दो बिन्दुओं पर विचार करेंगे।

1. पीतल की वस्तुओं का उद्योग
2. चमड़ा तथा चर्मकार्य

1. पीतल की वस्तुओं का उद्योग—पीतल की वस्तुओं के उद्योग को विदेशी वस्तुओं से ज्यादा प्रतियोगिता का सामना नहीं करना पड़ा। आयात की गई चादरों के इस्तेमाल से उत्पादन की लागत कम हो गयी और इसके साथ ही इससे यह भी लाभ हुआ कि चादर बनाने के लिए पुरानी रद्दी धातुओं को परिष्करण भट्टियों में गलाने की पुरानी पद्धति भी समाप्त हो गयी। इन चादरों के प्रयोग में आने से बर्तनों के उत्पादन को बढ़ावा मिला। 19वीं सदी के अन्त में धातु स्तर पर उपयोग की वस्तुओं में विविधता आयी। रेलवे ने भी सस्ते यातायात के माध्यम से पीतल उद्योग को बढ़ावा दिया। भारतीय कारीगरों ने उन हल्की टिकाऊ वस्तुओं की नकल करके वस्तुएँ बनानी शुरू की, जो यूरोपीय लोग अपने प्रयोग के लिए लाते थे, क्योंकि इन वस्तुओं की मांग समृद्ध भारतीयों में होती थी। तांबे, पीतल की वस्तुओं को बनाने वाले कारीगरों की संख्या को देखा जाये तो

सन्	संख्या
1891	125,000
1901	145,000
1921	106,000
1931	120,000

उपर्युक्त तालिका से लगता है कि पीतल का काम करने वाले कारीगरों की संख्या अच्छी-खासी थी, जो इस काम में लगी हुई थी। पीतल का उद्योग तेजी से बढ़ा, परन्तु उसे प्रतियोगिता का भी सामना करना पड़ा जो, अन्य धातुओं के बर्तनों के कारण उसे मिल रही थी। अन्य धातुओं के बर्तन भी बनने शुरू हो गये थे। इनमें एल्युमिनियम, चीनी-मिट्टी, लोहे के बर्तन आदि थे। पीतल के कारीगरों में उन कारीगरों ने तेजी से तरक्की की, जो सजावटी और उपयोगितावादी सामान बना रहे थे, लेकिन बम्बई और बंगाल में उपयोगितावादी सामानों का निर्माण करने वाले छोटे-छोटे शहरों का ह्रास हुआ। पश्चिम भारत में कुछ छोटे केन्द्रों का आकर्षण तांबे की ओर हुआ, जिसकी मांग ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक थी। पंजाब को जब अंग्रेजों ने जीत लिया, तो यहाँ जो कारीगर तांबे का काम करते थे, उनकी संख्या धीरे-धीरे कम होने लगी। यह कुछ शहरों में केन्द्रित होकर रह गये; जैसे—जालंधर, बटाला और गुड़गांव आदि।

132 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

यूनाइटेड प्रॉविन्स में युद्ध-अन्तराल काल में धातुकर्मियों की बस्तियाँ जिनमें तांबे और कांस्य का काम करने वाले श्रमिक रहते थे, धीरे-धीरे विलुप्त होने लगी। मुरादाबाद, फरुखाबाद और मिर्जापुर जैसे शहरों का विकास हुआ। इसमें मुरादाबाद का विशेष तौर पर विश्लेषण किया जाता है। क्योंकि इस शहर को धातुकर्म के रूप में विकसित करने में रेलवे की भूमिका भी महत्वपूर्ण थी। रेलवे ने सस्ता यातायात उपलब्ध कराया और कच्चे माल की आवाजाही सुलभ हुई। यहाँ गोदाम और संग्रहण स्थान भी बनाये गये। मुरादाबाद में बढ़िया किस्म की कारीगरी से पूर्ण बर्तन बनाये जाते थे। ये इतने अच्छे व कारीगरी लिये होते थे कि मशीनें भी इनका मुकाबला नहीं कर सकती थीं। यहाँ के बनाये गये बर्तन शहरी जीवन के अनुरूप और मध्य वर्गों की जरूरत के हिसाब से बनाये जाते थे, जिनकी बाजारों में अच्छी-खासी मांग होती थी। यहाँ न केवल समृद्ध लोगों के हिसाब से नक्काशी वाले बर्तन जाते थे, बल्कि गरीब लोगों की जरूरत के हिसाब के कलईदार बर्तन भी बनाये जाते थे। पीतल के उद्योग को बने रहने में जो नयी तकनीकियाँ आ रही थीं, उन्होंने भी पर्याप्त मदद की। इनमें होने वाले परिवर्तनों में हम विशेष रूप से पॉलिश करने के लिए शक्ति से चलने वाली तकनीकियाँ, प्रेस तथा ठप्पों का प्रयोग, शक्ति से चालित भट्टियाँ, हस्तचालित धौकनियों की जगह चक्री चालित धौकनियों का इस्तेमाल और साँचा ढालने में मिट्टी की जगह ग्रेफाइट का प्रयोग आदि ऐसे परिवर्तन थे, जिन्होंने न सिर्फ पीतल उद्योग को बढ़ावा दिया, बल्कि इसे जीवित रखने में मदद भी की। पीतल के बर्तन बनाने वाले कारीगर इतने कुशल होते थे कि यह उद्योग जीवित रहा और उन्होंने अपनी कारीगरी के बल पर ही इन बर्तनों में विविधता आयी, जिससे इनके द्वारा बनायी गयी वस्तुओं की मांग बढ़ी। इन कारीगरों ने उपयोगितावादी वस्तुएँ अधिक बनायीं व उसमें पर्याप्त रूप से अपनी कारीगरी का नमूना दिखाकर बाजारों में बेची, जिन्हें लोगों ने खूब पसंद किया। कारीगरों द्वारा हर वर्ग की जरूरत के हिसाब का सामान बनाया जाता था।

2. चमड़ा तथा चर्म कार्य—भारतीय चमड़ा उद्योग में निर्यात को अधिक बढ़ावा मिला, जिससे भारतीय चमड़ा बाजार बढ़ता गया। भारत से चमड़ा निर्यात होने के कारणों को यदि देखा जाये, तो इन कारणों को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत समझा जा सकता है :

1. अकालों की संख्या में बढ़ोत्तरी, जिन्होंने बड़ी संख्या में पशुओं को बाजारों में पहुँचाया। विशेष तौर पर 1876-78 व 1896-98 के अकाल।
2. जर्मनी में खनिज द्वारा रंगने का आविष्कार।
3. अमेरिका में क्रोम द्वारा चमड़ा रंगने की तकनीक का विकास।

ये भारतीय चमड़े के प्रमुख आयातकर्ताओं में से थे। रेलवे ने भी भारतीय आन्तरिक बाजारों से चमड़े को बन्दरगाहों तक पहुँचाया, जिससे इसको अन्य देशों को निर्यात करना आसान हो गया। इस उद्योग के बढ़ते शहरीकरण का कारण रेलवे ही था। 1920 के दशक में देखा जाये तो प्रति वर्ष उत्पादित होने वाली 20 मिलियन चमड़े की खालों में से एक-चौथाई बूचड़खाने से ही आ रही थी। इससे ऐसा लगता है कि बूचड़खानों की संख्या में भी बढ़ोत्तरी हो रही थी। अब चमड़ा शोधक फैक्ट्रियाँ बिचौलियों को छोड़कर सीधे कसाइयों और व्यापारियों से सम्पर्क करती थीं जो गांवों से शुष्क पशुओं को इकट्ठा करते थे। चमड़ा शोधन में ग्रामीण अर्थव्यवस्था को कोई लाभ नहीं मिला, जिसका कारण यह था कि परम्परागत चमड़े के शिल्प में लगी जातियों का अनुपात धीरे-धीरे कम होता जा रहा था। चमड़ा शोधन में उत्तरी भारत के सम्बन्ध में 1901 से 1931 तक के आंकड़ों को देखा जाये तो चमड़ा उद्योग में कार्यरत जातियाँ कम होती हैं न कि इस क्षेत्र में काम करने वाले श्रमिकों की संख्या। दक्षिण भारत में तो इस पूरी अवधि में चमड़े से जुड़ी जातियों की संख्या कम ही रही। यहाँ कई तरह की प्रक्रियाएँ काम कर रही थीं। बहुत-से चर्मकार अपना शिल्प छोड़कर खेतिहर मजदूर बन रहे थे या कोई अन्य व्यवसाय कर रहे थे। बहुत-से चमड़ा शोधक विशेषज्ञ बने, जिन्होंने चमड़े के व्यवसाय में विशिष्टीकरण हासिल किया।

इन होने वाले परिवर्तनों से पंजाब भी अछूता नहीं रहा और यहाँ के चमार जो मरे हुए पशु की खाल उतारने और सिझाने का काम स्थानीय स्तर पर कर रहे थे, अब वे सहायक ठेकेदार के रूप में उभर कर सामने आये। शहरी क्षेत्रों में भी यदि देखा जाये, तो चमारों की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। वे ही चमड़ा शोधन फैक्ट्रियों में चमड़ा शोधन विभाग में कार्य करते थे। ऐसा नहीं है कि ये चमार केवल चमड़े का काम ही करते थे। ये विभिन्न क्षेत्रों में क्षेत्रीय उपलब्धता के हिसाब से कार्य करते थे। पश्चिम भारत में ये सूती मिलों, कपास की धुनाई के कार्य में लगे हुए थे, तो छत्तीसगढ़ के इस जाति के लोग आसाम के चाय बागानों और बंगाल के विभिन्न औद्योगिक व्यवसायों में काम करने के लिए जाते थे। इनका यह प्रवास अब इस कारण भी हो रहा था, क्योंकि पशुओं के मालिक अब पशुओं की खालों को बूचड़खानों को या इसके ठेकेदारों को बेचने लगे थे गुजरात, खानदेश और मराठवाड़ा में ग्रामीण चमड़ा शोधन क्षेत्र में गिरावट आयी, क्योंकि यहाँ सिंचाई के लिए चमड़े के जिन थैलों का प्रयोग होता था, अब उसकी जगह दूसरी सिंचाई व्यवस्था ने ले ली थी।

चमड़े के क्षेत्र में गैर-हिन्दू तथा गैर-कारिगरों का भी आगमन हुआ। इसके पीछे कारण था कि हिन्दू व्यापारिक जातियाँ चमड़ा-शोधकों को ऋण नहीं देना चाहती थीं तथा सामान्य कारिगर

कच्चे चमड़े के प्रति अरुचि दिखा रहे थे। प्रथम विश्व युद्ध के बाद यदि देखा जाये, तो इस क्षेत्र में फैक्ट्रियों का उत्पादन धीरे-धीरे बढ़ा। 1952 की एक रिपोर्ट के आंकड़ों को यदि देखा जाये, तो इससे पता चलता है कि ग्रामीण चमड़ा-शोधक अब केवल 43 प्रतिशत खालों का ही चमड़ा शोधन करते थे, जबकि फैक्ट्रियाँ 50 प्रतिशत खालों का शोधन करती थीं। यदि चमड़ा शोधन क्षेत्र में लगी संस्थाओं का पदानुक्रम देखा जाये, तो यह इस प्रकार था :

- सबसे ऊपर एक बड़ी फैक्ट्री थी, जो बन्दरगाहों या औद्योगिक केन्द्रों में 100 या इससे अधिक श्रमिकों का इस्तेमाल करती थी।
- मध्यम क्रम में एक बूचड़खाने को रखा जाता है, जो खालों की बिक्री का तात्कालिक बाजार भी था।
- सबसे निचले स्तर पर परिवार या समुदाय के सहयोग से काम करने वाली ग्रामीण चमड़ा शोधन इकाइयाँ थीं।

चमड़े के क्षेत्र में जो कारीगर काम करते थे खास तौर पर वे कारीगर जो इससे वस्तुयें बनाते थे, जैसे—तेल के डिब्बे, पानी के थैले, बेलबूटे वाले जूते। प्रथम विश्व युद्ध के बाद की अवधि में इनका ह्रास हुआ। पाइपों द्वारा जब जल सिंचाई को बढ़ावा मिला, तो भित्तियों की मांग कम हो गयी और थैले बनने कम हो गये, लेकिन चमड़े के कारीगरों ने जल्दी ही इस परिस्थिति को समझा और इसके अनुरूप स्वयं को ढालने की कोशिश की। वे मांग के अनुरूप नये किस्म के उत्पाद बनाने लगे—बूट, जूते, थैले, साज-सामान आदि। उन मोचियों की मांग में प्रथम विश्व युद्ध के बाद बढ़ गई, जिन्होंने अपने को अभी तक परम्परागत व्यवसाय में लगा रखा था। 1920 के दशक में चमड़े से बनी वस्तुओं की मांग में बढ़ोतरी हुई। मोचियों का अब शहरों की ओर आगमन बढ़ा व मेरठ, कानपुर, इलाहाबाद चमड़े के जूते के प्रमुख केन्द्र बन गये। आगरा इन सब केन्द्रों में सबसे अधिक बड़ा था। इलाहाबाद में तो मोचियों के स्वामित्व वाले कारखाने थे। चमड़ा सिझाने के क्षेत्र में कई प्रकार के लोग अपना नियन्त्रण बनाये हुये थे। इनमें मुख्य रूप से मुसलमान, यूरोपीय, पारसी, यूरेशियन और चीनी थे। बम्बई में तो वोहरा ओर मेमोन चमड़ा सिझाने वाली फैक्ट्रियों के मालिक थे। चमड़ा निर्माण कार्य में चमड़े के कारीगरों जैसे—मोचियों आदि की महत्वपूर्ण भूमिका थी। यूरोपीय बहुराष्ट्रीय कम्पनी बाटा के इस क्षेत्र में प्रवेश से मोचियों की उप-ठेकेदार के रूप में भूमिका बनी रही।

सारांश

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि भारत में 19वीं शताब्दी में कारीगरी उत्पादन और रोजगार के क्षेत्र में अवनति हुई। इसका वर्णन राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने किया है। उन्होंने इसको बड़ी निराशाजनक स्थिति बताया है। नये लेखन से पता चलता है कि यह

स्थिति उतनी भयानक व निराशाजनक नहीं थी। यदि क्षेत्रीय विभेदों को आधार माना जाये, तो कुल रोजगार उत्पादन और आय में उल्लेखनीय क्षति हुई थी जैसा कि राष्ट्रवादी इतिहासकार बताते हैं। नये इतिहासकार यह मानते हैं कि लंबी दूरी के व्यापार से यह हुआ कि परम्परागत शिल्प उद्योगों में सर्जनात्मकता आयी। उत्पादकता सुधारने, प्रति श्रमिक उत्पादकता बढ़ाने और उद्योग को बनाये रखने व उसकी क्षमता बढ़ाने के लिए कारीगर उत्पादकों ने तकनीकी और संगठनात्मक परिवर्तनों को अपनाया। वहीं युद्ध के अन्तराल की अवधि में वस्त्र उद्योग में कारीगरी का हिस्सा भी बढ़ा। क्योंकि 20वीं सदी में यह क्षेत्र उच्च गुणवत्ता की दृष्टि से तथा मूल्य वृद्धि वाली वस्तुओं का उत्पादन कर रहा था।

20वीं शताब्दी में निरौद्योगीकरण की बात को पुराने इतिहासकारों थॉर्नर व कृष्णमूर्ति के साथ-साथ नये लेखक हेन्स व राय भी स्वीकार नहीं करते। यदि मोटे कपड़े के उत्पादन क्षेत्र में देखा जाये, तो इनकी आय में वहीं गिरावट आयी, जिन क्षेत्रों में इन्हें प्रतियोगिता का सामना करना पड़ रहा था। निरौद्योगीकरण एक विवाद का विषय बना क्योंकि जहाँ राष्ट्रवादी इतिहासकार इसे क्षति, वेदना, मृत्यु और विनाश का कारण बताते हैं, वहीं ब्रिटिश-समर्थन करने वाले इतिहासकार साम्राज्य के संरक्षण के तहत विकास और विस्तार की बात करते हैं।

प्रश्न-अभ्यास

प्रश्न 1. संक्षेप में डेनियल थॉर्नर द्वारा निरौद्योगीकरण पर राष्ट्रवादी धारणा की आलोचना का वर्णन कीजिए।

उत्तर—के.एस. शेलवांकर, आर.पी. दत्त आदि ने अपने लेखनों में 1857 के बाद की अर्द्ध शताब्दी को भारत में निरौद्योगीकरण और कृषिकरण का काल बताया। राष्ट्रवादी लेखक ब्रिटेन में मशीन-निर्मित वस्तुओं को भारतीय हस्तनिर्मित वस्तुओं के लिए घातक मानते हैं कि इन्होंने भारतीय हस्तशिल्प उद्योग का विनाश किया। राष्ट्रवादी विचारधारा की आलोचना तो एल.सी.ए. नोल्स व वीरा एन्स्टे ने भी की, परन्तु राष्ट्रवादी विचारधारा की आलोचना 1881 से 1931 के मध्य हुई नियमित जनगणना के आंकड़ों को लेकर की जाती है। डेनियल और एलिस थॉर्नर ने भी अपनी विचारधारा में जो कि राष्ट्रवादी पक्ष को चुनौती देती है, इन जनसंख्या सम्बन्धी आंकड़ों के आधार पर की है।

थॉर्नर कहते हैं कि 1881 से 1931 के बीच के जनगणना आंकड़ों से यह स्पष्ट नहीं होता है कि भारत में निरौद्योगीकरण का मसला जनगणना आंकड़ों में दी गई त्रुटिपूर्ण व्याख्या से उभरता है। थॉर्नर आगे कहते हैं कि एक कृषि-आधारित अर्थव्यवस्था में कुटुम्ब में कार्य करने के अस्पष्ट विभाजन से भी व्यवसायों का वर्गीकरण कोई आसान काम नहीं है।

134 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

1881 की जनगणना रिपोर्ट में जो श्रेणियाँ इस्तेमाल की गई हैं, उनकी गलत व्याख्या ने इस निरौद्योगीकरण सम्बन्धी विवाद को जन्म दिया है, क्योंकि इसमें औद्योगिक व्यवसायों में कार्यरत जनसंख्या की संख्या और अनुपात को अधिक आँका गया है, जिससे यह भ्रम पैदा होता है। थॉर्नर यह बताते हैं कि यदि इन संख्या सम्बन्धी आंकड़ों की श्रेणियों को इस प्रकार बांटा जाता तो ठीक था; जैसे—निर्माण और व्यापार का एक समूह बनाया जाता और कृषि तथा सामान्य श्रम का एक समूह बनाया जाता, पुरुष व महिला श्रमिकों के आंकड़े अलग-अलग रखे जाते। क्योंकि औद्योगिक निर्माण कार्य और व्यापार समूह में कार्यरत पुरुषों का अनुपात सभी कार्यरत पुरुषों के मुकाबले 1881 और 1931 के बीच 18 प्रतिशत से घटकर 15 प्रतिशत हो जाता है। अगर इस समूह का सभी प्रान्तों तथा चार रियासतों के विस्तृत आंकड़ों से अनुमान लगाते, तो यह 1881 में 16 प्रतिशत हो जाता है। इस प्रकार यह गिरावट 1881 से 1931 के मध्य 3 प्रतिशत से कम होकर एक प्रतिशत ही रह जाती है। कृषि और सामान्य श्रम के समूह में भी पुरुषों का अनुपात 1881 से 1931 के बीच 2 प्रतिशत ही बदलता है। थॉर्नर अपनी पुस्तक 'डि-इन्डस्ट्रीयलाइजेशन इन इण्डिया : 1881-1931' में यह बताते हैं कि निरौद्योगीकरण का मामला स्त्रियों के सम्बन्ध में सदिग्ध आंकड़ों पर ही आधारित नहीं था, बल्कि यह 1881 के नकली और भड़कीले आंकड़ों को मान लेने पर भी आधारित था। थॉर्नर ने 1881 के आंकड़ों को छोड़कर यह अनुमान लगाया है कि महिलाओं का अनुपात औद्योगिक निर्माण और व्यापार कार्य में 1901 में 17 प्रतिशत से घटकर 1931 में 15 प्रतिशत रह जाता है। इसी अवधि में स्त्रियों का अनुपात कृषि और सामान्य श्रम में 77 प्रतिशत से बढ़कर 78 प्रतिशत हो जाता है। अन्त में वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यदि भारत में निरौद्योगीकरण बड़े पैमाने पर हुआ होगा, तो वह 1815 से 1880 के बीच हुआ होगा।

थॉर्नर ने अपनी व्याख्या में मुख्य रूप से जनसंख्या सम्बन्धी आंकड़ों को आधार मानकर राष्ट्रवादी विचारधारा की आलोचना की है कि जिस प्रकार राष्ट्रवादियों ने भारत में निरौद्योगीकरण को माना है, वह गलत जनसंख्या आंकड़ों और जनसंख्या में इस्तेमाल की गई श्रेणियों से सम्बन्धित आंकड़ों पर आधारित है।

प्रश्न 2. मॉरिस डी. मॉरिस के इस तर्क कि “भारत में परम्परागत उद्योगों के हास के प्रत्यक्ष प्रमाण अधिक नहीं हैं” आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।

उत्तर—मॉरिस डेविड मॉरिस यह मानते हैं कि भारत में परम्परागत उद्योगों की अवनति का जो कारण राष्ट्रवादी लेखकों ने बताया है कि ब्रिटिश निर्मित मशीनों द्वारा कपड़ा आयात भारत में निरौद्योगीकरण लाया, वहीं मॉरिस यह मानते हैं कि भारत में निरौद्योगीकरण सम्बन्धी ज्यादा प्रमाण नहीं हैं। वे यह मानते हैं कि भारतीय राष्ट्रवादी लेखकों ने इस बात को नजरअन्दाज किया है कि भारत में वस्त्र की मांग के वक्र की दक्षिण की तरफ बढ़ जाने की

सम्भावनाएं थीं। मॉरिस यह मानते हैं कि यदि यह मानकर चला जाये कि भारत में घरेलू बाजारों का विस्तार होता है, क्योंकि यह विस्तार जनसंख्या में वृद्धि तथा प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि होने पर लोगों की क्रय शक्ति में वृद्धि से जुड़ा हुआ है। इसीलिए देश में मशीन-निर्मित वस्तुओं के आयात बढ़ जाने से भी परम्परागत कारीगरी उद्योगों को बहुत कम या नहीं के बराबर नुकसान हुआ होगा। मॉरिस इस बात को जोर देकर कहते हैं कि राष्ट्रवादी लेखकों ने भारतीय बाजारों के विस्तार को नजरअन्दाज करके ब्रिटिश निर्यातों के सिर्फ नकारात्मक प्रभावों को ही बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया है। वे कहते हैं कि राष्ट्रवादी इतिहासकार केवल नकारात्मक प्रभावों को ही देखते हैं, लेकिन मॉरिस का यह कथन कि भारतीय परम्परागत उद्योगों की अवनति के सम्बन्ध में ज्यादा प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हैं, को लेकर विपिन चन्द्रा, तपन राय चौधरी ने 'इण्डियन इकॉनॉमिक एण्ड सोशल हिस्ट्री रिव्यू' (1968) में तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की है। ये लेखक अपनी प्रतिक्रिया में कहते हैं कि मॉरिस ने भिन्न प्रकार के स्रोतों में उपलब्ध और बिखरे हुए सबूतों की तरफ जो कि सरकारी तथा अकाल कमीशन की रिपोर्टों में आंखों देखा हाल बयान करते हैं कि किस प्रकार हस्तशिल्प उद्योगों के विनाश और कारीगरी की अर्थव्यवस्था का विनाश हुआ, की तरफ ध्यान ही नहीं दिया है। भारतीय बाजारों में प्रवेश करने वाले आयात इतनी तेजी से इस अर्थव्यवस्था में आ रहे थे कि कारीगरी उत्पादों की अवनति अवश्यभावी थी। ये लेखक मॉरिस के इस कथन की भी आलोचना करते हैं कि घरेलू बाजारों का विस्तार हो रहा था, क्योंकि लोगों की आय व जनसंख्या वृद्धि हो रही थी। इस कथन की आलोचना में ये लेखक लिखते हैं कि जनसंख्या बढ़ जाने से शायद ऐसा हुआ है कि घरेलू बाजारों में विस्तार हुआ, परन्तु इस बात के कम ही सबूत मिलते हैं कि 19वीं सदी में लोगों की आय में वृद्धि हुई। वास्तव में ये प्रमाण लोगों की आय में गिरावट के या जड़ता के सबूत पेश करते हैं। इसके अतिरिक्त सस्ते विदेशी सूत के आयात से निस्संदेह रूप से कताई में लगे कारीगरों के रोजगार और आय में गिरावट आयी। विपिन चंद्र यह तर्क देते हैं कि थॉर्नर का शोध यह दर्शाता है कि जनसंख्या के आंकड़े निरौद्योगीकरण के सम्बन्ध में यह साबित करने के लिए कि निरौद्योगीकरण है, लेकिन थॉर्नर इतना तो मानते हैं कि भारतीय बुनकर कुछ हद तक प्रतियोगिता में 1918 के बाद ही टिक पाया, जब तकनीकी बदलाव या यांत्रिकीकरण हुआ।

हालांकि तपन राय चौधरी मॉरिस के आलोचक हैं, लेकिन वह यह मानते हैं कि ब्रिटिश मशीन-निर्मित आयातित उत्पादों के माध्यम से भारतीय हस्तशिल्प उद्योग के कारण लम्बे समय से, यह एकदम विनाश नहीं हुआ। वहीं राय चौधरी तो मॉरिस के इस कथन का भी समर्थन करते हैं कि शुद्ध रूप से देखा जाये, तो भारतीय हस्तशिल्प उद्योग का कोई पतन नहीं हुआ।

एन.एम. जोशी की पुस्तक *अरबन हैन्डीक्राफ्ट्स कापट्स ऑफ बॉम्बे दक्कन* में इस बात का समर्थन किया गया है जो एक तरह से अप्रत्यक्ष रूप से मॉरिस के कथन का ही समर्थन करता है कि हस्तशिल्प क्षेत्र में भिन्न-भिन्न उद्योगों का अपना-अपना रास्ता था। इसमें कुछ का विनाश होता है, तो कुछ विकासमान होते हैं। कुछ का रूपान्तरण हो जाता है और कुछ उद्योग तो मशीनों द्वारा बनाये गये उत्पादों का लाभ उठाकर विकासमान होते हैं। राय चौधरी मानते हैं कि 20वीं शताब्दी तक भारतीय हस्तशिल्प उद्योग जीवित रहा। राय चौधरी इतना जरूर मानते हैं कि उन देशों में जहाँ औद्योगीकीकरण देर से शुरू हुआ, वहाँ औपनिवेशिक शासन के कारण यह अवरुद्ध जरूर हुआ।

एक ओर जहाँ कुछ लेखक मॉरिस की विचारधारा को सिरे से नकार देते हैं, तो वहीं कुछ लेखक इसका समर्थन भी करते हैं। लेकिन मॉरिस का यह कथन कि भारतीय परम्परागत उद्योगों के सम्बन्ध में हास के ज्यादा प्रमाण नहीं मिलते, का राष्ट्रवादियों ने जोरदार ढंग से खण्डन करते हुए मॉरिस का ध्यान उन प्रमाणों की ओर आकर्षित करने की कोशिश की है, जहाँ ये सबूत उपलब्ध हैं। बस इसको पहचानने की जरूरत है, जो राष्ट्रवादी लेखकों ने अपने लेखन में इस्तेमाल किये हैं।

प्रश्न 3. भारतीय वस्त्र उद्योग पर लंकाशायर के आयातों के प्रभावों का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर—19वीं सदी के दौरान ब्रिटेन के सूती वस्त्र उद्योग में जो तकनीकी परिवर्तन हुए, उनसे धीरे-धीरे वहाँ उत्पादन की लागत कम होती चली गयी जिससे लंकाशायर के उत्पादों की भारत में बाढ़-सी आ गयी और भारतीय कारीगरों तथा हथकरघा उद्योगों पर इसका प्रभाव पड़ा। ये लगातार अवनति के गर्त में जाने लगे। लंकाशायर से आने वाले उत्पादों का क्षेत्रीय वितरण एक समान नहीं था। जहाँ इनका वितरण कम था वहाँ भारतीय हथकरघा उद्योग जीवित रहा और जहाँ इसका वितरण अधिक था वहाँ निश्चित रूप से भारतीय हथकरघा उद्योग को धक्का लगा। मद्रास प्रेसीडेन्सी में कोनरॉड स्पेकर ने अध्ययन के दौरान यह बताया कि 19वीं शताब्दी में मद्रास में आने वाली लंकाशायर की वस्तुएं अधिक थी, अपेक्षाकृत बंगाल के। लेकिन दोनों ही क्षेत्रों में विदेशी व्यापार का स्वरूप बदला। इसके पीछे कारण के रूप में कृषि उत्पादों का निर्यात था, जो कि लगातार बढ़ रहा था। लेकिन दोनों ही क्षेत्रों में हथकरघा उद्योग पर अलग-अलग अन्तर आया। 1845 में मद्रास बोर्ड ऑफ रेवेन्यू एन इनक्वायरी के आधार पर यदि गणना की जाये, तो यह परिणाम सामने आता है कि 25 वर्षों में हथकरघा तथा बुनकरों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई। 1850 तक यह संख्या 20 से 25 प्रतिशत तक बढ़ी। बुनकर सूत के मूल्य में वृद्धि तथा उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति में कमी के शिकार जरूर बने। जब फसल अच्छी होती थी, तो उत्पादकता और क्रय शक्ति बढ़ती थी, जिससे हथकरघों की संख्या में भी बढ़ोत्तरी होती थी। अल्पकालिक

संकटों में अकाल, महामारी आदि भी बुनकरों और हथकरघों पर नकारात्मक प्रभाव डालती थी। बाजारों के विस्तार और संकुचन पर भी हथकरघा और बुनकरों की स्थिति निर्भर करती थी।

अतः यदि स्पेकर के विचार को माना जाये, तो यह बात सामने आती है कि लंकाशायर की वस्तुओं का भारतीय बुनकरों और हथकरघा उद्योगों पर ज्यादा असर नहीं पड़ा, बल्कि हथकरघा उद्योग और कारीगरों की संख्या में उतार-चढ़ाव के लिए भारतीय पारिस्थितिक कारण भी जिम्मेदार रहे जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है।

भारतीय बुनकरों को सस्ते और उच्च गुणवत्ता वाले आयातित सूत से यह लाभ हुआ कि इनकी प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति मजबूत बनी, जैसा कि कुछ विद्वान मानते हैं। इसके पीछे ये विद्वान दो कारण मानते हैं। पहला यह कि सस्ता मशीन-निर्मित आयातित सूत अधिक मात्रा में तभी उपलब्ध हुआ, जब भारत में मोटे वस्त्र के उत्पादन की ओर रुझान बढ़ा। दूसरा यह कि देश में निर्मित सूत आयातित सूत की तुलना में सस्ता और अच्छी गुणवत्ता वाला साबित हुआ।

19वीं सदी में परम्परागत हस्तशिल्प उत्पादन लंकाशायर से होने वाले आयातों के कारणों से जीवित नहीं रह पाया जैसा कि सी.जे. बेकर कहते हैं। उसे मोटे वस्त्रों के बाजारों की ओर रुख करना पड़ा। वहीं नये सबूतों को देखा जाये तो इनसे संकेत मिलता है कि 1930 के दशक में इस उद्योग में अपेक्षाकृत वृद्धि हुई। इसके एक महत्वपूर्ण कारण के रूप में मद्रास प्रेसीडेन्सी में कपड़ा पहनने की आदतों में हुए बदलाव को माना जाता है।

प्रश्न 4. एफ.टी.जे.ई. की परिभाषा दीजिए। निरौद्योगीकरण के रोजगार पर प्रभाव का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर—एफ.टी.जे.ई. का अर्थ होता है [Full Time Job Equivalent (FTJE)] पूर्ण समय रोजगार समतुल्य।

यदि F.T.J.E. की परिभाषा देखी जाये, तो इसको इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है—“F.T.J.E. उन बुनकरों या कारीगरों की संख्या जो अंशकालिक होते थे, के द्वारा किया गया काम जो कताई के कारीगर या बुनकर द्वारा पूर्ण समय में रोजगार करते हुए किया जाये।”

निरौद्योगीकरण के रोजगार पर प्रभाव

19वीं सदी में वस्त्र उद्योग के क्षेत्र में अपने एक लेख में माइकल टॉमी यह वर्णन करते हैं कि निरौद्योगीकरण के रोजगार पर सबसे घातक प्रभाव 1790-1830 तथा 1850-1880 के मध्य हुए।

रोजगार का वास्तविक हास 1850 के बाद हुआ, जब भारतीय उत्पादन भारतीय उपभोग का मात्र 40 प्रतिशत रह गया। इससे सबसे अधिक क्षति हथकरघा क्षेत्र में हुई। भारत में वस्त्रों का आयात भी बढ़ा, यह 1500 मिलियन गज या 6 गज प्रतिव्यक्ति बढ़ा।

136 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

हालांकि पूरी 19वीं शताब्दी में हथकरघा वस्त्र उद्योग में रोजगार में क्षति हुई है। लेकिन 1800-1850 की अवधि में जनसंख्या की वृद्धि कुछ हद तक वस्त्रों के निर्यात में आयी गिरावट को महत्वहीन बना देती है।

चमड़े के क्षेत्र में रोजगार में काफी तेजी से गिरावट दर्ज की जाती है और चर्मशोधन शालाएँ तथा शू-फैक्ट्रियाँ अब धीरे-धीरे स्थानीय चमड़े के श्रमिकों की जगह लेती जा रही थीं। इसी प्रकार मिट्टी के बर्तन बनाने, तेल निकालने तथा खाद्यान्नों के परिष्करण के व्यवसायों में भी हास होता है। यदि केवल पुरुष श्रमिकों के आंकड़ों को ध्यान में रखकर गणना की जाये, तो हस्तशिल्प उद्योगों का हिस्सा कुल रोजगार में कम नहीं होता है। लेकिन यदि पुरुष और महिला दोनों श्रमिकों को शामिल करके गणना की जाये, तो 1911 और 1951 के बीच 9.6 प्रतिशत से इनका रोजगार 8.7 प्रतिशत तक आ जाता है।

यदि पीतल के उद्योग में रोजगार को देखा जाये, तो इस उद्योग को ज्यादा प्रतियोगिता का सामना नहीं करना पड़ा। इस उद्योग के निरन्तर बने रहने के पीछे कई महत्वपूर्ण कारण काम कर रहे थे और इस क्षेत्र में लगे कारीगरों ने भी अपने को परिस्थिति के अनुरूप ढालना शुरू कर दिया और ये कारीगर अब यूरोप से लाई गई छोटी परन्तु उपयोगी वस्तुओं की नकल करने लगे, जिनकी मांग भारतीय समृद्ध वर्ग में थी।

लेकिन यदि चमड़ा उद्योग में रोजगार हास को देखा जाये, तो इस क्षेत्र में रोजगार का हास हुआ क्योंकि समय के साथ-साथ इस क्षेत्र में लगी जातियों का अनुपात कम होता चला गया। हिन्दू व्यापारियों ने चमड़ा उद्योग में पैसा लगाना ठीक नहीं समझा। लेकिन ऐसा नहीं था कि यह क्षेत्र रोजगार कमाने के लिए जीवित ही न बचा हो।

चमड़े की वस्तुओं के उत्पादन में लगे कारीगरों ने भी अपने को परिस्थिति के अनुरूप ढाला। 19वीं सदी के दौरान जिन वस्तुओं की मांग नहीं थी, प्रथम विश्व युद्ध के बाद हास की ओर बढ़ीं और इस क्षेत्र में रोजगार के अवसर संकुचित होने शुरू हुए, परन्तु कारीगरों ने अपने को परिस्थिति के अनुरूप ढालकर इन वस्तुओं को उपयोगितावादी के रूप में उत्पादन करना शुरू कर दिया, जिससे इन वस्तुओं की बाजारों में मांग बढ़ी और चमड़ा कारीगरों को उनके रोजगार में बने रहने का अवसर भी मिला।

प्रश्न 5. निरौद्योगीकरण पर तीर्थकर 1958 के तर्क की विवेचना कीजिए।

उत्तर—नये लेखन में परम्परागत कारीगरी उत्पादन के क्षेत्र में ज्यादा आशावादी विचार व्यक्त करते हैं। राय के विचार में चार प्रमुख प्रक्रियाएँ थीं, जो हथकरघा उद्योग को प्रभावित कर रही थीं, जो इस प्रकार हैं :

1. उत्पादकों ने उन क्षेत्रों में विविधकरण को बढ़ावा दिया, जिन क्षेत्रों को प्रतियोगिता का सामना नहीं करना पड़ा।
2. समय के साथ-साथ बुनकरों के बीच असमानता बढ़ी, इसमें कुछ बुनकरों को ज्यादा लाभ मिला।
3. बुनाई का केन्द्र उन शहरों में केन्द्रित होने लगा, जहाँ ग्रामीण केन्द्रों की अपेक्षा बुनाई के ज्यादा अवसर मौजूद थे।
4. तकनीकी में हुए परिवर्तनों ने हथकरघा उद्योग को प्रभावित किया।

राय के अनुसार 20वीं शताब्दी में दक्षिण और पश्चिम भारत में हथकरघा फैक्ट्रियों की संख्या बढ़ी। व्यापक उत्पादन तथा व्यापार का दक्षिण में अधिक विकास हुआ, क्योंकि इन क्षेत्रों में हथकरघा को ज्यादा महत्ता दी जाती थी, क्योंकि यहाँ पोशाक और फैशन के परिवर्तन इस क्षेत्र को कम प्रभावित कर रहे थे। उत्तर और पूर्वी भारत में जहाँ बुनाई एक मुख्य ग्रामीण क्रियाकलाप था। व्यापारी साहूकारों ने उत्पादक बुनकरों पर अधिक नियन्त्रण स्थापित कर लिया था। उत्पादन भी बाजारों की मांग पर निर्भर करता था। करघों पर बने डिजाइन विशेषकर बार्डर वाले वस्त्र ज्यादा लोकप्रिय थे, जबकि मिलों में ज्यादातर मध्यम स्तर व प्रिंट वाले वस्त्रों का उत्पादन किया जाता था।

तीर्थकर राय ने अपनी पुस्तक 'इकॉनॉमी ऑफ कॉलोनियल इण्डिया' में यह तर्क दिया है कि भारत में औपनिवेशिक शासन के सम्बन्ध में जो विचारधारा प्रचलित है वह यह है कि इस विचारधारा को मानने वाले लेखक औपनिवेशिक शासन को उद्योगों के लिए विनाशकारी मानते हैं। लेकिन अपनी पुस्तक में वे इस विचारधारा के विपरीत सार्वजनिक प्रभाव की बात करते हैं। वे कहते हैं कि इस लम्बी दूरी के व्यापार से भारतीय, ब्रिटेन या यूरोप के कारीगरों पर जो प्रभाव पड़े, वे कुछ हद तक समान थे। तीर्थकर राय की यह विचारधारा मार्क्सवादियों और राष्ट्रवादी लेखकों के विपरीत है। लेकिन राय राष्ट्रवादियों और मार्क्सवादियों की विचारधारा को मानने के लिए इसलिए तैयार नहीं हैं क्योंकि वे कहते हैं कि सबूत इस तरह के संकेत नहीं करते जैसा कि राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी लेखक दिखाते हैं। राय कहते हैं कि प्रतिस्पर्धात्मक आयातों ने जहाँ हथकरघा उद्योग को प्रभावित किया, वहीं गैर-प्रतिस्पर्धात्मक वस्त्र उत्पादन के मामले में लम्बी दूरी का प्रभाव सकारात्मक व सर्जनात्मक रहा।

राय जहाँ एक ओर उपनिवेशवाद और विकास के सम्बन्ध में मार्क्सवादी विचारधारा से सहमति नहीं रखते, वहीं वे लम्बी दूरी के व्यापार से होने वाले प्रभावों को सर्जनात्मक प्रतिक्रिया बताते हैं। राय यह मानते हैं कि भारत में घरेलू श्रम के स्थान पर वेतनभोगी श्रम में बदलाव और औद्योगिक संगठन में सुधार की दृष्टि से देखा जाये, तो भारत में औद्योगीकरण होता है। परन्तु इसके परिवर्तन की

प्रक्रिया कमजोर रही। भारतीय उद्योगों के विकास के लिए कृषि उत्पादकता में वृद्धि ने घरेलू मांगों में वृद्धि को तो लगातार बढ़ा दिया, लेकिन ये मौजूद नहीं थी। राय के अनुसार औद्योगीकरण धीमा होने के अन्य कारण भी थे, जिनमें से प्रमुख थे :

- जनसंख्या की उच्च वृद्धि दर।
- स्थायी निवेश को वित्त प्रदान करने वाली संस्थामूलक साख की सीमित उपलब्धता।
- वित्त या प्रबंधन के नये प्रतिमानों का न होना।
- निम्न गुणवत्ता वाले श्रम की प्रचुरता।

ये ऐसे कारण थे जिन्होंने औद्योगीकरण के विकास को निरुद्ध किया। यदि सामाजिक कारणों को देखा जाये, कि इन्होंने किस प्रकार परम्परागत व्यवसायों में प्रवेश और निकास को प्रतिबंधित किया, जिससे भारत में आर्थिक पिछड़ापन बढ़ा, तो इन कारणों में सबसे महत्वपूर्ण कारण के रूप में जाति को रखा जाता है, क्योंकि भारत में जाति व्यवस्था इतनी कठोर थी कि कारीगरों ने भी अपनी जाति बना ली थी और कोई भी कारीगर अपनी जाति की अनुमति के बिना कोई दूसरा कार्य अपनी जाति की पेशे से अलग नहीं कर सकता था और बिना जाति की अनुमति के वह कोई नया औजार भी इस्तेमाल नहीं कर सकता था।

राय ने औपनिवेशिक काल में भारत के परम्परागत उद्योगों में हुए बदलाव को इंगित किया है। वे इस प्रकार थे :

- स्थानीय से लम्बी दूरी के व्यापार की तरफ बदलाव।
- लम्बी दूरी के व्यापार विकसित होने से उत्पादक व उपभोक्ता के व्यवहार में बदलाव।

- स्थानीय उपयोग के लिए उत्पादन से दूर के बाजार के लिए उत्पादन प्रक्रिया।

रोजगार में हो रही गिरावट के सम्बन्ध में राय का विचार है कि रोजगार में हो रही गिरावट के लिए केवल आयातों को ही कारण नहीं माना जा सकता। वे यह बताते हैं कि कुम्हारों, ठठेरों की संख्या में कमी, चावल की कुटाई करने वालों की संख्या में कमी, परिधान और प्रसाधन के क्षेत्र में श्रमिकों की संख्या में कमी का कारण यह था कि ये उद्योग ब्रिटिश वस्तुओं से प्रतियोगिता नहीं कर सके और राय इसे वृहद् आर्थिक संक्रमण की संज्ञा देते हैं। राय कहते हैं कि परम्परागत हस्तशिल्प उद्योग जिसे 'गरीबों का गरीबों के लिए उद्योग' भी कहा जाता है, यह कम आय को स्वीकार करके जीवित नहीं रहा। जहाँ बुनकर और कारीगर उत्पादक दोनों आय और रोजगार की दृष्टि से ह्रास का शिकार बने, वहीं कुछ ऐसे उद्योग भी थे, जो तकनीकी और संगठन में सुधार करके बने रहे तथा सफल हुए। राय यह कहते हैं कि निम्न उत्पादकता वाले श्रमिकों की गलत व्याख्या करके उसे हस्तशिल्प उत्पादन के ह्रास का मुख्य कारण मान लिया जाता है। लेकिन कुछ ऐसे तकनीकी परिवर्तन भी हुए, जिन्होंने उत्पादकता बढ़ाने में सहायता दी—इनमें प्रमुख रूप से निम्नलिखित थे :

- फ्लाई शटल का उपयोग;
- पीतल की चादर बनाने व पॉलिश का आविष्कार;
- जरी उत्पादन में तारों की चादर बनाने में शक्ति का प्रयोग;
- वनस्पति रंगों तथा ताना-बाना बनाने वाली मिलें, आदि।

■ ■

शिल्प उद्योग तथा लघु स्तरीय उत्पादन

11

प्रस्तावना

औपनिवेशिक भारत में औद्योगीकरण और औद्योगिक श्रम के सम्बन्ध में इतिहास में एक विशेष प्रकार की कम्पनियों का वर्णन है, जिन्हें हम आज के समय में बड़े स्तर के उद्योग कह सकते हैं। 20वीं सदी के प्रारम्भ में बड़े स्तर के उद्योग में आय और रोजगार का क्षेत्र थोड़ा ही था। भारतीय इतिहास लेखन में लघु स्तरीय उद्योगों के सम्बन्ध में जो लिखा गया है, वह स्पष्ट नहीं है। हाल में हुए शोधों ने इस पर कुछ लिखा है। इस अध्याय में इन शोधों के सम्बन्ध में और लघु स्तरीय उद्योगों को भी परिभाषित किया गया है।

लघु-स्तरीय उद्योग तथा बड़े-स्तर के उद्योग:

समानताएँ और विषमताएँ

बड़े स्तर के उद्योगों में मुख्यतः तीन विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं :

1. मशीनों का प्रयोग व वाष्प शक्ति से चालित तकनीक
2. बड़ी फैक्ट्रियाँ और
3. सरकारी अधिनियम।

भारत में जो फैक्ट्रियाँ स्थापित थीं, उनमें मशीनों का प्रयोग नहीं किया जाता था। ये अधिकांश फैक्ट्रियाँ घरों में ही स्थापित थीं। घरों में स्थापित होने से यह अर्थ निकलता है कि ये फैक्ट्रियाँ छोटी थीं। इन्हें कार्यशाला कहना ज्यादा उचित होगा। ये किसी सरकारी अधिनियम के तहत भी नहीं आती थीं। इस प्रकार के उद्योगों को लघु उद्योग कहा जाता था। हस्तशिल्प भी इन लघु उद्योगों के अन्तर्गत आते थे। ये हस्तशिल्प उद्योग तो उपनिवेशवाद से पहले से ही स्थित थे। इन हस्तशिल्प उद्योगों को परम्परागत उद्योग भी कहा जाता है। इन हस्तशिल्प उद्योगों के अन्तर्गत प्रमुख रूप से निम्नलिखित उद्योग आते थे :

- (i) हथकरघा बुनाई
- (ii) चमड़े का कार्य
- (iii) धातुओं, लकड़ी व खनिजों का कार्य

जहाँ परम्परागत उद्योग उपनिवेशवाद से पहले से ही स्थित थे और अपना कार्य सुचारु रूप से कर रहे थे, वहीं बड़े स्तर के

उद्योग नये थे। ये हाल ही में स्थापित हुए थे। ये औद्योगिक क्रांति की देन थे तथा इन नये बड़े उद्योगों से एक बात और सामने आती है कि ये उद्योग भारत और ब्रिटेन की आर्थिक और राजनैतिक निकटता के परिणाम थे।

इन बड़े स्तर के उद्योगों और परम्परागत या लघु उद्योगों के मध्य कुछ समानताएँ और विषमताएँ थीं, जिनको हम इन बिन्दुओं के अन्तर्गत रख सकते हैं :

1. तकनीकी
2. संगठन
3. नियंत्रण
4. स्थापना।

बड़े उद्योग बम्बई, मद्रास में थे तो छोटे स्तर के उद्योग पंजाब, संयुक्त राज्य, मद्रास में स्थित थे। लघु तथा बड़े दोनों प्रकार के उद्योगों में वस्त्र उद्योग प्रमुख था। वस्त्र उद्योग के महत्त्व को समझने के लिए यह बात भी महत्त्व रखती है कि चार श्रमिकों में से एक श्रमिक जरूर वस्त्र उद्योग से जुड़ा था। वस्त्र उद्योग के बाद जिन उद्योगों का महत्त्व था उनमें खाद्य परिष्करण, धातु, लकड़ी, चमड़े आदि के उद्योग आते थे जिनमें बड़ी संख्या में कारीगर श्रमिक कार्य करते थे। इन सब उद्योगों में जो एक बात सामान्य थी, वह यह थी कि इन उद्योगों में प्राकृतिक संसाधनों का प्रयोग किया जाता था। उच्च संसाधन की ओर श्रम की गहनता लघु स्तरीय और बड़े स्तर के उद्योगों की विशेषता थी। लघु स्तर के उद्योगों और बड़े स्तर के उद्योगों के बीच ऐसा नहीं था कि सम्बन्ध कोई नहीं था या इनके कार्य से एक-दूसरे को मतलब नहीं था, बल्कि लघु स्तर के उद्योगों और बड़े स्तर के उद्योगों के मध्य एक गहरा सम्बन्ध था। बड़े स्तर के उद्योग ही लघु स्तर के उद्योगों को कच्चा माल देते थे और श्रमिकों का आवागमन भी एक स्तर के उद्योग से दूसरे स्तर के उद्योग में होता रहता था। कभी-कभी तो लघु स्तर के उद्योगों के श्रमिक बड़े स्तर के उद्योगों में जाकर अपनी-अपनी कुशलता और विचार रखते थे। यही बड़े स्तर के उद्योगों के श्रमिकों के साथ भी जुड़ा हुआ था। छोटे स्तर के उद्योग बड़े स्तर के उद्योगों से पुरानी मशीनें आदि खरीदते रहते थे। इस प्रकार कई कारणों से लघु स्तर के उद्योगों तथा बड़े स्तर के उद्योगों के मध्य सम्बन्ध बना रहता था।

लघु-स्तरीय उद्योगों की सामान्य प्रवृत्तियाँ

लघु स्तर के उद्योगों में क्या-क्या परिवर्तन हुए व इनकी अवस्था किस प्रकार की रही? इन सबको हम निम्नलिखित बिन्दुओं के तहत या यूँ कहें कि समय के अनुसार बदलते परिदृश्य के तहत देखेंगे :

1. सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी,
2. प्रारम्भिक उन्नीसवीं सदी: निरौद्योगीकरण
3. उन्नीसवीं सदी का अंत पुनरौद्योगीकरण
4. लघु स्तरीय उद्योग के विकास का स्वरूप: 1900-51

1. सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी

भारत में आधुनिक उद्योगों के विस्तार का प्रारंभ ब्रिटेन में हुए 1850 के दशक में ब्रिटेन में जो औद्योगीकरण हो रहा था, यह उसी का विस्तार था। लेकिन इससे यह कतई नहीं समझना चाहिए कि भारत में इस विस्तार से पहले उद्योग नहीं थे। भारत में इस औपनिवेशिक शासन से पहले हस्तशिल्प व लघु स्तर के उद्योग थे, जिनमें हथकरघा उद्योग द्वारा वस्त्रों के निर्माण में भारत विश्व में सबसे आगे था। 1750 में तो भारत विश्व के औद्योगिक उत्पादों की मांग का एक-चौथाई हिस्से की पूर्ति कर रहा था। संभवतः विश्व वस्त्र निर्यातों में भारत का यह हिस्सा सबसे बड़ा था। लेकिन यह स्पष्ट नहीं हो पाता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था में विश्व व्यापार की यह भूमिका कितनी महत्वपूर्ण थी। यदि यूरोपीय व्यापार साक्ष्यों के सम्बन्ध में देखा जाये, तो यूरोपीय व्यापार के सम्बन्ध में इन साक्ष्यों से अच्छी जानकारी मिलती है, लेकिन इन साक्ष्यों में भी एक दोष है कि इन साक्ष्यों के माध्यम से हमें उन देशों के बारे में तो जानकारी मिलती है, जो विदेशी व्यापार में संलग्न थे, परन्तु उन देशों के सम्बन्ध में अधिक जानकारी हमें नहीं मिल पाती है जो स्थानीय स्तर और स्थल मार्ग से व्यापार करते थे। इसी प्रकार उत्पादन, उत्पादक की जानकारी तो मिलती है, परन्तु व्यापार की नहीं। उद्योगों में वस्त्र उद्योग के बारे में तो पर्याप्त जानकारी मिलती है, परन्तु अन्य उद्योगों के बारे में नहीं मिलती।

किसी भी क्षेत्र के व्यापार केन्द्र के रूप में विकसित होने के लिए मूलभूत आवश्यकताओं की जरूरत होती है। जिस जगह पर ये मूलभूत सुविधाएँ आसानी से व सस्ते में उपलब्ध होती हैं, वह क्षेत्र अपना विकास औद्योगिक क्षेत्र के रूप में आसानी से कर लेता है। भारत में इस प्रकार के केन्द्रों में पंजाब, गुजरात, कारोमण्डल तट और बंगाल प्रमुख थे। यहाँ कपास, जल और श्रम अधिक मात्रा में था जो आसानी से उपलब्ध भी था। इन क्षेत्रीय व्यापारिक केन्द्रों के अलग-अलग व्यापार केन्द्रों से सम्पर्क थे, जिनके बीच व्यापार आसानी से होता था। जैसे-पंजाब के सम्बन्ध मध्य एशिया से थे, गुजरात के सम्बन्ध फारस की खाड़ी व लाल सागर, दक्षिणी पूर्व एशिया के सम्बन्ध कारोमण्डल तट से थे और बंगाल अपने जल मार्गों के माध्यम से उत्तरी भारत से जुड़ा हुआ था। यूरोपियनों के

भारत में स्थापित होने से पूर्व तक भारत और इन एशियाई देशों के व्यापारिक सम्बन्ध बने रहे और इन देशों के बीच व्यापार का विस्तार भी होता रहा। मोटे तौर पर देखा जाये, तो 18वीं शताब्दी तक भारत के लिए यूरोप न तो प्रमुख बाजार था और न ही यूरोपीय-भारतीय व्यापार के लिए प्रमुख शक्ति थी।

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में भारतीय बुनकरों की स्थिति के सम्बन्ध में देखा जाये तो भारतीय बुनकर घरेलू इकाई के रूप में कार्य करते थे, जिसमें स्त्री और बच्चे उनका श्रम में हाथ बंटाते थे। इसमें सूत कटाई व अन्य कार्य भी शामिल थे। लेकिन उत्तर में गंगा के मैदानों में शहरी केन्द्रों में धनी व्यक्तियों द्वारा संचालित बड़ी-बड़ी कार्यशालाएँ थीं, जिनमें कार्य करने वाले सभी लोग पुरुष ही होते थे। एक छत के नीचे एक से अधिक लोग कार्य करते थे।

2. प्रारंभिक उन्नीसवीं सदी: निरौद्योगीकरण

भारतीय शिल्पों में उन वस्तुओं की मांग सन् 1800 तक घटने लगी, जो कुलीन और समृद्ध भारतीय वर्ग द्वारा उपयोग की जाती थी। इसका मुख्य कारण यह था कि ब्रिटिश सरकार ने उनका अत्यधिक दमन किया था और इसी समय ब्रिटेन को किये जाने वाले आयात का अनुपात भी घटता जा रहा था। ब्रिटिशों ने जिन क्षेत्रों में रैयतवाड़ी प्रथा लागू की थी, वहाँ इसके लागू होने के आर्थिक वर्षों में गाँवों की मांगों में मंदी आई। 1820 तक भारत में ब्रिटेन से मशीनों द्वारा बना सूत और कपड़ा पहुँचने लगा और आने वाले 75 सालों में इसकी मात्रा बढ़ती गई, जिसका परिणाम यह हुआ कि कपड़े और सूत के मूल्य में तीन से चार गुना कमी आई। इन सबने मिलकर भारतीय हथकरघा उद्योग को कंगाली के कगार पर ला खड़ा किया। इसी घटना को निरौद्योगीकरण कहा जाता है। इस निरौद्योगीकरण से भारत को एक नुकसान यह उठाना पड़ा कि बहुत-से श्रमिक जो अच्छे उद्योगों में अच्छे वेतन पर कार्य करते थे, अब कम भुगतान वाले व्यवसायों में जाने को मजबूर हो गये। इस निरौद्योगीकरण के प्रभाव, समय और महत्व के बारे में जानने के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। इसका प्रभाव कितना हुआ-इसके सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हैं। इस निरौद्योगीकरण का भारतीय हथकरघा उद्योग में रोजगार पर तो बड़ा प्रभाव पड़ा, इस बात पर सभी इतिहासकार सहमत हैं, परन्तु इस उद्योग की आय और कल्याण पर कितना असर पड़ा, इस सम्बन्ध में इतिहासकारों के अपने-अपने विचार हैं।

आय के सम्बन्ध में यदि विचार किया जाये, तो यह बात सामने आती है कि सूत की कटाई करने वाले कारीगर या तो घरेलू श्रमिक थे या कृषि श्रमिक थे, जो कृषि के साथ-साथ कटाई का कार्य भी करते थे और इनके परिवार के सदस्य भी इसमें शामिल होते थे, चूँकि ये श्रमिक कृषि और कटाई व घरेलू कटाई श्रमिक थे, इनसे एक बात तो स्पष्ट होती है कि ये लोग कम से कम आय

140 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

पर भी कताई कार्य करने के लिए तैयार रहते थे, क्योंकि ये दोनों क्षेत्रों में कार्य कर रहे थे और घरेलू श्रमिक थे। उनके परिवार के सदस्य भी इसमें हाथ बंटा रहे थे, इसलिए हथकरघा उद्योग में आय की हानि उतनी नहीं हुई जितनी कि रोजगार की हानि हुई। दूसरों शब्दों में कहा जाये तो इन श्रमिकों को कम से कम आय पर भी कताई कार्य मंजूर था, परन्तु इनमें श्रमिक अधिक लगे होते थे; जैसे—घर के सदस्य आदि। अतः इससे आय का घटना उनके लिए उतना महत्वपूर्ण नहीं था, जितना कि सदस्यों व खुद का रोजगार से बेदखल होना। मॉरिस लिखते हैं कि ब्रिटिश से मशीनों द्वारा बने आयातित वस्त्रों के दामों में कमी आई, उससे वस्त्रों की माँग बढ़ गई और सूत सस्ता होने से उन बुनकरों को लाभ हुआ, जो अभी तक इस व्यवसाय को अपनाए हुए थे।

अतः हम कह सकते हैं कि 19वीं सदी में हथकरघा उद्योग के क्षेत्र में रोजगार में निश्चित रूप से कमी आई और श्रमिकों को यह रोजगार छोड़कर अन्य रोजगार भी अपनाने पड़े, लेकिन इसने समय के सम्बन्ध में कि यह कब और कितने विशाल रूप से हुई निश्चित तौर पर कुछ भी नहीं कहा जा सकता है और जैसा कि ऊपर भी वर्णन किया गया है कि आय में कितनी कमी हुई। यह हुई भी या नहीं और न ही यह कहा जा सकता है कि इन परिवर्तनों से हानि हुई या लाभ, क्योंकि इन सब तथ्यों के सम्बन्ध में जो जानकारी दे सकें, ऐसे सबूत प्रत्यक्ष तौर पर कम हैं।

3. उन्नीसवीं सदी का अंत: पुनरौद्योगीकरण

19वीं सदी के अंत में ये दो बिंदु अति महत्वपूर्ण रूप से इतिहासकारों के सामने आते हैं :

1. 19वीं सदी में हस्तशिल्प वस्त्र उद्योग का एक हिस्सा खत्म हो जाता है और दूसरा प्रतियोगिता में टिका रहता है। अब प्रश्न उठता है कि यह कैसे टिका रहा, जबकि हाथ के औजार और मशीनों से बने वस्त्रों में तकनीकी अन्तर बहुत बड़ा था और यह बढ़ता कैसे गया?

2. दूसरा बिन्दु 19वीं सदी के अंत से हस्तशिल्पों के पक्ष में कुछ सकारात्मक शक्तियों ने भी काम करना शुरू किया। ये कौन-सी थीं?

उपर्युक्त बिन्दुओं को जानने के लिए हमें उन सभी सूचनाओं का प्रयोग करना पड़ता है, जो प्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध हैं। 1870-1914 के बीच की अवधि में हथकरघा उद्योग में अवनति के बजाय इसमें विस्तार हुआ। लम्बी अवधि तक हथकरघों को बनाये रखने में पावर लूम की भूमिका भी महत्वपूर्ण थी। 19वीं सदी के मध्य में हाथ से बुने जिस भारतीय कपड़े को ब्रिटिश आयातित वस्त्रों व भारतीय मिलों में बने वस्त्रों से सामना करना पड़ रहा था, वे दो प्रकार के थे :

1. मोटा मध्यम सूती वस्त्र
2. प्रिंटेड तथा ब्लीच किया हुआ सूती वस्त्र।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के वस्त्रों को प्रतियोगिता का सामना इसलिए करना पड़ रहा था, क्योंकि इन दोनों प्रकारों के वस्त्रों का उत्पादन और अधिक उत्पादन मशीनों द्वारा किया जाता था, जिसकी गुणवत्ता हाथ से बने वस्त्र की अपेक्षा अधिक अच्छी थी, लेकिन इन दोनों प्रकार के वस्त्रों को छोड़कर वस्त्रों की भी अन्य किस्में थीं, जिनमें काफी मोटे या काफी महीन सूत का इस्तेमाल होता था या करघे पर बनाये गये जटिल डिजाइन या ऐसे वस्त्र जिनमें कपास के सूत का इस्तेमाल नहीं होता था। इन सब किस्मों के वस्त्रों को बनाने में हथकरघों की भूमिका बनी रही। उपर्युक्त किस्म के वस्त्रों में अधिक श्रम की आवश्यकता होती थी। इसमें या तो मिलें स्वयं जानबूझ कर प्रवेश नहीं करती थीं या ये गैर-कपास के रेशों का इस्तेमाल नहीं करती थीं।

अब हम दूसरे बिंदु पर विचार करेंगे कि 20वीं शताब्दी में हथकरघा उद्योग कैसे जीवित रहा, बल्कि उसका विस्तार भी हुआ, यह कैसे संभव हुआ। यदि माँग की तरफ से देखा जाये, तो इसके तीन मुख्य कारण सामने आते हैं:

1. कपड़े का मूल्य कम होने से इसका उपभोग बढ़ा।
 2. कृषि का वाणिज्यीकरण हुआ, जिसने परम्परागत वस्त्रों के लिए स्थानीय माँग को बढ़ाया और बाजारों के विस्तार को बढ़ावा दिया।
 3. 1920 के मध्य से वस्त्र उद्योग के लिए दिये गये सीमा शुल्क संरक्षण ने हथकरघा उद्योग को बढ़ावा दिया।
- यदि आपूर्ति की तरह से देखा जाये, तो श्रम की बचत करने वाले औजारों का प्रसार हुआ, जिनको आसानी से इस्तेमाल किया जा सकता था और इनका छोटे स्तर की कार्यशालाओं और घरेलू उत्पादन को बढ़ाने में प्रयोग किया जा सकता था। इससे औद्योगिक संगठनों व घरेलू स्तर की इकाइयों में उत्पादन को बढ़ाने में सहायता मिली।

4. लघुस्तरीय उद्योग के विकास का स्वरूप: 1900-51

रोजगार—रोजगार की दृष्टि से देखा जाये तो बड़े स्तर के उद्योगों की भूमिका उत्पादन में कम ही रही और यह अभी भी बनी हुई है। 1900 में बड़े स्तर के उद्योगों के रोजगार 5 प्रतिशत ही था। 1991 में यह 29 प्रतिशत हो गया। भारतीय औद्योगिक श्रमिकों की अधिकांश संख्या जो कार्यरत थी या है, वह छोटे स्तर के उद्योगों में ही थी। बड़े स्तर के उद्योगों में हमेशा ही श्रमिकों की संख्या का प्रतिशत कम रहा है। यदि वर्तमान में देखा जाये तो बड़े स्तर के उद्योगों की आय का हिस्सा औद्योगिक उत्पादन में लगभग आधा है। ब्रिटिश काल में हुई जनगणना के आंकड़ों को यदि देखा जाये, तो इससे पता चलता है कि 1881 से 1931 के बीच औद्योगिक रोजगार में निरन्तर कमी हो रही थी। इस अवधि के दौरान यह 20 मिलियन से कम होकर 13-15 मिलियन हो गया था, जबकि इसी समय कृषि में रोजगार बढ़ा और यह 71 मिलियन से बढ़कर 100 मिलियन हो गया था। कृषि क्षेत्र में श्रमिकों का प्रतिशत 62 से

बढ़कर 71 प्रतिशत हो गया था और उद्योगों में यह घटकर 18 प्रतिशत से 9 प्रतिशत पर आ गया था। लेकिन रोजगार में होने वाली यह गिरावट लघु-स्तरीय उद्योगों में अधिक थी। कुछ विद्वान यह मानते हैं कि निरौद्योगीकरण की यह प्रक्रिया 19वीं शताब्दी के अन्त तक जारी रही। यदि डेनियल थॉर्नर और कृष्णमूर्ति के विचार को देखा जाये, तो वे लिखते हैं कि रोजगार के सम्बन्ध में जो आंकड़े पेश किये गये हैं, वे सत्य नहीं हैं क्योंकि ये जनगणना को परिभाषित करने के गलत तरीके के कारण जन्म लेते हैं, लेकिन थॉर्नर और कृष्णमूर्ति के ये तर्क ज्यादा महत्व नहीं रखते। इनमें ज्यादा वजन नहीं है। ये विद्वान अपने तर्कों में यह तर्क भी पेश करते हैं कि श्रमिक स्त्रियों के आंकड़ों में संदेह है। उनको सही नहीं बताया गया है और ये आगे कहते हैं कि इन आंकड़ों को विश्लेषण से अलग कर देना चाहिए। ये विद्वान कहते हैं कि जनगणना अवधि के दौरान स्त्री श्रमिकों की संख्या कम हो रही थी, जिसके कारण आंकड़े गड़बड़ाते हैं। यदि हम स्त्रियों के आंकड़ों को अलग रख दें, तो यह बात सामने आती है कि तत्कालीन औद्योगिक क्षेत्र में कोई खास परिवर्तन नजर नहीं आता है। अगर स्त्रियों के आंकड़े शामिल किये जाते हैं, तो उद्योगों में कार्यरत श्रमिकों की संख्या का हिस्सा कम हो जाता है। थॉर्नर और कृष्णमूर्ति अपने विश्लेषण में स्त्रियों के आंकड़े अलग रखते हैं, लेकिन स्त्रियों के आंकड़ों को अलग रखने का तर्क अटकलबाजी पर आधारित है और इस तर्क को महत्व नहीं दिया जाता है। एक अन्य विद्वान पटेल यह मानते हैं कि निरौद्योगीकरण की प्रक्रिया 19वीं शताब्दी के अन्त तक भी जारी रही, परन्तु इस बात में सच्चाई नहीं है। औद्योगिक संगठन में परिवर्तन आया। लघु स्तर के उद्योगों में रोजगार स्वतंत्रता पूर्व तो बढ़ा, परन्तु स्वतंत्रता के बाद यह बहुत धीमी गति से बढ़ा। यदि स्वतंत्रता के बाद की गयी जनगणना के आंकड़ों को देखा जाये, तो रोजगार में कम वृद्धि होना यह नहीं दर्शाता कि रोजगार वृद्धि जड़ हो गई थी, बल्कि इसका अर्थ यह है कि अब घर की इकाइयों या अत्यधिक श्रम पर आधारित इकाइयों की जगह अब छोटी कार्यशालाओं या वेतनभोगी श्रमिकों पर आधारित फर्मों उनका स्थान लेने लगी थीं। अधिकांश पारिवारिक श्रमिक उद्योगों में अंशकाल कार्य करते हैं। इस प्रकार का बदलाव कुल रोजगार को कम करता है और श्रम की उत्पादकता बढ़ा देता है, जो पूरी 20वीं शताब्दी तक जारी रहा। स्त्रियाँ पारिवारिक फर्मों में काम करती थीं और पारिवारिक फर्मों का विघटन हो रहा था। स्त्रियाँ मशीनरी उत्पादन में से काम छोड़कर बाहर निकलती हैं।

आंकड़ों का विश्लेषण करने से यह पता चलता है कि प्रति श्रमिक आय और कुल वास्तविक आय बढ़ती है। यह आय बड़े स्तर के उद्योगों की अपेक्षा छोटे उद्योगों में तेजी से बढ़ती है। जिन उद्योगों में यह आय बढ़ती है, उनमें मुख्य रूप से थे-हथकरघा वस्त्र उद्योग, चमड़ा सिझाना, धातु कार्य आदि। वस्त्र उद्योग में निश्चित तौर पर आय बढ़ती है, जबकि रोजगार के सूचकांक जड़ता या गिरावट दिखाते हैं।

औद्योगीकरण पर एक नया परिदृश्य

औद्योगीकरण के सम्बन्ध में क्या परिवर्तन हुए, इसका अर्थव्यवस्था, श्रमिकों व कारीगरों की स्थिति पर क्या प्रभाव हुआ? यह जानने के लिए हम औद्योगीकरण पर एक नए परिदृश्य बिन्दु को दो उप-बिन्दुओं में बांटकर देखेंगे-

1. वाणिज्यीकरण, प्रतियोगिता और संस्थागत परिवर्तन
2. एक नवीन विचारधारा: श्रमगहन औद्योगीकरण

1. वाणिज्यीकरण, प्रतियोगिता और संस्थागत परिवर्तन

लम्बी दूरी के व्यापार का विस्तार और क्षेत्रीय बाजारों का एकीकरण जिन कारणों से हुआ, उनमें मुख्य रूप से निम्नलिखित कारण थे:

1. विदेशी व्यापार
2. आधुनिक यातायात और संचार
3. निजी सम्पत्ति के अधिकारों की सुरक्षा।

औद्योगीकरण को जिन कारणों से बढ़ावा मिला, उनमें स्वयं के लिए उत्पादन, विभिन्न प्रकार की गैर-बाजारी और वस्तु-विनिमय की वितरण प्रणालियों और स्थानीय, ग्रामीण व अन्य बाजारों को दूर के बाजारों के लिए अनुबंध के आधार पर उत्पादन आदि उपर्युक्त तथ्यों का विघटन हुआ, जिससे औद्योगीकरण बढ़ा। नये बाजारों की व्यवस्था उभरकर सामने आई। रेलवे ने भी इसको बढ़ावा दिया, जो बड़े शहरों में केन्द्रित थी। लम्बी दूरी के व्यापार के मुख्यतः दो प्रभाव हुए :

1. प्रतियोगिता को बढ़ावा मिला
2. औद्योगीकरण संगठन और तकनीकी में परिवर्तन हुए।

वाणिज्यीकरण होने से लघु स्तर के उद्योगों में आपस में प्रतियोगिता बढ़ गई। 19वीं शताब्दी के अंत में एक तथ्य और उभर कर सामने आता है कि छोटे दूर-दराज वाले क्षेत्रों में चलने वाले लघु स्तरीय उद्योगों में जिनमें मुख्यतः वस्त्र, चमड़ा और धातुकर्म थे, में विघटन के कई मामले हैं। इनमें विघटन क्यों हुआ?—इस सवाल के जवाब में इतना ही कहा जा सकता है कि या तो ये उत्तम गुणवत्ता नहीं रखते थे या बाजार और यातायात इन उद्योगों के लिए सुलभ नहीं था या इनसे दूर था। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि उस समय बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना हो रही थी। कारीगरों का बड़ी संख्या में इनकी ओर रुझान बढ़ रहा था। इन रुझानों से श्रम और पूँजी के बाजारों का विस्तार हुआ, जिसने श्रम को किराये पर लेने के लिए प्रोत्साहित किया।

औद्योगिक संगठन में परिवर्तन होने के दो कारण थे। वाणिज्यीकरण के कारण सूचना और पूँजी आवश्यक संसाधन बन गये। चूँकि ये दोनों ही दुर्लभ संसाधन थे, जिनका इन पर नियंत्रण था उनकी शक्ति बढ़ी और उत्पादन निर्माण की प्रक्रिया में उनका वर्चस्व बढ़ता चला गया। पूँजीपति और श्रमिकों की अब अलग पहचान होने लगी। इनमें सम्बन्ध अब स्वामी और नौकर का हो गया।

2. एक नवीन विचारधारा : श्रम-गहन औद्योगीकरण

औपनिवेशिक काल में औद्योगीकरण किस का प्रकार था? इससे क्या परिणाम सामने आये?—इन सब तथ्यों को जानने के लिए एक नवीन विचारधारा का विकास हुआ।

यूरोप और उत्तरी अमेरिका में जहाँ औद्योगीकरण का सकारात्मक प्रभाव रहा, वहीं तीसरी दुनिया में औद्योगीकरण का नकारात्मक प्रभाव अनुभव किया गया। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि श्रम-गहन उत्पादों को पूंजी-गहन उत्पादों द्वारा हटा दिया गया। ऐसा माना जाता है कि औद्योगीकरण की यह प्रक्रिया उत्तर में हुई, लेकिन दक्षिण में अवरुद्ध हो गई। जो विद्वान अल्पविकास की विचारधारा रखते हैं, वे यह भी कहते हैं कि तीसरी दुनिया में औद्योगीकरण का उल्टा अनुभव हुआ।

प्रारंभिक 20वीं सदी में आये कुछ नवीन विचारों ने औद्योगीकरण की एक नई तस्वीर प्रस्तुत की है। इन नवीन विचारों में कहा गया है कि भारत में 19वीं सदी के मध्य में एक प्रकार का औद्योगीकरण हो रहा था, जो सस्ती श्रम-कुशलता पर आधारित था और जो निम्नलिखित बातों पर निर्भर करता था :

1. सस्ता श्रम
2. प्राकृतिक संसाधन
3. परम्परागत वस्तुओं को वरीयता
4. उत्पादन में अधिक कुशलता
5. आन्तरिक बाजार

औद्योगीकरण के होने से हाथ से बुनाई करने वाले कारीगरों की भूमिका नगण्य नहीं हो गई या उसे इस औद्योगीकरण के कारण हटा नहीं दिया गया, बल्कि ये कारीगर इसका एक भाग बन गये और उन्होंने इसमें सकारात्मक योगदान दिया।

दो प्रमुख उद्योग

वैसे तो परिवर्तन सभी क्षेत्रों में हुए, परन्तु यहाँ दो उद्योगों में हुए परिवर्तन के सम्बन्ध में विशेष रूप से चर्चा की जा रही है:

1. सूती और रेशमी बुनाई
2. चमड़ा

1. सूती और रेशमी बुनाई—सूती और रेशमी बुनाई की निम्न बिंदुओं के अन्तर्गत चर्चा करेंगे :

- (a) मापक्रम
- (b) मांग की परिस्थितियाँ
- (c) आपूर्ति पक्ष

(a) मापक्रम—1919-1939 की अवधि के मध्य, जो दो विश्व युद्धों के मध्य की अवधि भी है, इस अवधि में यदि बुनकरों की संख्या के आकड़ों को देखा जाये तो इस अवधि में कपास, रेशम और ऊन के बुनकरों की संख्या तीन से साढ़े तीन मिलियन थी। मिलों में रोजगार का 10 प्रतिशत भाग ही शामिल था और बाकी रोजगार में लगे श्रमिक हाथ के औजारों का प्रयोग करते थे या पारिवारिक स्तर पर रोजगारों की इकाइयों में कार्यरत थे।

यदि हम यह पता करना चाहें कि 19वीं सदी के अन्त में हथकरघे द्वारा कितना सूत इस्तेमाल किया जाता रहा था, तो इसके लिए हमें मिलों में बने सूत और आयातित सूत की मिलों के उपयोग संघ से बचे बाकी सूत की मात्रा देखनी होगी। 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में हथकरघों द्वारा लगभग 25 प्रतिशत सूत उत्पादित किया जा रहा था। 1900 से 1939 के बीच सूती कपड़े के उत्पादन में लगभग 30 प्रतिशत विस्तार हुआ। इस पूरी अवधि में कपड़े का उपभोग न्यूनतम बढ़ा और भारतीय कपड़ा आयातित कपड़े की मात्रा को धीरे-धीरे कम कर रहा था। रेशम व अन्य रेशों से बने वस्त्रों को सिर्फ हथकरघों द्वारा ही बनाया जाता था। अन्य को छोड़कर बाकी सब रेशों को एक साथ लेने पर मूल्य की दृष्टि से 1930 के दशक में हथकरघों द्वारा कुल उपभोग में वस्त्रों के उत्पादन में 50 प्रतिशत हिस्सा हो गया। बढ़ते उत्पादन और करघों की स्थिर संख्या से एक बात सामने आई कि करघों की उत्पादन क्षमता बढ़ गई थी। वास्तविक आय और करघों द्वारा बुनाई से आय की तुलना की जाये, तो यह बात सामने आती है कि अधिक कुशल और कम कुशल बुनकरों के बीच काफी भिन्नता थी। राष्ट्रीय आय के आंकड़े वेतन में धीमी वृद्धि दर्शाते हैं, लेकिन इनके लगातार नीचे की ओर जाने के कोई संकेत नहीं मिलते।

(b) मांग की परिस्थितियाँ—ब्रिटिश शासन से पहले भी सूती वस्त्र उद्योग के कुछ भाग का वाणिज्यीकरण हो चुका था, जिसका कारण था, इन भागों से विदेशों को व्यापार किया जाता था। जिसके कारण इनमें वाणिज्यीकरण हुआ। लेकिन 19वीं सदी के प्रथमांश में ब्रिटिश मिलों में निर्मित कपड़ा भारतीय बाजारों से प्रतियोगिता करने लगा, लेकिन औपनिवेशिक काल में वे कपड़े जिनका पहले भारी मात्रा में व्यापार नहीं होता था, वाणिज्यीकृत हो गये। वाष्प शक्ति द्वारा जिन उद्योगों को चलाया जाने लगा और इस तकनीकी के आने से जिन उद्योगों को खतरा पैदा हुआ, उनमें कपड़ा उद्योग सबसे प्रमुख था। सबसे ज्यादा असर इस उद्योग पर ही पड़ा। अहमदाबाद और मुम्बई की कताई मिलों द्वारा इस तकनीकी का प्रयोग किया गया और बुनकरों के लिए समस्या खड़ी कर दी, क्योंकि वाष्प चालित करघे पर हथकरघे की अपेक्षा ज्यादा तेजी से कपड़ा बनाया जा सकता था और इससे प्रतियोगिता पैदा हो गई। लेकिन फिर भी हथकरघा इस उद्योग में टिका रहा; यह कैसे संभव हुआ? यह इसलिए संभव हुआ, क्योंकि कुछ किस्मों के कपड़ों के निर्माण में हथकरघे का ही प्रयोग किया जाता था। जिसमें परम्परागत वस्त्रों के निर्माण में तो हथकरघा उद्योग ज्यादा कुशल था। करघे पर बहुत मोटे या बहुत महीन कपास के सूत का उपयोग, करघे पर जटिल डिजाइन वाले वस्त्र या कपास के रेशों से अलग किस्म के वस्त्र केवल हथकरघों पर ही बनाये जाते थे। इससे हथकरघा उद्योग का इस क्षेत्र में बने रहना संभव हुआ। करघों के लिए एक और विशेष प्रकार का वस्त्र था, जो केवल हथकरघों पर ही बनाया जाता था और उसकी मांग भी थी। इसने भी हथकरघों को टिके रहने में

सहायता की, वह थी बॉर्डर वाली साड़ी। हथकरघों पर जिस प्रकार के कपड़े बनाये जाते थे, उनमें प्रमुख रूप से पगड़ियों के कपड़े, बॉर्डर वाली साड़ियाँ, चार खाने वाली और धारी वाली लुंगी। मिलों में जो वस्त्र प्रमुख रूप से बनाये जाते थे उनमें शामिल थे, कमीज और सूट के कपड़े, धोतियाँ और साधारण साड़ियाँ आदि। जिस किस्म के कपड़ों को हथकरघों पर बनाया जा सकता था, वे जटिल किस्म के होते थे। मिलें उनमें ज्यादा श्रम होने की वजह से जानबूझकर या फिर अन्य किसी कारण प्रवेश नहीं करती थीं। हथकरघों को जिन श्रेणियों के कपड़े से प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा, यदि उस किस्म के कपड़ों में प्रतियोगिता के कारणों को और परिणामों को देखा जाये, तो करघा उद्योग इनमें लाभ में था। 20वीं सदी के प्रारंभ में जब नगदी फसलों का प्रचलन और उत्पादन बढ़ा, जिससे ग्रामीण क्षेत्रों की क्रय शक्ति बढ़ी, तो हथकरघों का उत्पादन भी बढ़ गया।

हथकरघा उत्पादन में लम्बे व्यापार के कारण कोई अन्तर नहीं आया। यह मुख्य तौर पर रेशम बुनाई में था। लेकिन 19वीं सदी के अन्त में हमें परिवर्तन अवश्य दिखाई देते हैं। इस अवधि में व्यापार की मात्रा बढ़ी, तो इसने स्थानीय बुनाई को नुकसान पहुंचाया और उसको नष्ट कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि ग्रामीण बाजार और जो मेले गांव में लगते थे व जिनमें ग्रामीण प्रत्यक्ष रूप से खरीदारी करते थे, की संख्या को कम कर दिया। थोक व्यापार का चलन बढ़ गया और 19वीं शताब्दी के अन्त तक तो हथकरघा उद्योग के लिए प्रमुख कच्चा माल समझे जाने वाले सूत, विरंजन सामग्री, रेशम और स्वर्ण के धागे; इनसे लम्बी दूरी का व्यापार बढ़ा और अब इनको आयात किया जाने लगा। इनका व्यापार इस अवधि में महंगा हो गया और हथकरघा उद्योग भी इन सबका इस्तेमाल करने के लिए मजबूर हुआ।

(c) **आपूर्ति पक्ष**—बुनकर अपना काम पारिवारिक इकाई के रूप में करते थे। इनमें पुरुष मुख्य रूप से काम करते थे और उनके काम में बच्चे और स्त्रियाँ भी हाथ बंटाती थीं। औपनिवेशिक काल में पारिवारिक इकाइयों के रूप में हथकरघा उद्योग को देखा जा सकता है। लेकिन युद्धों के अंतराल की अवधि में हथकरघा उद्योग में फैक्ट्रियों ने अपने पैर पसारने शुरू कर दिये थे। ये फैक्ट्रियाँ उन लोगों द्वारा लगाई जा रही थीं, जिन्होंने व्यापार शुरू किया था और इन नये व्यापारों में हम कपड़े, सूत, विरंजक सामग्री, जरी, रेशम जैसे उद्योग रख सकते हैं। इन फैक्ट्रियों में अच्छे औजारों का उपयोग किया जाता था और ये फैक्ट्रियाँ पश्चिम भारत के प्रमुख वस्त्र उद्योग केन्द्रों के रूप में विकसित शहरों में स्थापित की गई थीं। हथकरघा उद्योग में जो पूंजी और श्रम लगा हुआ था, उसने अब गति पकड़नी शुरू कर दी थी और इनको गति देने के पीछे नये केन्द्रों, रेलवे, कताई की मिलों आदि का बड़ा सहयोग था। इन फैक्ट्रियों में श्रमिकों का आगमन भी हो रहा था, जो पिछड़े राज्यों और अधिक जनसंख्या वाले क्षेत्रों से आते थे; जैसे—उत्तर प्रदेश और हैदराबाद आदि।

20वीं सदी में हथकरघा उद्योग में अनेक प्रकार की नयी-नयी तकनीकों का प्रयोग होने लगा। इन तकनीकियों को प्रांतीय सरकार द्वारा भी बढ़ावा मिल रहा था। परम्परागत और लघु स्तर के उद्योगों को बढ़ावा देने की सरकार की यह नीति महत्वपूर्ण तो थी, दूसरी तरफ पूंजीपति बुनकरों की बढ़ती समृद्धि और जानकारी और बाजारों की निश्चितता ने भी परम्परागत और लघु स्तर के उद्योगों को नयी तकनीकियों को आजमाने के लिए प्रोत्साहित किया। नयी तकनीकियों में पावर लूम और फ्लाई शटल थे।

पावर लूम चौखटे वाले करघे के स्थान पर शक्ति से चलने वाला करघा था। मिलों द्वारा शक्ति से करघे अब निकाले जा रहे थे। इसीलिए ऐसे करघे को खरीदकर उनकी मरम्मत करके बुनकर इसे अपनी फैक्ट्रियों में लगा रहे थे, जो उनको ज्यादा महंगा नहीं पड़ता था। समृद्ध बुनकरों ने तो हथकरघों को शक्ति से चलने वाले करघों में बदलना शुरू कर दिया, जहाँ यह संभव था। भारत में इस प्रकार के करघे जो तेल के ईंधन द्वारा चलते थे, 1900 के आसपास दिखाई देने लगे। 1930 के दशक में बिजली के इन क्षेत्रों में आ जाने से इनका चलन और अधिक बढ़ गया। इन करघों का संचालन उन्हीं लोगों द्वारा किया जा रहा था, जो पहले से ही इस हथकरघा उद्योग में लगे हुए थे और यह सब उस उद्योग की उर्वर भूमि तैयार कर रहा था, जो आने वाले दशकों में भारत में विकसित होने जा रहा था।

चमड़ा उद्योग

चमड़ा उद्योग में सिझाई गयी खालें और चमड़ा निर्यात की प्रमुख वस्तु बन गया। 1870 से 1937 तक यह प्रमुख निर्यातक उद्योग बना रहा, जब तक कि आर्थिक मंदी का दौर शुरू नहीं हो गया। इसके बाद सिझाई गई खालों और चमड़े का निर्यात कम होता चला गया। लेकिन स्थानीय स्तर पर चमड़े का उपयोग ऐसी उपयोगी वस्तुओं को बनाने के लिए होने लगा, जो दक्षिणी एशिया के लिए सबसे महत्वपूर्ण व्यापार के लिए काम आयीं। चमड़ा सिझाना मुख्य रूप से एक ग्रामीण शिल्प था, जो ऐसे लोगों द्वारा किया जाता था, जो अंशकालिक खेतिहर मजदूर भी थे। वे जाति में बहुत नीचे होते थे और इसी कारण ग्राहकों और किसानों के साथ सौदेबाजी करने की वे हिम्मत नहीं जुटा पाते थे। अधिकांश जगहों पर तो खालों को बस अन्न के रूप में बदला जाता था अर्थात् वस्तु-विनिमय होता था। लेकिन इस वस्तु-विनिमय की जो शर्तें थीं, वे आपूर्ति करने वाले इन कारीगरों के लिए लाभदायक नहीं थीं। चमड़े के कारीगरों को अन्न का जो हिस्सा मिलता था, वह इनकी जनसंख्या के हिसाब से बहुत कम होता था। चमड़ा सिझाने का कार्य करने में लगे इन श्रमिकों में परिवार भी लगा रहता था या ये लोग सामूहिक श्रम के रूप में कार्य करते थे, जो सामान्यतया अन्य क्षेत्रों में भी देखने को मिलता है। चमड़े सिझाने का काम अधिकतर ग्रामों में होता था और यहाँ से शहरों में स्थित थे। यह अन्य शहरी केन्द्रों को जाता था जो मुख्यतः कानपुर,

144 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

मद्रास, बम्बई, कलकत्ता आदि में स्थित थे। चमड़े की जो खालें भारतीय कारीगर तैयार करते थे, उन्हें विदेशी व्यापारी भी उनकी गुणवत्ता को देखते हुए खरीदते थे। इसका लाभ उन ग्रामीण कारीगरों को हुआ, जो वस्तु-विनिमय के माध्यम से सौदेबाजी करते थे। ये अब इन खालों को सीधे निर्यातकों को बेचते थे। इससे इन श्रमिकों का शहरों की ओर पलायन बढ़ा और ये इन शहरों में जाकर वहाँ फैक्ट्रियों आदि में कार्य करने लगे।

श्रम

लघु-स्तरीय उद्योगों ने अधिक से अधिक वेतनभोगी श्रमिकों को रोजगार दिया और बाजारों का विकास किया। यह उस समय अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है, जब फैक्ट्रियों का विकास तेजी से हो रहा था। छोटे स्तर की फैक्ट्रियों के विकास लिए चार कारण महत्वपूर्ण थे:

1. यह उन शहरों में विकसित हुई, जहाँ प्रवासी आ रहे थे।
2. ये उन क्षेत्रों में उभरी, जहाँ कम कुशलता की आवश्यकता थी।
3. फैक्ट्रियाँ उन उद्योगों में उभरी, जिनका आंशिक रूप से मशीनीकरण हो चुका था।
4. उत्तरी भारत के कुछ ऐसे शिल्पों में उभरी, जहाँ व्यापारियों ने बड़ी-बड़ी कार्यशालाएँ बना ली थीं।

19वीं सदी के अन्तिम दशक में कारीगरों और कारीगर समूहों का बड़ी संख्या में औद्योगिक शहरों की तरफ पलायन दिखाई देता है। इनमें से कुछ तो ऐसे थे, जो अपने शिल्पों को छोड़कर इन फैक्ट्रियों में एक सामान्य श्रमिक की तरह कार्य कर रहे थे। इनमें से कुछ तो मिलों में काम करने लगे और कुछ ने अपने को कच्चे माल के स्रोतों और बाजार के केन्द्रों के पास स्थापित कर लिया था।

फर्मों में श्रमिकों की भर्ती के दो तरीके अपनाए जाते थे, जिससे ऐसा लगता है कि श्रम की भरती पूर्णतः किराये पर नहीं की जा रही थी। इन तर्कों में

1. फैक्ट्रियाँ मुख्यतः पारिवारिक श्रम का उपयोग करती थी अर्थात् वे परिवार के अन्दर ही श्रमिकों को रोजगार देती थीं।
2. स्वामी श्रमिकों को किराये पर रखते थे।

20वीं शताब्दी में परम्परागत रूप से चली आ रही व्यवस्थाएं कमजोर और विघटित हो रही थीं। इसके प्रमाण हमें जनगणना आंकड़ों से मिलते हैं, जो यह दिखा रहे थे कि पारिवारिक उद्योग अब रोजगार पाने के लिए पिछड़ने लगे थे। पारिवारिक इकाइयों और पुरानी किस्म की व्यवस्था से रोजगार की अवनति यह दर्शाती है कि परम्परागत उद्योगों में स्त्री और बच्चों को काम पर रखने से अनियंत्रित श्रम बाजारों की दिशा में परिवर्तन हुए।

पूँजी

लघु स्तर के उद्योगों के लिए पूँजी कहाँ से आती थी, जो इनको चलाने और विकसित करने में सहायता करती थी और लघु

स्तर के उद्योगों में जो लोग निवेश कर रहे थे वे पूँजीपति कौन थे? इन सवालों के उत्तर जानने के लिए हम इस बिन्दु को निम्नलिखित भागों में बांटकर अध्ययन करेंगे :

1. पूँजी के स्रोत
2. पूँजीपति
3. संस्थाएँ और संगठन

1. पूँजी के स्रोत—लघु स्तर के उद्योगों के बैंकों से बहुत कम सम्बन्ध थे या नहीं के बराबर थे और अनौपचारिक साख बाजारों से भी कभी इनके सम्बन्ध कम थे। इस कार्यशील पूँजी के वित्त का मुख्य आधार व्यापार ऋण था।

पूँजी का मुख्य स्रोत ऋण ही था और फैक्ट्री मालिकों और व्यापारियों द्वारा ठेकेदारों से ऋण लिये जाते थे। इस ऋण को ये लोग अपने उद्योगों को विकसित करने के लिए या नयी मशीनें या पुरानी मशीनों को ठीक कराने के लिए खर्च करते थे, क्योंकि स्थायी पूँजी के ऋण आसानी से प्राप्त हो जाते थे।

2. पूँजीपति—थोक व्यापारी, कच्चे माल के आयातक, फैक्ट्रियों के मालिक आदि को नये व्यापारियों की संज्ञा दी जाती है। कुछ उद्योगों में विशेष रूप से हथकरघा बुनाई के पूँजीपति मुख्य रूप से कारीगरों के समुदायों से ही आते थे। लेकिन चमड़े को सिझाने के क्षेत्र में पूँजीपति व्यापारिक समुदायों से आये। लेकिन इन बातों को निर्धारित करने वाले वे कौन-से कारक थे कि पूँजीपति किस पृष्ठभूमि से किस क्षेत्र में पैसा लगाएंगे?—इसके पीछे तीन कारणों को देखा जाता है :

1. कुशलता के स्तर पर
2. शिल्पों के निर्यात सम्बन्धी महत्त्व पर
3. सामाजिक पदानुक्रम पर

अब यदि इन कारणों को विस्तार से देखा जाये, तो प्रथम कारण का अर्थ है कि हस्तशिल्प में शिल्पकारिता महत्त्व रखती थी, जो इन शिल्पों को जानते थे और जिनके पास पूँजी भी होती थी। वे व्यापारों में अपनी पूँजी लगाते थे। दूसरा कारण यह बताता है कि पूँजीपति व्यापार के सम्बन्ध में यह देखकर पैसा लगाते थे कि शिल्प में निर्यात अधिक हो या घरेलू बाजारों की तरफ ज्यादा रुझान हो। तीसरा कारण यह बताता है कि चमड़ा सिझाने के क्षेत्र में उच्च जातियों के निवेश करने के कारण इन्हें व्यापार ऋण का और सामाजिक प्रतिबंधों का सामना नहीं करना पड़ा।

3. संस्थाएँ और संगठन—सामूहिक संगठनों की भूमिका पारंपरिक उद्योगों में कई प्रकार की होती थी। इन संगठनों के जो फायदे थे, वे ये थे कि इनके माध्यम से औद्योगिक सम्बन्धों को लेकर होने वाले द्वंद्व से बचा जा सकता था। इन समस्याओं के माध्यम से मालिक उनके प्रशिक्षुओं को संभावित प्रतियोगिताओं से बचा जा सकता था। व्यापार के लिए ऋण और बीमे में ये संगठन विश्वास का उत्तरदायित्व निभाते थे। भारत में कारीगरों की श्रेणियाँ काम करती थीं, परन्तु इनकी संख्या कम ही थी। कुछ भूमिकाओं को निभाने के लिए जाति और समुदाय के संगठन विकसित हुए।

सारांश

आर्थिक इतिहासकारों ने अपने लेखन में बड़े उद्योगों और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को ही अपना केन्द्रबिन्दु बनाकर लिखा है। इस लेखन में इतिहासकारों ने उत्पादकों, कारीगरी उत्पादकों के अन्तर्गत होने वाले परिवर्तनों, विशेष प्रकार के उत्पादकों को जीवित रखने में स्थानीय व्यापार के महत्व पर भी बल दिया है। जब तक यूरोपियनों ने अपनी स्थिति को भारत में स्थापित नहीं किया था, तब तक भारत के सम्बन्ध अन्य देशों से व्यापार के मामले में अच्छे थे और क्षेत्र विशेष भी अन्य देशों से जुड़े हुए थे व इनके साथ व्यापार करते थे। लेकिन जैसे ही यूरोपीय व्यापारियों ने अपनी स्थिति भारत में मजबूत की, ये सम्बन्ध धीरे-धीरे टूटने लगे और वस्त्र व्यापार तो पूर्ण रूप से यूरोप की तरफ से झुक गया था। लेकिन 1800 तक आते-आते यूरोप से भी व्यापार धीरे-धीरे कम होने लगा। महीन हस्तशिल्प उद्योग के प्रयोग से जो चीजें बनती थीं और जिनकी मांग स्थानीय समृद्ध भारतीयों में होती थी, यह मांग भी अब धीरे-धीरे कम होने लगी। 19वीं सदी में निश्चित रूप से शिल्पों की अवनति हुई, जिसके कारण श्रमिकों की संख्या में भी कमी हुई, लेकिन नये लेखन में इसके पीछे जो तर्क दिया जाता है वह यह है कि हास एकदम नहीं हुआ, बल्कि धीरे-धीरे और लम्बी अवधि के परिणामस्वरूप सामने आया। वस्त्र उत्पादन बहुत महीन और बहुत मोटे किस्मों के कपड़े के बनाने के कारण जीवित रहा, जो यूरोप से आयात नहीं किये जाते थे और यहीं के हथकरघा उद्योग में बनते थे।

अभ्यास-प्रश्न

प्रश्न 1. 18वीं सदी के अंत और 19वीं सदी के प्रारंभ में लघु-स्तर के भारतीय उद्योगों में होने वाले परिवर्तनों की चर्चा कीजिए।

उत्तर—18वीं शताब्दी के अन्त में औद्योगिक परिवर्तन—भारत पूर्व औपनिवेशिक काल में औद्योगिक उत्पादों के मामले में; जैसे—हथकरघा उद्योग आदि में विश्व में पहले स्थान पर था और 18वीं शताब्दी के मध्य में यह विश्व के औद्योगिक उत्पादों के लगभग एक-चौथाई हिस्से की आपूर्ति कर रहा था, जो कि विश्व वस्त्र निर्यात के मामले में सबसे अधिक हिस्सा था। लेकिन यह स्पष्ट नहीं हो पाता है कि विश्व व्यापार की यह भूमिका भारतीय अर्थव्यवस्था में कितनी महत्वपूर्ण थी। 18वीं शताब्दी के अन्त में भारत से लगभग 50 मिलियन गज कपड़े का निर्यात होता था।

18वीं शताब्दी के अन्त में भारतीय लघु-स्तरीय उद्योगों में होने वाले परिवर्तनों में महत्वपूर्ण परिवर्तन निम्नलिखित थे :

- भारतीय सामुद्रिक व्यापार में यूरोपियनों की स्थिति मजबूत हुई।
- व्यापारी और उत्पादक के मध्य अनुबंध सम्बन्ध अधिक मजबूत हो गये।

(iii) व्यापार में बिचौलियों की भूमिका बढ़ गई।

(iv) उत्पादन का फैलाव हुआ।

(v) बाजारों का सकेंद्रण बढ़ा।

(vi) उत्पादों में गुणवत्ता और मानवीकरण बढ़ा।

भारत के कुछ क्षेत्र प्रमुख निर्यात केन्द्रों के रूप में विकसित हुए, क्योंकि निर्यातक के रूप में विकसित होने के लिए इन क्षेत्रों के पास मूलभूत आवश्यकताएँ उपलब्ध थीं। इन क्षेत्रों में मुख्य रूप से पंजाब, गुजरात, कारोमंडल तट और बंगाल थे जहाँ कपास, जल और श्रम अत्यधिक मात्रा में उपलब्ध होने के साथ-साथ बड़ी मात्रा में आसानी से भी उपलब्ध थे। जब तक यूरोपीय व्यापारी पूरी तरह इस भारतीय व्यापार पर नहीं छा गये, इन केन्द्रों के बाह्य देशों के साथ सम्बन्ध बने रहे। यदि इन केन्द्रों के सम्बन्ध किन-किन देशों से थे, इस बात पर गौर किया जाये तो इनके सम्बन्ध मध्य एशिया, लालसागर, फारस की खाड़ी, दक्षिण-पूर्व एशिया आदि के साथ थे और अन्तर्देशीय व्यापार में ये उत्तरी भारत से भी जुड़े हुए थे। यूरोपीयों ने भारत में प्रवेश के बाद भी लम्बे समय तक इन क्षेत्रों के संबंध बाह्य देशों से बने रहे, ये तुरन्त खत्म नहीं हो गये थे। इसका अर्थ यह हुआ कि 18वीं शताब्दी तक यूरोप न तो भारत के लिए महत्वपूर्ण बाजार था, न ही यूरोपीय भारत के लिए उतने महत्वपूर्ण थे।

इस समय बुनकर घरेलू इकाई के रूप में कार्य करते थे, जिसमें उनके स्त्री और बच्चे उनके सहायक के रूप में उनका साथ निभाते थे। उत्तर भारत में धनी व्यापारियों द्वारा कुछ कार्यालालाएँ भी स्थापित की गई थीं।

यूरोपीय व्यापारियों के लिए जो सबसे बड़ी समस्या उत्पन्न हुई, वह थी समय पर माल की आपूर्ति। इससे यूरोपीय व्यापारियों को हमेशा ही जूझना पड़ा। इसका कोई स्थायी हल उनके पास नहीं था, जिसके कारण अनुबंध भंग होते थे जो ये बुनकरों से करते थे, क्योंकि उनको माल की पूर्ति समय पर नहीं हो पाती थी। इसी कारण धोखाधड़ी भी बढ़ी और आपसी तनाव भी बढ़ता गया।

19वीं शताब्दी के प्रारंभ में हुए परिवर्तन—ब्रिटिश सरकार द्वारा अत्यधिक दमन के कारण भारतीय शिल्पों के लिए जो मांग भारतीय कुलीन वर्गों और अभिजात्य वर्गों में थी, वह कम होती चली गई। ब्रिटिश राजस्व नीति के फलस्वरूप ही भारतीय ग्रामीण क्षेत्रों की मांग में मंदी आई। ब्रिटेन से मशीन-निर्मित कपड़ा भारतीय बाजारों में 1820 तक पहुँचने लगा था, जिसके कारण सूत के मूल्यों में लगभग तीन से चार गुना कमी हुई जिसका परिणाम यह हुआ कि 19वीं सदी के प्रारंभ में भारतीय हथकरघा उद्योग द्वारा निर्मित वस्त्रों को काफी नुकसान हुआ। इसके कारण श्रमिक इस उद्योग को छोड़कर अन्य उद्योगों की तरफ जाने लगे, जहाँ उनको वेतन यहाँ से भी कम मिलता था। लेकिन 19वीं शताब्दी में हथकरघा उद्योग में रोजगार की हानि से सभी विद्वान अपनी सहमति दर्शाते हैं, परन्तु इससे आय और कल्याण को क्या हानि हुई, हुई या नहीं हुई, इस बात पर विद्वानों में सहमति नहीं है।

146 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

19वीं सदी के प्रारंभ में हुए इस निरौद्योगीकरण को सांख्यिकीय अनुमानों के आधार पर बताया जाता है, जो उन्नीसवीं सदी में हुए रोजगार ह्रास की ओर संकेत करते हैं। ब्रिटिश आयातों से पहले भारत में जितने भी श्रमिक हाथ से बुनाई का कार्य करते थे, उनकी संख्या में दर्शनीय रूप से कमी आई, लेकिन यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि 19वीं सदी के प्रारंभ में इन अनुमानों के अनुसार कितनी कमी आई। वहीं दूसरी ओर इन सांख्यिकीय अनुमानों के आधार पर क्षेत्रीय वस्त्र उद्योग के सम्बन्ध में यह पता चलता है कि हाथ की कताई और बुनाई में ह्रास धीरे-धीरे हुआ और इस अवधि में यह फैलने लगा। ह्रास शायद एकदम विस्फोटक रूप में नहीं हुआ होगा, बल्कि यह धीरे-धीरे हुआ होगा।

यदि आय की हानि की बात की जाये, तो यह रोजगार की हानि की मात्रा से कम ही रही होगी, क्योंकि सूत का काम करने वाले श्रमिक सिर्फ सूत की कताई ही नहीं करते थे। या तो ये घरेलू श्रमिक के रूप में कार्य करते थे या कृषि में लगे रहते थे। इसका सीधा-सा मतलब यह निकलता है कि ये श्रमिक कम से कम भुगतान पर भी कताई का काम करने के लिए तैयार थे, इसीलिए आय की हानि रोजगार में हानि की मात्रा से कम ही रही होगी। अंग्रेजी वस्त्रों के आयात से वस्त्रों के मूल्यों में कमी आई होगी और इनकी मांग बढ़ी होगी। सूत सस्ता हो जाने का लाभ बुनकरों को आवश्यक रूप से मिला होगा।

अतः यह तो निश्चित है कि 19वीं शताब्दी में हथकरघा उद्योग में बहुत अधिक मात्रा में रोजगार में हानि हुई। लेकिन इसके बारे में यह कहना कि प्रक्रिया कब और कितने सकेन्द्रित रूप से हुई, मुश्किल है। न ही यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इसके परिणामस्वरूप वस्त्र उद्योग में आय की बहुत हानि हुई।

प्रश्न 2. भारतीय संदर्भ में 'पुनरौद्योगीकरण' शब्द को परिभाषित कीजिए। 19वीं के अंत और 20वीं सदी के प्रारंभ में लघु स्तर के उद्योगों के विकास के प्रतिरूपों का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर-पुनरौद्योगीकरण की परिभाषा—19वीं शताब्दी में हस्तशिल्प उद्योग की अवनति हुई, जो शिल्पों में कार्यरत श्रम शक्ति की अवनति दर्शाती है। यह ह्रास धीरे-धीरे और लम्बी अवधि के परिणामस्वरूप सामने आया, न कि तुरन्त। वस्त्र उत्पाद तो अभी जीवित रहा, क्योंकि ब्रिटेन से आयातित कपड़ों में बहुत महीन या बहुत मोटे सूत के कपड़े नहीं होते थे, जिनको केवल भारतीय करघों पर ही बनाया जाता था। 19वीं शताब्दी के तीसरे दशक तक ह्रास की यह क्षतिपूर्ति एक प्रतिलाभ द्वारा की जा रही थी। यह एक ऐसी प्रक्रिया थी, जिसे पुनरौद्योगीकरण कहा जाता है।

19वीं सदी के अंत में लघु स्तर के उद्योगों के विकास के प्रतिरूप—19वीं सदी में हुए परिवर्तनों को देखने से ये सवाल उठते हैं कि 19वीं शताब्दी में हस्तशिल्प वस्त्र उद्योग क्षेत्र में एक हिस्सा विलुप्त हो जाता है। परन्तु वस्त्र उद्योग का दूसरा हिस्सा

अभी तक टिका रहता है। हाथ के औजारों और तकनीकी मशीन के अन्तर्गत बहुत बड़ा अन्तर आया था। फिर भी वस्त्र उद्योग का दूसरा भाग कैसे टिका रहा?—इस सवाल को जानने के लिए यदि 1870-1914 की अवधि के वस्त्र उद्योग के आंकड़ों को देखा जाये, तो यह पता चलता है कि इस समय हथकरघा उद्योग में अवनति के नहीं, विस्तार के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। हथकरघों में पावर लूम का प्रयोग किए जाने से इनकी उत्पादन क्षमता बढ़ गई और वहीं 19वीं शताब्दी के मध्य की स्थिति को देखने से यह बात सामने आती है कि कुछ प्रकार के वस्त्र थे, जिनको भारतीय और विदेशी मिलों में बने कपड़े से प्रतियोगिता सामना नहीं करना पड़ा। इनमें मुख्य रूप से थे—मध्यम मोटा कपड़ा और प्रिन्टेड तथा ब्लीच किया हुआ सूती वस्त्र। मशीन द्वारा उत्पादित कपड़े निश्चित तौर पर उत्तम किस्म के होते थे, परन्तु कपड़े की कुछ किस्में जिनमें मोटे या काफी महीन सूत के बने वस्त्र, करघे पर जटिल डिजाइन द्वारा बनाये गये वस्त्र, गैर-कपास के सूत से बनाये गये वस्त्र आदि ऐसे वस्त्र थे, जिनको केवल हथकरघे द्वारा ही बनाया जा सकता था। इस प्रकार के वस्त्रों को बनाने में अधिक श्रम का इस्तेमाल किया जाता था, जिसमें मिलें जानबूझकर नहीं फंसना चाहती थीं और गैर-कपास के रेशों का मिलें इस्तेमाल नहीं करती थीं।

19वीं शताब्दी के अन्त में यदि रोजगार सम्बन्धी बात की जाये, तो ये तथ्य सामने आते हैं कि 19वीं शताब्दी के अन्त में निरौद्योगीकरण नहीं हुआ था। हाँ, रोजगार का विकास कम जरूर था। इस समय औद्योगिक संगठनों में परिवर्तन और लघु स्तरों के उद्योगों में रोजगार बढ़ा। इस समय श्रम पर आधारित फर्म, घरेलू इकाइयों या गहन श्रम पर आधारित कार्यशालाओं का स्थान लेने लगीं। क्योंकि अधिकांश पारिवारिक श्रमिक अंशकालिक ही काम करते थे। इस प्रकार का बदलाव कुल रोजगार को कम कर सकता है, लेकिन श्रम की उत्पादकता बढ़ा सकता है। यदि दूसरे शब्दों में कहे, तो घरेलू इकाइयों में घर के सदस्य स्त्री और बच्चे भी काम करते थे। अब फर्मों में काम करने वाले इन घरेलू सदस्यों की संख्या घट गई, जिससे रोजगार कम हुए, परन्तु ये श्रमिक अब मशीनों द्वारा उत्पादन करने लगे, जिससे उत्पादकता भी बढ़ी।

20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में लघुस्तरीय उद्योगों के विकास के प्रतिरूप—20वीं शताब्दी में हथकरघा उद्योग बना रहा और उसमें विकास भी होता रहा। इस विकास का मांग की तरफ से आकलन करने पर पता चलता है कि इस विकास के पीछे तीन कारण थे :

1. कपड़े का मूल्य घटा, जिससे उसका उपभोग बढ़ गया।
2. कृषि का विकास और वाणिज्यीकरण अर्थात् इस विकास और वाणिज्यीकरण ने परम्परागत वस्त्रों की स्थानीय मांग को बढ़ाया और बाजारों को भी विकसित होने में सहायता दी।
3. वस्त्र उद्योग को 1920 में सीमा-शुल्क संरक्षण मिला, जिसके कारण हथकरघा उद्योग गतिशील रहा।

इनके आलावा अन्य कारण भी हैं जिनके कारण 20वीं शताब्दी में हथकरघा उद्योग गतिशील बना रहा। इन कारणों में एक कारण यह भी है कि श्रम की बचत करने वाले औजारों का विकास हुआ, जो आसानी से छोटे स्तर की घरेलू इकाइयों और कार्यशालाओं में प्रयोग किये जा रहे थे।

भारतीय औद्योगिक श्रमिकों की अधिकांश जनसंख्या छोटे स्तर के उद्योगों में कार्यरत थी, जो कुल औद्योगिक उत्पादन का लगभग 50 प्रतिशत हिस्सा उत्पादित करते थे। राष्ट्रीय आय के आंकड़े यह दर्शाते हैं कि उद्योग में प्रति श्रमिक आय और कुल वास्तविक आय बढ़ी है। प्रति श्रमिक आय तो बड़े स्तर के उद्योगों की अपेक्षा लघु-स्तरीय उद्योगों में अधिक बढ़ी। कुछ क्षेत्रों में तो इस आय के बढ़ने के निश्चित सबूत मिलते हैं। जिसमें थे—हथकरघा वस्तु, चमड़ा सिझाना, धातु कार्य आदि। वस्तु उद्योगों में भी निश्चित रूप से आय बढ़ती है अर्थात् उत्पादकता बढ़ती है जबकि रोजगार नहीं बढ़ते। इनमें जड़ता या गिरावट आती है।

20वीं शताब्दी के हस्तशिल्प उद्योगों के लिए दो बातें निश्चित रूप से कही जा सकती हैं:

1. रोजगार में निम्न नकारात्मक विकास की दर अर्थात् रोजगार नहीं बढ़े।
2. उत्पादकता में वृद्धि।

यह बात तो निश्चित है कि 20वीं शताब्दी में रोजगारों में जड़ता या गिरावट आई, लेकिन घरेलू इकाइयों के श्रमिक या अत्यधिक श्रम आधारित श्रमिक अब फर्मों की तरफ बढ़े, जो मशीनों से काम करते थे और उनके घरेलू सदस्य जो उनके काम में हाथ बंटाते थे, अब उनके साथ काम नहीं कर सकते थे, जिनमें स्त्री व बच्चे दोनों होते थे। इससे रोजगार में तो गिरावट आई, उत्पादकता जरूर बढ़ी। नई तकनीकियों के इस्तेमाल से भी उत्पादकता में वृद्धि हुई।

प्रश्न 3. 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारत में वस्त्र और चमड़ा उद्योगों के अन्दर आने वाले परिवर्तनों की चर्चा कीजिए।

उत्तर—20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वस्त्र और चमड़ा उद्योगों में निश्चित रूप से परिवर्तन हुए, जिनका असर भारतीय उद्योगों पर भी पड़ा और इस उद्योगों में काम करने वाले कारीगरों की स्थिति पर भी पड़ा।

20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वस्त्र उद्योग में हुए परिवर्तन—इस अवधि के दौरान रोजगार कम हुए और उत्पादकता बढ़ी, प्रति श्रमिक आय भी बढ़ी।

20वीं शताब्दी में वस्त्र उद्योगों में हो रहे परिवर्तनों में मुख्य परिवर्तन इस प्रकार थे:

1. रोजगार में निम्न या नकारात्मक विकास दर
2. उत्पादकता में वृद्धि।

20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हथकरघे द्वारा वस्त्र उत्पादन कुल उत्पादन का लगभग 25 प्रतिशत रहा। पूरी अवधि के दौरान कपड़े

का कुल उपभोग न्यूनतम रहा और भारतीय कपड़ा धीरे-धीरे बाजार पर अपनी पकड़ मजबूत करता चला जा रहा था और आयातित कपड़े को बाजार से हटाता चला जा रहा था। रेशम व गैर-कपास के रेशों से बने कपड़े तो मुख्यतः करघे पर ही बनाये जाते थे। ऊन को छोड़कर बाकी सब रेशों से बने कपड़े के मूल्य का आकलन किया जाये, तो हथकरघों द्वारा बना कपड़ा कुल मूल्य का लगभग 50 प्रतिशत होगा।

20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हथकरघों की यदि संख्या देखी जाये, तो यह संख्या 2 मिलियन रही होगी। इस प्रकार यदि आंकड़ों के आधार पर परिणाम निकाला जाये, तो बढ़ते उत्पादन और हथकरघों की स्थिर संख्या से यह परिणाम निकलता है कि इस अवधि के दौरान उत्पादकता बढ़ी। वास्तविक आय के अनुमान और हथकरघों द्वारा बुनाई में आय के अनुमान से यह प्रतीत होता है कि अधिक कुशल और कम कुशल बुनकरों के बीच काफी भिन्नता थी, लेकिन इनसे लगातार गिरावट के संकेत नहीं मिलते। राष्ट्रीय आय के आंकड़े वास्तव में आय में धीमी वृद्धि के आंकड़े दर्शाते हैं।

हथकरघों की विशिष्टता व उनके गतिशील बने रहने का एक अन्य कारण यह था कि कुछ खास किस्म के वस्त्र केवल हथकरघों पर ही बनाये जाते थे। अधिक श्रम के कारण फैक्ट्रियाँ इनमें प्रवेश नहीं करती थीं। इस प्रकार के वस्त्रों में महीन और मोटे सूत वाले वस्त्र, जटिल डिजाइन वाले वस्त्र, पगडियाँ, धोतियाँ, बॉर्डर वाली, चौखाने वाली और धारीवाली लुंगियाँ आदि हथकरघे पर ही बनाई जाती थीं। मिलों में कमीज व सूट के कपड़े, साधारण साड़ियाँ आदि बनाई जाती थीं। 20वीं सदी के प्रारंभ में हथकरघों पर बनी इस प्रकार की वस्त्रों की किस्मों का उपभोग बढ़ गया था। इस उपभोग के बढ़ने के अनेक कारण थे, जिनमें नकदी फसलों का प्रचलन एक महत्वपूर्ण कारण था। नकदी फसलों के चलन से ग्रामीण क्षेत्रों की क्रयशक्ति बढ़ गई, जो लाभप्रद नकदी फसलों के उत्पादन में लगे हुए थे और इन नकदी फसलों को बाजार में बेचकर तुरन्त पैसा कमाना शुरू किया, जिससे उनके वस्त्र उपभोग के तरीके में भी बदलाव आया।

20वीं शताब्दी में हथकरघा बुनाई में अनेक तरह के आविष्कार हो रहे थे और प्रांतीय सरकारों ने भी इन आविष्कारों को महत्व दिया। इससे लघु स्तर के उद्योगों में इन नये औजारों का उपयोग होने लगा, जिससे उत्पादकता बढ़ी। नये आविष्कारों में फ्लाई शटल का प्रयोग सबसे महत्वपूर्ण था। परम्परागत करघे को बुनकर के घर की बैठक में ही गड़्हा खोदकर स्थापित किया जाता था। शटल को हाथ से करघे के आर-पार फेंका जाता था। इस व्यवस्था की दशा में परिवर्तन हुआ अब फ्लाई शटल के आ जाने से करघे में शटल को रस्सियों और घिरनियों की मदद से ज्यादा तेजी से चलाया जा सकता था।

एक अन्य प्रकार के करघे का प्रचलन भी 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ। इसमें करघे को लकड़ी के फ्रेम पर आरोपित किया

148 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

जाता था। यह चौखटे वाला करघा कम स्थान घेरता था और इसका एक अन्य फायदा यह भी था कि इससे अधिक लम्बाई का सूत बुना जा सकता था। कम स्थान घेरने व ज्यादा लम्बाई का सूत बनाने के कारण यह करघा फैक्ट्रियों आदि में ज्यादा लोकप्रिय हुआ। इस करघे के लिए ताना-बाना बनाने की पद्धति में भी परिवर्तन हुआ। ताने की तुर इस्तेमाल होनी शुरू हो गई, जिसका फायदा यह हुआ कि ज्यादा लम्बाई के धागों से बुनाई करना आसान हो गया। तकनीकी सुधारों में एक अन्य सुधार रंजक- सामग्री (Synthetic dyestuff) था, जो इसी अवधि में लोकप्रिय बना।

20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में चमड़ा उद्योग में होने वाले परिवर्तन—चमड़े का उद्योग मुख्य रूप से ग्रामीण उद्योग के रूप में विकसित हुआ और इस क्षेत्र में भी चमड़ा सिझाना जो कि ग्रामीण शिल्प ही था, यह उन समूहों द्वारा किया जाता था, जो अंशकालिक खेतिहर मजदूर भी थे। इनकी जाति सामाजिक पदानुक्रम के अनुसार बहुत नीचे की होती थी और इसी कारण ये लोग अपने ग्राहकों और किसानों से लेन-देन के मामले में ज्यादा सौदेबाजी नहीं करते थे, क्योंकि ये लोग उनसे बात करने की शक्ति ही नहीं जुटा पाते थे। अधिकांश सौदों में चमड़े को अन्न के रूप बदला जाता था अर्थात् वस्तु-विनिमय के माध्यम से लेन-देन होता था। परन्तु इस चमड़े के कारीगरों को जो अन्न का हिस्सा मिलता था, वह इनकी जनसंख्या के हिसाब से बहुत कम होता था। इस चमड़े के उद्योग में श्रमिकों की स्थिति या तो घरेलू इकाई के रूप में होती थी या फिर ग्रामीण समुदायों के रूप में लोग इस कार्य को करते थे। 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में होने वाले चमड़ा उद्योग में परिवर्तनों में अब चमड़े के व्यापार के बाजार बड़े-बड़े शहरों में केन्द्रित होने शुरू हो गये। इनमें कानपुर, मद्रास, बम्बई और कलकत्ता आदि महत्वपूर्ण बाजार के रूप में विकसित हुए। गांव से चमड़ा तैयार होकर या खालें इन बाजारों में आती थीं और विदेशी तथा देशी व्यापारी उत्तम गुणवत्ता वाले चमड़े की खरीद करते थे। व्यापारियों को कच्चा माल मिलना आसान हो गया, तो वे अब इस क्षेत्र की ओर आकर्षित हुए, जिससे शहरों में नई-नई फैक्ट्रियां लगाने को प्रोत्साहन मिला। इस व्यवस्था से एक महत्वपूर्ण लाभ यह भी हुआ कि अब वस्तु-विनिमय व्यवस्था का विघटन हो गया। क्योंकि अब श्रमिक जिनके पास खालें होती थीं, वे सीधे निर्यातक को बेचने लगे। अब फैक्ट्रियों के लग जाने से चमड़ा उद्योग के श्रमिकों का गांव से शहरों की ओर पलायन शुरू हुआ। पहले जहाँ एक ही व्यक्ति द्वारा चमड़ा उतारना, सिझाना व चमड़े का निर्माण होता था, अब ये कार्य अलग-अलग होने लगे। ग्रामीण श्रमिक फैक्ट्रियों में कार्य करने लगे।

प्रश्न 4. लघु-स्तरीय उद्योगों और बड़े स्तर के उद्योगों के बीच क्या समानताएँ और विषमताएँ थीं? संक्षेप में लिखिए।

उत्तर—बड़े एवं छोटे स्तर के उद्योगों की समानताएँ और विषमताएँ जानने से पहले हमें यह समझना जरूरी है कि बड़े स्तर

व लघु स्तर के उद्योग में, वे कौन-से मापदंड हैं, जो यह निर्धारित करते हैं कि कौन-से बड़े स्तर के उद्योग हैं और कौन-से लघु स्तर के उद्योग हैं। सबसे पहले हम बड़े स्तर के उद्योग के निर्धारित मापदंड देखते हैं।

बड़े स्तर के उद्योगों के लिए निर्धारित मापदंड हैं:

1. ये उद्योग शक्ति द्वारा चालित होते हैं।
2. इन उद्योगों में मशीनों का प्रयोग किया जाता है।
3. ये सरकारी अधिनियमों के अन्तर्गत होते हैं।

अब हम लघु स्तर के उद्योगों के लिए निर्धारित मापदंडों को देखेंगे:

1. ये मशीनों का प्रयोग नहीं करते थे।
2. ये घरों के अन्दर या छोटी कार्यशालाओं के रूप में थे।
3. ये सरकारी अधिनियमों के अन्तर्गत नहीं थे।

बड़े स्तर के व लघु स्तर के उद्योगों के मध्य समानताएँ व विषमताएँ—लघु स्तर के उद्योग उपनिवेशवाद से पूर्व भी स्थित थे, इसी कारण से इन्हें परम्परागत उद्योग भी कहा जाता है। इन उद्योगों में शामिल थे—हथकरघा बुनाई, चमड़े का निर्माण कार्य, धातुओं और लकड़ियों या खनिजों का उपयोग करने वाले उद्योग। वहीं दूसरी ओर बड़े स्तर के उद्योग इन लघु स्तर के उद्योगों की अपेक्षा ज्यादा नवीन थे। ये औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप उत्पन्न हुए थे।

बड़े स्तर के उद्योग भारत में बम्बई और मद्रास में स्थित थे। लघु स्तर के उद्योग संयुक्त राज्य, पंजाब व मद्रास में अधिक थे। इन विषमताओं के अतिरिक्त इन उद्योगों में जो समानताएँ थीं, वे इस प्रकार की थीं :

- (i) दोनों ही प्रकार के उद्योगों में मुख्य उद्योग वस्त्र उद्योग ही था।
- (ii) दोनों उद्योग प्राकृतिक संसाधनों की गहनता या श्रम-गहनता वाले उद्योग थे।
- (iii) बड़े स्तर के उद्योग लघु स्तर के उद्योगों को कच्चे माल की आपूर्ति करते थे। लघु स्तर के उद्योग भी बड़े स्तर के उद्योगों को कच्चे माल की आपूर्ति करते थे।
- (iv) श्रमिकों का आवागमन भी दोनों स्तर के उद्योगों में बना रहता था।
- (v) लघु स्तर के उद्योग बड़े स्तर के उद्योगों से पुरानी मशीनें खरीदते रहते थे और अपने उद्योग का विकास करते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लघु स्तर के उद्योगों और बड़े स्तर के उद्योगों में आपसी समानताएँ और विषमताएँ होते हुए भी कुछ बिन्दु ऐसे थे, जिनके कारण ये उद्योग एक-दूसरे पर निर्भर भी करते थे।

■ ■

औद्योगीकरण का स्वरूप

12

प्रस्तावना

भारत में औपनिवेशिक औद्योगीकरण किन दबावों के अन्तर्गत होता है? इस विकास के फलस्वरूप 20वीं शताब्दी में कारखानों का विस्तार हुआ। पर वे कौन पूंजीपति थे, जो इन उद्योगों को स्थापित करने में पूंजी निवेश कर रहे थे। प्रस्तुत अध्याय में इसी तरह के सवालों के उत्तर जानने का प्रयास किया गया है।

भारत हमेशा अपनी कारीगरी के लिए मशहूर रहा है। ब्रिटिश द्वारा भारत विजय (1757-1818) और ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति (1750-1830) दोनों लगभग एक ही समय में हुई। भारत भी इस समय वस्त्र उत्पादन में विश्व के अग्रणी देशों में से एक था।

20वीं सदी के प्रारम्भ में औपनिवेशिक भारत में औद्योगिक गतिविधियों का क्या भविष्य था?—इस विषय को लेकर और हस्त-शिल्पों और कुटीर उद्योगों के भविष्य पर क्या-क्या प्रश्नचिह्न लगे?—इन बिन्दुओं पर इतिहासकारों में मतभेद थे। 20वीं सदी के प्रारम्भ में तो आर्थिक इतिहासकार और कांग्रेस के नेता आर.सी. दत्त और लॉर्ड कर्जन के मध्य तीखी नोक-झोंक भी हुई। आर.सी. दत्त का कहना था कि भारत में ब्रिटिश नीति के परिणामस्वरूप भारतीय हस्तशिल्पों और कुटीर उद्योगों की हालत विनाश के कगार पर पहुँच गयी, वहीं कर्जन इस बात को मानते थे कि ब्रिटिश भारत ने आर्थिक सुधार का मार्ग प्रशस्त किया। इस बात को सभी इतिहासकार मानते हैं कि इंग्लैण्ड, जर्मनी, संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान की तरह भारत में औद्योगिक क्रान्ति नहीं हुई। भारतीय राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी दोनों ही विचारधाराओं वाले इतिहासकार यह मानते हैं कि औपनिवेशिक शासन ने भारतीय अर्थव्यवस्था का निरौद्योगीकरण किया। लेकिन ब्रिटिश शासन का समर्थन करने वाले इतिहासकार यह मानते हैं कि ब्रिटिश भारत में कुछ मात्रा में औद्योगीकरण हुआ।

औद्योगीकरण क्या है?

यदि औद्योगीकरण के अर्थ को देखा जाये, तो इसका सम्बन्ध इंग्लैण्ड में हुई औद्योगिक क्रान्ति के संदर्भ में लगाया जाता है और उस समय इसका अर्थ सिर्फ बड़े स्तर के उद्योगों के विकास के

संदर्भ में लिया जाता था। भारत में भी 19वीं सदी के अन्त में मिलें और फैक्ट्रियाँ दिखाई पड़ने लगी थी, लेकिन इनका आकार कम था। भारत की अधिक जनसंख्या और व्यावसायिक ढाँचे पर इन फैक्ट्रियों या मिलों के होने से कोई अन्तर नहीं आया अर्थात् उनसे इनको अधिक लाभ नहीं मिला। अभी तक भारत में जिन उद्योगों की भूमिका महत्वपूर्ण थी, वे थे कुटीर उद्योग। भारतीय अर्थव्यवस्था में बड़े उद्योगों की भूमिका 1900 से 1947 के मध्य नजर आनी शुरू हो जाती है। दूसरे विश्व युद्ध तक औद्योगिक उत्पादन में खानों, मिलों और फैक्ट्रियों में अधिक योगदान मुख्य तौर पर कारीगरों और शिल्पकारों का रहा। अतः हस्त शिल्पों और कुटीर और छोटे उद्योगों के विकास पर भी नजर डालना जरूरी है। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान ही बड़े स्तर के उद्योगों में इनका योगदान बढ़ गया था और इस युद्ध के दौरान जहाँ बड़े स्तर के उद्योगों का योगदान बढ़ा, वहीं लघु स्तर के उद्योगों का योगदान कम हो गया था।

औद्योगीकरण के सम्बन्ध में अनेक परिकल्पनाएँ दी गई हैं, जिसमें एक परिकल्पना के अनुसार औद्योगीकरण का अर्थ बड़े उद्योगों के तेज गति के विकास से लगाया जाता है। यह अर्थव्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग बन जाता है। इस परिभाषा के अनुसार औद्योगीकरण का भारत के सम्बन्ध में विकास 1900-1947 के मध्य की अवधि से लगाया जाता है। लेकिन 19वीं सदी में यह अपने पर्याप्त स्तर को नहीं प्राप्त कर सका था। इस समय फैक्ट्रियाँ आदि तो बनने लगी थी, परन्तु इससे औद्योगिक उत्पादन पर्याप्त मात्रा में नहीं हो पाया।

एक अन्य परिभाषा के अनुसार औद्योगीकरण का अर्थ लघु स्तर व बड़े स्तर के उद्योगों में पर्याप्त उत्पादन वृद्धि था। इस परिभाषा में यह भी कहा गया है कि 19वीं सदी में कुल उत्पादन में उद्योग का हिस्सा कम हो गया और 20वीं शताब्दी में यह बढ़ा अर्थात् 19वीं शताब्दी में कुछ निरौद्योगीकरण हुआ।

एक और परिभाषा देखी जाये, तो इसके अनुसार उद्योगों में अन्य क्षेत्रों के मुकाबले रोजगार में वृद्धि हुई। इस परिभाषा से ऐसा लगता है कि यह जनसंख्या के आँकड़ों पर आधारित थी, जिससे औद्योगीकरण या निरौद्योगीकरण के सम्बन्ध में कोई ठीक प्रमाण नहीं मिलते हैं।

माप

बड़े स्तर के और लघु स्तर के उद्योगों के सम्बन्ध में जानने के लिए यदि हम इन उद्योगों से सम्बन्धित सांख्यिकीय आंकड़ों के आधार पर गणना करें, तो हमें 20वीं सदी के आंकड़े विश्वसनीय लगते हैं। वहीं 19वीं सदी के आंकड़े उतने प्रामाणिक नहीं हैं। 19वीं सदी के आंकड़ों के सम्बन्ध में ऐलन हेस्टन ने 'द केम्ब्रिज इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' में वर्णन किया है। उनके अनुसार 1868-69 में भारत की राष्ट्रीय आय में यदि बड़े स्तर के खनन और मशीन उत्पादन का योगदान देखा जाये, तो यह 53 मिलियन रुपये था। 1899-1900 में यह 1023 मिलियन रुपये था। चूंकि बड़े स्तर के उद्योगों की शुरुआत कामचलाऊ स्तर पर हुई थी, इसीलिए इस विकास से भारतीय अर्थव्यवस्था में कोई व्यावहारिक अन्तर नहीं आया अर्थात् अर्थव्यवस्था को इससे कोई लाभ नहीं हुआ। भारतीय अर्थव्यवस्था कृषि प्रधान थी और औद्योगिक स्तर पर उद्योगों में अभी तक इतना अन्तर नहीं आया था। यदि 20वीं शताब्दी में देखा जाये तो बड़े स्तर के उद्योगों का औद्योगिक उत्पादन में अन्तर अभी तक लघु स्तर के उद्योगों के मुकाबले बना हुआ था। यह अभी तक सिर्फ 1/4 भाग ही था। सन् 1900 तक भी किसानों और कारीगरों का महत्त्व बना हुआ था। यह खत्म या नगण्य नहीं हुआ था। इस समय तक भी बड़े स्तर का योगदान अधिक नहीं था। इसका सबूत इस बात से भी मिलता है कि 20वीं सदी के शुरू में जब आर.सी. दत्त ने 'द इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' लिखी, तो उन्होंने बड़े स्तर के उद्योगों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया अर्थात् उन्होंने उसके सम्बन्ध में नहीं लिखा। भारतीय अर्थव्यवस्था में उनसे क्या लाभ हो रहे थे, यह भी नहीं लिखा। अर्थात् उस समय भी भारतीय अर्थव्यवस्था में इनका महत्त्व नहीं था। वरना आर.सी. दत्त इन्हें महत्वपूर्ण समझते हुए इनका भारतीय अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में जिक्र अवश्य करते। 1900 से 1947 की अवधि के दौरान बड़े स्तर के उद्योगों ने अच्छी प्रगति की थी और ये बड़ी तेजी से विकास करते हुए भारतीय अर्थव्यवस्था के बड़े हिस्से पर छाए हुए थे। यदि इसी समय की उद्योग व राष्ट्रीय आय को जानने के लिए एस. सिवासुब्रमोनियन की पुस्तक 'द इकॉनॉमिक एण्ड सोशल हिस्ट्री रिव्यू' और 1977 और 1997 के लेख और इसके बाद 'द नेशनल इन्कम ऑफ इण्डिया' को देखें, तो इनके द्वारा दिये गये आंकड़े विश्वसनीय लगते हैं। इन्होंने निष्कर्ष निकाले हैं कि 20वीं सदी में निरौद्योगीकरण नहीं था। इनके आंकड़े 1900-1947 के बीच कुछ मात्रा में औद्योगीकरण की बात करते हैं। ये साथ-साथ यह भी कहते हैं कि यह औद्योगीकरण लगातार नहीं हुआ और इससे जो विकास हुआ, वह कमजोर प्रकृति का था और यह विकास रुक-रुक कर हुआ। औद्योगिक विकास के सम्बन्ध में और स्पष्ट दृष्टि तब बनती है, जब हम जनगणना के आंकड़ों पर नजर डालते हैं और सिवासुब्रमोनियन के राष्ट्रीय आय और इससे उभरने वाले विभिन्न बिन्दुओं पर नजर डालें, तो

1940-46 के मध्य फैक्ट्री उत्पादन 4.41 प्रतिशत की तेज रफ्तार से बढ़ता है। यह इसलिए सम्भव हुआ क्योंकि फैक्ट्रियों की संख्या बढ़ी और प्रति श्रमिक उत्पादन में भी बढ़ोतरी हुई। इस अवधि की यदि प्रति श्रमिक उत्पादन वृद्धि को देखा जाये, तो यह अनुमानतः 47.9 प्रतिशत थी। इससे तो स्पष्ट रूप से औद्योगीकरण के लक्षण नजर आते हैं। इसके साथ ही साथ यदि रोजगार की वृद्धि को भी देखा जाये, तो यह उतनी तेजी से नहीं बढ़ा जितनी तेजी से उत्पादन बढ़ा और यह सूती वस्त्र उद्योग और इस्पात उद्योग दोनों में स्पष्ट रूप से नजर आता है। क्योंकि यदि हम फैक्ट्रियों की संख्या को देखें, तो यह 1901 में 584 हजार थी, वहीं 1946 में यह बढ़कर 28.44 हजार हो गयी थी। इस प्रकार कहा जा सकता है कि जितनी तेजी से फैक्ट्रियों की संख्या बढ़ रही थी, उतनी तेजी से रोजगार नहीं बढ़ा। लेकिन ये आंकड़े जनसंख्या से सम्बन्धित हैं। ये औद्योगीकरण को स्पष्ट नहीं करते, लेकिन इनसे जो बात सामने आती है, वह यह है कि चाहे हम फैक्ट्रियों को रोजगार या उत्पादन की दृष्टि से देखें, ये निरौद्योगीकरण को नहीं दर्शाते हैं।

यदि कारीगरों के उत्पादन को देखा जाये, तो यह 1900 से 1946 की अवधि के दौरान धीरे-धीरे बढ़ता है। सिवासुब्रमोनियन कहते हैं कि लघु स्तर के कुटीर उद्योगों का उत्पादन साल में 0.46 प्रतिशत की दर से बढ़ रहा था। लेकिन इस बात में भी संदेह नहीं है कि 1901 और 1951 तक के जनगणना आंकड़ों के आकलन करने से पता चलता है कि 1940-46 के मध्य कारीगरों का प्रति व्यक्ति उत्पादन 34 प्रतिशत बढ़ा। कारीगरी उद्योगों के रिकॉर्ड को यदि देखा जाये, तो यह एक मिश्रित प्रकार का औद्योगीकरण था। अगर सभी तथ्यों को एक साथ मिलाकर देखा जाये, तो कारीगरों की संख्या में कमी आती है, पर उनका प्रति व्यक्ति उत्पादन बढ़ता है। इसी समय बड़े स्तर के उद्योगों का उत्पादन भी निश्चित रूप से बढ़ता है, क्योंकि प्रति कारीगर उत्पादन बढ़ रहा है।

हमारी चर्चा का बिन्दु माप था। उपर्युक्त विवरण से यदि माप के सम्बन्ध में हमें किसी निष्कर्ष पर पहुंचना हो, तो वह इस प्रकार हो सकता है :

- (i) 19वीं सदी में औद्योगिक उत्पादन कम हुआ परन्तु यह 20वीं शताब्दी में बढ़ा।
- (ii) 20वीं शताब्दी में भारतीय उद्योगों का उत्पादन, विकास उतना बुरा नहीं था, बल्कि यह अच्छा ही था।

काल अवधि का विभाजन

औद्योगीकरण कैसा रहा? इसने किस प्रकार विकास किया?— इसके सम्बन्ध में जानने के लिए दो बिन्दुओं पर इसे परखा जाता है :

1. उत्पादन
2. रोजगार

औद्योगीकरण और निरौद्योगीकरण के सम्बन्ध में यदि 19वीं और 20वीं शताब्दी के आंकड़ों को एक साथ रखकर देखा जाये, तो इससे क्या नतीजे निकलते हैं, यह स्पष्ट नहीं कहा जा सकता। कृषि और सेवा क्षेत्र के उत्पादन की तुलना में औद्योगीकरण का हिस्सा कितना बढ़ा, यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। यही बात रोजगार के सम्बन्ध में भी लागू होती है।

यदि संगठित और कुटीर उद्योग दोनों को सम्मिलित रूप से देखा जाये, तो 1800 की अपेक्षा 1947 में कुल रोजगार में उद्योग का हिस्सा अपेक्षाकृत कम था। वहीं इसी अवधि में उत्पादन और औद्योगीकरण उत्पादन दोनों में कई गुना वृद्धि होती है।

औद्योगीकरण को देखने के लिए अलग-अलग अवधि के औद्योगीकरण को देखा जाता है। इसमें हम मुख्य रूप से तीन अवधियों को देखते हैं :

1. 1850-1914
2. 1914-1939
3. 1939-1947

यदि 1914 की समय अवधि में औद्योगीकरण के लिए आवश्यक बातों—उत्पाद, बाजार, उत्पादन केन्द्र और उद्यमियों के समूह को देखा जाये, तो प्रथम विश्व युद्ध शुरू होने से पहले अलग स्थिति थी और प्रथम विश्व युद्ध के बाद अलग स्थिति थी। लेकिन द्वितीय विश्व युद्ध की शुरुआत के साथ ही कुछ लक्षण उभरे, जो 1947 तक बने रहे। इस काल अवधि को विभाजित करके देखने पर जो प्रमुख परिवर्तन होता है, वह यह है कि एक काल अवधि के लक्षण थोड़े-बहुत दूसरी काल अवधि में भी बने रहते हैं। परन्तु अलग-अलग काल अवधियों के अपने-अपने लक्षण होते हैं और उनमें कुछ भिन्नताएँ होती हैं, जो अर्थपूर्ण होती हैं।

1. 1850-1914-1820 के दशक की बात की जाये तो इस समय बम्बई व बंगाल में जूट और सूती मिलें स्थापित होने लगी थीं। इससे पहले भी पूर्वी भारत में कोयले की खानें व चाय के बगान स्थापित होने लगे थे, परन्तु इनकी संख्या कम थी। 19वीं सदी में भारतीय अर्थव्यवस्था में एक महत्वपूर्ण बदलाव आया और इसने सबको प्रभावित भी किया, जो था अंग्रेजों का जहाजरानी और विदेशी व्यापार पर एकाधिकार। सवाल यह उठता है कि यूरोपियन कम्पनियों ने प्रारम्भ में चाय, कोयला, जूट, कपास आदि से सम्बन्धित उद्योगों में ही क्यों पैसा लगाया? इसका जवाब शायद यही सही होगा कि प्रारम्भ में ये उद्योग विदेशी बाजारों के लिए उत्पादन करते थे, इसीलिए इन उद्योगों से सम्बन्धित उद्योग अंग्रेजों द्वारा बम्बई और कलकत्ता में स्थापित किये गये। खनन, बागान उत्पाद और हल्के मशीनी उद्योग तो औपनिवेशिक उत्पादक ही बनकर रह गये और इनकी स्थिति यह हो गयी कि ये देश में तो निर्मित होते थे, परन्तु निर्यात के उद्देश्य से। बम्बई की सूत मिलों ने भी 19वीं शताब्दी में तरक्की की, जो पहले चीन को सूती धागा निर्यात करते थे। इन्होंने विदेशी बाजारों से घरेलू बाजारों और सूत

की कताई से वस्त्र बुनाई तक का सफर तय किया। कलकत्ता की स्थिति को देखने से लगता है कि यहाँ पर चाय, कोयला व जूट उद्योग का सारा प्रबन्ध यूरोपीय व्यापारियों के हाथ में ही था। यहाँ प्रमुख रूप से छः कम्पनियाँ प्रबंध कार्य कर रही थीं:

- (i) एन्ड्रयू यूल एण्ड कम्पनी
- (ii) जार्डिन स्किनर एण्ड कम्पनी
- (iii) बर्ड एण्ड कम्पनी
- (iv) शॉ वॉलेस एण्ड कम्पनी
- (v) वैग-डनलप एण्ड कम्पनी
- (vi) हाइलार्स एण्ड कम्पनी

उपर्युक्त वर्णित कम्पनियों ने चाय, कोयला और जूट में कुल लगे पैसे में आधे से अधिक पर नियन्त्रण कर रखा था। यदि इन तीनों उद्योगों में अलग-अलग प्रतिशत देखा जाये, तो यह इस प्रकार होगा :

चाय में 51 प्रतिशत, जूट में 57 प्रतिशत, कोयले में 52 प्रतिशत। ये यूरोपीय प्रबन्धकर्ता ऐसा नहीं है कि भारतीयों को इस उद्योग में आने के लिए प्रोत्साहित करते थे या उनके साथ सहयोग का रवैया अपनाया, बल्कि ये उन्हें हतोत्साहित करते थे।

बम्बई में टाटा घराना भी इस अवधि में थोड़ा-बहुत स्टील उत्पादन करने लगा था, लेकिन 1914 की अवधि में यह मात्रा बहुत कम थी। और यह शायद इतनी कम थी कि इससे भारतीय औद्योगीकरण दर पर कोई फर्क नहीं पड़ा। इस अवधि में भारतीय स्वदेशी घराने अभी औद्योगिक क्षेत्र में इतना असर नहीं दिखा पा रहे थे कि इससे औद्योगीकरण पर कोई फर्क पड़ता। प्रथम विश्व युद्ध की अवधि तक भारतीय औद्योगीकरण में प्रमुख रूप से ब्रिटिश कम्पनियाँ ही अपना दबदबा बनाये हुई थी। ये कम्पनियाँ प्रमुख रूप से विदेशी बाजारों की मांग के अनुरूप लाभप्रद उद्योगों में निवेश करती थी जिसमें उन्हें निश्चित रूप से लाभ दिखाई देता था। जैसे खनन, बागान, हल्के मशीन उत्पादन। इस अवधि में भारतीय उद्योग को आयातित औद्योगिक वस्तुओं के रूप में कोई संरक्षण प्राप्त नहीं था। मुक्त भारतीय अर्थव्यवस्था ने आयात-निर्यात को प्रोत्साहन दिया। इस काल में जो सार रूप में मुख्य बात हम कह सकते हैं, वह यह थी कि घरेलू औद्योगिक जरूरतों को पूरा करने वाली बड़े स्तर की औद्योगिक गतिविधियाँ विकसित नहीं हुई थीं।

2. 1914-1939—प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के समय तक औद्योगीकरण के क्षेत्र में यूरोपीय कम्पनियाँ अपना दबदबा बनाये हुए थीं लेकिन दूसरे विश्व युद्ध के खतम होते-होते यह दब-दबा कुछ कम होने लगा था। यह यूरोपीय नियन्त्रण, जैसा कि कुछ इतिहासकार भी कहते हैं, भारतीय औद्योगिक विकास की राह में रोड़ा जरूर बना। प्रमुख अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन भारतीय औद्योगीकरण के प्रारम्भिक स्वरूप के सम्बन्ध में कहते हैं कि सूती वस्त्र उद्योग और लौह-इस्पात उद्योग दोनों ही मशीन आधारित उद्योग थे और

152 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

इन्हीं दोनों उद्योगों ने ब्रिटिश औद्योगिक क्रान्ति को आधार प्रदान किया था। भारत में ये दोनों उद्योग ब्रिटिश उद्यमियों द्वारा नहीं, बल्कि भारतीयों द्वारा विकसित हुए थे। ब्रिटिश उद्यमियों ने अपने को यातायात, चाय, कॉफी, नील, जूट की वस्तुओं के व्यापार तक ही सीमित रखा। सेन अपने इस कथन में अर्थपूर्ण ढंग से कहते हैं कि यह भारत के अल्पविकास और औद्योगिक क्रान्ति के विकास न होने का प्रमुख कारण था। 1914 के बाद भारत का औद्योगीकरण तेज गति से होना शुरू हुआ। इसके पीछे तीन कारण प्रमुख थे:

1. प्रथम विश्व युद्ध (1914-17)
2. महामंदी (1930-1937)
3. द्वितीय विश्व युद्ध (1939-1945)

इस अवधि के दौरान भारतीय औद्योगीकरण में कुछ विशेष परिवर्तन नजर आते हैं। ये परिवर्तन थे :

- (i) भारतीय व्यापारियों द्वारा भी नये औद्योगिक संस्थान स्थापित किये गये।
- (ii) नये उत्पाद अभी भी उपभोक्ता वस्तुएँ ही बने रहे।
- (iii) सूती मिलों ने अपना उत्पादन बढ़ाया।
- (iv) स्टील का तेजी से उत्पादन होना शुरू हुआ।
- (v) कागज और चीनी की मिलों का तेजी से विस्तार हुआ।
- (vi) नये औद्योगिक उत्पादनों में घरेलू वस्तुओं का उत्पादन महत्वपूर्ण हो गया।
- (vii) अब औद्योगीकरण के नये अन्तर्देशीय क्षेत्र बढ़े।

उपर्युक्त वर्णित बिन्दुओं को देखने से लगता है कि इस समय भारतीय अर्थव्यवस्था में सकारात्मक परिवर्तन हुए, जैसा कि इतिहासकार बागची कहते हैं कि प्रथम विश्व युद्ध और महामंदी ने ब्रिटिश आर्थिक पकड़ को कमजोर कर दिया और औपनिवेशिक सरकार को आर्थिक विकास की माँग पर ध्यान देने के लिए मजबूर किया।

3. 1939-1947—भारत में प्रतिव्यक्ति उपभोग कम था।

इसी कारण चीनी, सूती वस्त्र, कागज जैसी वस्तुओं के उद्योग का विकास कम हुआ क्योंकि इनमें निवेश नहीं हो पा रहा था, क्योंकि इनका उपभोग कम होता था और लाभ भी कम मिलता था। भारतीय बाजार घरेलू वस्तुओं को बेचने पर टिका हुआ था और उसकी अपनी सीमाएँ थीं। ऐसे में बागची के अनुसार औद्योगिक क्रान्ति संभव नहीं थी। दूसरा विश्व युद्ध शुरू होने के साथ ही भारतीय औद्योगिक जगत में भी परिवर्तन आये। अब भारतीय व्यापारिक घराने भी भारतीय औद्योगीकरण में नये-नये संस्थान स्थापित करने लगे। ऐसे घरानों में प्रमुख थे—टाटा, बिड़ला, बालचन्द्र, जे.के. एण्ड श्रीराम। युद्ध के परिणामस्वरूप ब्रिटिश अधिकर्ता प्रबंधक जो मुख्यतः निर्यात पर निर्भर थे, को कमजोर कर दिया। इस समय तक बहुराष्ट्रीय कम्पनी इण्डिया लिमिटेड भी तकनीकी वस्तुओं के क्षेत्र में घरेलू बाजार पर अपना नियन्त्रण स्थापित करने के लिए प्रयास करने लगी, परन्तु इसको भारतीय औद्योगिक घरानों से ही प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा।

ऐसी परिस्थितियों में भारतीय औद्योगिक निवेश का कार्यक्षेत्र बढ़ा। द्वितीय विश्व युद्ध की जरूरत से सम्बन्धित वस्तुओं के उत्पादन के साथ-साथ, उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन भी बढ़ा। भारतीय व्यापारिक घरानों ने जो लाभ स्टील, सूती कपड़े, चीनी, कागज और भवन निर्माण उद्योग से कमाया था, उस लाभ को अब उन्होंने नये उद्योगों में जो ज्यादातर तकनीकी पर आधारित थे, लगाना शुरू कर दिया। ऐसे उद्योगों में धातु, रासायन, इन्जीनियरिंग उद्योग शामिल थे।

आधारभूत और भारी उद्योगों को स्थापित करने के लिए जटिल तकनीकी समस्याएँ आती थीं और नये उद्योगों को स्थापित करने के लिए प्लांट और मशीनों का आयात करने के लिए युद्ध के दौरान दबाव और नियन्त्रण भी थे। ये समस्याएँ भारतीय औद्योगिक घरानों और नये बहुराष्ट्रीय समूहों को नयी योजनाएँ शुरू करने में आ रही थीं। इसके बावजूद भी इस अवधि में कई नयी कार्यशालाएँ स्थापित हुईं। बालचन्द्र समूह द्वारा युद्ध के दौरान समुद्री जहाज, हवाई जहाज और मोटर गाड़ियों का निर्माण कार्य शुरू किया गया। बिड़ला समूह भी मोटर गाड़ियाँ बनाना चाहता था, परन्तु भारत सरकार भारतीय उद्योगों से चाहती थी कि वे युद्ध की जरूरतों से सम्बन्धित उत्पादों का उत्पादन करें, इस कारण उसने इस काम में बाधाएँ उत्पन्न कीं।

उद्यम

कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में चल रही कम्पनियों को ब्रिटेन में चल रही कम्पनियों ने स्थानीय एजेंट के रूप में प्रयोग किया। 1914 तक ब्रिटिश अधिकर्ता प्रबंधक स्टर्लिंग और रुपये दोनों प्रकार की उन कम्पनियों का प्रबंधन कार्य देखते थे, जो प्रमुख रूप से चाय, जूट व खनन-कार्य करती थीं। यूरोपीय अधिकर्ता साहसी नहीं थे, वे केवल रूढ़िवादी थे। वे अपना पैसा उसी उद्योग में लगाते थे, जहाँ वे अपना निश्चित लाभ देखते थे। वे अपने पैसों को जोखिम वाले कारोबार में नहीं लगाना चाहते थे इसी कारण वे रासायनिक और धातु उद्योगों की तरफ आकर्षित नहीं होते थे, क्योंकि ये जोखिम वाले बाजार थे। वे लाभकारी व निर्यात उन्मुख उद्योगों को चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स; जैसे—बंगाल चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स, द इण्डियन जूट मिल एसोसिएशन और एसोसिएटेड चैम्बर्स ऑफ कामर्स आदि के माध्यम से नियन्त्रित करते थे।

भारतीय व्यापारिक घराने जो कुटुम्ब पर आधारित कम्पनियाँ थीं व परम्परागत व्यापारिक जातियों से जुड़ी हुई थीं, उन्होंने भी संयुक्त पूंजी कम्पनियों को वरीयता दी। बम्बई-अहमदाबाद की सूती मिलों को इसी प्रकार प्रोत्साहित किया गया और बाद में अन्य उद्योगों को जिनमें इन्जीनियरिंग, धातु व रासायनिक उद्योग थे, इसी प्रकार प्रोत्साहित किया गया। भारतीय प्रबन्धकर्ता घरानों ने उसी प्रकार 20वीं सदी में पहल की, जैसी कि ब्रिटिश कम्पनियों ने की थी और इसी कारण उद्योग का अधिकांश भाग भारतीय प्रबंधकों के पक्ष में आ गया। कलकत्ता के दो अधिकर्ता प्रबंधन घराने—एक

ब्रिटिश और दूसरा मारवाड़ी था। ब्रिटिश घराना बर्ड एण्ड कम्पनी थी, जो बाद में बर्ड्स हाइलार्स एण्ड कम्पनी बनी। दूसरी बिड़ला ब्रदर्स ने इण्डियन चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स और फेडरेशन ऑफ इण्डियन चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स एंड इन्डस्ट्री (फिक्की) के द्वारा यूरोपीय चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स की नस्लवादी व अलगावादी नीति के खिलाफ प्रमुख भूमिका निभाई। बर्ड एण्ड कम्पनी यूरोपीय प्रभुत्व वाले चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स और एसोचैम की प्रमुख सदस्य बनी रही। एसोचैम और फिक्की 1920 के दशक में एक-दूसरे का प्रतिरोध करने वाली संस्थाओं के रूप में विकसित हुई।

हम इन दोनों कम्पनियों के बारे में देखेंगे कि इन्होंने अपने क्षेत्र में किस प्रकार विकास किया और इनसे भारतीय अर्थव्यवस्था पर क्या असर पड़ा, क्योंकि इनमें जहाँ एक का रुझान साम्राज्यवादी था, तो दूसरे का राष्ट्रवादी था।

1. बर्ड हाइलार्स एण्ड कम्पनी—यूरोपीय प्रभुत्व वाले बंगाल के चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स में तीन सदस्य कम्पनी बहुत महत्वपूर्ण थीं जिनमें : (i) बर्ड हाइलार्स एण्ड कम्पनी; (ii) एन्ड्र्यू यूल एण्ड कम्पनी; (iii) जार्डिन स्किनर एण्ड कम्पनी। प्रमुख थीं। मारिया मिश्रा के अनुसार बर्ड एक प्रारूपीय कम्पनी थी। इस कम्पनी ने अपना विस्तार प्रथम विश्व युद्ध के बाद तक किया और फिर यह कम्पनी जड़ता की शिकार हुई और संकुचित होने लगी। इस कम्पनी की स्थापना 1860 के दशक में हुई थी और इसका मुख्य कार्य ईस्ट इण्डिया रेलवे तथा अन्य रेलवे कम्पनियों के लिए श्रम की ठेकेदारी करने का था। 1870 के दशक में यह ये ठेके लेने में नाकाम साबित हुई और अब इस कम्पनी का रुझान अन्य कारोबार की तरफ भी मुड़ गया। अब इस कम्पनी ने अन्य उद्योगों में भी पैसा लगाना शुरू कर दिया। जिन उद्योगों में इस कम्पनी ने अलग-अलग समय में पैसा लगाया, वे थे—कागज, जूट, कोयला आदि। कम्पनी ने अपना विकास इतनी तेजी से किया कि प्रथम विश्व युद्ध शुरू होने तक कोयले के क्षेत्र में आधे से अधिक क्षेत्र पर इसका नियन्त्रण स्थापित हो गया था। 1913 तक इस कम्पनी का कारोबार देखा जाए, तो इस कम्पनी की जूट मिलें, 3 कोयला कम्पनी, एक कागज कम्पनी व एक छोटी इंजीनियरिंग कार्यशाला थी। इसके साथ-साथ यह कम्पनी अन्य कार्य भी करती थी, जिसमें कच्चे जूट का निर्यात, कपास का निर्यात आदि शामिल थे। इस कम्पनी की एक छोटी बीमा कम्पनी भी थी। एफ.डब्ल्यू. हाइलार्स कम्पनी जो कोयले व जूट के व्यापार से जुड़ी थी और इसकी टीटागढ़ में एक पेपर मिल भी थी। 1917 में इस कम्पनी का बर्ड एण्ड कम्पनी के साथ विलय हो गया। अब इन दोनों संयुक्त कम्पनियों के पास 20 करोड़ रुपये की पूंजी और 3 करोड़ रुपये का राजस्व था। इसके कर्मचारियों की संख्या भी अधिक थी, करीब एक लाख। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान व इसके खत्म होने पर बर्ड एण्ड कम्पनी ने कई हल्की इंजीनियरिंग कम्पनियाँ शुरू कीं, परन्तु युद्धकालीन मंदी के कारण ये सफल नहीं हो पायीं।

इसके बाद कम्पनी फूंक-फूंक कर कदम उठाने लगी और उसने उस व्यापार में पैसा लगाना बन्द कर दिया, जिसमें जोखिम था। युद्ध के पश्चात् कम्पनी चाहती थी कि एशिया के सबसे बड़े स्टील वर्क्स द यूनाइटेड स्टील कॉर्पोरेशन ऑफ एशिया लिमिटेड (टस्काल) स्थापित किया जाये, परन्तु कम्पनी इसे शुरू नहीं कर पायी। आर्थिक मंदी के दौरान बर्ड हाइलार्स को नुकसान उठाना पड़ा। यह नुकसान करीब 1.25 करोड़ रुपये का था। इसके बाद कम्पनी ज्यादा सतर्क हो गयी और जोखिम भरे उद्योगों में पैसा नहीं लगाया गया। इसके बाद कम्पनी सिर्फ ठोस लाभ वाले कारोबार से ही जुड़ी रही, जिसमें जूट प्रमुख था। लेकिन जूट उद्योग में बिड़ला समूह के प्रोत्साहन से सात भारतीय जूट मिलों ने जूट के ब्रिटिश एकाधिकार को समाप्त कर दिया। जैसे-जैसे भारतीय कम्पनियाँ जिन-जिन उद्योगों में बढ़तीं, यह कम्पनी उन क्षेत्रों से अपना कारोबार समेट लेती थी, क्योंकि प्रतियोगिता बढ़ जाती थी। ऐसे क्षेत्र थे—चीनी, कागज, धातुकर्म, रसायन, इंजीनियरिंग आदि।

2. बिड़ला ब्रदर्स—बिड़ला ब्रदर्स लिमिटेड एक औद्योगिक प्रबन्धन घराना था। यह बड़ी मात्रा में व्यापार के क्षेत्र में कार्यरत था। इसकी स्थापना 1919 में हुई थी। इसका विस्तार भी तेजी से हुआ।

एक मारवाड़ी कम्पनी 50 लाख रुपये की पूंजी से बलदेवदास जुगल किशोर, घनश्यामदास मुरलीधर, शिवनारायण बलदेवदास ने शुरू की। शिवनारायण, घनश्यामदास के दादा और बलदेवदास पिता थे और जुगल किशोर घनश्यामदास के बड़े भाई थे। यह परिवार बाजार में धुंधली और कमजोर स्थिति के साथ उभरा। जी. डी. बिड़ला के परदादा शोभाराम हैदराबाद की एक मारवाड़ी कम्पनी में क्लर्क थे, जो राजस्थान के नवलगढ़ शहर में 10 रुपये मासिक वेतन पर काम करते थे। इनके बेटे शिवनारायण जो कि एक परचून की दुकान चलाते थे, 1857 में बम्बई आ गये और अफीम के कारोबार में सट्टेबाजी शुरू कर दी, जिसमें इनके सहयोगी के रूप में इनके बड़े बेटे बलदेवदास ने साथ दिया। 1896 में बम्बई में जब प्लेग फैली, तो इन्होंने अपना मुख्यालय बम्बई से हटाकर कलकत्ता में स्थापित कर लिया। इस समय तक इनकी पूंजी 1.5 लाख रुपये थी। कलकत्ता में बिड़ला कम्पनी ने 'बलदेवदास जुगलकिशोर' की एक नयी पार्टनरशिप में पहले अफीम में सट्टेबाजी शुरू की। फिर चांदी, अन्न, अलसी, मैनेस्टर के कपड़े, जापानी कपड़ों का व्यापार करना शुरू कर दिया। 1911 में बिड़ला समूह कलकत्ता के लाभप्रद अफीम की सिंडिकेट का सदस्य बना। इसी वर्ष जी.डी. बिड़ला ने स्वयं अपने उत्तरदायित्व पर व्यापार करना शुरू किया और वे बर्ड हाइलार्स, एन्ड्र्यू थूल, जार्डिन स्किनर और अन्य यूरोपीय कम्पनियों को कच्चा जूट और टाट की बोरियाँ सप्लाई करने लगे। प्रथम विश्व युद्ध शुरू होने के साथ बिड़ला समूह की कुल पूंजी 80 लाख रुपये हो चुकी थी और अब जी. डी. बिड़ला के नेतृत्व में व्यापार शुरू करने के लिए पर्याप्त पूंजी जमा हो चुकी थी।

154 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

युद्ध के दौरान कमाये गये मुनाफे के बिड़ला समूह के दो मुख्य स्रोत थे :

(i) चाँदी के मूल्यों में सट्टेबाजी

(ii) कच्चे जूट, जूट के कपड़े और शेरों में व्यापार।

युद्ध के बाद बिड़ला समूह का जूट निर्यात में दूसरा स्थान हो गया था। 1919 में बिड़ला परिवार के कारोबार को संगठित करके बिड़ला ब्रदर्स नाम की आधुनिक कम्पनी बनाई गयी। इसका नेतृत्व जी.डी. बिड़ला को दिया गया। इन्होंने अपने व्यापार को बढ़ते हुए जूट के क्षेत्र में जबरदस्ती प्रवेश किया और जूट पर यूरोपीय एकाधिकार को तोड़ दिया। 1919 में बिड़ला जूट मैनुफैक्चरिंग कम्पनी बनायी गई, जिसने अपना उत्पादन 1920 में शुरू कर दिया। उसी वर्ष दिल्ली में बिड़ला समूह ने एक सूती मिल का अधिग्रहण कर लिया। 1930 तक आते-आते नये संरक्षित घरेलू बाजारों ने बिड़ला समूह को देहाती इलाकों में चीनी और कागज मिलें स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित किया। इसने भारत शुगर मिल लि. सारण, बिहार में 1931 में स्थापित किया। इसी प्रकार न्यू स्वदेशी मिल लि. 1931 में चम्पारन, बिहार में स्थापित किया। अवध शुगर मिल लि. सीतापुर उत्तर प्रदेश में 1932 में, अपर गैन्जेज शुगर मिल लि. 1932 में बिजनौर, उत्तर प्रदेश में न्यू इण्डिया शुगर मिल्स, दरभंगा, बिहार में इसी प्रकार उड़ीसा एवं हैदराबाद आदि में भी मिलें स्थापित की गईं। द्वितीय विश्व युद्ध शुरू होने से पहले बिड़ला समूह ने एक करोड़ रुपये की लागत से हिन्दुस्तान मोटर्स की शुरुआत की थी। स्वतंत्रता की पूर्व सन्ध्या पर बिड़ला समूह की शेरों में लगी पूंजी 24.8 करोड़ रुपये थी।

उद्योगों का तीव्र विकास क्यों नहीं?

उद्योगों का तीव्र विकास क्यों नहीं हो सका, इसके पीछे क्या कारण रहे? क्यों नहीं उस समय कोई औद्योगिक क्रान्ति हो सकी और न ही कोई सतत और दीर्घकालीन विकास हुआ? इसके पीछे इतिहासकार दो विचारधाराओं में बंट जाते हैं। जहाँ एक विचार भारतीय पिछड़ेपन को कहता है, वहीं दूसरा विचार जो इसका विरोधी है, वह भारत में ब्रिटिश नीतियों को इसके लिए उत्तरदायी मानता है। मॉरिस डी मॉरिस जो भारतीय पिछड़ेपन को इसके लिए जिम्मेदार मानते हैं वे यह कहते हैं, कि भारतीय आर्थिक संरचना के तकनीकी पिछड़ेपन ने बड़े स्तर के उद्योगों में सतत और दीर्घकालीन निवेश के मार्ग को अवरुद्ध किया। वहीं दूसरी ओर बागची जो कि ब्रिटिश नीतियों को इस तीव्र विकास के न हो पाने के लिए जिम्मेदार मानते हैं, वे कहते हैं कि पिछड़ापन औपनिवेशिक आर्थिक नीतियों के कारण उत्पन्न हुआ और एकाधिकार की नीति के कारण और साम्राज्य की आर्थिक नीतियों के कारण यह प्रगति पिछड़ गयी। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में औद्योगिक क्रान्ति न हो पाने के कारणों के पीछे इतिहासकारों की विचारधारा में मतभेद है।

यदि इतिहासकारों की विचारधारा को छोड़कर सांख्यिकीय आंकड़ों के आधार पर इसके कारणों को जानने का प्रयास किया जाये, तो यहाँ भी एक मत स्थापित नहीं होता है। 1900-1947 की अवधि में बड़े स्तर के उद्योगों के विकास की दर अपेक्षाकृत अधिक थी, परन्तु यह विकास निम्न स्तर से प्रारम्भ हुआ था। 1900 में उद्योग ज्यादा संगठित नहीं थे और भारतीय अर्थव्यवस्था कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था थी। इसीलिए औद्योगीकरण की तेज दर भी अर्थव्यवस्था को औद्योगिक अर्थव्यवस्था में बदलने में नाकाम साबित हुई। इस अवधि के दौरान कृषि का प्रदर्शन खराब रहा, जिसका असर यह हुआ कि औद्योगीकरण के बावजूद भी कुल मिलाकर इसने आर्थिक विकास की दर को नीचे की ओर धकेला। उद्योगों का विकास तो हुआ, परन्तु इससे कृषि अर्थव्यवस्था में कोई रूपान्तरण नहीं हुआ।

सारांश

अर्थशास्त्री और इतिहासकार औद्योगीकरण को नापने के लिए दो तरीके अपनाते हैं :

1. वे प्रत्येक क्षेत्र में उत्पादन के विकास का आकलन करते हैं और उसके सापेक्ष महत्त्व को मापते हैं।
2. विभिन्न क्षेत्रों में रोजगार और श्रम शक्ति के वितरण में होने वाले परिवर्तनों को देखते हैं।

यदि माप के इन दोनों तरीकों को आधार माना जाये, तो भारत में 19वीं शताब्दी में फैक्ट्री का विकास नहीं हुआ, जबकि 20वीं शताब्दी में हुआ। 1900 से 1946 के मध्य माध्यमिक क्षेत्र में राष्ट्रीय आय में वृद्धि हुई और फैक्ट्रियों का उत्पादन व उसमें कार्यरत श्रमिकों की संख्या भी बढ़ी। इसका मतलब यह हुआ कि प्रतिव्यक्ति उत्पादन भी बढ़ा। यह विस्तार हुआ तो मगर उतनी मात्रा में नहीं हो सका जिससे कि तीव्र व निरन्तर विकास सम्भव हो पाता। आंकड़ों के आधार पर देखा जाये तो 20वीं सदी में विकास हुआ, परन्तु ये आंकड़े बहुत बढ़ा-चढ़ा कर दिखाये गये हैं। इसीलिए इन आंकड़ों पर विश्वास नहीं किया जाता है। क्योंकि जहाँ से यह विकास का स्तर प्रारम्भ हुआ था, वह बहुत नीचे से था।

प्रश्न-अभ्यास

प्रश्न 1. 1900-1946 के दौरान औद्योगीकरण के स्वरूप की चर्चा कीजिए।

उत्तर—1900 में भी भारत किसानों और कारीगरों का देश था। इस समय भी भारतीय उद्योगों में बड़े स्तर के उद्योगों का कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं था। वे अभी तक भारतीय अर्थव्यवस्था के हाशिये पर ही थे। लेकिन 1900 से 1946 के मध्य बड़े स्तर के उद्योग पर्याप्त मात्रा में बढ़े और उनका विकास भी हुआ और इन्होंने भारतीय अर्थव्यवस्था में अपनी जगह बनानी शुरू कर दी थी। इतिहासकार एस. शिवा सुब्रामोनियन यह कहते हैं कि 20वीं शताब्दी में निरौद्योगीकरण नहीं था। हाँ, 19वीं शताब्दी में निरौद्योगीकरण था।

1940-46 के मध्य फैक्ट्री उत्पादन तेजी से बढ़ा, लेकिन इसके लिए यह जानना जरूरी है कि इस अवधि में यह उत्पादन इतनी तेजी से कैसे बढ़ा। इसके पीछे दो कारण थे :

1. प्रति श्रमिक उत्पादन में वृद्धि।
2. फैक्ट्रियों की संख्या में कई गुना वृद्धि।

एक अनुमान के अनुसार इस समय प्रति श्रमिक उत्पादन में 47.9 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई। यह स्पष्ट रूप से उस परिस्थिति का निर्माण कर रहा था, जिसे औद्योगीकरण कहा जा सकता है।

1900-1946 के मध्य औद्योगीकरण के विकास को जानने के लिए व इसके स्वरूप को समझने के लिए जनगणना के आंकड़ों के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाले जाते हैं।

फैक्ट्रियों में उत्पादन तो तेजी से बढ़ा, परन्तु इसमें रोजगार उतनी तेजी से नहीं बढ़ा, जितनी तेजी से उत्पादन बढ़ा। यह दो उद्योगों के लिए निश्चित है—सूती वस्त्र उद्योग के लिए भी और लौह इस्पात के लिए भी। फैक्ट्री में श्रमिकों की संख्या को देखा जाये तो यह 1901 में 584 हजार से बढ़कर 1946 में 2844 हजार हो गयी थी। चूंकि ये जनगणना आंकड़े हैं, इनको औद्योगिक क्रान्ति के लिए सही नहीं माना जा सकता है। ये केवल कुछ मात्रा में ही औद्योगीकरण को इंगित करते हैं। लेकिन एक बात तो सही है कि फैक्ट्रियों में चाहे रोजगार को देखा जाये या उत्पादन को, यह कम से कम निरौद्योगीकरण को तो नहीं दर्शाता है। 1900 से 1946 के मध्य की अवधि में कारीगरों का कुल उत्पादन बढ़ता है। लघु स्तर के व बड़े स्तर के उद्योगों में प्रतिवर्ष उत्पादन में वृद्धि 0.46 प्रतिशत की दर से हुई। लेकिन यदि 1901 और 1951 के जनगणना आंकड़ों को देखा जाये, तो 1940-1946 के मध्य कारीगरों का कुल उत्पादन 34 प्रतिशत बढ़ा। इसे मिश्रित प्रकार का औद्योगीकरण कहा जा सकता है। क्योंकि यदि सभी तथ्यों को एक साथ मिला दिया जाये, तो कारीगरों की कुल संख्या में कमी आती है और उनका प्रति व्यक्ति उत्पादन बढ़ता है। कारीगरों का कुल उत्पादन तो बढ़ता है, परन्तु यह ज्यादा नहीं था। इस समय बड़े स्तर के उद्योगों का कुल उत्पादन भी तेजी से बढ़ा।

हस्तशिल्पों का उत्पादन इस अवधि में बढ़ा। इसके कारण शुद्ध घरेलू उत्पाद में कुल मिलाकर उद्योगों का घरेलू उत्पाद में हिस्सा 1900 में 10.8 से बढ़कर 1946 में 14.9 प्रतिशत हो गया था।

भारत में संरक्षित घरेलू बाजार उपभोक्ता वस्तुओं के बेचने पर टिका हुआ था और इसकी कुछ सीमाएँ भी थीं। प्रति व्यक्ति उपभोग कम होने के कारण सूती वस्त्र, चीनी, कागज जैसी वस्तुओं में लाभकारी निवेश कम ही हुआ। इस प्रकार के बाजार में कोई औद्योगिक क्रान्ति सम्भव नहीं थी। जैसा कि बागची भी कहते हैं। दूसरे विश्व युद्ध के शुरू होने के साथ ही भारतीय औद्योगीकरण में महत्वपूर्ण बदलाव आये। अब भारतीय औद्योगिक घरानों ने भी

बाजार पर कब्जा जमाना शुरू कर दिया और जिन क्षेत्रों में अभी तक ब्रिटिश कम्पनियों का प्रभुत्व माना जाता था, उन क्षेत्रों में भारतीय औद्योगिक घराने निवेश करने लगे और ब्रिटिश कम्पनियों के एकाधिकार को हिला दिया। इन परिस्थितियों के कारण द्वितीय विश्व युद्ध के बाद भारतीय औद्योगीकरण में निवेश का कार्यक्षेत्र विस्तृत हुआ और द्वितीय विश्व युद्ध सम्बन्धी जरूरी चीजों के साथ-साथ उपभोक्ता वस्तुएँ भी बनायी जाने लगीं और धीरे-धीरे एक लाभकारी बाजार का निवेश होने लगा।

1900-1946 की अवधि के दौरान भारतीय औद्योगीकरण में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए, जिससे भारतीय अर्थव्यवस्था को कुछ लाभ भी हुए, परन्तु ये लाभ ज्यादा नहीं थे। कुछ फैक्ट्रियाँ भी स्थापित हुईं, परन्तु ये इतनी नहीं थीं या इनका उत्पादन इतना अधिक नहीं था, जिसे औद्योगीकरण कहा जा सके।

प्रश्न 2. भारत में औद्योगीकरण के विभिन्न चरणों में औद्योगिक उत्पादन के उतार-चढ़ाव वाले रुझानों के कारण बताइए।

उत्तर—भारतीय औद्योगीकरण के विभिन्न चरणों में औद्योगिक उत्पादन के उतार-चढ़ाव वाले कारणों को जानने के लिए हम इन चरणों को तीन काल-अवधियों में बांटकर इन उतार-चढ़ावों का विश्लेषण करेंगे :

1. 1850-1914
2. 1914-1939
3. 1939-1947

सर्वप्रथम हम 1850-1914 की अवधि में देखें कि भारतीय औद्योगीकरण के औद्योगिक उत्पादन में क्या-क्या परिवर्तन हुए और उन परिवर्तनों के पीछे कौन-से कारण काम कर रहे थे? इससे भारतीय औद्योगिक विकास पर क्या असर पड़ा? इसको बढ़ावा मिला या इसकी अवनति हुई?

प्रथम विश्व युद्ध शुरू होने के समय बड़े-बड़े शहरों में जो औद्योगिक कम्पनियाँ बनी हुई थीं, वे ब्रिटिश ही थीं। इन शहरों में मद्रास, बम्बई, कलकत्ता आदि प्रमुख शहर थे। ये अपना व्यापार विदेशी बाजारों की मांग के अनुसार चलाती थी और जिन क्षेत्रों में इन कम्पनियों को अधिक लाभ मिलता था, ये कम्पनियाँ उसी क्षेत्र में पैसा लगाती थीं। ये सिर्फ अपने लाभ के लिए ही कार्य करती थीं। इन कम्पनियों का नियन्त्रण ज्यादातर खनन, बागान और हल्के मशीनी उत्पादन पर था। इस अवधि के दौरान भारतीय उद्योगों के लिए सबसे बुरी बात यह थी कि इन्हें आयातित वस्तुओं पर शुल्क के रूप में कोई संरक्षण प्राप्त नहीं था। मुक्त भारतीय अर्थव्यवस्था के कारण आयात-निर्यात को बढ़ावा मिला। इस काल के सम्बन्ध में सार रूप में एक बात कही जा सकती है कि इस समय बड़े स्तर की औद्योगिक गतिविधियाँ शुरू नहीं हो पायी थीं, जो औद्योगिक जरूरतों को पूरा करतीं। 19वीं सदी के प्रारम्भ में जहाजरानी और विदेशी व्यापार पर पूरी तरह से ब्रिटिश कम्पनियों का ही एकाधिकार

156 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

था, जो विदेशी मांग के अनुरूप चाय, कोयला, जूट, कपास के व्यापार में जुटी हुई थीं। इन्होंने अपनी कम्पनियाँ बम्बई एवं मद्रास में स्थापित कीं और यहाँ से विदेशों को माल भेजना प्रारम्भ किया। बम्बई की सूती मिलें जो पहले चीन के बाजारों के लिए सूती धागों का निर्माण करती थीं और उसे निर्यात करती थीं, इस काल अवधि में उन्होंने विदेशी और घरेलू बाजारों के अनुरूप अपने को ढालना शुरू किया और इन्होंने अपने क्रियाकलापों में सूत की कताई से वस्त्रों की बुनाई के क्षेत्र में भी प्रवेश किया। क्योंकि ये कम्पनियाँ जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, अब अपने को विदेशी व्यापार के अनुरूप ढाल रही थीं। यह परिवर्तन भारतीय उद्यमियों के लिए भी फायदेमंद हुआ, क्योंकि यही वह क्षेत्र था जिसमें सर्वप्रथम भारतीय उद्योग ने अपनी पहचान बनाई। बम्बई की मिलों के मालिक यूरोपियन, यहूदी, पारसी, खोजा, भोटिया आदि थे जो इस कारोबार में शामिल हो चुके थे, जबकि अहमदाबाद की सूती मिलों के मालिक बनिया थे।

1850-1914 की अवधि में हम जो परिवर्तन पाते हैं, जो उपर्युक्त वर्णित हैं कि अब कम्पनियाँ सूत की कताई से वस्त्र बुनाई के क्षेत्र में भी प्रवेश कर रही थीं। भारतीय मुक्त अर्थव्यवस्था से आयात-निर्यात को प्रोत्साहन मिला। इसी समय बम्बई में टाटा घराने ने कुछ छोटी मात्रा में स्टील का उत्पादन शुरू किया, परन्तु उससे भारतीय औद्योगीकरण की क्षमता में कोई अन्तर नहीं आया। भारतीय उद्योग को कोई संरक्षण इस समय नहीं मिला था, क्योंकि आयातित औद्योगिक माल पर कोई शुल्क नहीं लगाया जाता था।

अब हम 1914-1934 के मध्य हुए परिवर्तनों को देखेंगे। इस समय औद्योगीकरण की दिशा क्या थी? इसमें क्या कोई महत्वपूर्ण बदलाव हुए या नहीं?

1914 के बाद तक यूरोपीय कम्पनियों का भारतीय व्यापार और उद्योगों में प्रभुत्व बना रहा, लेकिन 1939 के बाद यह प्रभुत्व समाप्त तो नहीं हुआ, परन्तु इसमें कहीं-न-कहीं दरार आनी शुरू हो गयी थी, क्योंकि अब भारतीय व्यापारी भी अपना व्यापार इन क्षेत्रों में बढ़ाने लगे थे। यह यूरोपीय प्रभुत्व, जैसा कि इतिहासकार मानते हैं, भारत में एक सन्तुलित और व्यापक औद्योगिक विकास को अवरुद्ध करने का प्रमुख कारण था। इन यूरोपीय कम्पनियों ने अपना प्रभुत्व जिन क्षेत्रों पर जमाये रखा और उन क्षेत्रों में इन्होंने अपने लाभ के लिए सब-कुछ किया। इससे भारतीय औद्योगीकरण को बढ़ावा नहीं मिला, क्योंकि इन कम्पनियों का मुख्य उद्देश्य भारत से लाभ कमाना होता था न कि औद्योगीकरण करना। अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन मानते हैं कि भारत में अल्पविकास के लिए कुछ हद तक यह उत्तरदायी रहा होगा। यही भारत में औद्योगिक क्रान्ति न हो पाने का प्रमुख कारण बना, क्योंकि इससे घरेलू बाजारों और बढ़ते आन्तरिक उपभोग को बढ़ावा नहीं मिला। 1914 के बाद भारत का औद्योगीकरण ज्यादा तेज गति से होना शुरू हुआ और यह गति प्रथम विश्व युद्ध, महामंदी और द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान

भी बनी रही। जहाँ विकसित औद्योगिक देशों को इन कारणों ने पीछे धकेला, वहीं भारत में यह बनी रही, जो एकदम अलग है, जैसा कि इतिहासकार एस. सिवासुब्रमोनियन मानते हैं।

1914-1939 की अवधि के दौरान भारत के औद्योगीकरण में कुछ नयी विशेषताएँ शामिल हुईं। इस समय जो नये औद्योगिक संस्थान स्थापित हो रहे थे, उनमें से अधिकतर को भारतीय घरानों ने ही स्थापित किया था, जिनमें प्रमुख थे मारवाड़ी। सूती वस्त्र मिलों ने अपना उत्पादन तेजी के साथ बढ़ाया। उत्पादन की वस्तुएँ अभी भी पूंजीगत न होकर उपभोक्ता वस्तुएँ ही थीं। इसी अवधि में स्टील जो कि किसी भी अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान रखता है, भारतीय औद्योगिक घराने टाटा ने जमशेदपुर में टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी द्वारा उत्पादित करना शुरू किया। टाटा घराने ने न सिर्फ स्टील में बल्कि अन्य क्षेत्रों में भी अपना उद्योग बढ़ाया, जिसमें चीनी, कागज आदि प्रमुख हैं। इन क्षेत्रों में इस घराने ने अपनी मिलें शुरू की और इन चीजों का उत्पादन शुरू किया। उद्योगों के केन्द्रों का भी विस्तार हुआ जैसा कि पहले इन उद्योगों का संकेन्द्रण अभी तक कलकत्ता और बम्बई में बना हुआ था। अब ये केन्द्र देश में अलग-अलग जगहों पर भी स्थापित होने लगे थे, जैसा कि टाटा स्टील कम्पनी जमशेदपुर (झारखण्ड) में।

उपर्युक्त वर्णित परिवर्तन जोकि 1914-1939 की अवधि में हो रहे थे, इससे भारतीय अर्थव्यवस्था और भारतीय उद्योगों को भी लाभ हुआ। इन परिवर्तनों ने औपनिवेशिक सरकार का ध्यान आर्थिक विकास की भारतीय मांगों की तरफ आकर्षित किया और भारतीय उद्योगों को भी संरक्षण मिलना प्रारम्भ हुआ। जहाँ 1920 में सरकार ने पहली बार आयातित औद्योगिक वस्तुओं पर संरक्षक सीमा शुल्क लागू किया और एक अन्य लाभ भारतीय उद्योगों को यह भी मिला कि युद्ध के चलते आयात में अड़चनें आ रही थीं, युद्ध के समय भारतीय व्यापारिक समुदाय ने अपनी पूंजी भी बढ़ा ली थी, क्योंकि उनको सट्टेबाजी और मुनाफाखोरी से फायदा हुआ था और वे अब अपनी पूंजी का उद्योगों में निवेश करना चाहते थे। इन व्यापारिक घरानों ने अपनी इस पूंजी से सूती मिलें, जूट मिलें, चीनी मिलें, कागज मिल। आदि लगाना प्रारम्भ किया। इसका परिणाम यह हुआ कि अभी तक इन क्षेत्रों पर ब्रिटिश कम्पनियों का एकाधिकार था। इस एकाधिकार में भारतीय घरानों ने अपनी पैठ बनानी शुरू कर दी और इस एकाधिकार को तोड़ दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 1914-1939 की अवधि में कई सकारात्मक परिवर्तन हुए, जिनसे भारतीय उद्योगों को संरक्षण मिला। भारतीय व्यापारियों के पास पैसा आया और उन्होंने अपने उद्योग लगाने शुरू कर दिये, जिससे ब्रिटिश कम्पनियों का एकाधिकार टूटा और सरकार को भारतीय आर्थिक मांगों की तरफ ध्यान देने के लिए मजबूर होना पड़ा।

तीसरे चरण, 1939-1947 के औद्योगिक उत्पादन के उतार-चढ़ाव को देखें कि इस अवधि में उपर्युक्त दो अवधियों से अलग क्या परिवर्तन हुए?

द्वितीय विश्व युद्ध शुरू होने के साथ ही भारतीय उद्योगों में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। अब भारतीय औद्योगिक घराने भी उद्योग स्थापित करने लगे थे इसमें कई घराने सामने आये जिसमें प्रमुख थे—टाटा, बिड़ला, बालचन्द, जे.के. एण्ड श्रीराम आदि। युद्ध के प्रभावों ने यूरोपीय कम्पनियाँ जोकि अभी भी निर्यात पर ही निर्भर थीं, इनको कमजोर कर दिया। इन परिस्थितियों से भारतीय औद्योगीकरण के क्षेत्र में निवेश को बढ़ावा मिला और उसका क्षेत्र भी पहले से अधिक विस्तृत हो गया। बड़े भारतीय व्यापारिक घरानों ने जिन्होंने मुनाफा कमाया था और जिनको स्टील, सूती कपड़े, चीनी, कागज और भवन-निर्माण सामग्री के उद्योग से फायदा हुआ था, के पास अच्छी-खासी पूंजी इकट्ठा हो गयी थी। उन्होंने अब नये-नये क्षेत्रों की ओर बढ़ना शुरू किया और नये क्षेत्रों में पैसा लगाया। ये क्षेत्र थे—धातु, रसायन व इन्जीनियरिंग उद्योग। हालांकि नये उद्योग स्थापित करने के लिए भारतीय औद्योगिक घरानों व नयी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के सामने कई जटिल समस्याएँ आती थीं। परन्तु इन सबके बावजूद भी कम्पनियों में कई गुना बढ़ोतरी हुई। इस अवधि में सरकार की युद्ध जरूरतों के लिए एल्युमिनियम की आपूर्ति के लिए ब्रिटिश-कनाडा बहुराष्ट्रीय कम्पनी, इंडियन एल्युमिनियम कम्पनी और जे.के. समूह की द एल्युमिनियम कॉर्पोरेशन ऑफ इण्डिया ने एल्युमिनियम का उत्पादन करना शुरू किया। इन दोनों समूहों द्वारा एल्युमिनियम का उत्पादन तेजी से किया गया और युद्ध जरूरतों के साथ-साथ यह विदेशों को निर्यात भी किया जाने लगा। इसी अवधि में टाटा घराने द्वारा 1940 में टाटा केमिकल्स और 1945 में टाटा लोकोमोटिव एण्ड इन्जीनियरिंग कम्पनी की स्थापना की गई।

1939-1946 की अवधि के दौरान भारतीय औद्योगिक घरानों ने अपने बड़े-बड़े उद्योग स्थापित करने शुरू कर दिये थे। इसमें कई घराने सामने आये, क्योंकि वे युद्ध के दौरान कमाई गई पूंजी का अब निवेश करना चाहते थे, जिससे भारतीय औद्योगीकरण को बढ़ावा मिला।

प्रश्न 3. भारतीय उद्योगों पर विश्व युद्धों के प्रभाव का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर—प्रथम विश्व युद्ध की शुरुआत (1914 की अवधि) में जो परिवर्तन हुए और द्वितीय विश्व युद्ध (1939) की शुरुआत के साथ ही जो परिवर्तन हुए, दोनों अलग-अलग हैं। परन्तु यह बात अलग है कि एक काल अवधि के परिवर्तन दूसरी काल अवधि के साथ चलते रहते हैं।

प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति तक तो यूरोपीय कम्पनियाँ अपना प्रभुत्व भारतीय व्यापार और उद्योग में बनाए हुए थीं, परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त होने तक इनका यह प्रभुत्व एकदम खत्म तो नहीं हुआ, परन्तु यह हिल जरूर गया था।

1914 के बाद भारत में औद्योगीकरण तेजी से होना शुरू हुआ, जिसके पीछे इतिहासकार तीन मुख्य कारण देखते हैं :

1. प्रथम विश्व युद्ध (1914-1918)
2. महामंदी (1930-1937)
3. द्वितीय विश्व युद्ध (1939-1945)

यह रोचक बात है कि जहाँ उपर्युक्त तीनों कारणों ने विकसित औद्योगिक देशों को पीछे धकेला, वहीं भारत में ये कारण इसके औद्योगीकरण की गति को तेज करने में सहायक बने। प्रथम विश्व युद्ध से पहले की स्थिति में इस विश्व युद्ध के बाद की स्थिति में औद्योगीकरण में कुछ विशेष परिवर्तन हुए। इस समय स्थापित हो रहे नये औद्योगिक संस्थानों में अधिकतर भारतीय व्यापारियों द्वारा स्थापित किये थे। द्वितीय विश्व युद्ध शुरू होते ही भारतीय औद्योगिक क्षेत्र में एक नया अध्याय जुड़ा। इस समय अधिक मात्रा में भारतीय व्यापारिक समूहों द्वारा नये-नये उद्योग स्थापित किये गये। इस समय तक जो ब्रिटिश अभिकर्ता प्रबन्धन थे और जो भारतीय बाजार में निर्यात के बल पर टिके थे, उनको एक जबरदस्त झटका लगा और वे झटका उनको भारतीय व्यापारियों द्वारा नये-नये उद्योगों को शुरू करने का लगा। भारतीय व्यापारियों ने युद्धों के दौरान सट्टेबाजी और मुनाफाखोरी से पैसा कमाया था और उनके पास अब पर्याप्त मात्रा में पूंजी एकत्र हो चुकी थी, जिसे वे निवेश करना चाहते थे। इसी कारण वे नये-नये क्षेत्रों में उद्योगों को लगा रहे थे व ब्रिटिश कम्पनियों के एकाधिकार को तोड़ रहे थे।

प्रश्न 4. स्वतंत्रता-पूर्व भारतीय उद्योगों के विकास में व्यापारिक उद्यमों की भूमिका की चर्चा कीजिए।

उत्तर—औपनिवेशिक भारत में उद्योग, अभिकर्ता प्रबंधन प्रणाली द्वारा प्रोत्साहित और प्रतिबंधित किये जाते थे। इसके द्वारा एक निजी कम्पनी कई संयुक्त पूंजी कम्पनियों को प्रोत्साहित करती थी और यह एक अनुबंध के तहत उसके प्रबंधन को देखती थी जैसा कि बम्बई और मद्रास में कार्यरत ब्रिटिश कम्पनियों को ब्रिटेन में चालू की गई ब्रिटिश कम्पनियों के स्थानीय एजेंट देखते थे। अर्थात् जो कम्पनियाँ ब्रिटेन में चल रही थीं, वे अपने एजेंटों के माध्यम से एक अनुबंध के तहत अपनी भारतीय कम्पनियों का प्रबंधन करती थीं। 1914 तक जो कम्पनियाँ चाय, जूट और खनन के क्षेत्र में कार्य कर रही थीं, उनमें अभिकर्ता प्रबंधन प्रणाली लागू थी।

चूँकि ब्रिटिश अभिकर्ता प्रबंधक साहसी नहीं थे और वे रूढ़िवादी ही थे, क्योंकि वे उस उद्योग में जरा भी पैसा लगाने को तैयार नहीं थे, जिसमें उन्हें नुकसान होने के जरा से भी आसार नजर आते थे। वे उन्हीं परम्परागत रूप से चले आ रहे क्षेत्रों में निवेश करते थे, जहाँ उनको ठोस लाभ नजर आता था। इसी कारण ये प्रबंधक उन क्षेत्रों की ओर आकर्षित नहीं हुए, जहाँ जोखिम था। ऐसे क्षेत्र थे—रासायनिक और धातु उद्योग। चूँकि ये दोनों क्षेत्र जोखिमभरे माने जाते हैं और इनमें लाभ की कम ही उम्मीद की जाती थी, इसीलिए ब्रिटिश अभिकर्ता इसकी ओर कम ही आकर्षित हुए। ये लाभकारी निर्यात-उन्मुख उद्योगों को ही प्राथमिकता देते थे और उन पर भी ये बंगाल चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स, द इण्डियन जूट

158 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

मिल एसोसिएशन और एसोसिएटेड चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स आदि के माध्यम से नियन्त्रण रखते थे। भारतीय व्यापारिक घराने जो परम्परागत व्यापारिक जातियों के थे, अभिकर्ता प्रबंधन प्रणाली को वरीयता दी। इन्होंने प्रारम्भ में सूती मिलें स्थापित की, जोकि बम्बई और अहमदाबाद में स्थापित की गई थीं। परन्तु धीरे-धीरे इन्होंने अन्य क्षेत्रों की तरफ भी रुझान किया और उसमें भी पैसा लगाया, चाहे वे जोखिमभरे क्षेत्र ही क्यों न रहे हों, जैसे इंजीनियरिंग, रासायनिक और धातु उद्योग। इन क्षेत्रों में इन भारतीय व्यापारिक घरानों द्वारा पैसा लगाया गया था। हालांकि ये क्षेत्र जोखिम के माने जाते थे। इस प्रकार भारतीय अभिकर्ता प्रबंधन ने, जो पहल ब्रिटिश अभिकर्ता प्रबंधन ने 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में दिखाई थी, उससे अच्छी पहल दिखाई। इसका लाभ भी भारतीय अभिकर्ता प्रबंधन को मिला और उद्योग का अधिकांश भाग इनके पक्ष में आ गया।

कलकत्ता के दो अभिकर्ता प्रबंधन घराने एक ब्रिटिश और दूसरा मारवाड़ी था। ब्रिटिश घराना बर्ड एण्ड कम्पनी थी, जो बाद में बर्ड्स हाइलार्स एण्ड कम्पनी बनी। यह यूरोपीय प्रभुत्व वाले चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स और एसोचैम की प्रमुख सदस्य बनी रही। बिड़ला ब्रदर्स ने इंडियन चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स और फेडरेशन ऑफ इण्डियन चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स इन्डस्ट्री एंड (फिक्की) के द्वारा यूरोपीय चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स की नस्लवादी और अलगाववादी नीति के खिलाफ प्रमुख भूमिका निभाई। 1920 के दशक में एसोचैम और फिक्की एक-दूसरे का प्रतिरोध करने वाली संस्थाओं के रूप में विकसित हुई।

प्रश्न 5. बर्ड हाइलार्स एण्ड कम्पनी और बिड़ला ब्रदर्स कम्पनियों के विकास के स्वरूप का परीक्षण कीजिए।

उत्तर—ये दोनों कम्पनियाँ परस्पर विरोधी व्यापारिक संघों के प्रमुख सदस्यों के रूप में थीं और दोनों पर्याप्त विषमता लिए हुए थीं। जहाँ एक का रुझान साम्राज्यवादी था (बर्ड हाइलार्स) वहीं दूसरी बिड़ला ब्रदर्स का रुझान राष्ट्रवादी था। इन कम्पनियों ने किस प्रकार अपने विकास का स्वरूप तय किया; इन्होंने किन-किन क्षेत्रों में व्यापार किया; यह जानने के लिए हम दोनों कम्पनियों के विकास के स्वरूप को अलग-अलग देखेंगे।

1. बर्ड हाइलार्स एण्ड कम्पनी—यूरोपीय प्रभुत्व वाले बंगाल चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स में तीन सदस्य कम्पनियाँ बहुत महत्वपूर्ण थीं जिनमें बर्ड हाइलार्स एण्ड कम्पनी, एन्ड्र्यू यूल एण्ड कम्पनी, जार्डिन स्किनर एण्ड कम्पनी प्रमुख थीं।

बर्ड हाइलार्स एण्ड कम्पनी एक प्रारूपीय कम्पनी थी। इस कम्पनी ने अपना विस्तार प्रथम विश्व युद्ध के बाद करना शुरू कर दिया था। उसके बाद यह कम्पनी जड़ता की शिकार बनी और संकुचित होनी शुरू हो गयी। वैसे इस कम्पनी की स्थापना 1860 के दशक में हो चुकी थी और प्रथम विश्व युद्ध के समाप्त होने तक यह अपना पर्याप्त विस्तार कर चुकी थी। इस कम्पनी का मुख्य कार्य ईस्ट इण्डिया रेलवे तथा अन्य रेलवे कम्पनियों के लिए

श्रम की ठेकेदारी करने का था। लेकिन 1870 के दशक से इस कम्पनी ने इस श्रम की ठेकेदारी के अलावा अन्य उद्योगों पर भी अपना ध्यान केन्द्रित करना शुरू किया, क्योंकि इस दशक में इस कम्पनी को श्रम की ठेकेदारी से पर्याप्त लाभ नहीं हो रहा था। इस कम्पनी ने अलग-अलग उद्योगों में अलग-अलग समय पर पैसा लगाया और उन क्षेत्रों में अपना व्यापार बढ़ाना शुरू किया। 1870 और 1880 के दशक में कोयला क्षेत्र में पैसा लगाया। 1890 में जूट मिलें लगायीं। 1900 में इस कम्पनी ने कागज मिलें लगाईं। कम्पनी ने अपना विस्तार इतनी तेजी से करना शुरू किया कि प्रथम विश्व युद्ध के शुरू होने तक इस कम्पनी का कोयले के क्षेत्र में आधे से अधिक क्षेत्र पर अधिकार स्थापित हो गया था। 1913 में इस कम्पनी का कारोबार इस प्रकार था। इस कम्पनी की इस समय तक 9 जूट मिलें, 3 कोयला कम्पनी, एक कागज कम्पनी, एक छोटी इंजीनियरिंग कार्यशाला थी। इसके साथ-साथ यह कम्पनी अन्य कार्यों में भी संलग्न थी जिसमें जूट का निर्यात, कपास का निर्यात आदि शामिल थे। इसके अलावा इस कम्पनी की एक छोटी बीमा कम्पनी भी थी। एफ. डब्ल्यू. हाइलार्स जो कोयले और जूट के व्यापार से जुड़ी थी, जिसकी टीटागढ़ में एक पेपर मिल भी थी। इस कम्पनी का 1917 में बर्ड एण्ड कम्पनी के साथ विलय हो गया। अब इन दोनों संयुक्त कम्पनियों के पास 20 करोड़ रुपये की पूंजी और 3 करोड़ रुपये का राजस्व था और इसके कर्मचारियों की संख्या एक लाख तक पहुँच गयी थी। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान व इसके खत्म होने तक बर्ड कम्पनी ने कई हल्की इंजीनियरिंग कम्पनियाँ शुरू कर दी थीं, परन्तु युद्धकालीन मंदी के कारण ये सफल नहीं हो पायीं और इसके बाद कम्पनी फूंक-फूंक कर कदम उठाने लगी और कम्पनी ने अब उस व्यापार में पैसा लगाना बन्द कर दिया, जिसमें जोखिम था। युद्ध के बाद कम्पनी की योजना एशिया के सबसे बड़े स्टील वर्क्स को स्थापित करने की थी, जिसका नाम वह 'द यूनाइटेड स्टील कॉर्पोरेशन ऑफ एशिया लि. (टस्काल)' देना चाहती थी परन्तु कम्पनी इसे शुरू नहीं कर पायी क्योंकि आर्थिक मंदी के दौरान कम्पनी को नुकसान उठाना पड़ा था, जो 1.2 करोड़ रुपये था। इसके बाद कम्पनी ज्यादा सतर्क हो गयी और जोखिम भरे उद्योगों में उसने पैसा नहीं लगाया। इसके बाद कम्पनी सिर्फ ठोस लाभ वाले उद्योगों से ही जुड़ी रही, जिसमें जूट प्रमुख था। लेकिन यहाँ भी कम्पनी को उस समय झटका लगा जब बिड़ला समूह के साथ, सात और भारतीय कम्पनियों ने जूट उद्योग में प्रवेश किया और ब्रिटिश एकाधिकार को तोड़ दिया। जैसे-जैसे भारतीय कम्पनियाँ जिन उद्योगों में अपना कारोबार फैलाती थी, यह कम्पनी उन क्षेत्रों से अपना कारोबार समेटना शुरू कर देती थी, क्योंकि प्रतियोगिता बढ़ जाती थी और कम्पनी जोखिम उठाने को तैयार नहीं थी वह वे सिर्फ ठोस लाभ वाले क्षेत्रों में ही व्यापार करना चाहती थी। बर्ड हाइलार्स एण्ड कम्पनी के उपर्युक्त विवरण से एक बात तो स्पष्ट है कि कम्पनी ने उन्हीं क्षेत्रों में व्यापार किया, जिनमें उसे अपना

लाभ सुनिश्चित नजर आता था और वह उन क्षेत्रों से हट जाती थी, जहाँ उसको तनिक भी जोखिम नजर आता था।

2. बिड़ला ब्रदर्स—इसकी स्थापना 1919 में हुई। इसी समय बर्ड हाइलार्स एंड कम्पनी जड़ता का शिकार बनी थी। अर्थात् 1919 में जहाँ एक का पतन हो रहा था वहीं दूसरी कम्पनी का उदय हो रहा था। बिड़ला ब्रदर्स भी बर्ड हाइलार्स एण्ड कम्पनी की तरह ही एक औद्योगिक प्रबन्धन घराना था जो बड़े पैमाने पर उद्योग में कार्यरत था। इसकी स्थापना के साथ ही इसका विस्तार भी तेजी से होना शुरू हुआ। प्रारम्भ में यह एक मारवाड़ी कम्पनी थी, जिसकी स्थापना 50 लाख रुपये की पूंजी लेकर बलदेवदास जुगलकिशोर, घनश्यामदास मुरलीधर, शिवनारायण बलदेवदास ने की थी शिवनारायण घनश्यामदास बिड़ला (जी.डी. बिड़ला) के दादा और बलदेवदास पिता थे और जुगलकिशोर घनश्यामदास के बड़े भाई थे। यह घराना बाजार में एक धुंधली और कमजोर स्थिति के साथ उभरा। जी.डी. बिड़ला के परदादा शोभाराम हैदराबाद की एक मारवाड़ी कम्पनी में क्लर्क थे, जो राजस्थान में नवलगढ़ शहर में 10 रुपये मासिक के वेतन पर काम करते थे। इनके बेटे शिवनारायण की एक परचून की दुकान थी। ये 1857 में बम्बई आ गये और अफीम के कारोबार में सट्टेबाजी शुरू की, जिसमें इनके सहयोगी के रूप में इनके बेटे बलदेवदास ने इनका साथ दिया। 1896 में जब बम्बई में प्लेग फैला, तो इन्होंने अपना कार्यालय बम्बई से हटाकर कलकत्ता में स्थापित किया। इस समय तक इनकी पूंजी 1.5 लाख रुपये हो चुकी थी। कलकत्ता में बिड़ला कम्पनी ने बलदेवदास जुगल किशोर की एक नयी पार्टनरशिप में पहले अफीम में सट्टेबाजी शुरू की और फिर चांदी, अन्न, अलसी, मैनचेस्टर के कपड़े, जापानी कपड़े के व्यापार में पैसा लगाना शुरू कर दिया। 1911 में बिड़ला समूह कलकत्ता के लाभप्रद अफीम की सिडिकेट का सदस्य बना। इसी वर्ष स्वयं अपने उत्तरदायित्व पर जी.डी. बिड़ला ने व्यापार करना शुरू कर दिया और वे बर्ड हाइलार्स एण्ड कम्पनी, एन्ड्र्यू यूल, जार्डिन स्किनर एवं अन्य यूरोपीय कम्पनियों को कच्चा जूट और टाट की बोरियाँ सप्लाई करने लगे। प्रथम विश्व युद्ध शुरू होने के साथ बिड़ला समूह की कुल पूंजी 80 लाख रुपये हो चुकी थी और अब यह घराना व्यापार करने के लिए पर्याप्त पूंजी इकट्ठी कर चुका था। जी.डी. बिड़ला ने इस घराने का नेतृत्व संभाला और इस पूंजी के साथ व्यापार करना शुरू कर दिया। युद्ध के दौरान बिड़ला समूह ने भारी मुनाफा कमाया था। इस मुनाफे के दो स्रोत थे—पहला था, चांदी के मूल्यों की सट्टेबाजी में; दूसरा था कच्चे जूट, जूट के कपड़े और शेरों

का व्यापार। युद्ध के बाद बिड़ला समूह का जूट क्षेत्र में दूसरा स्थान हो गया और यह पूरे भारत में जूट का व्यापार करने वाली दूसरे नम्बर की कम्पनी मानी जाने लगी। 1919 में बिड़ला परिवार ने अपने कारोबार को संगठित किया और 'बिड़ला ब्रदर्स' नाम से एक आधुनिक कम्पनी बनायी। इसका नेतृत्व जी.डी. बिड़ला को दिया गया। इन्होंने अपने व्यापार को तेजी से आगे बढ़ाया और जूट के क्षेत्र में यूरोपीय एकाधिकार को तोड़ दिया। 1919 में बिड़ला समूह ने 'बिड़ला जूट मैनुफैक्चरिंग कम्पनी' बनायी जिसने अपना उत्पादन 1920 में शुरू किया। उसी वर्ष बिड़ला समूह ने अपना कारोबार बढ़ाते हुए सूती वस्त्रों के निर्माण में प्रवेश किया और दिल्ली की एक सूती मिल का अधिग्रहण कर लिया। 1930 तक आते-आते बिड़ला समूह ने जी.डी. बिड़ला के नेतृत्व में अपने कारोबार को और अधिक विस्तृत किया और देहाती इलाकों में चीनी व कागज मिलें स्थापित करनी शुरू कर दीं। बिड़ला समूह ने भारत शुगर मिल लि. सरन (बिहार) में 1931 में स्थापित की। इसी प्रकार बिड़ला समूह ने न्यू स्वदेशी मिल लिमिटेड 1931 में चम्पारन (बिहार) में, अवध शुगर मिल लिमिटेड, सीतापुर (उत्तर प्रदेश) में 1932 में, अपर गैन्जेज शुगर मिल लिमिटेड, बिजनौर (उ.प्र.) में 1932 में, न्यू इण्डिया शुगर मिल दरभंगा (बिहार) में 1933 में स्थापित की। इसके अलावा बिड़ला समूह ने ओरिएन्ट पेपर मिल्स लिमिटेड ब्रजनगर (उड़ीसा) में 1936 में स्थापित की गई। सीरपुर पेपर मिल्स लिमिटेड (हैदराबाद) में 1938 में स्थापित की गई। अंत में बिड़ला समूह ने अपना उत्पादन उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन से पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन की तरफ बढ़ाया।

द्वितीय विश्व युद्ध शुरू होने से पहले बिड़ला समूह ने एक करोड़ रुपये की लागत से हिन्दुस्तान मोटर्स लि. की शुरूआत की। स्वतंत्रता की पूर्व संध्या पर बिड़ला समूह की शेरों में लगी पूंजी की मात्रा 24.8 करोड़ रुपये थी। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के साथ और स्वतंत्रता के बाद यूरोपीय अभिकर्ता घराने एक के बाद एक भारतीय व्यापारिक घरानों के नियन्त्रण में आते रहे, जिसमें मारवाड़ी घरानों का स्थान प्रमुख था।

दोनों कम्पनियों के विकास का स्वरूप देखने से लगता है कि किस प्रकार बिड़ला ब्रदर्स ने अपना विस्तार छोटी-सी पूंजी से शुरू किया था और स्वतंत्रता प्राप्ति तक वह 24.8 करोड़ रुपये की एक बड़ी रकम तक जा पहुँचा। इसने अपना विकास कितनी तेजी से किया।

■ ■

तकनीकी : विज्ञान और साम्राज्य

13

प्रस्तावना

यदि किसी अपरिष्कृत और आदिम समाज को देखा जाये, तो हम देखते हैं कि उसमें भी कुछ मात्रा में वैज्ञानिक विवेक और उद्यम रहता है। इस प्रकार के समाज में ऐसा नहीं कि विवेकरहित कार्य होते हैं। इस समाज के लोग भी विवेक रखते हैं, चाहे वह कम ही क्यों न हो।

दक्षिण एशिया के अति प्राचीन समाज की बात की जाए, जिसको अपरिष्कृत और आदिम समाज माना जाता था, परन्तु ऐसा नहीं था। इस समाज ने भी एक चिन्तन वाली सभ्यता को अपनाया था। इसने कभी विदेशी-द्वेष की प्रवृत्ति को नहीं अपनाया। इसने अपने को अलग-थलग नहीं रखा। इस समाज में भी तकनीकी वैज्ञानिक परम्परा कायम रही, जिसके विकास की दिशा बाहरी जगत से होने वाले राजनैतिक-सांस्कृतिक परिवर्तन और खुद इसी क्षेत्र में होने वाले राजनैतिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों से मिली। दक्षिण एशियाई समाज हमेशा से अपने कुछ क्षेत्रों में, जैसे-खगोल विज्ञान, चिकित्सा, गणित आदि में अग्रणी रहा है और इन क्षेत्रों में इसकी विद्वता का लोहा सम्पूर्ण विश्व ने माना है।

भारत को सैय्यद अल अदालूसी (1029-70) ने अपनी पुस्तक 'तबकात उल उमान' में एक ऐसे देश के रूप में वर्णित किया है, जहाँ विज्ञानों को प्रोत्साहन दिया जाता है। परन्तु जब पुनर्जागरण का समय आया तो यूरोप अन्य देशों से आगे निकलना शुरू हो गया। 18वीं सदी आते-आते यूरोप इतना आगे निकल चुका था कि किसी भी देश के लिए इसे पछाड़ना अब मुश्किल काम हो गया था। भारत के सम्बन्ध में 18वीं सदी को देखा जाये तो इस सदी में औपनिवेशीकरण की नींव पड़ी और इससे पूर्व बनी परम्पराओं का हास होना शुरू हो गया। भारत के लिए जो सबसे महत्वपूर्ण बात इस सदी में घटी वह थी, आधुनिक विज्ञान, पूंजीवाद का विकास, औपनिवेशिक विस्तार; तीनों साथ-साथ इस सदी में हुए। 18वीं सदी के प्रारंभ में ये जो कुछ भी परिवर्तन हो रहे थे, भारत इनसे अनभिज्ञ बना रहा। परन्तु 18वीं सदी के प्रारंभ में कोल्हापुर के मंत्री रामचन्द्र पंत ने यूरोपीय व्यापारियों और फैक्टरों

के सम्बन्ध में लिखा। उन्होंने इनकी गतिविधियों के सम्बन्ध में लिखा। चूँकि ये यूरोपीय टोपी पहनते थे, इसी कारण रामचन्द्र पंत ने उन्हें टोपीकार कहा। इन्होंने लिखा था कि इनसे दूर रहा जाये, इन्हें परेशान नहीं किया जाए और न ही उनके द्वारा परेशान हुआ जाये क्योंकि वे इनकी नौसेना शक्ति, गोला-बारूद की शक्ति आदि को समझते थे। लेकिन भारतवासियों की इस नीति को यूरोपीयों ने उनकी कमजोरी समझा और इसका लाभ उठाना शुरू किया जिससे उनकी विजय का मार्ग प्रशस्त होता चला गया। भारतीयों को परम्परावादी माना जाता था और शायद ऐसा था भी, क्योंकि सवाई राजा जयसिंह (1688-1743) जिन्होंने खगोल विज्ञान के क्षेत्र में उल्लेखनीय काम किया था और लोगों को खगोल के ज्ञान से अवगत कराया था वे भी अपने युग और उसमें बनी परम्पराओं को नहीं तोड़ सके और उसी के अन्तर्गत रहकर उन्होंने काम किया। लेकिन समुद्री जहाज निर्माण, हथियार, धातुकर्म, कपड़े की छपाई आदि के क्षेत्र में यूरोपीयों और भारतीयों ने परस्पर मिलकर काम किया था। लेकिन भारतीयों ने कुछ यूरोपीय आविष्कारों को नहीं अपनाया, क्योंकि वे उन्हें तर्कसंगत व अपनी जरूरतों के अनुरूप नहीं समझते थे। इन्हें अस्वीकार कर दिया गया। इनमें मुख्य रूप से यांत्रिक घड़ियाँ, छापाखाना, टेलिस्कोप आदि केवल जिज्ञासा की वस्तु ही बनकर रह गईं। भारतीय लोगों ने इन्हें नहीं अपनाया। लेकिन इनको अस्वीकार करने के पीछे क्या कारण थे, इसकी सही प्रकार से व्याख्या नहीं हो पायी है।

उपनिवेशवाद और वैज्ञानिक ज्ञान

जिन व्यापारिक कम्पनियों ने अपना कब्जा बड़े-बड़े क्षेत्रों पर जमाया और उन पर राज किया, उनके कुछ तरीके इन क्षेत्रों के तरीकों से भिन्न थे। उनका सेना-प्रशिक्षण अलग था और वे एक नये ज्ञान से वाकिफ हो चुके थे। इन लोगों ने अपनी राजनैतिक चालों, षड्यंत्रों, लूट और अनेक स्थानीय युद्धों के बावजूद भी ज्ञान के लिए एक मंच बनाया। एशियाटिक सोसायटी की स्थापना 1784 में की गई और अपने किले के ही एक कॉलेज फोर्ट विलियम कॉलेज स्थापित किया गया। यह 1801 में बना था। ब्रिटिश संख्या

की दृष्टि से तो कम थे, जिस देश पर उन्होंने कब्जा किया, परन्तु उनके सैन्य प्रशिक्षण अच्छे ढंग का था। और इनके पीछे एक अच्छे व समुचित वैज्ञानिक ज्ञान भी काम कर रहा था। इन्होंने भारतीय क्षेत्रों पर कब्जा करने से पहले प्रत्येक क्षेत्र का समुचित सर्वे कराया और फिर उस पर कब्जा किया। कहीं-कहीं यह सर्वे और विस्तार साथ-साथ भी चला। ऐसे उदाहरण के लिए हम 1760 में रैनल द्वारा बंगाल और कैली द्वारा कर्नाटक के सर्वे को देख सकते हैं, जिसने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को इन क्षेत्रों पर कब्जा करने में सहायता की, जो इनके नवीन ज्ञान के कारण ही सम्भव बना। ये सर्वे इन्हें राजस्व इकट्ठा करने और उसे लागू करने, दोनों के काम में आया। भारत आने वाले प्रत्येक जहाज में एक चिकित्सक भी होता था, जो अपने क्षेत्र का विशेषज्ञ होता था। वह यहाँ के खनिजों, वनस्पतियों, जीव-जन्तुओं और लोगों को देखता, इनके बारे में लिखता और इन्हें अपने लाभ के लिए इस्तेमाल करने के तरीके खोजता था। इस प्रकार औपनिवेशिक विज्ञान का जन्म हुआ। यह विज्ञान उपनिवेश के पूर्व के विज्ञान से आगे था। यह सुव्यवस्थित, क्रमबद्ध, मर्मज्ञ और व्यापक था। इसमें ज्यादातर सभी गुण होते थे; जैसे-विज्ञान, राजनीति, व्यापार, सैन्य क्रियाकलाप आदि। अब इसको मानने में कोई संदेह नहीं रह गया है कि तकनीकी-वैज्ञानिक विकास और औपनिवेशिक विस्तार के बीच गहरा सम्बन्ध था, लेकिन इन सम्बन्धों से कुछ प्रश्न उठते हैं। जैसे कि :

- (i) क्या प्राकृतिक ज्ञान के केन्द्र का कोई साम्राज्यवादी पक्ष था?
- (ii) आधुनिक और सार्वभौमिक विज्ञान ने उपनिवेश का क्या रूप अपनाया?
- (iii) विज्ञान की इस उपनिवेश में क्या स्थिति थी?
- (iv) वैज्ञानिकों द्वारा किये गये आविष्कारों का किस हद तक सांस्कृतिक और राजनैतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रयोग किया गया?
- (v) देशी वैज्ञानिक परम्परा को किस दृष्टिकोण से देखा गया?
- (vi) स्थानीय लोग नए ज्ञान और नए उपकरणों के लिए किस प्रकार प्रतिक्रिया करते थे?
- (vii) औपनिवेशिक शासन का यदि हस्तक्षेप न हुआ होता, तो क्या यह तकनीकी ज्ञान और वैज्ञानिक परम्परा भारतीय समाज में प्राकृतिक रूप से विकसित हो पाती?

उपर्युक्त वर्णित प्रश्नों के उत्तर देना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर इन प्रश्नों के सही उत्तर को नहीं खोजा जा सकता, क्योंकि एक ही प्रश्न के सम्बन्ध में कई प्रकार की विचारधाराएँ और धारणाएँ प्रचलित हैं, जो किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने में बाधा डालती हैं। परन्तु एक बात तो निश्चित है कि औपनिवेशिक विज्ञान प्रभुत्व सम्पन्न नहीं था। इसकी सीमित स्वायत्तता की थी। जैसे-जैसे औपनिवेशिक शासन की पकड़

मजबूत होती गयी, इसकी पकड़ ढीली पड़ती गयी। औपनिवेशिक काल में वैज्ञानिक भी अपने को सहज नहीं महसूस कर पा रहे थे। उन्हें दोहरी भूमिका निभानी पड़ती थी, जिसमें औपनिवेशिक शासन और विज्ञान दोनों शामिल थे।

दोहरा आदेश

भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अस्तित्व उसकी व्यापारिक गतिविधियों के कारण स्थापित हुआ और इन व्यापारिक गतिविधियों के कारण धीरे-धीरे कम्पनी ने अपना शासन भारत में स्थापित कर लिया। इस औपनिवेशिक शासन के अन्दर विज्ञान की स्थिति को समझने के लिए हमें वैज्ञानिकों की स्थिति के सम्बन्ध में भी देखना होगा। औपनिवेशिक शासन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में वैज्ञानिकों को, सर्जन प्राकृतिक वैज्ञानिक होते थे, अधिक स्वतंत्रता प्राप्त थी। इनके लिए जहाँ नये तथ्यों को खोजने के लिए कई अवसर थे, वहीं इनको खोजने के लिए कठिनाई का सामना भी करना पड़ता था। जिस देश में ये वैज्ञानिक काम कर रहे होते थे, उस देश के निवासियों ने भी इन्हें सहयोग किया। इन वैज्ञानिकों ने जो स्वायत्तता के साथ काम कर रहे थे, वातावरण के संरक्षण की धारणा को विकसित किया और इस धारणा को विकसित करने में औपनिवेशिक बागानों के मालिकों, वनस्पतिशास्त्रियों और वन संरक्षकों ने परिपक्वता की स्थिति में पहुँचाया। अब उपनिवेशों में राजकीय वैज्ञानिक धारणा विकसित होने लगी थी। इससे यही अर्थ निकलता है कि औपनिवेशिक शासन चलाने वाली कम्पनियाँ वैज्ञानिक अवधारणा का स्वागत करती थीं और उसे मानती थीं। औपनिवेशिक राज्य में स्थानीय भूभाग, स्थानीय संसाधन और परम्पराएँ अपना विशेष महत्त्व रखती थीं।

भारत में इस औपनिवेशिक शासन के स्थापित करने वाले यह भली-भाँति जान गये थे कि उन्हें बड़ी सावधानी व समझदारी से अपने पैर जमाने हैं। वे जिस राज्य को स्थापित करने जा रहे हैं, उसे उन्हें पहले से चली आ रही धारणाओं और परम्पराओं के अनुकूल बनाना होगा, अन्यथा वे यहाँ अपना शासन नहीं कर पायेंगे। उनके सामने एक समस्या यह भी थी कि अपने शासन को जनता की नजरों में वैध ठहराएँ। इसके लिए उन्हें पहले से चली आ रही संरचनाओं, धारणाओं और परम्पराओं को अवैध घोषित करना था। ऐसा करने के लिए उन्हें अतीत की निंदा करना अत्यन्त आवश्यक लगा। भारत के सम्बन्ध में इन्होंने नयी धारणाएँ कायम कीं और भारत की बुराई की। इसमें भारतीयों को अवैज्ञानिक, अंधविश्वासी और परिवर्तन का विरोध करने वालों के रूप में व्याख्यायित किया गया। भारत की पहचान इन्होंने गंदे धूल भरे और रोग लगे देश के रूप में की। विलियम जोन्स ने यूरोपीयों की वैज्ञानिक उपलब्धियों को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया और एशियाई लोगों को इन उपलब्धियों के सामने बच्चा करार दिया। इस प्रकार के विचारों को प्रचारित-प्रसारित करके एक पितृसत्तात्मक राज्य का निर्माण किया गया, जो अपने

162 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

को हर क्षेत्र में भारतीयों से श्रेष्ठ मानता था, चाहे वह सैन्य क्षेत्र हो या ज्ञान का क्षेत्र हो। इनकी सर्वोच्चता को दर्शाने की यह प्रवृत्ति पश्चिमी विद्वानों ने खूब बढ़ा-चढ़ा कर दिखाई और भारतीय जिन क्षेत्रों में अपने को गौरवान्वित महसूस करते थे; जैसे-खगोल विज्ञान, चिकित्सा आदि—इन्होंने इन क्षेत्रों में भारत की उपलब्धियों की भर्त्सना की। लेकिन ऐसा नहीं था कि सभी औपनिवेशिक विद्वान भारत की इन वैज्ञानिक परम्पराओं और तकनीकियों को हेय दृष्टि से देखते थे। इनमें कुछ विद्वान इनको आदर की दृष्टि से भी देखते थे और वे भारत की इन उपलब्धियों को मानते भी थे। वे यह चाहते थे कि भारत में पश्चिमी ज्ञान धीरे-धीरे फैले। औपनिवेशिक वैज्ञानिकों ने एक साथ कई क्षेत्रों में काम किया। उदाहरण के लिए हम ओ. शाॅन्नेसी की चर्चा कर सकते हैं। इनको कलकत्ता मेडिकल कॉलेज का प्राध्यापक बनाया गया। इन्होंने रसायनशास्त्र और औषधीय पौधों के साथ प्रयोग पढ़ाने का प्रस्ताव दिया और साथ ही साथ इन्होंने एक बदलाव और किया। गैर-मेडिकल विद्यार्थियों को प्रयोगात्मक निर्देश देने और इसके साथ यूरोपीय और भारतीय विद्यार्थियों को रसायनों द्वारा रंगने, विरंजन केलिको प्रिन्टिंग, आसवन, चीनी का परिष्करण, अयस्कों का प्रगलन और रासायनिक दवाओं के निर्माण सम्बन्धी कला सिखाने का प्रस्ताव रखा। लेकिन इसके सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पहलू थे।

संगठनात्मक अनिवार्यताएँ

सरकार ने भूगर्भ और सर्वे विभाग को अधिक संरक्षण दिया और उसके बाद वनस्पतिशास्त्र का नाम आता है, जिसे सरकार ने अधिकतम संरक्षण दिया। कृषि का क्षेत्र 1890 तक उपेक्षा का शिकार बना रहा, परन्तु कुछ निजी कृषि और बागवानी संस्थाओं ने इसे व्यापारिक दिशा देने का प्रयास किया, परन्तु यह सफल नहीं कहा जा सकता है। इन संस्थाओं में हम बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी, रॉयल एशियाटिक सोसायटी बम्बई और अन्य शहरों की मेडिकल और भौतिक विज्ञान की सोसायटियों को मान सकते हैं। सरकार ने 1902 में वैज्ञानिक सुझावों के लिए एक बोर्ड की स्थापना की। इसके पीछे कारण यह था कि आर्थिक जरूरतें बदल रही थीं, वैज्ञानिक प्रतिष्ठान बढ़ रहे थे। भारतीयों की उनके प्रति जागरूकता बढ़ रही थी। इन सब कारणों ने औपनिवेशिक सरकार को मजबूर किया कि वह एक वैज्ञानिक संस्था स्थापित करे। इन संस्थाओं का चाहे कोई अन्य फायदा हुआ हो या न हुआ हो, परन्तु एक फायदा यह जरूर हुआ कि सरकार, विज्ञान और आर्थिक सोच-विचार में एक घनिष्ठ सम्बन्ध कायम हो गया। आर्थिक लाभ यह हुआ कि व्यावहारिक विज्ञान पर आधारित उद्योग को बढ़ावा मिला; जैसे—कोयला, कपास, जूट, चाय आदि। वैज्ञानिक प्रतिष्ठानों पर सरकार का अत्यधिक नियन्त्रण था, जिसके कारण भारत में आर्थिक आधुनिक विज्ञान के विकास में बाधा आयी। सरकार हमेशा इन प्रतिष्ठानों को आर्थिक रूप से लाभ पहुंचाने के लिए

इस्तेमाल करना चाहती थी। इसमें से ज्यादातर सरकार के इस दबाव में आ गये। उदाहरण के लिए हम जॉर्ज वाट का उदाहरण ले सकते हैं। इन्हें 1903 में 'डिक्शनरी ऑफ द इकॉनामिक प्रोडक्ट्स ऑफ इण्डिया' का एक खण्ड तैयार करने को कहा गया, परन्तु इन्हें उत्पादों का चयन करने की कोई स्वतंत्रता नहीं दी गयी। इन्हें इस पुस्तक में वे ही उत्पाद शामिल करने को कहा गया, जिनका कोई कोई व्यापारिक महत्त्व नहीं था। इस प्रकार इनकी इस डिक्शनरी में आर्थिक उत्पादों की जगह व्यापारिक उत्पाद शामिल हो गये।

औपनिवेशिक शोधकर्ता के सामने सबसे बड़ी समस्या थी मौलिक और व्यावहारिक शोध में अन्तर न कर पाना। इसमें प्रमुख रूप से भू-गर्भ वैज्ञानिक और वनस्पतिशास्त्री शामिल थे। औपनिवेशिक सरकार ने हालांकि विज्ञान की महत्ता को तो समझा, परन्तु उस पर पैसा नहीं खर्च किया।

विज्ञान के शोधों से निकलने वाले परिणाम चाहे सरकार के लिए कितने ही महत्त्व के क्यों न रहे, परन्तु सरकार उनको तात्कालिक रूप में लेती थी। जो उसको घाटे में नजर आते थे और उन पर इसीलिए व्यय नहीं करती थी। विज्ञान के क्षेत्रों में भेद करके व्यय किया जाता था। उनमें पैसा नहीं लगाया जाता था, जिनको सरकार आर्थिक रूप से लाभदायक नहीं मानती थी जैसा कि भू-गर्भीय शोध के लिए खूब पैसा खर्च किया गया, वहीं कृषि भूमियों की जाँच के लिए कोई पैसा नहीं खर्च किया। क्योंकि सरकार भू-गर्भीय शोध से यह मानती थी कि इससे सरकार को महत्वपूर्ण और प्रत्यक्ष लाभ होंगे। इसी तरह सरकार द्वारा चिकित्सा और जन्तुशास्त्र विज्ञानों की उपेक्षा की गई। वनस्पति विज्ञान, भू-गर्भ विज्ञान, भौगोलिक सर्वेक्षण आदि पर पैसा खर्च किया गया, क्योंकि इन क्षेत्रों से भी सरकार को महत्वपूर्ण और प्रत्यक्ष लाभ मिलने की उम्मीद थी।

उष्णकटिबंधीय रोगों का निदान और अध्ययन उन व्यक्तियों द्वारा कराया गया जो भौगोलिक और व्यावसायिक दृष्टि से अलग थे। इसीलिए यह संदेह के दायरे में रहा। शुद्ध और सैद्धान्तिक शोध नहीं के बराबर थे। भारत में रसायनशास्त्र और भौतिकशास्त्र में शोध गतिविधियाँ नहीं के बराबर हुईं, जबकि यूरोप में इस समय तक ये व्यावसायिक स्तर तक पहुँच चुकी थीं। हालांकि सरकार द्वारा प्रत्येक प्रान्त में रासायनिक विशेषज्ञ रखे गये थे। लेकिन उनका काम केवल चिकित्सा सम्बन्धी कानूनी मामलों और सरकारी गोदामों के निरीक्षण तक सीमित था। भारत को केवल शोध के लिए एक प्रयोगशाला समझा जाता था। इसका इस्तेमाल यूरोप की प्रयोगशालाओं के लिए बड़े स्तर पर काम आने वाली वनस्पतियों और जीव-जन्तुओं को रखने वाले गोदाम के रूप में किया गया। भारत में शोध के लिए केवल सहायक इकाइयाँ ही स्थापित की जा सकीं और भारत में यह उस समय थी, जब ब्रिटेन एक ऐसे दौर से गुजर रहा था जिसमें व्यावसायिक, वैज्ञानिक, सरकार और उद्योगपति जो विज्ञान की सम्पूर्ण अन्तःशक्ति को समझते थे। भारत

के सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक शोधों ने सरकार, विज्ञान और आर्थिक शोषण के बीच एक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया, लेकिन भारत और भारतीयों के हितों के प्रति मुख्यतः उदासीनता का भाव रहा।

तकनीकी, साम्राज्य और आर्थिक विकास

तकनीकी परिवर्तन तो प्रत्येक समाज में होते हैं। लेकिन इनमें विकास की गति और विस्तार को विकास के मापदण्ड ही निर्धारित करते हैं। औपनिवेशिक शासन से पूर्व इन तकनीकी परिवर्तनों की प्रक्रिया धीमी थी। उस समय जो कुछ तकनीकी परिवर्तन वहाँ हो रहे थे, उसके मुकाबले में भारत में होने वाले तकनीकी परिवर्तन कुछ भी नहीं थे। यूरोपीय विचारक मैक्स वैबर के कथन को देखा जाये तो यह बात ज्यादा स्पष्ट नजर आती है। वे भारत के सम्बन्ध में कहते हैं कि “भारतीयों ने जिस तरह चिन्तन-मनन की तकनीकी में महारत हासिल कर रखी थी, उसके मुकाबले में भौतिक तकनीकी में कोई महारत नहीं थी।”

भारत में ये आधुनिक तकनीकी परिवर्तन क्यों नहीं हो पा रहे थे और उनका समावेश भारतीय समाज में क्यों धीरे-धीरे हो रहा था? भारत में पतन की गति को बढ़ावा देने में ब्रिटेन का हाथ तो नहीं था या ब्रिटेन के औपनिवेशिक शासन ने वह पृष्ठभूमि तैयार की जहाँ भारत का आर्थिक, वैज्ञानिक और तकनीकी विकास सम्भव बना। यदि उपर्युक्त बात को सही माना जाये, तो इसका प्रबन्धन कैसे किया गया? इन सवालों के जवाब देना कठिन है, क्योंकि ये सवाल संरचनात्मक और तकनीकी सम्बन्धी कारणों से घिरे हुए हैं। जो ब्रिटिश असेनिक अधिकारी थे वे भारतीय परम्पराओं, प्रथाओं, रीति-रिवाजों से छेड़छाड़ नहीं करना चाहते थे और न ही उनमें किसी तरह का परिवर्तन करना चाहते थे क्योंकि ऐसा करने से उन्हें विद्रोह के भड़क जाने का डर था। लेकिन जो तकनीकी स्तर पर काम करते थे, वे इन बातों का ख्याल नहीं रखते थे। उनकी रुचि स्थानीय ज्ञान और व्यवहार, परम्पराओं, प्रथाओं में नहीं थी। वे सार्वभौमिक मुद्दों पर अधिक बल देते थे; जैसे-इंजीनियरिंग। ये पूरी तरह से व्यावसायिक होते थे; और राज्य की सेवा में ही अपना ध्यान केन्द्रित करते रखते थे। उन्हें स्थानीय रीति-रिवाजों, परम्पराओं से कोई लेना-देना नहीं था। भारत में तकनीकी स्तर पर ब्रिटेन की जिन तकनीकों ने प्रभाव डाला उनमें वाष्पचालित जहाज, विदेशी बीज, टेलीग्राफ और रेलवे थी और औपनिवेशिक सरकार ने भी इस तरफ कोई ध्यान नहीं दिया कि भारत में तकनीकी विकास हो सके, न ही इस सम्बन्ध में उसने कोई नीति ही अपनायी जिससे भारत में तकनीकी परिवर्तन न हो सके। इसके पीछे मुख्यतः निम्नलिखित कारणों को उत्तरदायी माना जाता है :

1. उपनिवेशवाद
2. पुरानी सांस्कृतिक बाधाएँ
3. तकनीकी परिवर्तनों का दबाव।

भारत की जाति प्रथा ने एक अवरोधक का काम किया। फिर भी उपनिवेशवाद और 19वीं सदी की तकनीकी अनिवार्यताओं ने भारत के तकनीकी पिछड़ेपन को बनाये रखने में सहयोग ही किया।

भारत में तीव्र गति से वाणिज्यीकरण तो हुआ, परन्तु इससे औद्योगीकरण को कोई लाभ नहीं मिला और न ही इस वाणिज्यीकरण ने नये आविष्कारों को कोई बढ़ावा दिया। एक फैक्ट्री व्यवस्था तो जरूर उभरी, परन्तु औद्योगीकरण नहीं हुआ। व्यावहारिक विज्ञान का प्रयोग भारत में औद्योगीकरण को बढ़ावा देने के लिए नहीं किया गया। भारत के लिए एक अन्य समस्या नये उभरे पूंजीपति वर्ग के लिए भी आ रही थी और उनके लिए कमजोर तकनीकी के आधार पर पूंजीगत वस्तुओं का निर्माण कर पाना असम्भव था। इनके सामने निम्नलिखित प्रमुख समस्याएँ थीं :

- (i) मशीनों का अभाव
- (ii) तकनीकी ज्ञान का अभाव
- (iii) प्रशिक्षित व्यक्ति का अभाव आदि

जिन क्षेत्रों में थोड़ा-बहुत औद्योगीकरण हुआ भी, उसका भारतीय अर्थव्यवस्था और भारतीय औद्योगीकरण पर कोई ज्यादा असर नहीं हुआ, न ही कोई लाभ मिला।

विज्ञान की शिक्षा क्यों?

औपनिवेशिक सरकार के 1813 के चार्टर में विज्ञान के प्रसार-प्रचार के लिए योजना बनायी गयी, परन्तु यह व्यावहारिक स्तर पर लागू नहीं हो पायी। इस योजना में भी कमियाँ थीं। यह योजना यह नहीं दर्शाती थी कि विज्ञान की किस व्यवस्था को प्रचारित-प्रसारित किया जायेगा-यूरोपीय या देशी। मैकाले की व्यवस्था से शिक्षा का माध्यम तो अंग्रेजी बन गया, परन्तु इस पाठ्यक्रम में विज्ञान की उपेक्षा की गई, क्योंकि स्वयं मैकाले को विज्ञान में कोई रुचि नहीं थी। इसीलिए जो पाठ्यक्रम लागू किया गया, वह शुद्ध साहित्यिक ही रखा गया।

विज्ञान की शिक्षा का विकास धीमा ही रहा और इसमें भी कई समस्याएँ थीं। सर्वप्रथम तो शिक्षा नीति ही इसकी समस्या का कारण थी क्योंकि अभी तक शिक्षा का उद्देश्य चरित्र निर्माण था। के.एम. चैटफील्ड जो कि एलफिन्सटन कॉलेज के प्रिंसिपल थे, ने कहा था कि प्रॉफेसर का पद वास्तव में ज्ञान के विकास के लिए शोध करता है और उसको पुष्ट बनाता है। लेकिन वे आगे कहते हैं कि इसके बजाय उनका उद्देश्य नवयुवकों की शिक्षा था और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए साहित्यिक शिक्षा को ही अपनाया गया। धन की कमी के कारण भी विज्ञान की शिक्षा को बढ़ावा नहीं मिला, क्योंकि सरकार विश्वविद्यालयों को विज्ञान की शिक्षा लागू करने के लिए पर्याप्त धन नहीं देती थी। भारत में अधिकारीगण पश्चिमी शिक्षा को ही आधार के रूप में देखते थे। वे चाहते थे कि भारत में जो शिक्षा का आधार बने, वह पश्चिम के स्तर पर हो। क्योंकि वे ब्रिटिश संस्थाओं को प्रत्येक क्षेत्र में आदर्श रूप में देखते थे, लेकिन वे उच्च तकनीकी और वैज्ञानिक शिक्षा भारत में लागू करने के लिए तैयार नहीं थे। थोड़ी-बहुत जो विज्ञान की शिक्षा को लागू किया गया, उसका माध्यम अंग्रेजी था, जो निम्न वर्गों की पहुँच से बाहर था और वह इससे वंचित ही हो सकता था।

ब्रिटेन ने भारत में जो शिक्षा सम्बन्धी नीतियाँ लागू कीं, उनकी आलोचना बड़े स्तर पर की जाती है। वास्तव में शिक्षा औपनिवेशिक शासन का एक महत्वपूर्ण अंग थी और इसे मजबूती प्रदान करती थी। औपनिवेशिक शासन का ही क्या, शिक्षा हर शासन का महत्वपूर्ण अंग होती है और उसे मजबूती प्रदान करती है। भारतीय इतिहासकारों ने, औपनिवेशिक शासन में शिक्षा देने के जो उपाय किये थे और उनका जो स्वरूप था, उस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करके इसे अलग-अलग नामों से सम्बोधित किया है। कुछ इतिहासकार इसे 'विजय का मुखौटा' कहते हैं, तो कुछ इतिहासकार इसे 'सांस्कृतिक आच्छादन' कहते हैं। लेकिन इतिहासकार एस. अम्बोराजन इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण मुद्दा उठाते हैं कि औपनिवेशिक सरकार की शिक्षा की यह योजना लागू करने के पीछे क्या यही उद्देश्य था? क्या उन्होंने शिक्षा को विजय के मुखौटे के रूप में इस्तेमाल किया या फिर इसके द्वारा संस्कृति का आच्छादन हुआ या फिर इसको लागू करने के पीछे कोई और मकसद काम कर रहा था। उनका मानना है कि शिक्षा नीति में दूरदर्शिता नहीं थी। यहाँ सिर्फ संयोग ही भविष्य का निर्धारण कर रहा था। नौकरशाही भी इस योजना में गति प्रदान करने में सहायक हुई, लेकिन नौकरशाही के सम्बन्ध में यह भी याद रखना जरूरी है कि यह एक औपनिवेशिक नौकरशाही थी और इसने अपनी प्राथमिकताओं में औपनिवेशिक सरकार की प्राथमिकताओं को ही समझा। इंजीनियरिंग की शिक्षा को लागू करने में भी भारत के साथ मतभेद किया गया। जहाँ ब्रिटेन में इसे नीचे के स्तर से लागू करके विश्वविद्यालय स्तर पर लाया गया, वहीं भारत में इसे ऊपर के स्तर अर्थात् विश्वविद्यालय स्तर पर लागू किया गया। फ्रांस में भी इंजीनियरिंग शिक्षा को ऊपर के स्तर पर लागू किया गया था, परन्तु उसके लक्ष्य और परिस्थितियाँ अलग थीं। जहाँ ब्रिटेन में इस शिक्षा को लागू करने के पीछे औद्योगीकरण को बढ़ावा देना था, वहीं भारत के लिए ऐसा कुछ नहीं सोचकर यह शिक्षा लागू की गयी थी। औपनिवेशिक सरकार ने भारत में शिक्षा का लक्ष्य भौतिक सुधार नहीं रखा, बल्कि यहाँ नैतिक विकास और चरित्र निर्माण को ही शिक्षा का लक्ष्य रखा गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में विज्ञान की शिक्षा को लागू करने में बाधाएँ आयीं और उसका विकास भी धीमा ही रहा। इसके मार्ग में शिक्षा नीति, पूँजी, अधिकारीगण आदि बाधा के रूप में सामने आये और यह शिक्षा उस स्तर को प्राप्त नहीं कर सकी, जिस स्तर पर यह ब्रिटेन में फैली और न ही इसके पीछे भारत का भौतिक विकास करने का लक्ष्य रखा गया। यह तो सिर्फ चरित्र निर्माण और नैतिकता के लिए छोटे स्तर पर लागू की गई थी।

तकनीकी शाखाएँ

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध के सम्बन्ध में यदि चर्चा की जाये, तो हम देखते हैं कि इस समय संस्थाओं का निर्माण होने लगा था। ये संस्थाएँ ज्ञान के क्षेत्र में किस प्रकार काम आयीं? इन्होंने ज्ञान के क्षेत्र में क्या योगदान दिया? यह जानने के लिए हम 19वीं सदी के

उत्तरार्द्ध में लिखे गये साहित्य को देखें, तो पता चलता है कि इन संस्थाओं ने

1. ज्ञान का आयात किया;
2. ज्ञान का विस्तार किया;
3. ज्ञान के विकास में योगदान दिया।

उपर्युक्त जो तीनों विशेषताएँ इन संस्थाओं की बताई गयी हैं क्या वे एकदम सही थीं? क्या ये संस्थाएँ वाकई ज्ञान का विस्तार कर सकती थीं? यह जानने के लिए हम दो संस्थाओं के सम्बन्ध में देखेंगे—टेलीग्राफ और रेलवे। टेलीग्राफ तो पूर्ण रूप से सरकारी कार्य के लिए प्रयुक्त होता था। वहीं रेलवे जो कि उच्च तकनीकी पर आधारित संस्था एक गारंटीशुदा मुनाफे पर आधारित थी और पूर्णतः ब्रिटेन के आयात पर निर्भर करती थी। तकनीकी स्तर पर रेलवे में ऐसा कुछ भी घटित नहीं हुआ, जो रेलवे उद्योग को प्रेरित करता। यान्त्रिक इंजीनियरिंग बाद में आयी और सार्वजनिक निर्माण विभाग में इसकी भूमिका उपेक्षित ही रही। सिंचाई के क्षेत्र में जो तकनीकें आयीं उन्होंने निश्चित रूप से बड़ी परियोजनाओं को लाभ पहुंचाया। इन सिंचाई तकनीकों से भारत को जो लाभ हुए, आर्थिक रूप से इन्होंने निर्भरता को बढ़ावा दिया या कम किया। यह सांख्यिकी आंकड़ों को देखने से ही पता लग पाता है। ये जो तकनीकें लागू की गई थीं, कुछ विशिष्ट उद्योगों के लिए ही शामिल की गई थी और इनका विकास या लाभ उतना नहीं हो पाया था जिससे कुछ महत्वपूर्ण परिणाम सामने आ पाते। तकनीकी का भौगोलिक स्तर पर भी फैलाव किया गया। लेकिन भारत के सम्बन्ध में तकनीकी का सांस्कृतिक स्तर पर फैलाव एक बहुत जटिल समस्या थी और फिर व्यावसायिक कॉलेजों का नियन्त्रण इस प्रकार किया गया था कि वे कोई परिवर्तन नहीं कर सकते थे और न ही उनको बढ़ावा दे सकते थे और फिर एक सबसे बड़ा कारण जो ज्ञान और तकनीकी को फैलाने या बढ़ावा देने में बाधा बना, वह था शिक्षा का माध्यम जो कि अंग्रेजी था। इस माध्यम में शिक्षा प्राप्त करना हर किसी के लिए सम्भव नहीं था। विशेषकर निचले वर्ग के लिए तो बिल्कुल नहीं। इसी कारण इस शिक्षा से ज्ञान को बढ़ावा नहीं मिल पाया, क्योंकि यदि हम जापान का उदाहरण लें, तो उन्होंने अपनी शिक्षा का माध्यम अपनी मूल भाषा को रखा, जिसका परिणाम यह हुआ कि ज्ञान और तकनीकी का फैलाव जनता के हर स्तर तक पहुँचा और उन्होंने उसे आसानी से ग्रहण किया व उसका लाभ उठाया।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारत में औपनिवेशिक शिक्षा का जो स्वरूप लागू किया गया, उसने दूरियों को बढ़ाया, क्योंकि अंग्रेजी माध्यम होने की वजह से शिक्षा पर एक विशिष्ट वर्ग का ही अधिकार बन पाया। निचला वर्ग इससे वंचित रहा। इस शिक्षा का एक परिणाम यह सामने आया कि इसने सदियों पुराने विभाजन को अधिक गहरा कर दिया और सरकारी संस्थाओं में भी विकास को एक नियन्त्रण के अधीन ही लागू किया गया। संस्थाओं के माध्यम से ज्ञान-तकनीकी के विकास को बढ़ावा तो मिला, परन्तु उसके ज्यादा सुखद परिणाम सामने नहीं आ सके।

भारतीय प्रतिक्रिया

भारतीय प्रतिक्रिया चाहे वह भारतीयों द्वारा शिक्षा, तकनीकी, सामाजिक सुधार आदि किसी सम्बन्ध में हो जो कि ब्रिटिश नीतियों के खिलाफ थी, एक सांस्कृतिक मुठभेड़ के रूप में ही देखा जाता है। यह दो संस्कृतियों का विरोधाभास थी। यह काफी तकलीफदेह भी रही। धीरे-धीरे औपनिवेशिक शासन और इस औपनिवेशिक शासन को झेलने वाले लोगों में भी स्थायित्व आया। औपनिवेशिक अब अपनी संस्कृति के सम्बन्ध में सोचने को मजबूर हुए, वे अब अपनी संस्कृति की उस तह तक जाना चाहते थे, जहाँ तक यह अभी बची हुई थी और साथ ही साथ वे यह भी जानने को उत्सुक थे कि हमारी कौन-सी परम्पराएँ इस औपनिवेशिक शासन के कारण नष्ट हो चुकी हैं। अब वे ऐसा सोचने लगे थे कि इस औपनिवेशिक शासन ने जो परिस्थितियाँ उनके सामने बना दी हैं उसमें कौन-सी छोड़ने लायक है और किसे अपनाया जा सकता है व किस हद तक अपनाया जा सकता है। अब इस औपनिवेशिक शासन की नीतियों के खिलाफ औपनिवेशिक सोचने लगे कि यह ठीक नहीं है और इसको समाप्त करने पर भी विचार किया जाने लगा।

हालाँकि ऐसा नहीं कि भारतीय जनता इस ज्ञान को, इन तकनीकी उपकरणों को अपनाना नहीं चाहती थी। वह इस आधुनिक ज्ञान, उपकरण तकनीक आदि को अपनाना चाहती थी, जो उसकी अन्दर से उत्पन्न हुई इच्छा का नतीजा थी और इसको बढ़ावा दिया ईसाई उदारवाद के संचयात्मक प्रभाव ने। व्यापारी वर्ग भी इसको लाभ की दृष्टि से देखते थे और वे पश्चिमी कला और विज्ञान के सम्बन्ध में यह मानते थे कि यह अच्छी है और आयात द्वारा आसानी से मंगाई जा सकती है। एक बार प्राप्त करने के बाद उसे अन्य चीजों की तरह आसानी से उपयोग किया जा सकता है। कुछ संभ्रांत वर्ग के लोगों ने इस औपनिवेशिक शासन को वरदान माना और उनका मानना था कि समाज में जो गहरी बुराईयाँ व्याप्त हैं, उनका निराकरण इस शासन द्वारा ही हो सकता है और उन्हें कोई अन्य प्रभावशाली तरीका नजर नहीं आता था।

राजा राममोहन राय और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर समाज सुधारक के रूप में उभरे। राजा राममोहन राय ने पश्चिमी ज्ञान और वेदान्त दोनों के महत्त्व को समझा। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर पश्चिमी ज्ञान के प्रशंसक थे। इनसे अलग बालशास्त्री जाम्भेकर और मास्टर रामचन्द्र ने गणित और विज्ञान की पढ़ाई को लोकप्रिय बनाने के लिए कार्य किया। बालशास्त्री जाम्भेकर तो प्रथम भारतीय थे, जो गणित और खगोलशास्त्र के प्रोफेसर बने। इन्होंने एलफिन्स्टन कॉलेज में पढ़ाया भी और दादाभाई नौरोजी उनके शिष्य थे। जाम्भेकर ने मराठी भाषा में विज्ञान को बढ़ावा देने के लिए काम किया। इन्होंने अंग्रेजी पुस्तकों का स्थानीय मराठी भाषा में अनुवाद किया, जिससे ये आम आदमी की समझ में आ सकें। इन्होंने दो मराठी पुस्तकों 'द थ्योरी ऑफ इक्वेशन्स' और 'द डिफरेंशियल एण्ड इन्टीग्रल कैल्कुलस'

का प्रकाशन भी किया। मास्टर रामचन्द्र ने दिल्ली में रहकर भारतीय जनता को बीजगणित का महत्त्व समझाने का प्रयास किया। इन लोगों के लिए अपनी स्वयं की विरासत से शुरू करना बिल्कुल स्वाभाविक था। प्राच्यवादियों ने भी इसी रणनीति को अपनाया। एल. विल्किनसन ने भारतीय विद्वानों द्वारा निकाली गयी पुस्तकों के महत्त्व को समझा और उसके सम्बन्ध में उन्होंने टिप्पणी की "भास्कर की कृतियाँ सब तुलना से परे हैं। ये हिन्दू प्रजा में शिक्षा, सभ्यता और सत्य को प्रोत्साहित करती हैं।" मास्टर रामचन्द्र ने अपनी पुस्तक 'प्रॉब्लम्स ऑफ मैक्सीमा एण्ड मिनिमा' जो 1850 में प्रकाशित की, में इन्होंने भास्कराचार्य से आगे खगोल शास्त्र के क्षेत्र में हुई प्रगति के सम्बन्ध में लिखा। ये प्रयास अधूरे ही रह गये। औपनिवेशिक सरकार इस देशी ज्ञान को अपने से सर्वोच्च मानने के लिए तैयार नहीं थी। वह अपने ज्ञान को ही सर्वोच्च मानती थी। वह देशी नींव पर इस आधुनिक विज्ञान की नींव को नहीं डालना चाहती थी अर्थात् वह अपने ज्ञान को सर्वोच्च मानकर इस देशी ज्ञान की हमेशा उपेक्षा करती थी।

लेकिन ये प्रयास चाहे अधूरे रह गये हों, परन्तु इनसे एक लाभ यह हुआ कि जाम्भेकर और रामचन्द्र द्वारा विज्ञान के सम्बन्ध में जो भी स्थानीय भाषाओं में लिखा गया, वह विज्ञान को लोकप्रिय बनाने में सहायक हुआ और लोगों की समझ में अब विज्ञान का मतलब आना शुरू हो गया था। रामचन्द्र और जाम्भेकर ने अपनी-अपनी पत्रिकाएँ भी प्रकाशित कीं और दोनों अपनी-अपनी नेटिव एजुकेशन सोसायटी के लिए काम करते थे। दोनों असीम उत्साही अनुवादक थे। वे अंग्रेजी पुस्तकों का भारतीय स्थानीय भाषाओं में अनुवाद करते थे जिससे लोगों में उसकी समझ बने क्योंकि अंग्रेजी सभी को समझ में नहीं आती थी। इनकी आलोचना करते हुए दिल्ली एजुकेशन सोसायटी की एक सभा में एक अंग्रेज पादरी ने कहा था कि कोई भी समाज अनुवादों के माध्यम से ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। इसका जवाब देते हुए रामचन्द्र ने कहा था कि यूरोप भी अनुवादों के माध्यम से ही ज्ञान के क्षेत्र में विकसित हुआ है, क्योंकि ज्ञान का केन्द्र यूनान से मुस्लिम राज्यों की तरफ खिसका है। लेकिन रामचन्द्र का यह कथन उतना सत्य नहीं हो सका जितना वे चाहते थे, क्योंकि रामचन्द्र और फिर सर सय्यद अहमद खाँ ने जो अनुवाद की गतिविधियाँ चलायी थीं, वे ज्यादा दिन नहीं चल सकी और अन्त में ये धीरे-धीरे समाप्त होती चली गयीं।

19वीं शताब्दी के मध्य में सांस्कृतिक संश्लेषण पर जोर दिया जाने लगा और इसके लिए लोगों ने काम भी किया, ताकि इसको बढ़ावा मिल सके। अक्षय कुमार दत्त ने पश्चिमी विज्ञान के भारतीयकरण के लिए काम किया। इस काल की कई पत्रिकाओं का उद्देश्य भी यही था। ऐसी पत्रिकाओं में सम्वाद प्रभाकर, तत्त्वबोधिनी, आदि के नाम लिए जा सकते हैं। इस सांस्कृतिक विश्लेषण से यह फायदा हुआ कि औपनिवेशिक शासन द्वारा जो अड़चनें पैदा की गई थी, उनको पार करने की एक आशा दिखाई

166 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

देने लगी। यह ज्ञान मीमांसा के बहुवादी हिन्दू सिद्धान्त के साथ भी मेल खाता था। इसीलिए इस सांस्कृतिक विश्लेषण की आवाज बुलन्द हुई। सर फ्रांसिस बेकन, ऑगस्ट काम्पे आदि विद्वानों ने भारतीयों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया, लेकिन स्थानीय चिंतकों और विद्वानों के सामने एक समस्या यह भी थी कि वे यह नहीं समझ पा रहे थे कि भारतीय संस्कृति में जो मान्यताएं परम्परा से प्रचलित हैं, उनके साथ प्रयोगात्मक और तर्कसंगतता का तालमेल कैसे बिठाया जाये। इन्होंने इस तालमेल को बिठाने के कई तरीके अपनाये; जैसे :

- (i) नकल से
- (ii) अनुवाद से
- (iii) सम्मिश्रण से
- (iv) परिबोध से
- (v) गुण-दोष विवेचन करके
- (vi) एकान्तवास आदि।

परन्तु इनको अधिक सफलता नहीं मिली, उनको सिर्फ निराशा ही हाथ लगी, और यह सांस्कृतिक संश्लेषण एक कठिन कार्य ही बना रहा। परन्तु इससे एक फायदा जरूर हुआ कि इसे पहचान के लिए बढ़ावा मिला। 1860-80 के दौरान कई लेखकों ने आधुनिक वैज्ञानिक तर्कसंगतता को देशी परम्पराओं और आवश्यकताओं के लिए स्पष्ट करने की कोशिश की। उदाहरण के लिए हम बंकिमचन्द्र चटर्जी का जिक्र कर सकते हैं, जिन्होंने 'विज्ञान रहस्य' लिखा और उनका यह लेख बंग दर्शन अखबार में प्रकाशित हुआ। एक अन्य लेख उन्होंने 'धूला' लिखा, जिसमें जॉन टिन्डाल की पुस्तक "डस्ट एण्ड डिजीज" की मदद ली गयी।

एक अन्य लेखक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने मशीनों के प्रभाव के बारे में लिखा। उनकी खुद की रुचि भी इन मशीनों में थी। इन्होंने इसे व्यवहार से जोड़कर प्रस्तुत किया। बंकिमचन्द्र द्वारा इस प्रकार के लेखन में हमें पुरानी धार्मिक मान्यताएँ भी देखने को मिलती हैं। इन्होंने हिन्दुओं की त्रिदेव की धारणा को नकारा, लेकिन डार्विन के प्राकृतिक चयन के सिद्धान्त से किसी हद तक सहमत नजर आते हैं। इस अवधि के बारे में जिन लेखकों ने लिखा, उनके लेखों में दो बातें समान्य तौर पर नजर आती हैं :

(1) यह अनुवादों का युग था-इस समय जो सभाएं, स्कूल, पुस्तकें आदि बन रही थीं वे मूलतः अनुवाद पर आधारित थीं। ऐसा नहीं था कि ये अनुवाद समाज को कुछ नहीं दे पा रहे थे। ये अनुवाद महत्वपूर्ण थे और इन्होंने वैज्ञानिक धारणाओं को लोकप्रिय बनाने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। लेकिन इन अनुवादों की सबसे बड़ी कमी यह रही कि ये अनुवाद शोधों के साथ-साथ नहीं चल पाये। इनमें से थोड़े-बहुत साथ-साथ जरूर चले, परन्तु इसका कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। ये अनुवाद गौण, सतही और सीमित मूल्य के अनुवाद मात्र बनकर रह गये। लेकिन इन अनुवादों ने एक अच्छा काम किया कि इन्होंने जनता की रुचि

वैज्ञानिक क्षेत्र में बढ़ा दी। एशियाटिक सोसाइटी के सदस्य राजेन्द्रलाल मित्र ने यूरोपीय वैज्ञानिक शब्दावली को देशी भाषा में प्रस्तुत करने की योजना बनायी। उन्हें यह प्रेरणा वैनलटाइन से मिली थी। किसी वैज्ञानिक साहित्य द्वारा अबाधित भारत की देशी भाषाओं में वह राष्ट्रीय और आदर्श की सुरक्षा करना चाहते थे, परन्तु उनके प्रयास केवल कल्पना तक ही सीमित रह सके, क्योंकि इनके प्रयास चाहे कितने ही उचित थे, परन्तु सीमित और त्रुटिपूर्ण साधनों के कारण वे आगे नहीं बढ़ सके।

2. परम्परा का चुम्बकीय खिंचाव-औपनिवेशिक सरकार ने एक छोटे-से रूप में भी कभी भी पूर्व की और चिन्तन की हिन्दू तकनीकी की प्रशंसा नहीं की, बल्कि समय-समय पर हतोत्साहित ही किया। इस पूर्व की भावना की उन्होंने कद्र नहीं की और इसके सामने अपनी सर्वोच्चता को ही दर्शाया। भारत को सिर्फ आध्यात्मिक मामलों की सभ्यता के रूप में ही वर्णित किया गया। भारतीयों को भी यह अच्छा लगता था। यदि प्रत्यक्षवादियों और ब्रह्म समाजियों के तर्क को देखा जाये, तो वे तर्क और अवलोकन पर बल देते थे। ऐसा नहीं था कि वे ईश्वर को नहीं मानते थे। वे नैतिकता और आध्यात्म में भी विश्वास करते थे। परन्तु उन्होंने किसी भी तरह आधुनिक विज्ञान को एक विदेशी आयात के रूप में नहीं माना। डार्विनवाद को भारत में लाया तो गया, परन्तु इसके केन्द्र में स्थित धार्मिक विषयों के सम्बन्ध में भारत में कोई धारणा नहीं विकसित हो सकी। विज्ञान के नये प्रतिमानों को आसानी से स्वीकार किया जाता था। धीरे-धीरे उपनिवेशवाद को सांस्कृतिक हमले के रूप में देखा जाने लगा, जिसको समाप्त करना था और इसके प्रति उदासीनता पैदा करके इसे वापस भेजना था।

(3) निर्भरता से स्वतंत्रता की ओर-1869 में 'भारत के देशी लोगों द्वारा विज्ञानों का संवर्धन करने की वांछनीयता' शीर्षक से एक लेख महेन्द्रलाल सरकार ने लिखा। यह शीर्षक महत्वपूर्ण था, क्योंकि महेन्द्रलाल सरकार ने इस लेख के माध्यम से एक विवादास्पद विचार के खिलाफ तर्क रखा था कि हिन्दू मस्तिष्क अधिभौतिक था। साथ ही इन्होंने विज्ञानों के संवर्धन के लिए मौलिक शोध पर बल दिया। उन्होंने अपने लेखों के माध्यम से बताया कि हम एक ऐसी संस्था चाहते हैं, जो रॉयल इन्स्टीट्यूशन ऑफ लंदन और ब्रिटिश एसोसिएशन फॉर द एड्वांसमेंट ऑफ साइंस की विशेषताओं, कार्यों और उद्देश्यों पर आधारित हो। वह भारत के लिए उसी प्रकार कार्य करे, जिस प्रकार ये संस्थाएं लंदन के लिए करती हैं और यह संस्था पूर्णतः भारतीयों के नियन्त्रण में हो। यह स्वतंत्र होकर भारतीयों के लिए कार्य करे और पूर्ण रूप से देशी और राष्ट्रीय संस्था हो।

जब अप्रैल, 1875 में सम्पूर्ण भारत की विज्ञान संस्था 'भारतवर्षीय विज्ञान सभा' का निर्माण किया गया, तो इसके निम्नलिखित उद्देश्य रखे गये :

1. कलकत्ता में एक सोसायटी गठित की जायेगी, जिसकी शाखाएं देश के अन्य शहरों में भी होंगी और इन सोसायटियों में विज्ञान विषयों पर चर्चा की जायेगी।
2. भारतीयों को विभिन्न वैज्ञानिक विषयों में शिक्षित करना और विज्ञान सम्बन्धी सभी प्राचीन भारतीय पुस्तकों का प्रकाशन करना।

1876 में एक महत्वपूर्ण बदलाव और आया, जब कलकत्ता में काफी प्रयासों और विवादों के बाद 'इण्डियन एसोसिएशन फॉर कल्टीवेशन ऑफ द साइंस' नामक संस्था बनायी गयी। यह एक आहत मानव द्वारा बल देकर स्वयं अपने पैरों पर खड़ा होने का दृढ़ प्रतीक था। राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण भी इस दिशा में प्रगति हुई, क्योंकि राष्ट्रीय आन्दोलन में इसके दो उद्देश्य रखे गये थे :

1. शुद्ध विज्ञान और तकनीकी शिक्षा को बढ़ावा देना, वे भी राष्ट्रीय नियन्त्रण और राष्ट्रीय दिशा में।
2. देश का औद्योगीकरण और भौतिकवाद का विकास।

भारतीयों द्वारा 1904 में एक एसोसिएशन बनायी गयी, जिसके उद्देश्य थे :

1. औद्योगिक शिक्षा के विकास को बढ़ावा देना।
2. विज्ञान आधारित उद्योगों का अध्ययन करने के लिए योग्य छात्रों को यूरोप, अमेरिका और जापान भेजना।

भारतीयों द्वारा विज्ञान के क्षेत्र में हो रहे नस्लभेद की भर्त्सना की गयी और इसके खिलाफ तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की गई, क्योंकि भारतीयों से निम्न प्रकार से विज्ञान के क्षेत्रों व अन्य क्षेत्रों में भेदभाव बरते जाते थे :

- (i) भारतीय वातावरण को उच्च शिक्षा और शोध के लिए अनुकूल बनाने के लिए कोई प्रयास नहीं किया गया था।
- (ii) भारतीयों को केवल अधीनस्थ पदों तक ही रखा जाता था।
- (iii) जिन भारतीयों ने अपनी पहचान विदेशों में भी बना ली हो, परन्तु उसे उसी ग्रेड और स्तर पर रखा जाता था, जहाँ वह ब्रिटिश अधिकारी के अधीनस्थ रह सके।

लेकिन भारतीयों ने इसके खिलाफ अपनी आवाज उठायी। जैसे-जे.सी. बोस ने तीन साल तक कम वेतन स्वीकार नहीं किया, जब तक रॉयल सोसाइटी द्वारा जे.सी. बोस को मान्यता नहीं दे दी गयी। उनके काम को उनका निजी काम माना गया और कॉलेज की तरफ से उन्हें कोई सुविधा नहीं दी गयी। जे.सी. बोस एक जाने-माने वैज्ञानिक थे। उन्होंने भौतिक वैज्ञानिक के रूप में शुरुआत की, लेकिन वे विद्युतीय प्रतिक्रियाओं में रुचि होने के कारण वे पौधों के शरीर क्रिया विज्ञान की दिशा में बढ़ गये। बोस ने अपने लिए जगह बनाने के लिए संघर्ष किया, क्योंकि उस समय महानगरीय वैज्ञानिक दायरों में जगह बनाना आसान काम नहीं था, क्योंकि औपनिवेशिक सरकार की नीतियाँ ठीक नहीं थीं। लेकिन

बोस ने संघर्ष किया और अन्त में उन्हें अपने काम में विजय मिली। इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण हमें पी.सी. रे का मिलता है। इन्होंने भी अपने क्षेत्र में जगह बनाने के लिए संघर्ष किया और अन्त में इन्हें इस्तीफा देना पड़ा, क्योंकि इनसे दस साल जूनियर को निदेशक का पद दे दिया गया था और उनकी उपेक्षा की गई थी।

इस प्रकार की समस्याएँ एक या दो नहीं थी, पूरे देश में व्याप्त थीं और इन समस्याओं के निराकरण के लिए अब राजनैतिक पहल भी होने लगी थी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भी अपने तीसरे अधिवेशन में तकनीकी शिक्षा सम्बन्धी मुद्दा उठाया और इसके बाद तो कांग्रेस हर साल अपने अधिवेशन में इस मुद्दे को उठाती और उसे पास कराती थी, क्योंकि सरकार तकनीकी शिक्षा के नाम पर निम्न स्तर का व्यावहारिक प्रशिक्षण ही प्रदान करती थी, जो किसी काम के नहीं होते थे। भारतीय चिकित्सा सेवा भी कोई अच्छी नहीं थी, इसकी भी आलोचना हुई। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने अधिवेशनों में हर क्षेत्र के मुद्दे को उठाया चाहे वह शिक्षा, कृषि, खनन या अन्य क्षेत्रों से जुड़ा मुद्दा हो।

इस युग में भारतीय परिप्रेक्ष्य में हो रही गतिविधियाँ जो भारतीयों के हितों के लिए हो रही थीं, उनमें दो विशेषताएँ अधिक महत्वपूर्ण थीं—

1. स्वदेशी के प्रतिपादकों ने अपना प्रेरणास्रोत जापान को माना।
2. कई बार पुनर्जीवनवादी रुझान दिखाये गये।

जापान एक सशक्त औद्योगिक शक्ति के रूप में उभरा था और 1904-05 में उसने रूस पर विजय प्राप्त की थी। यही एशियाई देशों के लिए बहुत बड़ी बात थी कि एक देश इतनी तरक्की कर रहा है और वे गुलाम बने हुए हैं।

भारतीयों के लिए अपने खोये हुए आत्मसम्मान को प्राप्त करना बहुत जरूरी था और अपनी पहचान को दृढ़ता से स्थापित करना भी उनका एक जरूरी कार्य था और इस पहचान को बनाने व अपने खोये हुए आत्मसम्मान को पाने के लिए भारतीयों के पास एक सबसे अच्छा और सुलभ तरीका था कि वे अपने अतीत को टटोलें, उसे पहचानें और उससे शिक्षा लें। इस पहचान की तलाश में पी.एन. बोस ने काम किया। उन्होंने अपनी एक पुस्तक लिखी जिसका नाम 'ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दू सिविलाइजेशन' रखा। जे.सी. बोस ने अपने उपकरणों के नाम संस्कृत में रखे, जैसे-कंचन ग्राफ, सोशुनग्राफ आदि। विज्ञान को लोकप्रिय बनाने और ब्रिटिश सर्वोच्चता के झण्डे को नीचा करने के लिए एक तरीका यह भी दिखाया गया कि जो कुछ पश्चिमी विज्ञान में है, वह प्राचीन भारत में पहले से मौजूद था। ऐसे उदाहरण हमें रमेन्द्र सुन्दर त्रिवेदी द्वारा लिखी गयी पुस्तक विचित्र जगत और उनके लेख जिसमें डार्विन की चर्चा करते हुए वे गीता पर खत्म करते हैं, में देखने को मिलती है। लेकिन ये प्रयास उत्तेजक थे। लेकिन इनसे भारतीय जनता को एक उम्मीद की किरण जरूर नजर आने लगी थी। 1904 के विश्वविद्यालय

168 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

अधिनियम में यह इजाजत दी गई थी कि भारतीय विश्वविद्यालय अध्यापन संस्थाओं की बजाय अध्यापन और शोध सम्बन्धी संस्था को संचालित कर सकते हैं। इसका लाभ भारतीयों ने उठाया और यह इसी का परिणाम था कि कलकत्ता में एक यूनिवर्सिटी कॉलेज की स्थापना सर आशुतोष मुखर्जी द्वारा की गई और इस कॉलेज में जाने-माने विद्वानों ने अध्यापन कार्य किया जिनमें पी.सी. रे, सी.वी. रमन, एस.एन. बोस, के.एस. कृष्णन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। यह कॉलेज हमेशा वित्तीय परेशानियों झेलता रहा, परन्तु इस कॉलेज ने अपने को बनाये रखा और इसने बहुत-से ऐसे भौतिकशास्त्री और रसायनशास्त्री दिये जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अच्छी-खासी प्रसिद्धि मिली और इसके द्वारा तैयार ये लोग उन यूरोपियनों से बेहतर साबित हुए जो सरकारी वैज्ञानिक संगठन में यूरोपियनों के लिए काम करते थे। उनको वेतन भी इनसे अधिक मिलता था। इस कॉलेज का प्रयास बहुत महत्वपूर्ण रहा।

तत्कालीन भारत वैज्ञानिकों के मामले में कंगाल नहीं कहा जा सकता। उस समय भी कई ऐसे वैज्ञानिक हुए जिन्होंने भारत को प्रसिद्धि दिलायी और उनकी खोजों द्वारा आविष्कारों को पूरे विश्व ने माना। ऐसे वैज्ञानिकों में हम निम्नलिखित वैज्ञानिकों की चर्चा कर सकते हैं :

- (i) जे.सी. बोस : इन्होंने सजीव और निर्जीव पदार्थों पर विद्युत द्वारा उत्पन्न अणु-स्तरीय घटनाओं का अध्ययन किया।
- (ii) रामानुजन : ये गणित के महान विद्वान हुए और इन्होंने गणित के क्षेत्र में अनेक उपलब्धियाँ हासिल कीं।
- (iii) पी.सी. रे : इन्होंने कई ऐसे दुर्लभ भारतीय खनिजों की खोज की, जिनका पहले पता नहीं था और मैडलीफ द्वारा तैयार की गई आवृत्त सारणी में भी इन्होंने कई अज्ञात तत्वों की खोज की।
- (iv) सी.वी. रमन : भारतीय वैज्ञानिकों में एक चमकता नाम था और इन्होंने प्रकीर्णन पर शोध किया। उनके इस शोध को दुनियाँभर में सराहा गया और उनकी इस महान उपलब्धि के लिए उन्हें 1930 में नोबेल पुरस्कार दिया गया।
- (v) के.एस. कृष्णन: धातुओं के विद्युतीय प्रतिरोध पर अपने सिद्धान्त दिये, जिन्हें बहुत सराहना मिली।
- (vi) मेघनाद साहा: खगोलीय भौतिकशास्त्र के क्षेत्र में इनका योगदान महत्वपूर्ण रहा। आज भी खगोलीय भौतिकशास्त्र के वैज्ञानिकों के लिए इनके सिद्धान्त मार्गदर्शन का काम करते हैं।
- (vii) एस.एन. बोस: इन्होंने आइन्स्टाइन के साथ काम किया और बोस. आइन्स्टाइन समीकरणों को बनाया।
- (viii) डी.एन. वाडिया: ये भू-गर्भशास्त्री थे। इस क्षेत्र में इन्होंने जो उपलब्धि हासिल की, उसकी कोई सानी नहीं है।

(ix) बीरबल साहनी: ये जीवाश्म-वनस्पतिशास्त्री थे और वनस्पति के क्षेत्र में इनका योगदान उल्लेखनीय रहा है।

(x) पी.सी. महालनोबिस को उनके सांख्यिकीय क्षेत्र में उनकी उपलब्धियों के लिए जाना जाता है।

(xi) एस.एस. भटनागर ने रसायनशास्त्र में महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हासिल कीं।

इन वैज्ञानिकों के साथ एक जो महत्वपूर्ण बात जुड़ी थी वह थी कि इन्होंने अपने व्यक्तिगत योगदान के अलावा अध्यापन और शोध निर्देशन के क्षेत्र में भी काम किया था, जो इनको महानता की उस ऊँचाई पर पहुँचाता है, जहाँ हर कोई नहीं पहुँच सकता।

उस समय भारत में कुछ वैज्ञानिक संस्थाएँ भी स्थापित की गई थीं, जिसमें से कुछ तो इन वैज्ञानिकों द्वारा और कुछ अन्य लोगों द्वारा स्थापित की गई थीं। इनमें से प्रमुख थीं :

- (i) बोस इंस्टीट्यूट (1917)
- (ii) नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ साइन्स (1934)
- (iii) इण्डियन एकेडमी ऑफ साइन्स (1934)
- (iv) शीलाधर इंस्टीट्यूट ऑफ रॉयल साइन्स (1963)
- (v) बीरबल साहनी इंस्टीट्यूट ऑफ पेलियो बॉटनी, आदि

ये संस्थाएँ आने वाले भारतीय वैज्ञानिकों के लिए प्रेरणा व मार्गदर्शक बनीं। 1914 में ब्रिटिश एसोसिएशन फॉर द एडवान्समेंट ऑफ साइन्स के आदर्शों पर और उसके जैसे ही लक्ष्यों को ध्यान में रखकर इंडियन साइन्स कांग्रेस बनाई गई। यह संस्था एक वार्षिकी वैज्ञानिक सभा के रूप में काम करती थी। इसकी एक साल में एक सभा होती थी, जिससे कि देशभर के वैज्ञानिकों को एक दूसरे के निकट लाया जा सके और उनके विचारों का आदान-प्रदान हो सके। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान परिस्थितियाँ और बदलीं और सरकार यह महसूस करने लगी कि भारत को वैज्ञानिक और औद्योगिक दृष्टि से और अधिक आत्मनिर्भर होना चाहिए। इसी कारण 1916 में एक औद्योगिक आयोग का गठन किया गया। इसको यह काम सौंपा गया कि यह उन बिन्दुओं की पहचान करे जिससे भारत की ब्रिटेन पर औद्योगिक निर्भरता कम हो सके। इस आयोग ने जो सिफारिशें कीं, उनका कार्यक्षेत्र विस्तृत था और उसमें औद्योगिक विकास की बहुत-सी सम्भावनाएँ थीं। लेकिन इस आयोग की सभी सिफारिशों को सरकार द्वारा लागू नहीं किया गया। केवल कुछ ही सिफारिशों को सरकार वास्तविक रूप में लागू कर पायी। लेकिन सरकार नहीं चाहती थी कि भारत में नये इंस्टीट्यूट और नयी वैज्ञानिक संस्थाएँ बनायी जायें। यहाँ औपनिवेशिक सरकार और भारतीय राष्ट्रवादियों के अधिकतर मामलों में छतीस का आंकड़ा ही रहा। ऐसा देखा गया कि जब भी भारतीयों द्वारा नये इंस्टीट्यूट या संस्था बनाने की मांग सरकार से की गई, सरकार ने धनराशि या मांग अपर्याप्त होने का बहाना करके उसे ठण्डे बस्ते में डाल दिया। इस प्रकार औपनिवेशिक सरकार ने भारतीयों के इस क्षेत्र में दबे रहने में ही सहयोग किया।

20वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुए विकास-कार्यों को देखा जाये, तो इस समय हमें विचारधाराओं में अन्तर नजर आता है। यहाँ लघु और बड़े परम्परागत और आधुनिक विचारधाराओं में लोगों को बंटा देखा जाता है। जहाँ कुछ लोग परम्परा को बनाये रखना चाहते थे, वहीं कुछ लोग आधुनिकता के समर्थक थे। यहाँ तक कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में भी इस बात पर लोग दो खेमों में बंटे हुए नजर आते हैं। जब महात्मा गांधी ने कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देने के लिए अभियान चलाया, तो कुछ लोगों ने इससे असहमति जाहिर की। एम.एन. साहा ने आर्थिक विकास की गांधीवादी नीति का विरोध किया और उन्होंने बड़े स्तर के उद्योगों का समर्थन किया। वहीं पी.सी. रे यह मानते थे कि वैज्ञानिक प्रगति के लिए प्राथमिक शिक्षा और परम्परागत उद्योग को बनाये रखना आवश्यक है। एम. एन. साहा ने सुभाष चन्द्र बोस को अपने विचार बताये। जब सुभाष चन्द्र बोस 1938 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष बने, तो उन्होंने साहा के अनुरोध पर ही राष्ट्रीय योजना और औद्योगीकरण को कांग्रेस के एजेंडे में सबसे बड़ा मुद्दा बनाना स्वीकार कर लिया। इस नीति को आगे बढ़ाते हुए सुभाष चन्द्र बोस ने इस दिशा में काम किया और इसके परिणामस्वरूप 1938 में नेशनल प्लानिंग कमिटी का गठन हुआ जिसकी अध्यक्षता पं. जवाहरलाल नेहरू को सौंपी गई। इस कमिटी की 29 उपकमेटियाँ बनायी गईं, जो अलग-अलग तकनीकी विषयों से सम्बन्धित थीं; जैसे—सिंचाई, उद्योग, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि। तकनीकी विश्वविद्यालय समिति बनाई गई, जिसकी अध्यक्षता एम.एन. साहा ने की और इस समिति के सदस्य थे :

- (i) बीरबल साहनी
- (ii) जे.सी. घोष
- (iii) जे.एन. मुखर्जी
- (iv) एन.आर. धर
- (v) नजीर अहमद
- (vi) एस.एस. भटनागर
- (vii) ए.एच. पांड्या

इस समिति का मुख्य लक्ष्य यह पता लगाना था कि तकनीकी स्तर पर विद्वान व्यक्ति देने के मौजूदा तन्त्र कि तना सक्षम है। साथ ही साथ इस समिति को मौजूदा संस्थाओं की गतिविधियों का पुनरावलोकन भी करना था।

द्वितीय विश्व युद्ध जब शुरू हुआ, तो सरकार के समक्ष अब चुनौती के रूप में यह समस्या आयी कि युद्ध के द्वारा उत्पन्न चुनौतियों का सामना करने के लिए औद्योगिक आत्मनिर्भरता को कैसे बनाये रखा जाये। इसके लिए एक केन्द्रीय शोध संगठन की स्थापना की जरूरत पड़ी। अन्त में 1942 में काउंसिल ऑफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च की स्थापना की गई। युद्ध के बाद सरकार द्वारा रॉयल सोसाइटी के ए.बी. हिल को यह जानने के लिए बुलाया गया कि भारत के शोध क्षेत्र में कौन-कौन सी अड़चनें आ रही हैं। उन्होंने अपनी रिपोर्ट तैयार करके सरकार को सौंपी।

इस तरह के जो कदम औपनिवेशिक सरकार द्वारा उठाये गये थे, उनका फायदा भारतीयों को यह हुआ कि नीति-निर्माण और वैज्ञानिक मामलों में भारतीयों को अधिक अवसर प्राप्त होने लगे।

सारांश

औपनिवेशिक शासन का भारत के सम्बन्ध में जो उपर्युक्त वर्णन किया गया है उससे ऐसा ही लगता है कि इस शासन के अन्तर्गत भारत के लिए किसी वैज्ञानिक प्रगति और विज्ञान के विकास की कोई आशा नहीं थी, क्योंकि इस विदेशी शासन ने कभी उसके विकास के लिए कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाये। इस परिस्थिति में विज्ञान की दिशा में जो थोड़े-बहुत विकास कार्य हुए, वे औपनिवेशिक शासन ने अपने आर्थिक लाभों को ध्यान में रखकर ही किये, क्योंकि भारतीयों द्वारा जब भी किसी नयी संस्था या इंस्टीट्यूट को स्थापित करने की बात सरकार के समक्ष रखी गई, सरकार ने उसको स्वीकार नहीं किया। कभी धनराशि का बहाना तो कभी मांग की अपर्याप्तता का बहाना बनाकर उसे छोड़ दिया गया। इस आर्थिक विकास को ध्यान में रखकर जो वैज्ञानिक आयात किये जाते थे, वे कोई मूलभूत बदलाव लाने में कामयाब नहीं हो सकते थे। लेकिन कुछ औपनिवेशिक वैज्ञानिकों ने कुछ महत्वपूर्ण कार्य किये, जिसके कारण विज्ञान का थोड़ा-बहुत विकास भारतीय परिप्रेक्ष्य में हो पाया। लेकिन उनकी गतिविधियाँ भारतीयों को विज्ञान से परिचित कराने में ज्यादा सफल नहीं हो सकीं। कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि इस औपनिवेशिक शासन में विज्ञान का जो रूप था, उससे शोषण और अल्पविकास को ही बढ़ावा मिला। क्योंकि भारतीयों के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार किया जाता था। और वातावरण उच्चतम शिक्षा और उससे भी कम शोध के लिए अनुकूल नहीं था। भारतीयों को केवल अधीनस्थ पदों तक ही रखा जाता था। इसमें हम पी.सी. रे और जे. सी. बोस के उदाहरणों को देख सकते हैं।

लेकिन सरकार की ये जो नीतियाँ चल रही थीं, इनके पीछे भारतीय भी चुप नहीं रहे। उन्होंने भी सरकार की इन नीतियों के कारण विज्ञान से मुँह नहीं मोड़ा और उसे जानने-समझने की उनकी इच्छा हमेशा रही। विश्वविद्यालयों में विज्ञान विषय को अच्छी प्रगति मिली। चिकित्सा और इंजीनियरिंग के क्षेत्रों में भी अच्छे विद्यार्थी आये और इनकी संख्या भी अच्छी रही। सरकार ने भारतीय वैज्ञानिकों को वैज्ञानिक विभागों में प्रवेश से काफी लम्बे समय तक रोके रखा। सरकार भारतीय प्रतिभाओं को आगे बढ़ने का मौका नहीं देना चाहती थी, लेकिन भारतीयों ने इस चुनौती को स्वीकार किया और कई वैज्ञानिक संस्थाएँ स्थापित कीं; जैसे—बोस इंस्टीट्यूट, नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस, इण्डियन एकेडमी ऑफ साइंस, शीलाधर इंस्टीट्यूट ऑफ रॉयल साइंस, बीरबल साहनी इंस्टीट्यूट ऑफ पेलियो बॉटनी आदि। भारतीयों के प्रयासों से यह लहर आगे बढ़ी और भारतीयों ने इन इंस्टीट्यूटों के अलावा

170 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

शोध प्रबंध, पत्रिकाएँ आदि प्रकाशित कीं और जनता को विज्ञान से अवगत कराने का प्रयास किया। इस का परिणाम यह हुआ कि भारतीय किसान जो रूढ़िवादी प्रवृत्ति के थे, उन्होंने भी इन परिवर्तनों को समझा और इन्होंने उन नये उपकरणों को प्रयोग करने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई, जो नये आविष्कारों पर आधारित थे। बस वे उनके लाभ के हों और उन्हें आसानी से उपलब्ध हो सकें। समस्या भारतीय संस्कृति की जड़ता या उसकी रूढ़िवादिता की नहीं थी, समस्या उचित तकनीक, आर्थिक रूप से इसका व्यवहार और यह जो वैज्ञानिक मनोवृत्ति की आम आदमी से सामंजस्य बैठाने की थी। इसके लिए भारतीयों ने अपना पूरा प्रयास किया, जो काफी हद तक सफल भी रहा।

अभ्यास-प्रश्न

प्रश्न 1. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए:

1. जेसूइट्स 2. मान्यू 3. ऑटोमन 4. सफविद।

उत्तर-1. जेसूइट्स: ये इग्नेशियस लोचोला और उसके 9 साथियों द्वारा स्थापित की गई सोसाइटी ऑफ जीसस से सम्बन्धित थे, जिसकी स्थापना इन्होंने 1540 में की थी। भारत में जेसूइट्स का इतिहास संत फ्रांसिस जेवियर जो कि स्पेनिश थे, से शुरू होता है। ये भारत के पश्चिमी तट गोवा पर 1543 में पहुँचे थे।

2. मान्यू: यह जूरचेन का एक आदिवासी समूह था। इन्होंने अपना स्वयं का राजवंश जिन (1115-1234) मंचूरिया में लिआओ को राजवंश उखाड़कर स्थापित किया। लेकिन यह राजवंश अधिक समय तक न चला और जल्दी ही इनको ओगेताई खान द्वारा हरा दिया गया और ये यूआन राजवंश के अंश बन गये।

3. ऑटोमन: इस राजवंश का उदय तेरहवीं शताब्दी में हुआ था। इस राजवंश का संस्थापक उस्मान था। यह काथिद्र कबीले की शाखा का नेता था। यह कबीला भी मध्य एशिया के तुर्की कबीले का हिस्सा था। इस कबीले का नाम था ओघुज़। यह ओघुज़ उन तुर्की समूहों में एक था, जो मंगोल आक्रमणों से बचने के लिए पश्चिम की ओर पलायन कर गये थे, जो कमजोर बाइजन्टाइन साम्राज्य के लिए खतरा बने। ऑटोमन शासक मेहमत ने बाइजन्टाइन शासक को हराया था।

4. सफविद: इस राजवंश का संस्थापक इस्माइल था। 1502 में यह ईरान के शाह के रूप में सिंहासन पर बैठा था। सफविदों ने मुसलमानों के शिया धर्म को ईरान में राजधर्म के रूप में अपनाया था। शाह अब्बास इस वंश का महानतम शासक हुआ। इसने इस्फहान को अपनी राजधानी बनाया। शाह अब्बास प्रथम तक इस राजवंश की ख्याति रही परन्तु शाह अब्बास द्वितीय के शासन के अन्तिम वर्षों में यह राजवंश पतन के गर्त में जाना शुरू हो गया था।

प्रश्न 2. भारत में विज्ञान की शिक्षा के प्रति औपनिवेशिक नीति की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।

उत्तर-भारत में विज्ञान को कभी भी महत्वपूर्ण तरीके से किसी भी शिक्षा योजना में नहीं लागू किया गया। औपनिवेशिक भारत में लागू ब्रिटिश औपनिवेशिक जितनी भी शिक्षा नीति लागू की गई, उनमें विज्ञान का स्थान हमेशा गौण ही रखा गया। जैसा कि हम देखते हैं कि ब्रिटिश सरकार द्वारा 1813 के चार्टर में जो भारत के सम्बन्ध में था, कहा गया था कि भारत के निवासियों को विज्ञान के ज्ञान से परिचित कराने और विज्ञान को भारतीयों के बीच प्रोत्साहित करने के लिए काम किया जायेगा। परन्तु यह योजना कभी भी व्यावहारिक रूप में लागू नहीं की जा सकी। इस योजना में यह भी स्पष्ट नहीं किया गया था कि विज्ञान की किस व्यवस्था-यूरोपीय या देशी-को भारतीयों के बीच प्रचारित-प्रसारित किया जायेगा। अतः यह योजना कभी भी व्यवहार में नहीं लायी जा सकी। 1835 में जब मैकाले ने शिक्षा के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट दी, तो उनकी रिपोर्ट के आधार पर भारत में शिक्षा का माध्यम तो अंग्रेजी बना दिया गया, परन्तु मैकाले की स्वयं की विज्ञान में अरुचि या अन्य किसी कारण से पाठ्यक्रम में विज्ञान विषय को शामिल नहीं किया गया। इस पाठ्यक्रम को शुद्ध साहित्यिक ही रखा गया। कुछ मैडिकल कॉलेज तो खोले गये, परन्तु उनका उद्देश्य सर्जनों, अस्पतालों के लिए असिस्टेंट और निरीक्षक तैयार करना भर था। इन कॉलेजों का पाठ्यक्रम और उपकरण भी अधीनस्थ सेवा की पूर्ति करने के लिए ही बनाया गया था।

आगे चलकर 1870 के दशक के करीब भारतीय विश्वविद्यालयों में विज्ञान के प्रति कुछ रुचि देखने को मिलती है। 1875 में मद्रास विश्वविद्यालय ने मैट्रिक विज्ञान के विद्यार्थियों की ब्रिटिश इतिहास के स्थान पर भूगोल और प्राथमिक भौतिक विज्ञान में परीक्षा लेने का निर्णय लिया। बम्बई विश्वविद्यालय विज्ञान में डिग्री देने वाला पहला विश्वविद्यालय बना। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने भी पहल करते हुए अपने पाठ्यक्रम को दो श्रेणियों में बाँटा-ए और बी। ए उनके लिए था जो साहित्यिक शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे और बी उनके लिए था जो विज्ञान की शिक्षा पाना चाहते थे।

विज्ञान की शिक्षा के प्रति उपेक्षापूर्ण रवैया अपनाया गया। इसी कारण इसका विकास भी धीमा ही रहा और विज्ञान में लोगों की अभी रुचि नहीं बन पायी थी। इन सबके पीछे निम्नलिखित कारणों को देखा जाता है :

1. शिक्षा नीति का उद्देश्य चरित्र निर्माण करना था।
2. उदार साहित्यिक शिक्षा को ज्यादा उपयोगी समझा गया।
3. धनराशि की कमी और इसका असमान वितरण।
4. पश्चिमी शिक्षा को अधिक उपयोगी और आधार रूप में देखा जाना।
5. विज्ञान की शिक्षा में अंग्रेजी को एकमात्र माध्यम बनाया जाना।

इन कारणों भारत में विज्ञान की शिक्षा को प्रोत्साहन नहीं मिल सका और न ही इसका विकास हो सका और यह न ही आम

आदमी तक पहुँच सका। इन कारणों के अलावा अन्य कुछ कारण भी थे जिनके कारण भारत में विज्ञान की शिक्षा का स्थान गौण रहा। जैसे ब्रिटिश संस्थाओं को आदर्श के रूप में देखा जाता था। परन्तु ये संस्थाएँ भारतीयों को तकनीकी और औद्योगिक शिक्षा देने के लिए तैयार नहीं थीं।

भारत में ब्रिटिश शिक्षा सम्बन्धी नीतियों की कठोरता से आलोचना की जाती है। कुछ इतिहासकार इसे विजय के मुखौटे के रूप में देखते हैं, तो कुछ ने इसे सांस्कृतिक आच्छादन कहा है। इन्जीनियरिंग कॉलेज सार्वजनिक निर्माण विभाग के लिए बनाये गये थे और इन्हे 'सिविल इन्जीनियरिंग कॉलेज' कहा जाता था।

भारत में इन्जीनियरिंग की शिक्षा का प्रारूप और प्रकृति भिन्न थी। इंग्लैण्ड में इसे जहाँ नीचे के स्तर से लागू किया गया था, वहीं भारत में इसे विश्वविद्यालय स्तर से लागू किया गया था। यूरोप में इसका लक्ष्य भी अलग था। यूरोप में जहाँ इसे औद्योगीकरण को बढ़ावा देने के लिए लागू किया गया था, वहीं भारत में इसके प्रति ऐसा कोई लक्ष्य निर्धारित नहीं किया गया था। भारत में इसका लक्ष्य नैतिक और चरित्र निर्माण ही बनाया गया था, क्योंकि अंग्रेज भारतीयों को हीन दृष्टि से देखते थे और उन्हें यह मानते थे कि ये अनैतिक और अंधविश्वासी हैं और इससे छुटकारा उन्हें पश्चिमी तर्कसंगतता पर आधारित शिक्षा ही दिला सकती है।

भारत में विज्ञान की शिक्षा के पिछड़ेपन के कारणों का ऊपर वर्णन किया गया है, जिसमें हम देखते हैं कि किस प्रकार भारत को इस क्षेत्र में दबाकर रखा गया था। जब भी भारतीयों ने किसी नई वैज्ञानिक संस्था या इंस्टीट्यूट की मांग सरकार के सामने रखी, तो उसने हमेशा ही इसे टाला, चाहे वह धन का अभाव दर्शाकर या मांग की अपर्याप्तता को बताकर। अंग्रेजी को एकमात्र इस विज्ञान की शिक्षा का माध्यम बनाया गया, जो निम्न वर्ग की पहुँच से बाहर था।

प्रश्न 3. विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में औपनिवेशिक हस्तक्षेपों के प्रति भारतीय प्रतिक्रिया का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर—विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में औपनिवेशिक हस्तक्षेपों को संस्कृतियों की मुठभेड़ के रूप में देखा जाता है, जो काफी गम्भीर और तकलीफदेह थी। धीरे-धीरे औपनिवेशिक शासन को चलाने वाले और इसमें चलने वालों के बीच स्थायित्व आया और औपनिवेशिक शासक अब यह सोचने लगे कि उनकी व्यवस्था किस हद तक बची है, इसमें कौन-कौन सी परम्पराएँ नष्ट हो चुकी हैं और कौन-कौन सी परम्पराएँ बची हुई हैं। इन नई परिस्थितियों में क्या स्वीकार करने लायक है और क्या छोड़ने लायक है। आधुनिक ज्ञान और उपकरण जो उपनिवेशकर्ता द्वारा लाये गये थे, उनको अपनाने की इच्छा तो थी और यह इच्छा अन्दर से पैदा हुई थी और इसको बल दिया था यूरोपीय ज्ञान और ईसाई उदारवाद के संयोग ने। राजा राममोहन राय ने वेदान्त और पश्चिमी ज्ञान दोनों को समझा व उनके महत्त्व के बारे में अपने विचार रखे। ईश्वरचन्द्र

विद्यासागर भी पश्चिमी ज्ञान के प्रशंसक थे और इसके अलावा अन्य विद्वानों ने भी पश्चिमी ज्ञान और विज्ञान को भारत में लोकप्रिय बनाने के लिए अपनी गतिविधियाँ स्थानीय भाषाओं और अंग्रेजी दोनों में शुरू कीं।

राजा राममोहन राय और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर दोनों महान समाज-सुधारक थे। वहीं इनसे अलग हटकर काम किया बालचंद्र जाम्भेकर और मास्टर रामचंद्र ने। उन्होंने गणित की पढ़ाई और विज्ञान को लोकप्रिय बनाने में अपना सहयोग दिया। जाम्भेकर गणित और खगोलशास्त्र में प्रोफेसर बनने वाले पहले भारतीय थे। इन्होंने स्थानीय मराठी भाषा के माध्यम से विज्ञान की शिक्षा को लोकप्रिय बनाने में सहयोग किया। वहीं मास्टर रामचंद्र ने गणित को लोकप्रिय बनाने के सम्बन्ध में अपना काम किया। जाम्भेकर और मास्टर रामचन्द्र ने विज्ञान को लोकप्रिय बनाने का काम स्थानीय भारतीय भाषा में किया। दोनों अपनी-अपनी नेटिव एजुकेशन सोसाइटी से जुड़े रहे और उसी के माध्यम से अपना काम करते रहे। ये अनुवाद के अलावा पत्रिकाएँ भी प्रकाशित करते थे।

उन्नीसवीं सदी के मध्य में भारतीय चिंतन की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता थी सांस्कृतिक संश्लेषण पर बल देना। इस समय के विद्वान अक्षय कुमार दत्त ने पश्चिमी विज्ञान के भारतीयकरण पर बल दिया। इस काल में प्रकाशित कुछ पत्रिकाओं ने भी इसी प्रकार का कार्य किया। इनमें सम्वाद प्रभाकर, तत्त्वबोधिनी और विविधार्थ संग्रह प्रमुख पत्रिकाएँ थीं। 1860-80 के दौरान आधुनिक वैज्ञानिक तर्कसंगतता को देशी परम्पराओं और आवश्यकताओं के सम्बन्ध से जोड़ने की कोशिश की और यह समझाने का प्रयास किया कि यह आधुनिक वैज्ञानिकता हमारे लिए भी आवश्यक है, जिसके माध्यम से हम अपनी प्रगति की राह को सुनिश्चित कर सकते हैं। उससे मुँह मोड़ने से काम नहीं चलेगा और यह बात लोगों की समझ में आसानी से आ सके, इसी कारण उन्होंने आधुनिक वैज्ञानिक तर्कसंगतता को देशी परम्पराओं और आवश्यकताओं से जोड़कर दिखाने की कोशिश की। ऐसे लेखकों में बंकिमचंद्र चटर्जी का नाम उल्लेखनीय है। विज्ञान के रहस्यों को समझाने के लिए 'विज्ञान रहस्य' नाम से एक लेख लिखा, जो *बंग दर्शन* में प्रकाशित हुआ। उन्होंने इसी विषय से सम्बन्धित दो पुस्तकें और 'धूला' और 'जयबोनि' लिखी पहली पुस्तक में जहाँ उन्होंने जॉन टिन्डाल की पुस्तक 'डस्ट एंड डिजीज' से मदद ली, वहीं दूसरी पुस्तक 'जयबोनि' में उन्होंने टी.एच. हक्सले की 'ले सर्मन्स' से मदद ली। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी मशीनों का समर्थन किया, क्योंकि उनकी खुद की रूचि मशीनों में थी। इन्होंने इसके सम्बन्ध में लेख लिखे और उसको व्यावहारिक रूप में दिखाकर लोगों को उसका महत्त्व को समझने के लिए प्रोत्साहित किया।

इस अवधि के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा जा रहा था, उसमें ज्यादातर अनुवादित होता था और ये अनुवाद बड़े महत्त्व के होते थे। अनेक स्कूल, पुस्तकें, संस्थाएँ और वैज्ञानिक सभाएँ भी

172 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

अनुवाद पर आधारित होती थीं, लेकिन इन अनुवादों ने वैज्ञानिक धारणाओं, विद्वानों के विचारों को लोकप्रिय बनाने का काम किया। इन अनुवादों से भारतीयों को विज्ञान विद्वानों के विचारों और आधुनिक जगत में हो रहे परिवर्तनों के सम्बन्ध में पढ़ने को मिला और वे आधुनिकता को समझने के लिए जागरूक बने। लेकिन इन अनुवादों में एक मुख्य कमी यह रही कि ये शोधों के साथ-साथ नहीं चल सके। कुछ तो चले भी, परन्तु इनमें कुछ तो ऐसे भी अनुवाद हुए जो शोध होने के बहुत बाद आये जब तक कि उनका कोई खास महत्व नहीं रह गया था। लेकिन इन अनुवादों ने स्थानीय भाषा में वहाँ के आम नागरिक तक इन शोधों को पहुँचाने का कार्य अवश्य किया।

औपनिवेशिक शासन की कमियों में यह सबसे बड़ी कमी रही कि इसने भारतीय भावना और चिन्तन की हिन्दू तकनीकों की कभी सराहना नहीं की। इसे हमेशा हतोत्साहित किया। भारतीय सभ्यता को केवल आध्यात्मिक सभ्यता के रूप में ही दर्शाया गया।

विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में औपनिवेशिक हस्तक्षेपों के सम्बन्ध में ये अनुवाद प्रतिक्रिया के रूप में फैले। उन्होंने आम लोगों तक समझ के दायरे को बढ़ाने के लिए कार्य किया। इस समय के लेखकों में भी कुछ ने तो समाज सुधार के लिए लिखा परन्तु कुछ ने गणित और विज्ञान के क्षेत्र में लिखकर उसे आम आदमी तक पहुँचाने का प्रयास किया। उन्होंने आधुनिक तर्कसंगतता को अपनी परम्पराओं व आवश्यकताओं से जोड़कर लोगों को दिखाने का प्रयास किया, जो काफी हद तक सफल भी रहा।

प्रश्न 4. भारत में विज्ञान और तकनीकी के विकास पर स्वदेशी आन्दोलन के प्रभाव की विवेचना कीजिए।

उत्तर—स्वदेशी आन्दोलन के अन्तर्गत विज्ञान और तकनीकी के विकास के लिए निम्नलिखित लक्ष्य अपनाये गये थे :

1. शुद्ध विज्ञान विशेषकर तकनीकी के संदर्भ में शिक्षा को प्रोत्साहन देना।
2. इसका नियंत्रण राष्ट्रीय हो और इसकी दिशा भी राष्ट्रीय हो।
3. देश का औद्योगीकरण और भौतिकवाद का विकास।

इसी संदर्भ में 1904 में भारतीयों ने वैज्ञानिकों के और औद्योगिक शिक्षा के विकास के लिए एक एसोसिएशन बनाई, जिसका उद्देश्य विज्ञान आधारित उद्योगों का अध्ययन करने के लिए योग्य छात्रों को विदेश भेजना था।

भारत में विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में विकास न हो पाने में जो समस्याएं आ रही थीं, उन्हें राजनैतिक स्तर पर भी उठाया गया और इसके लिए मांग की गई कि सरकार इसे विकसित करने के लिए प्रोत्साहित करे, जिसका उदाहरण हमें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के तीसरे अधिवेशन से ही देखने को मिलता है, जो 1887 में मद्रास में हुआ और इस अधिवेशन में तकनीकी शिक्षा का मुद्दा उठाया गया था। फिर प्रत्येक साल कांग्रेस इसे अपने अधिवेशन में

पारित कराती रही। राजनैतिक स्तर पर सरकार की जो आलोचना की गई और इसमें सुधार लाने के लिए सरकार पर जोर दिया गया, वे थे :

- (i) तकनीकी शिक्षा के नाम पर सरकार निम्न स्तर के व्यावहारिक प्रशिक्षण प्रदान करती है, जो उचित नहीं है।
- (ii) भारतीय मेडिकल सर्विस की आलोचना की गई।
- (iii) भारतीय सरकार से यह मांग रखी गई कि एक वह ऐसी चिकित्सा व्यवस्था की व्यवस्था करे जो सबसे उत्तम हो और उसमें देशी योग्यता को भी शामिल किया जाये।
- (iv) शिक्षा, खनन, कृषि व अन्य मुद्दों को उठाया गया और सरकार से इन क्षेत्रों में सुधार करने को कहा गया।

स्वदेशी आन्दोलन में विज्ञान और तकनीकी विकास से सम्बन्धित दो गतिविधियों पर बल दिया गया। स्वदेशी से सम्बन्धित सभी लोग यह मानते थे कि जब जापान जैसा राष्ट्र अपना औद्योगिक विकास कर सकता है और दुनिया के सामने अपनी ताकत का लोहा मनवा सकता है, तो फिर हम क्यों गुलाम बने हुए हैं। क्योंकि जापान एक सशक्त औद्योगिक राष्ट्र के रूप में उभरा था और उसने 1904-05 में रूस को भी हराया था, जिसका क्षेत्रफल और जनसंख्या भारत के सामने कुछ भी नहीं था। यह बात भारतीयों के दिलों में घर कर गई और उनके लिए अपनी शक्ति को पहचानने के लिए सोचने का समय आ गया था।

अब भारतीयों को उनका खोया हुआ आत्मसम्मान पाने के लिए बल मिला। इस खोये आत्मसम्मान को पाने के लिए उन्हें अतीत में जाना सबसे बेहतर तरीका लगा। उन्होंने अपने अतीत को पहचानने और उसमें अपनी पहचान बनाने के लिए कार्य करने शुरू कर दिये, जिससे वे अपनी पहचान को दृढ़तापूर्वक खड़ा कर सकें। इसी पहचान की तलाश में 'ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दू सिविलाइजेशन, लिखी गई, जिसको लिखा पी.एन. बोस ने। इसी प्रकार जे.सी. बोस ने भी अपने अतीत को पहचानने और उसको लोगों के बीच सम्मानपूर्वक दिखाने के लिए अपने उपकरणों के नाम संस्कृत में रखे। इस प्रकार विज्ञान को लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया गया और ब्रिटिश सर्वोच्चता का जो दावा था, उस पर चोट करते हुए यह दिखाया गया कि पश्चिमी विज्ञान में जो कुछ अच्छा मौजूद है, वह प्राचीन भारत में भी मौजूद था।

20वीं शताब्दी में हुए विकास कार्यों को देखा जाये, तो इस अवधि में भी राजनैतिक स्तर पर बड़े पैमाने पर तकनीकी और विज्ञान में सुधार लाने के लिए प्रयास किये जा रहे थे। इस समय यह बात जरूर थी कि लोगों की विचारधाराओं में मतभेद नजर आ रहा था। कुछ परम्परा को बनाये रखना चाहते थे, तो कुछ आधुनिकता को अपनाना चाहते थे।

जब गाँधी जी ने कुटीर उद्योगों के लिए अभियान चलाया, तो कांग्रेस के अधिवेशनों में भी इसके विपरीत और पक्ष दोनों में विचार सुनाई दिये। जहाँ पी.सी. रे वैज्ञानिक क्षेत्र में तरक्की के लिए

प्राथमिक शिक्षा और परम्परागत उद्योगों को बनाये रखना चाहते थे, वहीं एम.एन. साहा ने गांधी जी की इस नीति का विरोध किया और बड़े स्तर के औद्योगीकरण की बात कही। साहा ने अपने विचार सुभाष चन्द्र बोस के सामने रखे और सुभाष चन्द्र बोस 1938 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष बने तो उन्होंने राष्ट्रीय योजना और औद्योगीकरण को कांग्रेस के एजेन्डे में सबसे प्रमुख मुद्दा बनाना स्वीकार कर लिया। इसके परिणामस्वरूप एक नेशनल प्लानिंग कमेटी बनाई गई और इसका अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू को बनाया गया। इसकी अन्य 29 उपसमितियां भी बनाई गईं, जो अलग-अलग क्षेत्रों के कार्यों देखती थीं; जैसे-सिंचाई, उद्योग, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि। तकनीकी शिक्षा पर भी एक उपसमिति बनायी गई, जिसका अध्यक्ष शाह को बनाया गया। इन उपसमितियों को अन्य कार्यों के साथ-साथ मौजूदा व्यवस्था का परीक्षण करना था और यह पता लगाना था कि मौजूदा व्यवस्था तकनीकी रूप से मनुष्य को तैयार करने में कितनी सक्षम है। भारत में विज्ञान और तकनीकी के विकास पर स्वदेशी आन्दोलन का प्रभाव महत्वपूर्ण रहा और भारतीयों ने सरकार के समक्ष अपनी मांगें रखीं व उन्हें मनवाया। मौजूदा व्यवस्था का अध्ययन करके उसमें सुधार की मांग की गई।

प्रश्न 5. भारत में विज्ञान और तकनीकी के विकास को औपनिवेशिक नीतियों ने किस हद तक प्रभावित किया?

उत्तर-ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी एक व्यापारिक कम्पनी थी। इसका मुख्य उद्देश्य सिर्फ लाभ कमाना था और यह विज्ञान की प्रगति के लिए वे ही कदम उठाती थी, जिसमें इसको अपना प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष लाभ नजर आता था। भारत के सम्बन्ध में वे उपनिवेश स्थापित करते समय ही समझ गये थे कि उन्हें यहाँ अपना कार्य सावधानीपूर्वक करना है। वे यह भली-भाँति समझते थे कि वे जिस राज्य को स्थापित करने जा रहे हैं, वह पहले से चली आ रही धारणा के अनुकूल होना चाहिए और वे यह भी समझते थे कि इन धारणाओं के विपरीत भी उन्हें जाना है। इसके लिए उन्हें अपने शासन को वैध साबित करना था। इसी कारण उन्होंने पहले से चली आ रही धारणाओं को अवैध व झूठा करार दिया और भारतीय अतीत की भी निंदा की गई। भारतीयों को अंधविश्वासी, रूढ़िवादी, परिवर्तन का विरोध करने वाले कहा गया। भारत को उस देश संज्ञा दी गई जो गंदा है, धूल से सना है और रोग से युक्त है। इस सबके पीछे उन्हें अपने को सर्वोच्च दिखाना था। वे यह बताना चाहते थे कि ब्रिटिश के सामने भारतीय कुछ भी नहीं हैं। वे न सिर्फ शस्त्र विद्या में प्रवीण हैं, बल्कि उनके पास उच्च स्तरीय ज्ञान भी है।

औद्योगिक क्षेत्र में भी भारत के साथ इस ब्रिटिश औपनिवेशिक सरकार द्वारा सौतेला व्यवहार किया जा रहा था। अपने आर्थिक लाभों को बनाये रखने के लिए सरकार ने भारत में तकनीकी परिवर्तनों को प्रोत्साहित नहीं किया। औपनिवेशिक सरकार द्वारा औपचारिक पाठ्यक्रम तो तैयार किये गये थे परन्तु आविष्कारों को

कोई प्रोत्साहन नहीं दिया गया था। एक फैक्ट्री व्यवस्था जरूर सामने आई, परन्तु जिसे औद्योगीकरण नहीं कहा जा सकता है, वैसा कुछ भी नहीं दिखाई देता है क्योंकि भारत के औद्योगिक विकास के लिए व्यावहारिक विज्ञान का उपयोग और आविष्कारों की सकारात्मकता से प्रयोग जरूरी था। नया भारतीय पूंजीपति व्यवसायी वर्ग उभर रहा था। वह इन कमजोर और निर्भर तकनीकियों से अपने विकास की राह नहीं तय कर सकता था। उनके सामने प्रशिक्षित व्यक्ति, मशीन, तकनीकी आदि का अभाव हमेशा ही रहा।

विज्ञान को शिक्षा के रूप में सरकार द्वारा भी उच्च प्राथमिकता नहीं दी गई। उसने जो योजना बनाई थी उन्हें केवल कागजों तक ही सीमित रहने दिया, व्यावहारिक स्तर पर उन्हें लागू नहीं किया। विज्ञान की शिक्षा का माध्यम भी सिर्फ अंग्रेजी रखा गया जिससे यह आम लोगों की पहुँच से दूर होता चला गया। ब्रिटिश औपनिवेशिक सरकार भारत की शिक्षा के सम्बन्ध में उसे इस उद्देश्य के साथ शिक्षा दिलाना चाहती थी कि सिर्फ नैतिकता और चरित्र निर्माण हो सके। इसी कारण शिक्षा का पाठ्यक्रम शुद्ध साहित्यिक रखा गया था। भारतीयों ने जब भी किसी वैज्ञानिक संस्था या इंस्टीट्यूट स्थापित करने की बात सरकार को कही, सरकार ने धन का अभाव या मांग की अपर्याप्तता का बहाना बनाकर इसे टाल दिया। विज्ञान की शिक्षा को प्रोत्साहन न मिलने के कई कारण थे, जिन्हें हम शिक्षा का उद्देश्य और स्वरूप के साथ ही देखना शुरू करें तो यह सिर्फ चरित्र निर्माण के लिए भारतीयों को शिक्षा दी जाये यह धारणा परिलक्षित करता है। दूसरी सबसे बड़ी समस्या थी जिसे सरकार अक्सर अपने बचाव और विज्ञान की प्रगति न हो सके, के लिए प्रयोग करती रही और वह थी धन का अभाव और इसका असमान वितरण। कॉलेजों में शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिए धन को कॉलेजों के आधार पर दिया जाता था और जो उनकी जरूरतों को पूरा करने हेतु पर्याप्त नहीं होता था। वातावरण को उच्चतम शिक्षा और शोधों के लिए अनुकूल बनाने के लिए औपनिवेशिक सरकार द्वारा कोई कदम नहीं उठाये गये थे। भारतीयों को केवल अधीनस्थ पदों तक ही सीमित रखा जाता था। उन्हें आगे बढ़ने का कोई अवसर नहीं दिया जाता था। सरकार तकनीकी शिक्षा के नाम पर निम्न स्तर का व्यावहारिक प्रशिक्षण ही भारतीयों के लिए उपलब्ध करा रही थी जोकि बेकार था। यह किसी काम का नहीं होता था और भारतीयों को इससे शायद ही कोई लाभ मिला हो।

यह विदेशी शासन जो सिर्फ अपने आर्थिक हितों का ध्यान रखता था के तहत विज्ञान और तकनीकी को किसी प्रकार का कोई बढ़ावा मिलेगा यह उम्मीद रखना बेकार था। इस शासन ने विज्ञान एवं तकनीकी दिशा में जो भी सुधार किये, वे अपने आर्थिक हितों को साधने के लिए किये। इसमें कोई मूलभूत परिवर्तन करने की दिशा में उसने कोई कदम नहीं उठाया और इस औपनिवेशिक सरकार की ये गतिविधियाँ भारतीयों को विज्ञान एवं तकनीकी से परिचित कराने में शायद ही काम आई हों। इस

174 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

औपनिवेशिक शासन ने विज्ञान का जो रूप भारतीयों को दिया, उसने सिर्फ अल्पविकास और शोषण को बनाये रखा।

प्रश्न 6. ब्रिटिश काल के दौरान वैज्ञानिक ज्ञान के विकास का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर—महेन्द्र लाल सरकार ने औपनिवेशिक भारतीय सरकार के सामने एक ऐसी संस्था की मांग रखी, जो स्वतंत्र हो। यह भारतीयों के प्रबन्धन में काम करे। यह रॉयल इन्स्टीट्यूशन ऑफ लंदन और ब्रिटिश एसोसिएशन फॉर द एडवांसमेंट ऑफ साइंस की तर्ज पर भारतीयों के लिए काम करे। इन्होंने कहा कि इसे पूर्ण रूप से राष्ट्रीय होनी चाहिए।

सन् 1875 में भारतवर्षीय विज्ञान सभा का गठन किया गया। जिसके कार्य थे :

1. भारतवासियों को वैज्ञानिक विषयों का ज्ञान देना।
2. यह सम्पूर्ण भारत के लिए कार्य करेगी।
3. विज्ञान सम्बन्धी पुरानी भारतीय पुस्तकों का प्रकाशन।
4. कलकत्ता में सोसाइटी गठित की जायेगी, जिसकी संस्थाएं शहर के अन्य क्षेत्रों में भी होंगी।
5. विज्ञान इसकी सभाओं की चर्चा का विषय होगा।

1904 में भारतीयों द्वारा वैज्ञानिक और औद्योगिक शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए एक एसोसिएशन बनाई गई, जिसका उद्देश्य था विज्ञान आधारित उद्योगों का अध्ययन करने के लिए योग्य भारतीय छात्रों को विदेश भेजना।

जब 1904 का विश्वविद्यालय अधिनियम पारित किया गया तो इसमें भारतीयों को इस बात की छूट दी गई थी कि वे मौजूदा भारतीय विश्वविद्यालयों में अध्ययन के साथ-साथ शोध भी कर सकते हैं। इसका लाभ भारतीयों द्वारा उठाया गया और आशुतोष मुखर्जी ने कलकत्ता में एक यूनिवर्सिटी कॉलेज खोला। यहाँ प्रसिद्ध वैज्ञानिकों ने अध्यापन कार्य किया। इस कॉलेज ने ऐसे भौतिकशास्त्री व रसायनशास्त्री तैयार किये, जिनको अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति प्राप्त हुई।

भारत में भी अनेक वैज्ञानिक हुए, जिन्होंने विश्वस्तरीय कार्य किया और उनकी उपलब्धियों को विश्व ने माना। इन वैज्ञानिकों में हम प्रमुख रूप से निम्न का जिक्र कर सकते हैं :

जे.सी. बोस ने सजीव और निर्जीव पदार्थों पर विद्युत द्वारा उत्पन्न अणुस्तरीय घटनाओं का अध्ययन किया। पी.सी. रे ने कई दुर्लभ भारतीय खनिजों का पता लगाया। सी.वी. रमन ने प्रकाश के प्रकीर्णन पर अपना अध्ययन किया और उनकी इस उपलब्धि को विश्वभर में सराहा गया, जिसके लिए उन्हें 1930 में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित भी किया गया। वैज्ञानिक इन निजी प्रयोगों के अलावा अध्यापन और शोध कार्य भी करते थे और उनमें से कई ने वैज्ञानिक संस्थाएँ भी स्थापित कीं, जिनका भारतीयों को विज्ञान को जानने में बहुत योगदान रहा। ऐसी संस्थाओं में थीं :

- (i) बोस इन्स्टीट्यूट
- (ii) नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ साइंस
- (iii) इण्डियन एकेडमी ऑफ साइंस
- (iv) शीलाधर इन्स्टीट्यूट ऑफ रॉयल साइंस
- (v) बीरबल साहनी इन्स्टीट्यूट ऑफ पेलियो बॉटनी, आदि।

इन संस्थाओं के माध्यम से भारत में वैज्ञानिक गतिविधियों को प्रेरणा मिली और भारत में विज्ञान के प्रचार-प्रसार में ये सहायक सिद्ध हुई।

1916 में द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान सरकार को जब यह महसूस होने लगा कि युद्ध की जरूरतों को पूरा करने के लिए भारत को औद्योगिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होना चाहिए, तो उसने एक औद्योगिक आयोग का गठन किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रिटिश काल के दौरान भारत में जो वैज्ञानिक ज्ञान का विकास हुआ, उसमें भारतीयों का बहुत योगदान था। सरकार की नीतियों के खिलाफ इन्होंने जो आवाज उठाई और देश में विज्ञान के ज्ञान के विकास के लिए जो कार्य किए, वे महत्वपूर्ण हैं। सरकार ने तो कभी भी भारत में वैज्ञानिक ज्ञान के विकास के लिए कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाये। परन्तु भारतीय वैज्ञानिकों ने अपनी उपलब्धियों को सम्पूर्ण विश्व तक पहुँचाया और देश का नाम रोशन किया। इन्होंने भारत में ज्ञान को विकास की दिशा मिले इसके लिए संस्थाएँ भी स्थापित कीं, जिनसे निश्चित रूप से भारत को सहयोग मिला। ■ ■

नियोजित अर्थव्यवस्था से वैश्वीकरण की ओर



प्रस्तावना

भारतीय अर्थव्यवस्था का योजनागत स्वरूप और उदारीकरण की नीति के तहत विश्व अर्थव्यवस्था से भारत का जुड़ाव देखने के लिए हमें उसके अतीत और इतिहास में होते आ रहे परिवर्तनों के तुलनात्मक अध्ययन की जरूरत महसूस होती है। इन परिवर्तनों को प्रजातंत्र के ढाँचे के अन्तर्गत पनपी विश्व अर्थव्यवस्था में योगदान देने वाले विभिन्न औद्योगिक देशों के साथ तुलनात्मक रूप से देखते हुए अपने प्रयासों एवं उपलब्धियों का सतत् मूल्यांकन करते हुए भारतीय अर्थव्यवस्था का अनोखापन एवं उसके विकास के विभिन्न चरणों को देखना होगा।

स्वतंत्रता से पूर्व उपनिवेशवादी चरण में भारतीय अर्थव्यवस्था को नष्ट करने का काम अंग्रेजों के द्वारा किया गया और इसी कारण तत्कालीन समय में हो रहे औद्योगिक परिवर्तनों से उसे वंचित रखा गया। जिस काल में पूरी विश्व अर्थव्यवस्था में औद्योगिक परिवर्तनों की बयार चल रही थी और विश्व सतत् विकास की प्रक्रिया से गुजर रहा था, उस समय भारतीय अर्थव्यवस्था को विकास की प्रक्रिया से न जोड़कर उसको आगे बढ़ने का अवसर नहीं दिया गया।

एक अनुमान के अनुसार 1914 से 1946 के बीच भारत की राष्ट्रीय आय 0.73 से 1.22 प्रतिशत प्रतिवर्ष की गति से बढ़ रही थी। इस अवधि में यह अनुमान प्रति व्यक्ति आय में कमी तो नहीं दर्शाता, परंतु यह उसकी जड़ता अवश्य बताता है।

भारतीय अर्थव्यवस्था के मुख्य आधार कृषि के हालात का अंदाजा इस आकलन को देखकर ही लगाया जा सकता है कि 1901 से 1941 के दौरान प्रतिव्यक्ति कृषि उत्पादन में 0.72 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से कमी आयी। सभी प्रकार की फसलों में एक निश्चित दर से गिरावट जारी थी, खाद्यान्न फसलें 1.15 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से तेजी से नीचे आ रही थीं।

इसी प्रकार 1901 से 1941 के बीच की अवधि में 24 प्रतिशत प्रतिवर्ष की भारी गिरावट खाद्यान्न फसलों में देखी गयी।

1950 के दशक में कृषि में रासायनिक खाद, उर्वरक, कीटनाशक आदि का हिस्सा केवल 1.71 प्रतिशत था जो 1980 के दशक में बढ़कर 30 प्रतिशत के लगभग हो गया। भारत को आजादी के समय खाद्यान्न संकट से गुजरना पड़ा था। कई क्षेत्रों में अकाल जैसी स्थिति पनप रही थी। उस समय हमें कई मिलियन टन अनाज का आयात करना पड़ा था। वास्तविक रूप से देखा जाये तो कृषि के साथ-साथ भारतीय उद्योगों को भी भारी नुकसान सहना पड़ा था। भारत जो ब्रिटिश काल से पहले वस्त्र उद्योग का सबसे बड़ा निर्यातक था, उसे उपनिवेश काल में प्रमुख आयातक का रूप देकर उसका निरोद्योगीकरण किया गया। स्वतंत्रता के समय भारतीय उद्योग का संरचनात्मक ढांचा पूरी तरह से उखड़ा हुआ था। यहाँ तक कि भारत को उपकरणों एवं मशीनों जैसी पूंजीगत वस्तुओं के लिए विकसित देशों पर निर्भर रहना पड़ता था।

स्वतंत्रता के समय शिक्षा एवं स्वास्थ्य जैसी सामाजिक जिम्मेदारियाँ भी खराब स्थिति में पहुँच चुकी थीं। 84 प्रतिशत व्यक्ति अशिक्षा के शिकार थे। विज्ञान तथा तकनीकी बहुत ही सीमित रूप में विद्यमान थे।

समग्रतः उपनिवेशकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था पूरी तरह से जर्जर एवं अविकसित थी। अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों ने एक-दूसरे से सम्बन्ध बनाने की अपेक्षा महानगरों से सम्बन्ध बना लिये, जिसने आगे चलकर स्वपोषित विकास की दिशा में हो रहे संक्रमण को और अधिक कठिन बना दिया था। विकृत औद्योगिक संरचना की इस अर्थव्यवस्था को समाप्त करके एक विकसित अर्थव्यवस्था की ओर भारत को जाना था। औद्योगिक क्रांति के दो सौ सालों के बाद आधुनिक उद्योगों का स्थापित होना और उपनिवेशवादी समय की कठिनाइयों को दूर करते हुए, तेज एवं सतत् विकास की ओर अग्रसर होना भारत के लिए अभूतपूर्व था। विश्व अर्थव्यवस्था में हो रहे राजनीतिक एवं आर्थिक परिवर्तनों से सामंजस्य स्थापित करते हुए तथा एक स्वतः स्फूर्त अर्थव्यवस्था बनाने के लिए नीतियों में नवीनता एवं परिवर्तन लाने की जरूरत महसूस होने लगी थी।

176 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

नेहरू और प्रथम तीन योजनाएँ

भारत ने अपना आर्थिक विकास अपने लोकतांत्रिक मूल्यों एवं नागरिक स्वतंत्रता के ढाँचे में रहकर किया। तत्कालीन औद्योगिक देशों में भी इस तरह की नागरिक स्वतंत्रता नहीं थी। ऐसे में भारत ने एक ऐसा मार्ग चुना था जो कि उसके लिए पूरी तरह से अज्ञात था। भारत इस प्रायोगिक मार्ग पर इसलिए भी आगे बढ़ सका कि उस समय के राजनीतिक लोगों में मतैक्यता थी कि भारत को एक क्रियाशील लोकतंत्र को आधार बनाकर ही आर्थिक विकास के मार्ग पर आगे बढ़ना चाहिए।

योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था के मार्ग पर

भारत जिस नियोजित अर्थव्यवस्था की ओर बढ़ रहा था, उस लक्ष्य को प्राप्त करने के उद्देश्यों के प्रति लगभग सभी महान नेताओं की सहमति प्राप्त हो चुकी थी। गाँधीवादी, समाजवादी, पूंजीपति और कम्युनिस्ट वर्ग के अधिकांश नेता आत्मनिर्भरता पर आधारित आर्थिक विकास के पक्षधर थे। भारतीय अर्थव्यवस्था के नियोजित विकास के लिए इन नेताओं ने विभिन्न लक्ष्य तय कर लिये थे जिनमें से कुछ लक्ष्य थे—तेज औद्योगीकरण, विदेशी पूंजी का कम से कम प्रयोग और इसका अर्थव्यवस्था पर प्रभुत्व स्थापित न होने देना, जमींदारी प्रथा की समाप्ति, कृषि सुधार, सहकारिता और भूमि से जुड़ी समस्याओं को भूमि सुधार लागू करके दूर करना। इन सबके अलावा भारतीय समाज में व्याप्त शोषण की परिस्थितियाँ जो अधिकतर समाज के निचले दलित लोगों से जुड़ी थीं, को दूर करने के उपाय ढूँढना भी इस नियोजित अर्थव्यवस्था के उद्देश्यों में छिपा हुआ था। अर्थव्यवस्था का विकास समान रूप से हर वर्ग के लिए हो, कल्याणकारी और गरीबों के पक्ष में हो इसका ध्यान हमारे महान नेताओं ने पहले ही कर लिया था।

राज्य की भूमिका को भी सामाजिक कल्याण से जोड़कर आर्थिक विकास में भागीदार बनाया गया। सार्वजनिक क्षेत्र के माध्यम से राज्य भी उत्पादन प्रक्रिया में प्रत्यक्ष भागीदारी निभाये, इसका ध्यान रखा गया। 19वीं सदी के अंतिम दशक से ही एम.जी. रानाडे, दादाभाई और नौरोजी जैसे महान राष्ट्रवादियों के आर्थिक क्रियाकलापों ने राज्य की भूमिका को आर्थिक-विकास से जोड़कर देखा था। एन.आर. सरकार, जो फेडरेशन ऑफ इंडियन चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स एंड इंडस्ट्रीज के अध्यक्ष थे, ने कहा कि विशुद्ध अहस्तक्षेप की नीति के दिन कभी के समाप्त हो चुके थे। इस समय आर्थिक सम्बन्धों को लेकर राज्य की भूमिका के बारे में यह आम सहमति बन चुकी थी कि राज्य न केवल वित्तीय, मुद्रा सम्बन्धी आर्थिक नीतियों पर नियंत्रण रखेगा, बल्कि सार्वजनिक क्षेत्र के माध्यम से उत्पादन प्रक्रिया में भी उसकी प्रत्यक्ष भागीदारी होगी। भारत के आर्थिक विकास के नियोजन में सार्वजनिक क्षेत्र की जरूरत और आंशिक राष्ट्रीयकरण को हम बम्बई योजना (1944-45) में भी स्पष्ट रूप से देख सकते हैं।

पंचवर्षीय योजनाएँ

पंचवर्षीय योजनाओं को सुचारु रूप से चलाने के लिए 15 मार्च, 1950 को योजना आयोग का गठन किया गया। योजना आयोग, एक संवैधानिक राजनीतिक संस्था है। प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-1956) में कृषि के विकास को प्राथमिकता दी गई। इस योजना के तहत सामुदायिक विकास कार्यक्रम तथा राष्ट्रीय विकास योजना प्रारंभ की गई। दूसरी योजना (1956-1961) में श्री महालनोबिस की भूमिका प्रमुख रूप से रही। उन्होंने द्वितीय पंचवर्षीय योजना का ड्राफ्ट तैयार किया। 1956-1961 की अवधि के दौरान भारत में भारी उद्योगों एवं पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन की ओर विशेष ध्यान दिया गया। दुर्गापुर, राऊरकेला और भिलाई इस्पात संयंत्र इसी योजना-अवधि में स्थापित किये गये। योजना काल में विदेशी सहायता और निवेश को प्रारंभिक भारी उद्योगों को संस्थापित करने के लिए सहायता के रूप में लिया गया। ब्रिटेन, रूस, जर्मनी आदि देशों से इन भारी उद्योगों को स्थापित करने में प्रारंभिक मदद प्राप्त हुई। नेहरू और महालनोबिस ने इस विदेशी मदद से छुटकारा पाने के लिए घरेलू बचत की ओर ध्यान दिया। इसके साथ ही उनका मानना था कि तीव्र औद्योगिक विकास तो हो, लेकिन अन्य क्षेत्रों में भी समदृष्टि अपनायी जाये। उद्योगों एवं कृषि के समान वितरण की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया गया। नेहरू के लिए देश में गरीबी एक चुनौती के समान थी और इस चुनौती से लड़ने के लिए उन्होंने तीव्र विकास की संकल्पना को इस आधार पर सही माना कि उच्चतर विकास से उच्च स्तर की समदृष्टि प्राप्त हो सकती है।

प्रथम तीन पंचवर्षीय योजनाओं के योजना-काल में कई क्षेत्रों में विकास के प्रयासों में सफलता प्राप्त हुई। 1951 से 1965 की अवधि में भारत की राष्ट्रीय आय लगभग 4 प्रतिशत प्रतिवर्ष की औसत दर से बढ़ी। औपनिवेशिक काल की तुलना में यह चार गुना अधिक थी। इस प्रकार उपनिवेश काल में जो भारतीय अर्थव्यवस्था चरमराने लगी थी, वही अर्थव्यवस्था अब विकास की दौड़ में प्रभावशाली प्रदर्शन करने लगी थी।

एक अनुमान के अनुसार 1950 से 1951 की अवधि में जो घरेलू बचत और निवेश केवल 5.5 प्रतिशत था, वही 1965 से 1966 की अवधि में घरेलू बचत के रूप में 10.5 प्रतिशत और निवेश के रूप में 14 प्रतिशत तक हो गया था। इस तरह जिस प्रकार विकास दर में वृद्धि होती जा रही थी, निवेश में भी वही वृद्धि परिलक्षित होने लगी थी।

कृषि क्षेत्र और उद्योग

स्वतंत्रता के पश्चात् देश के औद्योगिक विकास के साथ कृषि के विकास की ओर भी समुचित ध्यान दिया गया। कृषि क्षेत्र में किये गये भूमि-सुधार, सामुदायिक विकास कार्यों ने इस क्षेत्र के विकास के लिए पर्याप्त माहौल स्थापित किया। कृषि के क्षेत्र में किये गये अनुसंधान, सिंचाई प्रबंध, ऊर्जा आदि में किये गये निवेश ने भी कृषि-विकास को प्रोत्साहन दिया। प्रथम तीन पंचवर्षीय

योजनाओं की अवधि के दौरान कृषि क्षेत्र तीन प्रतिशत से भी अधिक दर से हर वर्ष वृद्धि कर रहा था, जो उपनिवेश काल में कृषि की स्थिति से कई गुना अधिक था।

भारत ने कृषि क्षेत्र में जो विकास दर हासिल की थी वह विश्व के अन्य देशों से तुलनात्मक रूप से अच्छी कही जा सकती है, क्योंकि भारत ने विकास का जो मार्ग चुना था, वह नागरिक स्वतंत्रता और आधुनिक लोकतांत्रिक संरचना से होता हुआ गया था। विश्व के अन्य देशों; जैसे-ब्रिटेन, जापान, चीन आदि से भी तुलनात्मक रूप में भारत द्वारा कृषि-विकास के क्षेत्र में उठाये गये कदम काफी सराहनीय थे।

नेहरू युग के योजनाकाल में उद्योगों के क्षेत्र को कृषि से भी कहीं अधिक प्रोत्साहन दिया गया और यही कारण था कि उद्योगों के विकास की गति कृषि से कहीं अधिक थी। उस समय औद्योगिक विकास दर लगभग 7.1 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ रही थी। द्वितीय योजना काल में लगभग 70 प्रतिशत योजना व्यय धातु, मशीन और रासायनिक उद्योगों में लगाया गया था। यही योजना व्यय तृतीय योजना में बढ़कर 80 प्रतिशत तक हो गया। इस प्रकार 1951 से 1969 की अवधि के दौरान उत्पादन सूचकांक में लगभग तीन गुना वृद्धि हुई। उत्पादन सूचकांक के साथ-साथ उपभोक्ता वस्तु उद्योग और पूंजीगत वस्तु उत्पादन में क्रमशः 70 प्रतिशत एवं दस गुना तक वृद्धि दर्ज की गई।

आधारभूत ढाँचा तथा अन्य सामाजिक आवश्यकताएँ

आधारभूत ढाँचा विकसित करने के प्रयास प्रथम पंचवर्षीय योजना की अवधि में ही शुरू कर दिये गये थे। कृषि और उद्योगों के साथ शिक्षा एवं स्वास्थ्य की योजनाएँ भी विकास के लक्ष्य से जोड़ दी गई थीं। उपनिवेश काल में जिन सामाजिक कारकों की अनदेखी की गई थी, योजनाकाल में उन पर समुचित ध्यान दिया गया। एक अनुमान के अनुसार सामाजिक एवं सामुदायिक क्षेत्र में क्रमशः 9.4 बिलियन एवं 19.9 प्रतिशत व्यय किया गया। ऊर्जा क्षेत्र में भी 6.16 बिलियन रुपये का व्यय किया गया। कालांतर में इन क्षेत्रों में योजना निवेश एवं निजी निवेश बढ़ने से उत्पादकता में काफी वृद्धि हुई। कृषि के क्षेत्र में साठ के दशक में हरित क्रांति के आने से कृषि के विकास में और भी अधिक उन्नति होने लगी और अब भारत खाद्यान्न के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ने लगा था।

विज्ञान और तकनीकी

विज्ञान और तकनीकी का क्षेत्र एक ऐसा क्षेत्र था, जिसमें उपनिवेश काल में पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया था। ऐसा अज्ञानवश नहीं किया गया था, बल्कि एक सोची-समझी रणनीति के तहत इस क्षेत्र को उपेक्षित छोड़ा गया था। नेहरू के प्रधानमंत्रित्व काल में विज्ञान एवं तकनीकी की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया गया। इस ओर पर्याप्त रूप से ध्यान जाये इसके लिए नेहरू ने विज्ञान एवं तकनीकी विभाग को प्रधानमंत्री के पद के साथ-साथ संभाला। नेहरू विज्ञान के पिछड़ेपन के प्रति अति जागरूक थे इसलिए

उन्होंने न केवल बड़े-बड़े बांधों, बड़े-बड़े इस्पात कारखानों, ऊर्जा एवं सिंचाई योजनाओं की ओर ध्यान दिया, बल्कि उच्च शिक्षा एवं विज्ञान के क्षेत्र को भी बढ़ावा दिया। विज्ञान के क्षेत्र में मौलिक एवं व्यावहारिक शोध के लिए काउंसिल ऑफ साइंटिफिक एंड इंडस्ट्रीज रिसर्च की स्थापना की गई। नये-नये वैज्ञानिक संस्थान एवं प्रयोगशालाएँ स्थापित की गईं।

भारत को नाभिकीय विज्ञान और ऊर्जा के क्षेत्र में आत्मनिर्भर बनाने के लिए 1948 में ही एटॉमिक एनर्जी कमीशन की स्थापना की गई और आज हम इसी कारण एटॉमिक एनर्जी के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ रहे हैं। योजनाकाल (1951-1965) में विज्ञान और तकनीकी शिक्षा के क्षेत्र में राष्ट्रीय व्यय उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा था। एक अनुमान के अनुसार वैज्ञानिक शोध एवं विकास में योजना व्यय 1977 में 4.5 बिलियन रुपये तक हो गया था और इस प्रकार वैज्ञानिक विकास को तीव्रता देने का कार्य किया गया। नेहरू के द्वारा विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में की गई शुरुआत ने देश में वैज्ञानिक और तकनीकी जनशक्ति के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। विश्वविद्यालय में गिरती शिक्षा एवं प्रतिभाओं के अमेरिका की ओर पालयन के बावजूद भारत ज्ञान-आधारित अर्थव्यवस्था के क्षेत्रों में अग्रणी पंक्ति में शामिल हो गया था। भारत की विज्ञान और तकनीकी क्षेत्र में हासिल की गई सफलता नेहरू युग में किये गये प्रयासों का नतीजा था। इसी के बलबूते पर भारत आज तकनीकी के क्षेत्र में विश्व के देशों से प्रतिस्पर्धा कर पाने में सफल हो पा रहा है।

उत्तर नेहरू युग में विकास: 1965-1990

भारतीय अर्थव्यवस्था प्रथम तीन योजनाकालों में एक निश्चित दर से विकास की ओर उन्मुख हुई। आगे का काल भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए चुनौती का काल साबित हुआ। 1960-80 के के अंत तक भारतीय अर्थव्यवस्था ने कई उतार-चढ़ाव देखे। 1960 के दशक में भारत को दो युद्धों का सामना करना पड़ा। 1962 में चीन एवं 1965 में पाकिस्तान से हुए युद्धों के परिणामों ने भारतीय अर्थव्यवस्था पर आर्थिक बोझ डाल दिया। 1960 तक भारतीय अर्थव्यवस्था जिस तेजी के साथ आगे बढ़ रही थी, वह तेजी युद्धों के बाद धीमी हो गई और भारत एक आदर्श विकासशील देश की जगह एक संकीर्ण अर्थव्यवस्था वाला देश नजर आने लगा। 1965 और 1966 के वर्षों में देश में सूखे के कारण खाद्यान्न उत्पादन में 20 प्रतिशत तक की गिरावट उपन्न हो गई थी। मुद्रास्फीति की दर भी 2 प्रतिशत से बढ़कर 12 प्रतिशत तक चली गई। भारतीय अर्थव्यवस्था ने इन संकटों को झेलते हुए अपने विकास की गति को आगे बढ़ाने का प्रयास जारी रखा। 1971 में पाकिस्तान से हुए युद्ध का बोझ और अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में तेल की कीमतों का चार गुना तक बढ़ जाना भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए परीक्षा की घड़ी के समान थे। 1987-1988 के सूखे ने भी भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास की गति को धीमा तो किया, परन्तु अर्थव्यवस्था के विकास की धारा को रोकने में असफल साबित हुआ। ऐसे में

178 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

1960 से 1980 की अवधि तक भारतीय अर्थव्यवस्था का मूल्यांकन इसके संकटों को सफलतापूर्वक झेलने एवं स्थिर गति से विकास करते हुए देखे जाने की जरूरत है।

खाद्यान्न संकट और विदेशों से अनाज के आयात जैसी स्थिति पर काबू पाने के लिए तत्कालीन इंदिरा गांधी सरकार के द्वारा हरित-क्रांति की शुरुआत की गई। धीरे-धीरे भारी तेल आयातों और अकालों से भी सफलतापूर्वक छुटकारा पा लिया गया।

हरित क्रांति की शुरुआत से देश खाद्यान्न के क्षेत्र में आत्मनिर्भर हो सका। नये हाईब्रिड (H.I.V.) बीज एवं उर्वरकों के इस्तेमाल से कृषि के क्षेत्र में चौतरफा विकास हुआ। एक अनुमान के अनुसार 1967 से 1968 के बीच की अवधि में खाद्यान्नों का उत्पादन 35 प्रतिशत तक बढ़ा। हरित क्रांति की शुरुआत ने खाद्य सुरक्षा एवं गरीबी उन्मूलन के क्षेत्र में तत्काल लाभ पहुँचाया।

कृषि के क्षेत्र में किये गये विभिन्न सुधारों के द्वारा ही खद्यान्न संकट पर काबू पाया जा सका। इन्हीं सुधारों के परिणामस्वरूप 1980 के दशक तक भारत का खद्यान्न भण्डार 30 मिलियन टन तक हो गया। खाद्य के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता हासिल करने के प्रयासों के फलस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था में सहायता का अनुपात धीरे-धीरे कम होने लगा। 1972-73 तक यह 4.22 प्रतिशत से घटकर 0.35 प्रतिशत हो गया। 1973 में छाये तेल संकट के बावजूद यह लगभग स्थिर ही रही और शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद के औसत रूप से एक प्रतिशत से अधिक नहीं हो पाई। घरेलू पूंजी क्षेत्र और निवेश भी धीरे-धीरे वृद्धि की ओर अग्रसर हुए। 1950 के दशक में औसत बचत दर केवल 10.58 प्रतिशत थी, जो 1975-76 में 21.22 प्रतिशत हो गई। इसी प्रकार निवेश दर भी 11.84 प्रतिशत से बढ़कर 20.68 प्रतिशत तक हो गई। 1990-91 में घरेलू बचत और आगे बढ़कर 23.8 प्रतिशत और पूंजी-निर्माण की दर 25.35 हो गई। यह भारतीय अर्थव्यवस्था की ऐसी स्थिति थी, जो भारतीय अर्थव्यवस्था को तीव्र गति से आगे बढ़ने वाली विकासशील अर्थव्यवस्था में शामिल करती थी।

भारत के स्वतंत्र होने के बाद भारत को विज्ञान एवं तकनीकी के क्षेत्र में तथा दूसरी अन्य बुनियादी वस्तुओं एवं भारी मशीनरी के लिए विकसित देशों की ओर देखना पड़ता था और इस विदेशी निर्भरता को कम करने के लिए भारत को बड़े निवेश एवं सृजन की नई क्षमताओं की आवश्यकता थी। 1950 के दशक में लगभग 90 प्रतिशत मशीनी उपकरण एवं तकनीकी का आयात विदेशों से होता था, जो धीरे-धीरे घटकर 1960 के दशक में 43 प्रतिशत एवं 1970 के दशक में 9 प्रतिशत तक रह गया। एक ओर विदेशी आयात में कमी और दूसरी ओर निवेश में $2\frac{1}{2}$ गुना से भी ज्यादा की वृद्धि भारतीय अर्थव्यवस्था के तीव्र विकास की परिचायक थी। 1975 तक भारत अपनी मशीनी उपकरण की आवश्यकता का 90 प्रतिशत तक स्वयं पूरा कर लेता था। यह भारत की आत्मनिर्भरता की ओर एक महत्वपूर्ण कदम था और यही आत्मनिर्भरता जो योजनाकाल में रखी गई, शीत युद्ध के भारी दबावों एवं गुटबाजी में

आगे बढ़ती रही और एक स्वतंत्र विदेश नीति को बनाये रखने में महत्वपूर्ण साबित हुई। भारत अपनी योजना व्यय का अधिकांश हिस्सा तेल आयात में खर्च करता था। तेल आयात पर भारत लगभग 75 प्रतिशत से भी अधिक नियत अर्जित आय खर्च करता था। इस खर्च को कम करने के लिए आई.एम.एफ. (I.M.F.) की सहायता से तेल उत्खनन के क्षेत्र में कदम रखा गया। 1980 में तेल उत्खनन के लिए ऑयल एंड नेचुरल गैस कमीशन (O.N.G.C.) की स्थापना की गयी। ओ.एन.जी.सी. की स्थापना के बेहतर परिणाम सामने आये और देश का घरेलू तेल उत्पादन 1985 के अंत तक 10.5 मिलियन टन से बढ़कर 29 मिलियन टन हो गया। घरेलू तेल उत्पादन की वृद्धि के साथ तेल के आयात में भी कमी आई और देश की बहुमूल्य मुद्रा को बाहर जाने से बचाया जा सका। औद्योगिक विकास की दर भी तीव्र गति से बढ़ रही थी। 1970 के दशक में यह लगभग 3.4 प्रतिशत थी, जो 1980 के दशक में बढ़कर 5.1 प्रतिशत तक हो गई। 1980 के दशक में तो यह और भी आगे बढ़कर 7.7 प्रतिशत प्रतिवर्ष तक जा पहुँची। इस प्रकार 1980 के दशक के अंत तक भारत औद्योगिक विकास के क्षेत्र में 8 प्रतिशत तक की विकास दर हासिल कर चुका था।

संरचनात्मक दबाव और सुधार की आवश्यकता

1980 के दशक में भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास तीव्र गति से हो रहा था। इस तीव्र विकास की दौड़ में कुछ संरचनात्मक कमियाँ उभरने लगी थीं, जिनके कारण 1991 के काल में देश के समक्ष भुगतान संकट पैदा हो गया। इस संकट का समय रहते समाधान खोजा गया और भारत में संरचनात्मक कमियों को पूरा करने के साथ-साथ आर्थिक सुधारों को भी लागू कर दिया गया।

संरचनात्मक दबाव—भारतीय अर्थव्यवस्था में जिस प्रकार के संरचनात्मक दबाव उभर रहे थे उनमें सबसे पहला था 'लाइसेंस-कोटा राज'। लाइसेंस कोटा राज के कारण उद्योगों में अकुशलता बढ़ती जा रही थी और यह सब राज्य के सीधे हस्तक्षेप के कारण हो रहा था। भारतीय उद्योगों को लम्बी अवधि तक विश्व प्रतियोगिता से दूर रखने का परिणाम यह हुआ कि भारतीय उद्योग बाहरी प्रतियोगिता के काबिल नहीं रहे और उनमें अकुशलता बढ़ती गई। इस प्रकार औद्योगिक लाइसेंस देने की पद्धति ने भारतीय उद्योगों को मुक्त आंतरिक प्रतियोगिता से दूर रखा।

देश के भीतर और बाहर दोनों ही तरफ प्रतियोगिता के अभाव एवं संरक्षणवादी नीतियों के कारण भारतीय उद्योग अकुशल हो गये। एम.आर.टी.पी. अधिनियम ने भी औद्योगिक विकास की गति को कम करने की कोशिश की। इसके कारण औद्योगिक विकास तो अवरुद्ध होता ही था, कुशलता पर भी प्रभाव पड़ता था। ऐसा इसलिए होता था, क्योंकि जब कोई औद्योगिक कम्पनी कुशल उत्पादन, कुशल प्रबंधन और शोध तथा विकास को आधार बनाकर विस्तार करती थी, तो उसे कई प्रकार के प्रतिबंधों का सामना करना पड़ जाता था। इस प्रकार उद्योगों को प्रोत्साहन के स्थान पर प्रतिबंधों का सामना करना पड़ता था और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर

भारतीय उद्योग पिछड़ेपन का शिकार होते। लघु उद्योगों को संरक्षण देने और उन्हें आरक्षित करने से उद्यमी छोटे पैमाने पर ही कार्य करने के लिए मजबूर होते। ऐसे में न तो कुशल एवं लाभदायक कार्यप्रणाली का विकास हो पाता और न ही उद्योगों के आगे विस्तार की किसी प्रेरणा का। इस प्रकार लाइसेंस-कोटा राज ने नये आविष्कार, शोध और कुशलता को पूरी तरह से रोक दिया।

भारतीय अर्थव्यवस्था पर दूसरा दबाव सार्वजनिक क्षेत्र के रूप में था। स्वतंत्रता के बाद से ही सार्वजनिक क्षेत्र को प्रोत्साहित किया गया जो कि भारत के औद्योगिक विकास के लिए भी महत्वपूर्ण था। सार्वजनिक क्षेत्र ने ही भारी उद्योगों एवं पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन में महत्वपूर्ण योगदान दिया। सार्वजनिक क्षेत्र ने उद्योगों के विविध रूप में प्रवेश कर विदेशी उपकरण, तकनीकी और पूंजी के क्षेत्र में भारत को अधिक से अधिक आत्मनिर्भर बनाने का प्रयास किया, परंतु सार्वजनिक क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार एवं राजनीति तथा नौकरशाही के गठजोड़ ने इस क्षेत्र की कुशलता पर भी प्रश्नचिह्न लगा दिया। सार्वजनिक उद्योगों में राजनेताओं के दबाव के कारण अधिक से अधिक कर्मचारियों को बिना किसी दायित्व के पदों पर बैठाना पड़ता था जिससे और अधिक भ्रष्टाचार फैलता। ट्रेड यूनियन के भारी दबावों का भी सार्वजनिक क्षेत्र पर प्रभाव पड़ा। विद्युत बोर्ड और रोड ट्रांसपोर्ट को इन्हीं दबावों के कारण भारी नुकसान उठाना पड़ता था। जनता के दबावों के कारण लागत से कम मूल्य में वस्तुओं का वितरण करना पड़ता था। फलस्वरूप सार्वजनिक क्षेत्र अपनी कुशलता को तो खोया ही। साथ ही वह निजी क्षेत्र के उद्योगों से भी प्रतियोगिता करने में असमर्थ साबित हुआ।

सार्वजनिक क्षेत्र में इस तरह के दबावों के कारण कुशलता में कमी आयी अर्थात् पूंजी-उत्पादन का अनुपात बढ़ गया। सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में उत्पादन-पूंजी अनुपात बढ़ता ही जा रहा था। उत्पादन की एक नई इकाई स्थापित करने के लिए अधिक पूंजी की जरूरत पड़ने लगी। फलस्वरूप पूंजी-उत्पादन अनुपात (I.C.O.R.) बढ़ता ही गया। प्रथम योजनाकाल में आई.सी.ओ. आर. 2 से अधिक था, जबकि तीसरी योजना में यह बढ़कर 3.6 तक पहुँच गया। 1971 एवं 1976 के सालों में आई.सी.ओ.आर. 5.76 तक पहुँच गया। 1965 में भोपाल में स्थापित हैवी इलैक्ट्रिक लिमिटेड की स्थापना में तो यह 12 से 14 उच्च स्तर तक पहुँच गया। इसका परिणाम यह हुआ कि पर्याप्त निवेश होने के बावजूद सकल उत्पादन में कमी आयी और सकल घरेलू उत्पादन की दर धीरे-धीरे गिरने लगी। 1950 के दशक में अर्थात् प्रथम योजनाकाल में इसका सकल घरेलू उत्पाद कम होना शुरू हुआ और 1990 के दशक तक यह सकल घरेलू उत्पाद 4 तक ही स्थिर रहा। इस प्रकार पूंजी-उत्पादन अनुपात के बढ़ने के कारण वास्तविक लाभ की दर बहुत कम हो गयी।

उत्पादन में कमी का आना एवं कार्यक्षेत्र में कुशलता में कमी के फलस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था एक कुशल एवं स्वस्थ प्रतियोगी माहौल नहीं बना सकी। किसी भी देश के लिए आर्थिक क्षेत्र में

सर्वशक्तिशाली होना केवल प्रत्यक्ष राजनीति या आर्थिक प्रभुत्व के माध्यम से ही सम्पन्न नहीं हो पाता है बल्कि इसके लिए उत्पादकता के अलग-अलग स्तरों पर अलग-अलग देशों के बीच असमान विनिमय प्रणाली को माध्यम बनाया जाता है। राष्ट्रीय विकास में उत्पादकता के महत्व पर सभी आर्थिक विश्लेषक एक मत थे, चाहे वह वामपंथी हों या दक्षिणपंथी, दोनों ही ओर के विचारकों ने उत्पादकता को आर्थिक विकास का केन्द्र बिन्दु माना। वैश्वीकरण के युग में दूसरे देशों पर हद से अधिक निर्भरता या स्वायत्तता की खोज में हद से अधिक आत्मनिर्भरता उत्पादकता के स्तर में गिरावट पैदा करने के साथ स्वायत्तता को ही अंधकार में धकेल सकती है।

भारत अपने प्रारम्भिक तीनों योजनाकाल में अन्तर्मुखी विकास की ओर बढ़ता रहा और प्रथम तीनों ही योजनाओं में अंतर्निहित निर्यात पर बल न देने के कारण उपजी निराशा को सही रूप से परिवर्तित करने में असफल रहा है। निराशावाद आर्थिक विकास के मार्ग में आने वाली रुकावट के रूप में उभरने वाला सबसे बड़ा कारक साबित हुआ। विश्व के आर्थिक परिदृश्य पर नजर रखने वाले सभी अर्थशास्त्री एकमत से इसे आर्थिक विकास की रुकावट के रूप देखते हैं। इस निराशा के कारण ही 1960 और 1970 के दशकों में विश्व स्तर पर पूंजीवाद में होने वाले परिवर्तनों के प्रति प्रतिक्रिया करने में असफल रहे और उन परिवर्तनों के अनुरूप अपना एक निश्चित मार्ग भी नहीं बना सके।

सुधार की आवश्यकता—विश्व स्तर पर अर्थव्यवस्था में हो रहे परिवर्तनों ने बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की प्रकृति में भी बदलाव ला दिया था। अब विदेशी पूंजी का निवेश ऐसे क्षेत्रों में होने लगा था, जो उत्पादन की दृष्टि से सस्ते साबित हो रहे थे। अब वैश्विक अर्थव्यवस्था की प्रक्रिया सही मायने में शुरू हो चुकी थी। नयी-नयी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का निर्माण हो रहा था, जिनका आर्थिक साम्राज्य विश्व के अनेक देशों में स्थापित था। बहुराष्ट्रीय कम्पनियां अब सिर्फ बाजार और कच्चे माल के स्रोत पर ही नजर नहीं रखती थीं बल्कि वे सस्ते उत्पादन क्षेत्रों की खोज में भी समान रूप से लगी रहती थीं। अब ये बहुराष्ट्रीय कम्पनियां पिछड़े देशों के साथ अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में बहुगुणक प्रभाव वाले सम्बन्ध विकसित करने लगी थीं। इन प्रभावों के फलस्वरूप स्थानीय अर्थव्यवस्था में तकनीकी हस्तांतरण भी शामिल था। अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में ये परिवर्तन एकदम नये थे। बहुराष्ट्रीय कम्पनियां अपने आखिरी उत्पाद के प्रमुख संघटक भी अब इन पिछड़ी अर्थव्यवस्था वाले विकासशील देशों से जुटाने लगी थीं। इसके साथ ही उत्पादन लागत और श्रम लागत में कमी लाने के लिए इन्हीं अल्पविकसित देशों में नये-नये कारखानों की स्थापना भी इन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के द्वारा की जाने लगी।

इस प्रकार विश्व व्यापार में एक क्रान्तिकारी पहल इन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के द्वारा की जाने लगी। राज्यों के बीच पूंजी का हस्तांतरण भी निर्बाध गति से होने लगा था, जिसने विश्व व्यापार को एक नया उछाल दिया। इस प्रकार विश्व अर्थव्यवस्था

180 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

में विभिन्न देशों के बीच व्यापारिक विस्तार ने विश्व के देशों के बीच नये प्रकार के सम्बन्ध विकसित कर दिये थे। इन नये प्रकार के सम्बन्धों से अन्तर्राष्ट्रीय विकास और भी अधिक मजबूती से आगे बढ़ने लगा। 1950 एवं 1970 के दशकों में मशीनी उत्पादन एवं इनका व्यापार क्रमशः चार गुना एवं 10 गुना तक हो गया था। इन्हीं प्रयासों के फलस्वरूप विश्व स्तर पर औद्योगिक निर्यातों में भी काफी वृद्धि हुई। अल्पविकसित देश अर्थात् तीसरी दुनिया के देश भी औद्योगिक उत्पादन के निर्यातों में अपनी हिस्सेदारी बढ़ाने में लगे हुए थे और वे अपनी हिस्सेदारी को बढ़ाने में सफल भी हुए। 1970 से 1983 के बीच के काल में इनकी हिस्सेदारी 5 प्रतिशत से बढ़कर लगभग 10 प्रतिशत तक हो गयी।

विश्व अर्थव्यवस्था में बदलाव के साथ-साथ विश्व औद्योगिक परिदृश्य भी बदलता जा रहा था। अब विश्व का औद्योगिक आधार पश्चिम से हटकर पूर्व की ओर हो गया था।

पूर्व के देशों ने विश्व अर्थव्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों का भरपूर लाभ उठाया। पूंजी और बाजारों की उपस्थिति ने इसे और भी ठोस आधार दिया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जापान की अर्थव्यवस्था में क्रान्तिकारी बदलाव आया और जापानी अर्थव्यवस्था तीव्र विकास की ओर अग्रसर हुई। जापानी अर्थव्यवस्था के विकास को आधार बनाकर अन्य पूर्वी देश; जैसे-दक्षिण कोरिया, ताइवान, सिंगापुर, हांगकांग, थाइलैण्ड, मलेशिया, चीन, इन्डोनेशिया आदि देशों ने भी विकास करना शुरू कर दिया। दक्षिण कोरिया, हांगकांग, सिंगापुर और ताइवान का मशीन के द्वारा निर्मित निर्यात 1.5 प्रतिशत से बढ़कर विश्व निर्यात के 7.9 प्रतिशत तक हो गया। मलेशिया, थाइलैण्ड, इण्डोनेशिया का भी विश्व निर्यात में हिस्सा 0.1 से 1.5 प्रतिशत तक हो गया। ये सभी आंकड़े विश्व अर्थव्यवस्था के एशिया के पूर्वी देशों के द्वारा संचालित होने का संकेत देते थे।

भारतीय अर्थव्यवस्था पूर्वी एशिया के व्यापार अनुभव को अपने में नहीं उतार सकी और विश्व अर्थव्यवस्था में हो रहे परिवर्तनों से उपजे अवसरों को सही रूप से औद्योगिक निर्यात के बढ़ावे के रूप में नहीं ढाल सकी। 1948 में विश्व निर्यात में भारत का हिस्सा लगभग 2.4 प्रतिशत था, जो 1980 के दशक में घटकर केवल 0.42 प्रतिशत तक रह गया। हालांकि आने वाले वर्षों में विश्व निर्यात में भारत का हिस्सा बढ़ा तो, लेकिन इसकी गति बहुत धीमी थी। 1980-81 में भारत की निर्यात क्षमता चीन से लगभग आधी थी वहीं ब्राजील और दक्षिण कोरिया से क्रमशः एक-तिहाई एवं एक-चौथाई भाग तक ही सीमित थी। इस प्रकार भारत वैश्वीकरण के द्वारा प्रदान किये अवसरों को ठीक ढंग से इस्तेमाल नहीं कर सका और तीव्र औद्योगीकरण, आय बढ़ाने एवं गरीबी को कम करने में नाकाम साबित हुआ।

संरचनात्मक दबाव और प्रजातांत्रिक ढाँचे में रहकर भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास राजनीतिक भ्रष्टाचार का शिकार हुआ। राज्य संसाधनों पर अतिरिक्त दबाव एवं मांगों से न तो राज्य सरकारें इन्हें पूरा करने में सक्षम हुईं और न ही इन मांगों के कारण होने वाली हड़तालों को कम करने में। ऐसे में 1975 के लगभग वित्तीय

व्यवस्था चरमराने लगी। इसके कारण वृहत् आर्थिक संतुलन और वस्तु एवं सेवा आयात के लिए विदेशों से प्राप्त सहायता राशि को एकदम से नष्ट कर दिया गया।

भारतीय अर्थव्यवस्था की वित्तीय स्थिति धीरे-धीरे खराब होने लगी थी। सरकारी व्यय में बढ़ोत्तरी लगातार जारी थी। वेतन वृद्धि, पारितोषिक, अनुदान आदि में अधिक से अधिक व्यय किया जाने लगा था और इनका औद्योगिक कुशलता या अच्छे उत्पादन से कोई सम्बन्ध नहीं था। राजनीतिक दबाव में आवश्यकता से अधिक कर्मचारी रखना और बजट में समूह विशेष के लिए भारी-भरकम राशि का आबंटन वित्तीय विवेक को धीरे-धीरे समाप्त करने में लगे थे।

1960 के दशक में भारत को चीन और पाकिस्तान से युद्धों का सामना करना पड़ा था। ऐसे संकट काल में भुगतान संतुलन एवं वित्तीय स्थिति में सावधानी बरती गयी थी, लेकिन 1975 के बाद से वित्तीय सहायता अनियंत्रित रूप से आगे बढ़ती गयी। जनता पार्टी की सरकार के समय ये छूटे विशेष रूप से जारी की गई थीं। एक अनुमान के अनुसार 1975-76 एवं 1976-77 की कालावधि में खाद्य के लिए जारी वित्तीय सहायता 2.5 बिलियन रुपये से बढ़कर 5.0 बिलियन रुपये तक हो गयी अर्थात् लगभग दो गुनी वृद्धि हो गई।

इसी प्रकार उर्वरक क्षेत्र में दी जा रही सब्सिडी भी 0.6 बिलियन से बढ़ाकर 1980 तक 6.03 बिलियन तक हो गयी। निर्यात क्षेत्र में भी सब्सिडी 0.8 बिलियन से बढ़ाकर 3.75 बिलियन तक कर दी गई। इसके अलावा सार्वजनिक क्षेत्र के ऐसे उपक्रम जो हर वर्ष हानि उठा रहे थे, के लिए बजट राशि को बढ़ा दिया गया। इस प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में दिये गये सरकारी अनुदानों एवं छूटों ने वित्तीय स्थिति को और भी अधिक गिरा दिया जो अर्थव्यवस्था के लिए घातक सिद्ध हुई। कई अर्थशास्त्री जनता दल की सरकार के द्वारा बजट में इस प्रकार से की जाने वाली व्यवस्था को वित्तीय रूढ़िवाद में परिवर्तन दर्शाने वाली जल-विभाजक मानते हैं।

भारतीय अर्थव्यवस्था में वित्तीय अपव्यय जारी था और धीरे-धीरे अर्थव्यवस्था की संरचना को ही आघात पहुँचाने लगी थी। 1980 के दशक में वित्तीय अपव्यय अपनी चरम सीमा पर था, जबकि राष्ट्रीय मोर्चे वाली वी.पी. सिंह की सरकार ने किसानों पर से 100 बिलियन रुपये तक के ऋण को माफ कर दिया। 1980-81 की अवधि में केन्द्रीय बजट में उर्वरक, निर्यात एवं खाद्यान्न को जारी किया जाने वाला अनुदान लगभग 15 बिलियन रुपये तक था।

सरकारी अपव्यय एवं अनुदानों के कारण अर्थव्यवस्था पर लगातार बोझ बढ़ता गया। इसके साथ ही सार्वजनिक क्षेत्र के द्वारा की जाने वाली बचत धीरे-धीरे कम होती गयी।

सरकारी क्षेत्र में की जा रही इस प्रकार की अपव्ययता से केन्द्र एवं राज्य सरकारों को वित्तीय घाटा उठाना पड़ा। यह वित्तीय घाटा 1974-75 में जी.डी.पी. के 4.1 प्रतिशत से बढ़कर 1979-80 में 6.5 प्रतिशत तक हो गया। 1991 में तो यह अपनी चरम सीमा 10.4 प्रतिशत तक पहुँच गया। इस वित्तीय घाटे से बचने के लिए

ठोस कदम उठाने की जरूरत थी, किन्तु राज्य सरकारों ने इससे बचने के लिए घरेलू एवं विदेशी उधार में वृद्धि का रास्ता चुना, जिससे अर्थव्यवस्था पर विदेशी ऋण का बोझ और अधिक बढ़ गया। राज्य सरकारों ने बचत और मितव्ययता के सिद्धांतों को न अपनाकर इसके विपरीत उधार के द्वारा घाटे की भरपाई करनी चाही, जिसने अर्थव्यवस्था को और भी अधिक बोझिल बना दिया।

अर्थव्यवस्था पर बढ़ रहे वित्तीय घाटे तथा विदेशी ऋणों का नकारात्मक प्रभाव पड़ा। चालू खाते में भुगतान संतुलन 1.5 बिलियन डॉलर से बढ़कर 1980-1981 तक 2.9 बिलियन डॉलर तक जा पहुँचा था। 1984-85 एवं 1990-91 में यह कुल जी.डी.पी. का क्रमशः 1.8 प्रतिशत एवं 3.5 प्रतिशत तक हो गया।

भुगतान संतुलन की समस्या का समाधान करना जरूरी था, लेकिन इस दिशा में कोई भी उचित कदम नहीं उठाया गया। फलस्वरूप ऋण की समस्या भारतीय अर्थव्यवस्था की एक और समस्या बन गयी। केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकारों के द्वारा उठाया गया घरेलू एवं विदेशी ऋण धीरे-धीरे बढ़कर कई बिलियन डॉलर तक पहुँच गया। एक अनुमान के अनुसार 1974-75 में घरेलू ऋण जी.डी.पी. का 31.8 प्रतिशत था, जो 1984-85 एवं 1989-90 में बढ़कर क्रमशः 45.7 प्रतिशत एवं 54.6 प्रतिशत तक पहुँच गया। लगभग यही हाल विदेशी ऋण को लेकर था। 1980-81 में विदेशी ऋण 23.5 बिलियन डॉलर था जो 1990-91 में बढ़कर 83.8 बिलियन डॉलर तक जा पहुँचा। इस प्रकार ऋण एवं सेवा का अनुपात 1990-91 के आते-आते 35 प्रतिशत के अनियंत्रित स्तर पर जा पहुँचा।

ऐसे में भुगतान संतुलन की समस्या ने ऋण के रूप में एक नई समस्या को जन्म दिया।

अर्थव्यवस्था में आये इन बोझों के फलस्वरूप विदेशी विनिमय राशि भी 1980-81 में 5.85 बिलियन डॉलर से कम होकर 1989-90 में 4.1 बिलियन डॉलर तक रह गई, जिसके परिणामस्वरूप आवश्यक वस्तुओं के आयात में समस्याओं का सामना करना पड़ा। भारत के पास उस समय एक महीने के आयात तक के लिए विदेशी विनिमय निधि नहीं बची थी। 1990 में इराक एवं कुवैत के बीच हुए युद्ध के कारण अन्तर्राष्ट्रीय तेल बाजार में तेल की कीमतें उच्च स्तर पर पहुँच गयी थीं। ऐसे में भारत के पास तेल आयात के लिए पर्याप्त राशि तक नहीं बची। युद्ध के कारण खाड़ी देशों को किया जाने वाला भारतीय निर्यात भी प्रभावित हुआ, जिसके फलस्वरूप विदेशी विनिमय निधि की हानि उठानी पड़ी। भारतीय साख भी धीरे-धीरे कम होने लगी थी। विदेशी बाजार में भारतीय निर्यात में आयी कमी इसका उदाहरण था। भारतीय साख के गिरने के कारण गैर-निवासी भारतीयों ने भी अपनी विदेशी विनिमय की धरोहर को निकालना शुरू कर दिया। यह भी भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए एक चोट थी। ऐसी स्थिति में जब भारतीय विदेशी मुद्रा धीरे-धीरे कम हो रही थी, भारत को आवश्यक चीजों के आयात के लिए अतिरिक्त विदेशी मुद्रा की जरूरत आवश्यक थी और इस जरूरत को पूरा करने के लिए 1991 में उसे स्विट्जरलैण्ड यूनियन

बैंक के पास अपना 20 टन सोना गिरवी रखना पड़ा। आई.एम.एफ. से प्राप्त ऋण भी केवल दो सप्ताह तक ही आयात करने के लिए था। ऐसे में देश अन्य देशों को भुगतान न कर पाने के कगार पर खड़ा था।

ऐसे में भारतीय अर्थव्यवस्था में आर्थिक सुधारों की सख्त जरूरत थी। 1991 में तत्कालीन नरसिंह राव सरकार ने इस दिशा में पहल करनी शुरू कर दी और तत्कालीन वित्तमंत्री मनमोहन सिंह ने आर्थिक उदारीकरण की बयार देश में चला दी।

1991 से आर्थिक सुधार: उदारीकरण तथा वैश्वीकरण

1991 से भारतीय अर्थव्यवस्था में परिवर्तन का दौर शुरू हुआ। अभी तक जारी वित्तीय संकट एवं भुगतान संतुलन की स्थिति से भारतीय अर्थव्यवस्था पहले ही दुर्बल हो चुकी थी। ऐसे में 1991 में जारी आर्थिक सुधार इन संकटों को दूर करने में सहायक की भूमिका में आये। 1990 से पहले भी 1960 एवं 1970 के दशकों में आर्थिक सुधारों की आवश्यकता महसूस की गयी थी, किन्तु इस ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिये जाने के कारण कोई ठोस पहल नहीं हो सकी।

नरसिंह राव सरकार से पहले भारत सरकार किसी भी प्रकार की सुधार प्रक्रिया को शुरू करने में काफी सतर्कता बरत रही थी, क्योंकि सुधारों की प्रक्रिया को शुरू करने का मतलब था जनता की नजर में अलोकप्रिय होना। ऐसे में वित्तीय अनुशासन को पुनः स्थापित करने एवं श्रम कानूनों को लागू करने में काफी परेशानियों का सामना करना पड़ा। नौकरशाहों एवं व्यापारियों का एक बड़ा वर्ग इन सुधारों का मुखर विरोधी बन गया क्योंकि सुधारों के लागू हो जाने से इन वर्गों को होने वाले लाभ कम हो जाते। वामपक्ष शुरू से ही सरकारी नीतियों एवं सुधारों का विरोधी था। वामपक्ष वित्तीय सुधारों एवं अनुशासन की आवश्यकता को नहीं समझ सका और सरकार के सुधार कार्यक्रमों में अड़चनें डालने की लगातार कोशिश करता रहा।

आर्थिक सुधार लागू करने से पहले देश में विदेशी मुद्रा कोष की कमी थी और भारत दूसरे देशों से आयात किये गए सामानों का भुगतान करने की स्थिति में नहीं था, लेकिन तत्कालीन नरसिंह राव सरकार के द्वारा रूढ़िवादी मानसिकता को त्यागकर एक क्रान्तिकारी बदलाव की दिशा में उठाया गया कदम देश के आर्थिक विकास के लिए महत्वपूर्ण साबित हुआ। तत्कालीन सरकार को ऐसे बदलाव के लिए वैचारिक विरोध का सामना करना पड़ा, लेकिन एक बार सुधारों की प्रक्रिया लागू करने के पश्चात् ऐसे विरोध धीरे-धीरे कम होने लगे और देश आर्थिक सुधार एवं उदारीकरण के क्षेत्र में एक आम सहमति के साथ आगे बढ़ने लगा। हालाँकि इन बदलावों की गति चीन एवं रूस में हुए बदलावों की तरह तीव्र एवं शीघ्र परिणाम देने वाली नहीं थी लेकिन एक प्रजातांत्रिक देश में आम सहमति से आये बदलाव की गति एवं दिशा किसी भी ऐसे देश से ज्यादा सही एवं स्थिर कही जा सकती है जहाँ बदलावों को बल के द्वारा थोपा गया हो। इसलिए भारतीय आर्थिक सुधार की

182 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

गति अपनी संरचना एवं प्रकृति में धीमी ही रही, परंतु टिकाऊ एवं स्थिर परिणाम देने वाली थी।

1991 में लागू सुधारों के तहत वित्तीय संशोधन की प्रक्रिया को सम्मिलित किया गया और इसमें विनिमय दर को अधिक से अधिक यथार्थवादी एवं बाजारोन्मुख बनाना सम्मिलित था। सुधारों के परिणामस्वरूप सबसे पहले व्यापार एवं उद्योगों में संरक्षणवादी नीतियों को समाप्त करके उन्हें स्वतंत्र रूप से कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करना था। उदारीकरण की प्रक्रिया के तहत उन पर लगने वाले नियंत्रणों को हटाना, आयात की वस्तुओं को अधिक स्वतंत्रता देना, औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली को समाप्त करना, एम.आर.टी.पी. को समाप्त करना, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों पर लगने वाले प्रतिबंधों को समाप्त करना तथा उनके द्वारा देश में किये जाने वाले निवेश को अधिक उदार बनाना जैसे उपाय शामिल थे। इस प्रकार इन उपायों के द्वारा भारत को विश्वव्यापी अर्थव्यवस्था में हो रहे बदलावों एवं वैश्वीकरण की प्रक्रिया से जोड़ना था।

आर्थिक सुधार की प्रक्रिया शुरूआती दौर में समस्याओं और संकटों के बावजूद ठीक दिशा में सफलता के साथ चलती रही। इसके फलस्वरूप भारत ने अपने को आर्थिक संकट से निकालने का काम तेजी के साथ किया। वित्तीय संकट को नियंत्रित करके उसे अर्थव्यवस्था में समायोजित करने का कार्य तीव्रता के साथ किया जाने लगा। पहले यह डर व्यक्त किया गया था कि इन सभी सुधारों से बेरोजगारी एवं गरीबी बढ़ेगी परंतु इन सभी उपायों को न्यूनतम कष्ट के साथ अर्थव्यवस्था में समाहित कर लिया गया। एक अनुमान के अनुसार 1991-92 में सकल घरेलू उत्पाद की विकास दर केवल 0.8 प्रतिशत थी जो 1992-93 में तेजी से बढ़कर 5.3 प्रतिशत तक पहुँच गयी। अब भारत की विकास दर पूर्वी एशियाई देशों-इंडोनेशिया, मलेशिया, थाइलैण्ड आदि-की विकास दर के करीब आ चुकी थी। इस समय भारत की विकास दर बढ़कर लगभग 7.5 प्रतिशत हो गयी थी, जो अभूतपूर्व थी। आठवीं योजना में अर्थव्यवस्था ने विभिन्न संकटों को सहते हुए तथा कष्टकारी सुधारों को अपनाकर भी 7 प्रतिशत की विकास दर हासिल कर ली।

1991 से 1997 की मध्यावधि में सकल घरेलू बचत 23 प्रतिशत के औसत स्तर पर थी जबकि सातवीं योजना में यही बचत केवल 20.6 के औसत पर थी। घरेलू पूंजी निर्माण तथा स्थायी पूंजी निर्माण भी 1997 तक आते-आते क्रमशः 25.2 प्रतिशत एवं 22.3 प्रतिशत तक पहुँच गया। यह औसत सातवीं योजना के औसत से काफी अच्छा था।

औद्योगिक विकास दर 1 प्रतिशत से बढ़कर 1992-93 में 2.3 प्रतिशत एवं 1995-96 में 12.8 प्रतिशत तक जा पहुँची। पूंजीगत वस्तुओं की विकास दर भी 1994-95 में 25 प्रतिशत तक जा पहुँची जो प्रारम्भिक समय में नकारात्मक प्रभाव दिखा रही थी। एम.आर.टी.पी. की समाप्ति के कारण यह भय था कि इसका असर छोटे स्तर के उद्योगों पर पड़ सकता है, लेकिन एम.आर.टी.

पी. के समाप्त होने के बावजूद छोटे उद्योगों पर इसका कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ा, बल्कि इसने उन उद्योगों के अधिक विकास को और भी प्रोत्साहन दिया।

कृषि क्षेत्र की स्थिति भी आर्थिक सुधारों के बाद सुधरी। प्रारम्भ में 1991-92 में कृषि क्षेत्र की विकास दर में कमी तो आयी, लेकिन बाद के सालों में इसने भी अपनी गति पकड़ ली और 1996-97 तक कुल मिलाकर लगभग 3 प्रतिशत की विकास दर प्राप्त कर ली जो कम संतोषजनक नहीं थी।

आर्थिक सुधारों के लागू होने से पहले केन्द्रीय सरकार का वित्तीय घाटा जी.डी.पी. का लगभग 8.3 प्रतिशत था, जो 1992 से 1997 की अवधि के बीच 6 प्रतिशत के स्तर पर आ गया। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि पहले के वित्तीय घाटे में वित्तीय अपव्यय, अनुदारता तथा लापरवाही शामिल थी, जो वित्तीय घाटे में लगभग 4.7 प्रतिशत ब्याज भुगतान के लिए उत्तरदायी थी। प्राथमिक घाटा भी 1990-91 के स्तर से घटाकर 2.9 प्रतिशत के स्तर पर लाया गया।

भारतीय अर्थव्यवस्था धीरे-धीरे हर क्षेत्र में आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ रही थी। आयात-निर्यात क्षेत्र में तीव्र सुधार हुआ और अब आयात की गई वस्तुओं का अधिकांश भुगतान निर्यात द्वारा अर्जित भुगतान से ही किया जाने लगा था।

एक अनुमान के अनुसार 1993 से 1996 के बीच भारतीय निर्यात क्षेत्र ने तेजी से सुधार किया और इसकी औसत विकास दर 20 प्रतिशत के लक्ष्य तक पहुँच गयी। निर्यातों से प्राप्त आय और आयातों का भुगतान अनुपात भी 60 प्रतिशत से बढ़कर 1990 के दशक में 90 प्रतिशत तक पहुँच गया। 1990-91 में भुगतान संतुलन का चालू खाता लगभग 3.2 प्रतिशत पर था जो 1993-94 में केवल 0.4 प्रतिशत पर आ गया। इस प्रकार औसत घाटा जो सातवीं योजना में 2.3 प्रतिशत के उच्च स्तर पर था, वह 1991 से 1997-99 की अवधि के बीच केवल 1.1 प्रतिशत पर आ गया। अर्थव्यवस्था का इस तरह घाटों को कम करना एवं हर क्षेत्र में विकास की तीव्र गति का पकड़ पाना आर्थिक सुधारों एवं उदारीकरण की नीति के कारण ही सम्भव हो पाया था। विदेशी मुद्रा कोष भी बढ़कर 1999 में 30.4 बिलियन डॉलर एवं 2005-06 में 100 बिलियन डॉलर को भी पार कर चुका है।

भारत का बाह्य ऋण भी 41 प्रतिशत (G.D.P. का) से कम होकर 28.7 प्रतिशत के स्तर पर आ गया है। ऋण तथा सेवा का अनुपात भी 19.5 प्रतिशत के न्यूनतम स्तर पर जा पहुँचा है।

1991 से जारी आर्थिक सुधारों एवं उदारीकरण की नीति का प्रभाव भारतीय सट्टा बाजार पर भी पड़ा। सट्टा बाजार में बाजार का पूँजीकरण जी.डी.पी. के अनुपात के रूप में 1980 तक 5 प्रतिशत के स्तर पर था जो 1990 से 1993 की अवधि के बीच 13 प्रतिशत से 60 प्रतिशत पहुँच गया। भारतीय कम्पनियों ने भी भारत के प्राथमिक क्षेत्रों से पूंजी अर्जित करने में निरंतर प्रगति की। 1980 में यह पूंजी 929 मिलियन रुपये थी, जो 1985 एवं 1990 में बढ़कर क्रमशः 2.5 बिलियन तथा 123 बिलियन रुपये तक हो गयी। 1993-94 में तो यह आंकड़ा 250 बिलियन रुपये की राशि से भी

अधिक था।

वैश्वीकरण की बयार से अब भारत भी अछूता नहीं था और आर्थिक सुधारों के बाद तो अर्थव्यवस्था ने वैश्विक अर्थव्यवस्थाओं के समान ही तीव्र गति पकड़ ली।

आर्थिक सुधारों के बाद बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा किया जाने वाला प्रत्यक्ष विदेशी निवेश 100 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से आगे बढ़ रहा था। 1991-92 में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश 129 मिलियन डॉलर तथा 1995-96 में बढ़कर 2.1 बिलियन डॉलर हो गया। कुल विदेशी निवेश पोर्टफोलियो निवेश के साथ बढ़कर 1995-96 तक 4.9 बिलियन डॉलर तक हो गया। यह अर्थव्यवस्था में उछाल का संकेत था लेकिन अब भी यह पूर्वी देशों में हो रहे विदेशी निवेश से काफी कम था। चीन 30 बिलियन डॉलर प्रतिवर्ष का विदेशी निवेश प्राप्त कर रहा था लेकिन भारतीय विदेशी निवेश इस मामले में बहुत अधिक सकारात्मक था कि विदेशी पूंजी के प्रति द्वेषपूर्ण एवं हठधर्मी मानसिकता अब समाप्त होने लगी थी। विदेशी निवेश अचानक वापस लेने को नियंत्रित करने के विभिन्न उपायों को खोजा गया और छोटे समय के लिए किये गये पूंजी अंतःप्रवाह एवं पूंजी पलायन पर अंकुश लगाया गया।

भारतीय अर्थव्यवस्था तीव्र आर्थिक विकास की ओर बढ़ रही थी। तीव्र आर्थिक विकास ने गरीबी के स्तर को भी नीचे पहुँचाया और गरीबी में गिरावट दर्ज की गई। परंतु कुछ वामपंथी आर्थिक सुधारों के विरोधी थे। उनका मत था कि आर्थिक सुधारों के कारण गरीबी और भी बढ़ेगी। यह उनकी मिथ्या अवधारणा ही साबित होकर रह गई। 1977-78 में गरीबी का अनुपात नीचे गिरकर 51.3 प्रतिशत एवं 1987-88 में यह 38.9 प्रतिशत के स्तर पर रहा। आर्थिक सुधारों के बलबूते पर ही चीन एवं पूर्वी देश अपने यहाँ गरीबी अनुपात स्तर काफी नीचे ला सके। इनके अपने यहाँ केवल 20 सालों के भीतर गरीबी अनुपात नीचे लाने का कारण तीव्र आर्थिक विकास था। इस अवधि में इन देशों की विकास दर भारत से काफी अधिक थी। 1995 में इन देशों के गरीबी अनुपात 22.2 एवं 11.4 तक गिर गये थे, लेकिन भारत में यह अनुपात अभी भी 36 पर था।

इस प्रकार जिस तरह की उच्च विकास दर प्राप्त करके भारत गरीबी स्तर को कम करना चाहता था उसका संक्रमण काल में गरीबी पर किस तरह का असर पड़ेगा, इस बात की ओर ध्यान देना जरूरी हो गया था। इसके साथ ही भुगतान संकट एवं वित्तीय घाटे की ओर भी ध्यान देना जरूरी था। भारत के प्रारंभिक स्थायीकरण कार्यक्रम ने काफी हद तक सफलता प्राप्त की।

भारतीय ग्रामीण गरीबी ने 1992-93 में ही वृद्धि की थी, लेकिन इसका कारण आर्थिक सुधार न होकर तत्कालीन सूखे की समस्या एवं खाद्य उत्पादन में आयी कमी थी जिसके फलस्वरूप खाद्यान्नों की कीमतों में वृद्धि हुई। इसका कोई भी सीधा सम्बन्ध स्थायीकरण कार्यक्रम से नहीं था। 1993-94 में ग्रामीण एवं शहरी गरीबी 6 प्रतिशत तक कम हो चुकी थी। इस प्रकार यह कहा जा

सकता है कि सुधारों का गरीबी को कम करने में बहुत कम नकारात्मक प्रभाव पड़ा, बल्कि इसके द्वारा ही अर्थव्यवस्था को स्वतंत्र रखकर गरीबी को कम करने का काम किया गया।

अपने आर्थिक बजट में सामाजिक सेवा एवं ग्रामीण विकास की राशि को बढ़ाकर भी गरीबी पर अंकुश लगाने का कार्य किया गया। आंकड़ों के अनुसार 1992-93 में इस ओर सरकारी व्यय 7.8 प्रतिशत के स्तर पर था जो 1993 से 1998 के बीच की अवधि में 10 प्रतिशत के औसत पर आ गया। वास्तविक कृषि वेतन भी 5 प्रतिशत प्रति वर्ष की रफ्तार से दो वर्षों तक बढ़ता रहा। बेरोजगारी की समस्या को भी आर्थिक सुधारों के द्वारा हल करने की कोशिश की गई। 1994-95 में अर्थव्यवस्था में रोजगार की मांग 7.2 मिलियन तक बढ़ी। इसके साथ ही प्रतिवर्ष नौकरियों का औसत भी 6.3 मिलियन तक हो गया था।

मुद्रा स्फीति की समस्या को भी काबू में रखने के प्रयास किये गये, जिससे महंगाई पर नियंत्रण करने में सहायता मिली। एक अनुमान के अनुसार मुद्रास्फीति 1991 में 17 प्रतिशत के उच्च स्तर पर थी, जो 1996 में 5 प्रतिशत के स्तर से भी कम पर आ गयी।

अर्थव्यवस्था में इस प्रकार के ठोस प्रयासों के बावजूद वित्तीय घाटे की समस्या कम नहीं हुई। इसका कारण राजनीतिक अस्थिरता एवं किसी भी एक राजनैतिक दल का बहुमत में न आना रहा, जिससे लोकप्रिय निर्णय से हटकर कठोर निर्णय लेने में परेशानी हुई। यही कारण है कि सुधारों के लागू होने के बाद भी सार्वजनिक बचत में वृद्धि एवं सरकारी व्यय में कमी करने के ठोस प्रयास नहीं किये गये।

वित्तीय घाटे की समस्या हर वर्ष बढ़ती जा रही थी। एक अनुमान के अनुसार 1996-97 में वित्तीय घाटा जी.डी.पी. का 0.6 प्रतिशत था जो 1997-98 में 1.3 प्रतिशत हो गया। 1997 में वेतन आयोग की सिफारिशों के बाद वेतन व्यय पर बोझ और भी अधिक बढ़ गया परंतु इन बोझों को कम करने के लिए किसी भी प्रकार की राष्ट्रीय नीति लागू नहीं की गई।

इस प्रकार वित्तीय घाटे पर और अधिक दबाव पड़ने लगा और भारतीय अर्थव्यवस्था गंभीर वित्तीय फिसलन के दौर से गुजरने लगी। ऐसे में इस वित्तीय संकट को कम करने के लिए ठोस नीतियों एवं उनके उचित क्रियान्वयन की जरूरत थी।

लेकिन एक लोकतांत्रिक देश में सभी की राजनैतिक सहमति के द्वारा ही कार्य किये जाते हैं और आर्थिक सुधारों के बारे में दक्षिणपंथी एवं वामपंथी दोनों वर्गों के लोगों में एक आम सहमति बन चुकी थी।

यह सहमति देश की अर्थव्यवस्था को सकारात्मक दिशा की ओर ले जा रही थी और इसने कभी भी स्वतंत्रता के समय निर्धारित किये गये लक्ष्यों; जैसे—तीव्र विकास, औद्योगीकरण, आत्मनिर्भरता एवं गरीबी उन्मूलन की नीतियों के प्रति समझौतावादी रुख नहीं अपनाया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद वैश्वीकरण की प्रक्रिया में आ रहे नये-नये बदलावों एवं तीव्र विकास करती अर्थव्यवस्थाओं को

184 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

देखते हुए देश के विकास एवं अर्थव्यवस्था के सुदृढीकरण के लिए अपनायी गयी आम सहमति देश के आर्थिक इतिहास में एक सकारात्मक एवं महत्वपूर्ण कदम था।

लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि स्वतंत्रता के बाद नेहरूवादी नीतियाँ भारतीय अर्थव्यवस्था को गलत दिशा में ले गयीं। उस समय भारतीय अर्थव्यवस्था को औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की पकड़ से दूर रखना था और शक्तिशाली अर्थव्यवस्थाओं के द्वारा इसके शोषण की स्थिति की संभावना को कम करना था। नेहरूवादी नीतियों ने भारतीय अर्थव्यवस्था की सौदेबाजी की शक्ति एवं स्वतंत्रता बढ़ाई। विश्व की आर्थिक शक्तियों को यह अहसास दिलाया कि भारतीय अर्थव्यवस्था स्वतंत्र एवं आत्मनिर्भर है और उसके ऊपर किसी भी औपनिवेशिक सत्ता का दबाव नहीं है। अर्थव्यवस्था के मजबूत एवं दीर्घकालिक विकास के लिए इन तत्त्वों की जरूरत थी जो नेहरू के द्वारा प्रथम तीन योजनाकालों में अच्छी तरह से रखे गये। 1950 के दशक में भारतीय अर्थव्यवस्था में तीव्र विकास एवं आत्मनिर्भरता के लिए पूंजी और वस्तुओं की गति पर प्रतिबंध की जरूरत थी लेकिन उसके बाद के वर्षों में विश्व अर्थव्यवस्थाओं में आने वाले परिवर्तनों के कारण पूंजी एवं तकनीकी प्रवाह कुशलता एवं उत्पादकता को आत्मनिर्भरता एवं तीव्र विकास के रूप में देखा जाने लगा। 1990 के बाद भारत में उदारीकरण की प्रक्रिया के साथ ही भारतीय अर्थव्यवस्था को वैश्वीकरण की प्रक्रिया के साथ जोड़ना जरूरी हो गया और इसके लिए नेहरू युग में अपनायी गयी नीतियों में परिवर्तन करना जरूरी था।

आज भी नेहरू युग में अपनाये गये उद्देश्य, समानता, आत्मनिर्भरता, तीव्र विकास एवं अपनी स्वतंत्रता को सहेजकर रखना ही हमारी आर्थिक नीतियों का आधार है और उदारीकरण एवं वैश्वीकरण की प्रक्रिया से जुड़ने के बावजूद हमने अपने उन उद्देश्यों को नहीं छोड़ा है जो हमारे स्वतंत्रता सेनानियों एवं स्वतंत्रता के समय के नेताओं ने निर्धारित किए थे, बल्कि उन उद्देश्यों की प्राप्ति में आर्थिक सुधार एवं उदारीकरण की प्रक्रिया सहायक ही सिद्ध हुई है।

सारांश

औपनिवेशिक शासन के काल में भारतीय अर्थव्यवस्था एक जड़ता की स्थिति को प्राप्त कर चुकी थी। कई वर्षों की गुलामी ने भारतीय अर्थव्यवस्था को पंगु बना दिया था। ब्रिटिश राज में भारतीय अर्थव्यवस्था का बहुत अधिक शोषण किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय उद्योग, शिल्पकला, हथकरघा उद्योगों की कमर टूट गयी और गरीबी का स्तर बढ़ने लगा। स्वतंत्रता के बाद अंग्रेज जो सत्ता भारत को सौंपकर गये थे, उसके पास न बहुत अधिक पूंजी थी और न ही कुशल संरचनात्मक ढांचा। राष्ट्रीय आय की गति बहुत धीमी थी, प्रतिव्यक्ति आय एवं कृषि उत्पादन में गिरावट जारी थी। ऐसे में अर्थव्यवस्था की इस जड़ता को तोड़ने के लिए नेहरूवादी नीतियों की सख्त जरूरत थी। स्वतंत्रता के बाद नेहरूवादी कार्यक्रम के द्वारा आत्मनिर्भरता, तीव्र

विकास, तीव्र औद्योगीकरण की ओर ध्यान दिया गया। गरीबी को कम करने एवं खाद्यान्न की समस्या को हल करने का प्रयास किया गया। विदेशी पूंजी का प्रतिरोध कर विदेशी निवेश को प्रतिबंधित किया गया। भूमि सुधार कार्यक्रमों के द्वारा कृषि उत्पादन में वृद्धि करने के प्रयास किये गये। ये सभी प्रयास राज्य के द्वारा नियंत्रित थे।

राज्य में पंचवर्षीय योजनाओं की शुरुआत करके एक नियोजित लक्ष्य को प्राप्त करने के प्रयास भारतीय अर्थव्यवस्था की उस समय की जरूरत थे। योजनाकाल में भारत की राष्ट्रीय आय 4 प्रतिशत की दर से आगे बढ़ी। कृषि एवं उद्योग की विकास दर भी क्रमशः 3 प्रतिशत एवं 7.1 प्रतिशत की दर से आगे बढ़ती रही। नेहरू के बाद की स्थिति भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए एक संकट की घड़ी थी। उस समय भारतीय अर्थव्यवस्था को अनेक कठिनाइयों का एक साथ सामना करना पड़ रहा था। मानसून का समय पर न आना, सूखे की समस्या, कृषि विकास की दर धीमी हो जाना, मुद्रास्फीति, युद्धों एवं बाहर से आने वाले शरणार्थियों की समस्या ने अर्थव्यवस्था पर भारी दबाव डाल दिया। खाद्यान्न संकट से निबटने के लिए हरित क्रान्ति की शुरुआत की गई, लेकिन संरचनात्मक दबावों एवं संरक्षणवादी सरकारी नीतियों ने कुशलता एवं स्वस्थ प्रतियोगिता को समाप्त कर दिया। सरकारी हस्तक्षेप के कारण न तो उद्योगों का विस्तार हो पाया और न ही उनकी कुशलता में वृद्धि हुई। भारत उस समय वैश्विक बदलावों के प्रति सचेत नहीं रह सका और अपने लिए निर्यात बाजारों की तलाश करने में असफल साबित हुआ।

पूर्वी एशियाई देशों एवं चीनी अर्थव्यवस्थाओं के तीव्र विकास का भारत फायदा नहीं उठा सका। वित्तीय अपव्यय एवं बचत की कमी ने वित्तीय घाटे में वृद्धि करनी शुरू कर दी जिसके परिणामस्वरूप भुगतान संतुलन की समस्या उत्पन्न हो गयी। भारत के पास आयात के लिए पर्याप्त विदेशी मुद्रा भण्डार तक नहीं बचा था। ऐसे में नीति-निर्धारकों को ठोस एवं क्रांतिकारी बदलाव लाने वाली नीतियों एवं उनके उचित क्रियान्वयन की जरूरत थी। 1991 से आर्थिक सुधार एवं उदारीकरण की प्रक्रिया को अपना लिया गया। औद्योगिक लाइसेंस नीति को समाप्त करके उद्योगों को विस्तार एवं विकास के लिए स्वतंत्रता दी गई। सरकारी संरक्षण एवं अनुदानों में कमी की गई। सार्वजनिक क्षेत्र की कुशलता को सुधारा गया। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा किये जा रहे विदेशी निवेश का स्वागत किया गया। इन सभी आर्थिक सुधारों का परिणाम सकारात्मक दिशा में रहा और भारत के सकल घरेलू उत्पाद में तेजी से वृद्धि हुई। औद्योगिक उत्पादन की विकास दर तीव्र गति से बढ़ने लगी। आयात के लिए भुगतान की समस्या समाप्त हो गयी, निर्यात में वृद्धि की गई एवं यह वृद्धि इतनी थी कि आयात की गई वस्तुओं का अधिकांश भुगतान निर्यात से अर्जित आय से किया जाने लगा।

धीरे-धीरे वित्तीय घाटे को भी कम किया गया और गरीबी के स्तर को कम करने में सफलता प्राप्त की गई।

समग्रतः भारतीय अर्थव्यवस्था ने औपनिवेशिक काल की जंजीरों को तोड़ते हुए अपना तीव्र आर्थिक विकास किया। वैश्वीकरण एवं उदारीकरण की प्रक्रिया से जुड़कर भारत में विश्व अर्थव्यवस्था में अपना एक अलग मुकाम हासिल किया और विश्व अर्थव्यवस्था को एक नयी ऊँचाई पर पहुँचाने में सफल हुआ।

प्रश्न-अभ्यास

प्रश्न 1. भारत की स्वतंत्रता के बाद योजना विशेषज्ञों को जिन समस्याओं का तत्काल सामना करना पड़ा, उसकी चर्चा कीजिए।

उत्तर—स्वतंत्रता के बाद जिस भारतीय योजना पद्धति का निर्माण किया जाना था, उस पर पहले से ही सहमति बना ली गयी थी और उस पद्धति को नाम दिया गया था—नेहरूवादी सहमति। जितने भी अलग-अलग विचारधाराओं वाले लोग जैसे—गांधीवादी, समाजवादी, पूंजीवादी व कम्युनिस्ट आदि सभी ज्यादातर निम्नलिखित लक्ष्यों से सहमत थे:

- आत्मनिर्भरता पर आधारित विकास की बहुमुखी और अन्तर्मुखी रणनीति अपनायी जाये।
- पूंजीगत वस्तुओं को शामिल करके आयात प्रतिस्थापन पर आधारित औद्योगीकरण हो।
- साम्राज्यवादी और विदेशी पूंजी के प्रभुत्व से बचाव होना चाहिए।
- जमींदारी प्रथा की समाप्ति होनी चाहिए।
- कृषि सुधार हो।
- सहकारिता।
- सेवाओं में भी सहकारिता हो।
- विकास एक समान दृष्टि से होना चाहिए।
- समाज में सबसे उपेक्षित वर्ग—अनुसूचित जाति एवं जनजाति के लिए आरक्षण व्यवस्था होनी चाहिए।
- राज्य की आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने वाली भूमिका होनी चाहिए, आदि।

उपर्युक्त जो सहमतियाँ सभी विचारधाराओं के लोगों ने अपनायी थीं, इनको योजनाओं के माध्यम से क्रियान्वित किया जाना था या इनको मध्य में रखकर योजनाओं का निर्माण किया जाना था। इन बिन्दुओं को योजनाओं में अपनाते समय और योजनाओं को लागू करते समय कुछ समस्याएँ भी योजना निर्माण के कार्य में भाग ले रहे विशेषज्ञों के सामने आ रही थीं।

स्वतंत्रता जो मिली थी, उसमें विस्थापन भी शामिल था। दो राष्ट्रों का निर्माण हुआ था जो एक ही राष्ट्र से निकले थे और लोगों की आवाजाही दोनों तरफ हो रही थी। इसमें शरणार्थियों की समस्या थी, उनको बसाये जाने, काम दिलाने आदि की समस्या थी।

इस स्वतंत्रता के बाद राज्य की भूमिका कैसी होगी—इस पर भी व्यापक रूप से विचार-विमर्श किया गया जिसमें एक धारणा यह थी

कि राज्य की भूमिका में केवल वित्तीय मुद्रा सम्बन्धी आर्थिक नीति के अन्य उपकरणों का उचित प्रयोग और विकास की प्रक्रिया पर राज्य का नियन्त्रण और पर्यवेक्षण ही शामिल नहीं होंगे, बल्कि इसमें कुछ मात्रा में सार्वजनिक क्षेत्र के माध्यम से उत्पादन की प्रक्रिया में राज्य की प्रत्यक्ष भागीदारी भी सम्मिलित होगी।

लेकिन अब भी समस्या यह बनी रही कि इस सार्वजनिक क्षेत्र की प्रकृति और सीमा क्या होगी और इस समस्या को लेकर पूंजीपतियों, वामपक्ष और नेहरू जी के बीच भी मतभेद थे।

योजना विशेषज्ञों ने चाहा था कि भारत के सार्वजनिक क्षेत्र में भारी और पूंजीगत वस्तुओं के उद्योगों का तेज गति से विकास होना चाहिए। बाह्य निर्भरता से देश को आजाद करना था। निर्यात को तेज गति से बढ़ाना था।

कृषि क्षेत्र के सम्बन्ध में भी स्वतंत्रता के तत्काल बाद व्यापक भूमि सुधार किये जाने थे। गांव के स्तर पर कृषि विस्तार किया जाना था और सामुदायिक विकास कार्य के लिए एक बड़े तन्त्र की स्थापना की जानी थी।

उद्योग, कृषि के अतिरिक्त योजना विशेषज्ञों को आधारभूत ढांचे और शिक्षा, स्वास्थ्य आदि को भी देखना था जिनके सम्बन्ध में औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत कोई ध्यान नहीं दिया गया था। जो ध्यान दिया भी गया था वह बहुत कम था और वह पर्याप्त नहीं था। भारत के आधारभूत ढांचे का पुनर्निर्माण होना था। शिक्षा में सबके लिए शिक्षा और शिक्षा का माध्यम क्या हो, यह भी समस्या योजना विशेषज्ञों के सामने आ रही थी।

स्वतंत्रता के समय आयात के सम्बन्ध में भी समस्या थी। रेलवे के अतिरिक्त आर्थिक क्षेत्र में विशेष कुछ भी नहीं था। सरकार को परिवहन सम्बन्धी सुविधाओं को सुचारु और प्रभावशाली बनाना था। रेलमार्ग, वायुमार्ग और विद्युत मार्ग आदि का विकास किया जाना था और इसका विकास भारतीय जनसंख्या के अनुरूप किया जाना था।

भारतीय योजना विशेषज्ञ यह भी जानते थे और जो उनको स्पष्ट रूप से दिखाई भी दे रहा था कि भारत विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में उतना विकास नहीं कर पाया है जितना कि इस समय तक हो जाना चाहिए था। औपनिवेशिक शासन के अन्तर्गत इस क्षेत्र में कोई प्रगति नहीं हुई थी और विज्ञान व तकनीकी के क्षेत्र में भारत इस समय तक विश्व के अन्य देशों के मुकाबले बहुत पिछड़ा हुआ था और इस क्षेत्र में बहुत कुछ करना बाकी था। अतः योजना विशेषज्ञों को इस ओर प्रगति को ध्यान में रखकर योजनाओं का निर्माण करना था, क्योंकि स्वतंत्रता के समय जो विज्ञान और तकनीकी की स्थिति भारत में थी, वह उच्च तकनीकी दुनिया में प्रतिस्पर्धा के लायक नहीं थी। इसको इस लायक बनाना एक समस्या थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय योजना विशेषज्ञों के सामने कई समस्याएँ थीं जिन पर विजय पायी जानी थी और इन विशेषज्ञों को ऐसी योजनाएँ बनानी थी, जो विकास को बनाये रखें। साथ ही इन समस्याओं से भी उबारा जाए।

प्रश्न 2. प्रथम तीन पंचवर्षीय योजनाओं में भारतीय आर्थिक विकास का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर—भारत में प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-56) आर्थिक अस्थिरता के वातावरण में शुरू की गई थी। उस समय भारत के सामने तीन समस्याएं प्रमुख रूप से थीं:

- शरणार्थियों का तेजी से बढ़ता हुआ प्रवाह।
- भयंकर खाद्य अभाव तथा बढ़ती हुई मुद्रास्फीति।
- भारत को द्वितीय विश्व युद्ध और देश के विभाजन से बर्बाद हुई अर्थव्यवस्था का पुनरुत्थान करना था।

इसी कारण प्रथम पंचवर्षीय योजना में इन समस्याओं को ध्यान में रखकर लक्ष्य निर्धारित किये गये, जो इस प्रकार थे:

- शरणार्थियों का पुनर्वास।
- खाद्यान्नों में कम से कम अवधि में आत्मनिर्भरता।
- मुद्रा स्फीति पर नियन्त्रण।
- पूर्ण रोजगार।
- आर्थिक विषमता को दूर करना।

इसी योजना में सर्वांगीण विकास की प्रक्रिया भी शुरू की गई, जिसमें राष्ट्रीय आय को लगातार बढ़ाया जा सके जिससे कि जन-सामान्य के जीवन स्तर में निश्चित समयावधि में सुधार किया जा सके। पहली योजना में कृषि उत्पादन का जो लक्ष्य निर्धारित किया गया था, उसे प्राप्त कर लिया गया। कीमत स्तर में भी गिरावट आयी और यह महसूस किया जाने लगा कि भारतीय अर्थव्यवस्था एक ऐसे स्तर पर पहुँच गयी है, जहाँ कृषि को निम्न प्राथमिकता दी जा सकती है।

दूसरी योजना (1956-61) के दार्शनिक आधार के अधीन अर्थव्यवस्था को एक जोर का धक्का देने का दृढ़ निश्चय किया गया, ताकि अर्थव्यवस्था में तेजी से विकास सम्भव हो सके। इस योजना के लक्ष्यों में

- तीव्र औद्योगिक विकास।
- भारी उद्योगों पर बल दिया गया।
- राष्ट्रीय आय में बढ़ोतरी के साथ-साथ देश में लोगों के रहन-सहन के स्तर को सुधारना।
- रोजगार के अवसरों का व्यापक विस्तार।
- आय तथा सम्पत्ति की विषमताओं को कम करना।
- आर्थिक शक्तियों का अधिक समान विवरण आदि।

तीसरी योजना (1961-66) की कालावधि में यह महसूस किया जाने लगा था कि भारतीय अर्थव्यवस्था उत्पादन अवस्था में पहुँच गयी है जिसका कारण था पहली दो योजनाओं ने तीव्र आर्थिक विकास के लिए संरचनात्मक ढाँचा तैयार कर दिया है। इसी को ध्यान में रखकर तीसरी योजना के लक्ष्य निर्धारित किये गये, जिनमें से प्रमुख थे:

- आत्मनिर्भरता।
- रोजगार के समान अवसर।
- आर्थिक शक्तियों का वितरण।
- आय में विषमता को घटाना आदि।

परन्तु दूसरी योजना से यह बात स्पष्ट हो गयी थी कि कृषि उत्पादन की वृद्धि दर भारतीय आर्थिक विकास का एक मुख्य कारक है। पहली दो योजनाओं के अनुभव से यह निष्कर्ष निकाला गया था कि कृषि को उच्च प्राथमिकता देना आवश्यक है। इस बात को ध्यान में रखते हुए तीसरी योजना में कृषि विकास को उच्च प्राथमिकता दी गई। इसके साथ-साथ इसमें बुनियादी उद्योगों के विकास पर भी बल दिया गया, जो तीव्र आर्थिक विकास के लिए आवश्यक था।

प्रथम तीन योजनाओं की अवधि में विकास के प्रयास के प्रथम चरण में काफी प्रगति हुई। यदि इस विकास की तुलना औपनिवेशिक काल के कुल विकास से की जाये, तो यह कहीं अधिक था। भारत की राष्ट्रीय आय या सकल राष्ट्रीय उत्पाद लगभग 4 प्रतिशत प्रतिवर्ष की औसत दर से बढ़ा और यह औपनिवेशिक शासन की अन्तिम अर्द्धशताब्दी के दौरान हासिल की गई वृद्धि से लगभग चार गुना थी।

प्रथम तीन योजनाओं के दौरान कृषि क्षेत्र का प्रदर्शन बहुत अच्छा रहा और भारतीय कृषि 3 प्रतिशत से अधिक की वार्षिक विकास दर से विकसित हुई और यह औपनिवेशिक शासन की अन्तिम आधी शताब्दी में हासिल की गई विकास दर की लगभग 7.5 गुना थी। उस समय अन्य देशों द्वारा हासिल की गई विकास दर से इसकी तुलना करें, तो यह अनुकूल थी।

इन तीनों योजना अवधियों के दौरान उद्योग क्षेत्र में भी उल्लेखनीय विकास हुआ और 1951 और 1965 के बीच की अवधि में विकास की दर 7.1 प्रतिशत थी। यह औद्योगिक विकास प्रारम्भ में उपभोक्ता वस्तुओं और विशेषकर दूसरी योजना में पूँजीगत और मध्यवर्ती वस्तुओं के तेजी से आयात प्रतिस्थापन पर आधारित था। दूसरी योजना में व्यय का 70 प्रतिशत और तीसरी योजना में 80 प्रतिशत धातु, मशीन और रासायनिक उद्योगों में लगाया गया।

उद्योग और कृषि के अतिरिक्त इन तीनों योजना अवधियों में मूलभूत ढाँचे और शिक्षा, स्वास्थ्य आदि को भी प्राथमिकता दी गई, क्योंकि ये वे क्षेत्र थे जिन पर औपनिवेशिक काल में सबसे कम ध्यान दिया गया था।

आधारभूत और सामाजिक लाभों की उपलब्धता में तीव्र गति से वृद्धि हुई। इन तीनों योजना अवधियों के दौरान विद्युत क्षमता 1951 की तुलना में 4.5 गुना बढ़ी। विद्युतिकृत शहरों और गांव की संख्या 0.14 गुना, अस्पताल के बिस्तर 2.5 गुना बढ़ गये। स्कूलों के नामांकन तीन गुना बढ़े। यह सब उपलब्धियाँ इन तीनों योजनाओं के दौरान हासिल की गई जो चहुँमुखी विकास को दर्शाता है।

विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में इन तीनों योजना अवधियों के दौरान बहुत विकास हासिल किया गया जो कि औपनिवेशिक शासन के मुकाबले बहुत अधिक था क्योंकि औपनिवेशिक शासन के दौरान विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में कोई उपलब्धि नहीं थी, क्योंकि इस शासन व्यवस्था ने इस क्षेत्र में आगे बढ़ने का कोई पथ

ही नहीं बनाया था और इसी कारण भारत इस क्षेत्र में पिछड़ा रहा। परन्तु भारत को स्वतंत्रता मिलने पर तकनीकी और विज्ञान की महत्ता को स्वीकार किया गया और इसके विकास के सम्बन्ध में कई कदम उठाये गये जो क्षेत्र के विकास में सहायक हुए।

नेहरू जी के आधुनिक भारत के (धर्मनिरपेक्ष) मन्दिर में केवल स्टील, ऊर्जा के कारखाने, सिंचाई के लिए बांध आदि ही शामिल नहीं थे, बल्कि इसमें उच्च शिक्षा संस्थान विशेषकर वैज्ञानिक क्षेत्र भी शामिल थे।

प्रथम योजना के दौरान ही कॉउंसिल आफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च के द्वारा व्यावहारिक शोध करने के लिए उच्च स्तरीय प्रयोगशालाओं और संस्थाएँ स्थापित की गईं, ताकि इससे हर क्षेत्र में शोध किया जा सके। ये क्षेत्र थे—भौतिकी, रसायन, ईंधन, कांच, चीनी, मिट्टी, शिल्प, खाद्य, तकनीकी, दवाइयाँ, विद्युत रसायन, सड़कें, चमड़ा, भवन निर्माण आदि।

प्रत्येक योजना के दौरान वैज्ञानिक शोध और विकास पर राष्ट्रीय व्यय तेजी से बढ़ता रहा। सोवियत संघ के विघटन के बाद भारत को विश्व में वैज्ञानिक और तकनीकी जनशक्ति के निरपेक्ष आकार के आधार पर दूसरे स्थान पर रखा गया था। भारत आज उच्च तकनीकी की दुनिया में भागीदारी और समानता के आधार पर वैश्वीकरण की प्रक्रिया में भागीदारी की सोच सकता है और यह स्वतंत्रता के बाद योजनाबद्ध विकास के कारण ही सम्भव हुआ है।

प्रश्न 3. 1960 के दशक में आयी चुनौतियों का सामना करने में भारतीय अर्थव्यवस्था ने किस प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त की?

उत्तर—1960 के दशक के मध्य से भारतीय अर्थव्यवस्था में कई प्रकार के संकट उत्पन्न हो गये थे, जिन्होंने भारतीय अर्थव्यवस्था के चरित्र को ही बदल दिया। भारत जो एक आदर्श विकासशील देश से तेजी से बदलकर संकीर्ण अर्थव्यवस्था में बदल गयी। इसके कई कारण थे। उन प्रमुख कारणों में जो इस अर्थव्यवस्था के लिए संकट का कारण बने, निम्नलिखित प्रमुख थे:

1965 और 1966 में मानसून की स्थिति लगातार खराब रही, जिसके कारण कृषि क्षेत्र में जड़ता दिखाई देने लगी और इसी खराब मौसम के चलते जो कृषि उत्पादन ठीक प्रकार से नहीं हो पाया उसके कारण कृषि उत्पाद में 17 प्रतिशत और खाद्यान्न उत्पादन में 20 प्रतिशत की गिरावट आयी। मुद्रा स्फीति भी इस दौरान तेजी से बढ़ी।

1963 तक मुद्रा स्फीति पर बहुत नियन्त्रण रखा गया था और यह प्रतिशत की सीमा से आगे नहीं बढ़ पायी थी परन्तु 1965 और 1968 के बीच यह तेजी से बढ़ी और 12 प्रतिशत प्रतिवर्ष हो गयी। इस समय खाद्यान्नों के मूल्य भी लगभग 20 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से बढ़े। इस मुद्रा स्फीति के बढ़ने के कारणों में मुख्यतः सूखा और 1962 और 1965 में क्रमशः चीन व पाकिस्तान के साथ युद्ध थे, जिससे रक्षा खर्चों में बढ़ोत्तरी हुई थी। 1965 के इस युद्ध के परिणामों से भारत उबर ही रहा था कि उसे 1971 का युद्ध फिर

झेलना पड़ा। पूर्वी पाकिस्तान (बंगलादेश) में हुए नरसंहार के कारण 10 मिलियन शरणार्थी भारत आये और इनका बोझ भारतीय अर्थव्यवस्था पर पड़ा।

1960 के दशक में उभरे इन संकटों से उबरने का प्रयास किया गया। विशेषकर इस दशक के मध्य में इन्दिरा गांधी के नेतृत्व में निम्नलिखित सुधारों के माध्यम से इन संकटों से अर्थव्यवस्था को उबरने का प्रयास किया गया:

- भुगतान सन्तुलन की स्थिति सुधारने का प्रयास किया गया।
- गरीबी-विरोधी कदमों को व्यापकता से लागू किया गया।
- खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करने का प्रयास हुआ।
- आयातों पर निर्भरता कम हो, इसके लिए कदम उठाये गये।
- अकालों के प्रभावों का सामना करने का प्रयास हुआ।
- युद्ध और तेल के संकट का सामना करने के लिए महत्वपूर्ण कदम उठाये गए।

इन कदमों को उठाने के बाद खाद्य की स्थिति काफी हद तक तेजी से सुधरी। अच्छे किस्म के बीज, उर्वरक आदि आने से खाद्यान्नों में सुधार हुआ और खाद्य सुरक्षा के निर्माण, गरीबी उन्मूलन आदि में महत्वपूर्ण सुधार हुये।

1967 से 1971 के बीच खाद्यान्नों का उत्पादन 35 प्रतिशत बढ़ चुका था। 1960 के दशक के मध्य में संकट के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था उबरी और इसने खाद्य निर्भरता के साथ-साथ कुछ अन्य विशेषताएँ भी प्राप्त कर ली थीं जो भारतीय अर्थव्यवस्था को अधिक स्वायत्तता और आत्मनिर्भर बनने की ओर इशारा करती हैं।

भारत जो अभी तक बुनियादी वस्तुओं और पूँजी उपकरणों सम्बन्धी अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए दूसरे बड़े देशों पर निर्भर था, उसने इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए एक लम्बा संघर्ष किया, जो कि निवेश और नयी क्षमता के लिए एक आवश्यकता थी। क्योंकि जब भारत को स्वतंत्रता मिली, उस समय इसे कोई भी पूँजी निवेश करने के लिए उपकरण आदि अन्य देशों से आयात करने पड़ते थे। यदि 1950 में देखा जाये तो भारत अपनी जरूरतों का इस समय 89.8 प्रतिशत आयात के माध्यम से पूरा करता था। वहीं 1960 के दशक में इन आयातित उपकरणों का हिस्सा घटकर 43 प्रतिशत रह गया था।

1960 के मध्य तक भारत ने अपना जो विकास किया, वह आयात प्रतिस्थापन पर आधारित नीति के तहत था और इस नीति के तहत भारत का प्रदर्शन भी अच्छा रहा। लेकिन उस समय पूर्वी एशिया में जो परिस्थितियाँ बदल रही थीं और विश्व की परिस्थितियों से जो परिस्थितियाँ उत्पन्न हो रही थीं, उनका लाभ उठाने में भारत असफल रहा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 1960 के दशक में भारत का प्रदर्शन कुछ जगह खराब रहा, तो इस दशक में वह कई क्षेत्रों में उन्नति करने में भी सफल रहा।

प्रश्न 4. क्या 1991 का आर्थिक संकट विकास के मार्ग

में संरचनात्मक दबावों के कारण उत्पन्न हुआ था?

उत्तर—1991 तक भुगतान शेष के बढ़ते हुए संकट ने सरकार की भुगतान शेष प्रबंधन की योग्यता पर एक प्रश्नचिह्न लगा दिया था। इससे विदेशी ऋण के सभी रास्ते बंद हो गये। अतः आंतरिक और बाह्य विश्वास को वापस स्थापित करने की दृष्टि से समष्टि आर्थिक स्थिरता के उपाय आरम्भ करने की अत्यधिक आवश्यकता महसूस हुई। राजकोषीय नीति, मौद्रिक नीति, विनिमय दर नीति तथा मजदूरी-आय नीति में परिवर्तन ही वे उपाय थे जो आर्थिक संतुलन जिसमें बाह्य और आंतरिक दोनों आर्थिक संतुलन शामिल हैं, को स्थिर या अस्थिर करने में सहायक होते हैं। स्थिरता लाने की दृष्टि से इन मुख्य नीतियों में सुधार की आवश्यकता पर बल दिया गया। लेकिन इस समय कई ऐसे कारण मौजूद हो गये थे, जिन्होंने इन नीतियों में परिवर्तन करने के रास्ते भी बंद कर दिये थे। यह कहना मुश्किल था कि इन नीतियों में सुधार किये बिना स्थिरता नहीं लाई जा सकती थी। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर यह बात उठने लगी थी कि हमारी नीतियाँ वस्तुओं की कीमतें तथा संसाधनों के आबंटन को विकृत कर रही थी।

1991 में जो आर्थिक संकट उत्पन्न हो गये थे, वे समस्याएं मुख्यतः तीन थीं, जिनके कारण भारतीय अर्थव्यवस्था पर जोर पड़ रहा था:

1. राज्य के अत्यधिक हस्तक्षेप से लाइसेंस कोटा राज के कारण बहुत ज्यादा अकुशलता का आना।
2. भारत के सबसे बड़े सार्वजनिक क्षेत्र में अकुशलता का आना।
3. भारतीय अर्थव्यवस्था में उभरी कमजोरी।

उपर्युक्त तीनों समस्याओं को हम विस्तार से देखेंगे कि इनके क्या पहलू थे। इसके पीछे क्या कारण रहे, जो ये समस्याएँ इस समय उत्पन्न हुईं। आयात प्रतिस्थापन औद्योगीकरण की रणनीति का अनुसरण करते हुए भारतीय उद्योगों को आयातों से लम्बी अवधि के संरक्षण का परिणाम यह हुआ कि इसने बाहरी प्रतियोगिता को खत्म कर दिया और औद्योगिक लाइसेंस देने की जो पद्धति थी, उसने आन्तरिक प्रतियोगिता को बनाये रखा। इस आन्तरिक और बाहरी दोनों प्रकार की प्रतियोगिता के अभाव में उद्योगों का अकुशल हो जाना स्वाभाविक-सी बात थी और वही हुआ भी। भारतीय उद्योग इस समय अकुशल हो गये। कुछ अन्य कारण जिनके कारण औद्योगिक विकास अवरुद्ध हुआ वह था एम.आर. टी.पी. अधिनियम। अधिनियम अर्थव्यवस्था के जो अनुमाप थे, उनके बुनियादी बिन्दुओं के कारण सिद्धान्त के विरुद्ध था। यह पूंजीवाद विकास के केन्द्रबिन्दु के रूप में काम करता है। इस अधिनियम के द्वारा कुशलता पर भी प्रभाव पड़ता है, क्योंकि इस अधिनियम के द्वारा उन कम्पनियों को प्रतिबंधों का ज्यादा सामना करना पड़ता था जो कुशल उत्पादन, अच्छे प्रबंधन, शोध और विकास के कारण विस्तार करना चाहती थीं। इस अधिनियम में एक बाधक बिन्दु यह भी था कि यह क्षमताओं को बढ़ाने के अनुमति नहीं देता था, जब कोई कम्पनी अपनी निर्धारित सीमाओं

को पार कर जाती थी। छोटे स्तर के उद्योगों को आरक्षित करने का नुकसान यह हुआ कि इन उद्योगों को अनुमापों के लाभ, शोध और विकास की गतिविधियों के लिए बड़े संसाधनों के लाभ से वंचित होना पड़ता था और जो छोटे स्तर के उद्योग थे, उनके लिए जो नीतियाँ बनाई गईं, उसके कारण इन छोटे स्तर के उद्योगपतियों को छोटे स्तर पर ही रहने को मजबूर होना पड़ा। क्योंकि अगर छोटे स्तर के उद्योग कुशल और लाभदायक प्रणाली के कारण अपने प्रतिष्ठान का विस्तार करना चाहते थे, तो छोटे स्तर के उद्योगों को जो रियायतें मिली हुई थीं, उससे वंचित होना पड़ता था, इसी कारण वे अपने को छोटे स्तर के उद्योगों में ही बनाये रखते थे।

भारत में सार्वजनिक क्षेत्र पर जो बल दिया गया, वह औद्योगिक विकास के लिए सहायक बना। इसने प्रमुख क्षेत्रों विशेषकर पूंजीगत एवं भारी उद्योग में प्रवेश कर भारत की औद्योगिक संरचना को विविधता प्रदान किया। इसी कारण भारत में विदेशी पूंजी, विदेशी उपकरण और विदेशी तकनीकी पर निर्भरता कम हुई। यही सार्वजनिक क्षेत्र भारत को विकास के मार्ग पर अग्रसर करने में कामयाब हुआ और औपनिवेशिक शासन के तहत जो दुर्लभ अर्थव्यवस्था थी, उसको इसने सुदृढ़ करने का प्रयास किया। भारतीय अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र अपना काम बड़ी कुशलता से कर रहा था। परन्तु समय के साथ सार्वजनिक क्षेत्र के संस्थानों पर राजनैतिक और नौकरशाही का दबाव पड़ना शुरू हो गया, जिसके कारण इस क्षेत्र पर विपरीत असर पड़ा और यह लगातार नुकसान में जाने लगा। कुछ अन्य कारण से भी सार्वजनिक क्षेत्र को लगातार नुकसान उठाना पड़ा। इसमें निम्नलिखित थे:

- कर्मचारियों की संख्या का अधिक होना।
- राजनेताओं का दबाव।
- राजनेताओं को दायित्वहीन पद देने पड़ते थे।
- उत्तरदायित्व रहित ट्रेड यूनियनवाद का उभरना।
- कर्मचारियों में कुशलता या दायित्व न होना।
- अनियंत्रित भ्रष्टाचार आदि।

ये ऐसे कारण थे जिनके कारण सार्वजनिक क्षेत्र अपने विकास के स्तर को निरंतर बनाए नहीं रख पाया और उसे नुकसान उठाना पड़ा। निम्न कुशलता और निम्न उत्पादकता स्तर के भी काफी गंभीर परिणाम इस क्षेत्र को झेलने पड़े।

भारतीय अर्थव्यवस्था में उभरी कमजोरी के कारण भी 1991 के दशक में संकटों का सामना करना पड़ा क्योंकि स्वतंत्रता के समय भारत ने जो विकास के मार्ग अपनाये थे, उनका जारी रहना जरूरी था। प्रथम तीन योजनाओं को देखा जाये तो इन तीनों योजना अवधियों के दौरान निर्यात पर बल नहीं दिया गया। इसके कारण निराशा का जो माहौल बना उसको परिवर्तित करने में ये आर्थिक नीतियाँ असफल रहीं। यह असफलता इस रूप में नहीं थी कि 1940 और 1950 के दशक के अनुभव से उभरी नीतियों को नहीं अपनाया गया था। बल्कि यह दूसरे विश्व युद्ध के पश्चात् विशेषकर 1960 और 1970 के दशक में अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों और विश्व पूंजीवाद में होने वाले परिवर्तनों के प्रति तेजी से प्रतिक्रिया करने की

अयोग्यता और उसके अनुरूप अपना मार्ग बदलने में असमर्थ थी।

1991 तक की भारतीय अर्थव्यवस्था की नीतियों का अगर विश्लेषण करें, तो यह देखने को मिलता है कि 1951 से 1991 तक किसी एक नीति का अनुसरण नहीं किया गया। वैसे परिवर्तन तो कई क्षेत्रों में किया गया, लेकिन उन सबकी दिशा एक ही थी—हस्तक्षेपी राज्य, केन्द्रीय योजना तथा मिश्रित अर्थव्यवस्था के ढांचे में सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार। विगत वर्षों में विकास के किसी एक मॉडल को न अपनाकर अनेक मॉडलों को आजमाया गया।

प्रश्न 5. 'वित्तीय साझेदारी' के अर्थशास्त्र से 'वित्तीय अपव्ययता' की दिशा में बदलाव के कारण बताइये। इस दिशा परिवर्तन के क्या परिणाम थे?

उत्तर—भारतीय अर्थव्यवस्था में ऐसे समूहों का दबाव भी पड़ना शुरू हो गया था जो राज्य संसाधनों पर तीव्र और सुस्पष्ट अपनी मांग रखने लगे थे। पर सरकार इन मांगों को पूरा करने और उनके द्वारा इन मांगों को लगातार उठाये जाने को भी कम करने में सफल नहीं हुई। इसके परिणाम यह हुए कि 1970 के दशक के मध्य धीरे-धीरे वित्तीय समझदारी का परित्याग कर दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि जो वृहत् आर्थिक संतुलन स्वतंत्रता के बाद लगभग 25 वर्षों तक सरकार बनाये रखने में कामयाब रही थी अब यह धीरे-धीरे कम होना शुरू हो गया।

इस वित्तीय समझदारी और सरकारी व्यय में भी सम्बन्ध था, क्योंकि जैसे-जैसे यह वित्तीय विवेक कम होना शुरू हुआ, इस सरकारी व्यय में बढ़ोत्तरी होनी शुरू हो गई। इस वृद्धि का कुशलता या उत्पादन से कोई लेना-देना नहीं था। यह सरकारी व्यय पारितोषिक और अनुदानों के फैलाव, वेतन वृद्धि आदि की दिशा में काम कर रहा था। इस वित्तीय अपव्यय को हम निम्नलिखित बिन्दुओं में देख सकते हैं, जहाँ इसका अपव्यय हो रहा था:

- जरूरत से अधिक कर्मचारियों का होना व इनके वेतन देना।
- लोकवादी कदमों के लिए भारी ऋण या बजट में भारी राशि का आबंटन करना, जिसका उद्देश्य उत्तम सर्वांगीण विकास न होकर समूह विशेष का समर्थन हासिल करना था।

1980 के दशक तक यह वित्तीय अपव्ययता जारी रही और इस दशक के अन्त तक यह अपव्यय बढ़ा और इसने इस समय एक असंगतता की स्थिति प्राप्त कर ली थी। उदाहरण के लिए जब 1989 में वी.पी. सिंह के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार सत्ता में आई, तो उसने किसानों के लिए ऋण माफ करने की घोषणा की। यदि इस ऋण का आकलन किया जाये तो सरकारी खजाने पर इसका भार 100 बिलियन रुपये से अधिक था। 1980-81 के केन्द्रीय बजट में खाद्यान्न, उर्वरक और निर्यातों पर जो सब्सिडी दी गई थी, उसका अनुमान 15 बिलियन रुपये से ज्यादा था। यह पूंजी की मात्रा उस वर्ष सार्वजनिक क्षेत्र में मशीन-निर्मित उत्पादन में सकल पूंजी निर्माण या निवेश की मात्रा का लगभग आधा था। इससे सरकारी व्यय में बढ़ोत्तरी हुई, वहीं

सरकार या सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा उत्पन्न बचत उनकी बढ़ती हानि के साथ गिरती रही।

वित्तीय अपव्यय के परिणामस्वरूप केन्द्र सरकार और राज्य सरकार का वित्तीय घाटा या आय और व्यय के बीच अन्तर 1974-75 में सकल घरेलू उत्पाद के 4.1 प्रतिशत से बढ़कर 1979-80 में 6.5 प्रतिशत और 1984-85 में 9.7 प्रतिशत और 1991 में 10.4 प्रतिशत की चरम सीमा तक पहुँच गया। सरकार ने इस घाटे से बचने के लिए घरेलू और विदेशी उधार अधिक मात्रा में लेने शुरू कर दिये, जो सही कदम नहीं था। इसके लिए जरूरी था कि सरकारी बचत में वृद्धि करने या सरकारी व्यय में कमी करने की कोशिश की जाती। बढ़ते सरकारी बचत और निवेश के अंतर और वित्तीय घाटे के भुगतान संतुलन तथा ऋण की स्थिति पर एक नकारात्मक प्रभाव पड़ा, क्योंकि सरकार ने इस अंतर से निपटने के लिए भारी मात्रा में उधार का सहारा लिया।

वित्तीय और भुगतान संतुलन की यह स्थिति जो बिगड़ी, इसने ऋण की समस्या को ऊपर उठाने में सहयोग किया। यह ऋण घरेलू और विदेशी दोनों रूपों में लिया गया था। भारत की विदेश विनिमय निधि 1980-81 में 5.85 बिलियन डॉलर से कम होकर 1989-90 में 4.1 मिलियन डॉलर रह गई और इसके अगले वर्ष 1990-91 में और कम होकर 2.24 बिलियन डॉलर रह गई जिससे केवल एक महीने के आयात की पूर्ति ही हो सकती थी। 1990 में जब इराक ने कुवैत पर हमला किया तो तेल के मूल्यों में वृद्धि हो गई और खाड़ी क्षेत्र में भारतीय निर्यातों में गिरावट ने अंशतः विदेशी विनिमय की इस स्थिति को और भयंकर बना दिया। भारत में अन्तर्राष्ट्रीय साख की दर तेजी से गिरनी शुरू हो गयी। विदेशों से साख प्राप्त करना भारत के लिए और मुश्किल हो गया। इसके अलावा भारतीय निवासियों ने विदेशी विनिमय के रूप में जो अपनी राशि जमा की थी, उसे निकालना शुरू कर दिया। ऐसी स्थिति में जब विदेशों से ऋण प्राप्त करना मुश्किल हो गया, तो मार्च 1991 में अपने तत्कालीन सौदों को खरीदने के लिए सरकार को अपना 20 टन सोना स्विट्जरलैण्ड के यूनियन बैंक को बेचने पर मजबूर होना पड़ा।

प्रश्न 6. 1991 के आर्थिक सुधारों के परिणामों की चर्चा कीजिए।

उत्तर—1991 में जब देश में आर्थिक संकट व्याप्त था और देश भुगतान न कर पाने की स्थिति में था, तो इस समय में नरसिंह राव सरकार ने आर्थिक सुधार लागू किये। आर्थिक विकास प्रक्रिया के निम्नलिखित लक्ष्य ऐसे हैं, जिनके अन्तर्गत सुधारों के प्रभाव का मूल्यांकन किया जा सकता है:

1. संवृद्धि की ऊँची दर।
2. रोजगार का सृजन।
3. गरीबी के प्रतिशत में कमी।
4. आर्थिक आय एवं सम्पत्ति की समानता।
5. क्षेत्रीय असमानता।

इसमें कोई संदेह नहीं कि इन आर्थिक सुधारों की प्रक्रिया

190 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

अपनाये जाने के बाद सकल घरेलू उत्पाद में अपेक्षाकृत उच्च वृद्धि दर दर्ज की गई। पहले दो वर्षों अर्थात् 1991-92 और 1993-94 की आरंभिक कठिनाइयों के बाद 1993-94 से 1997-98 के दौरान औसत वृद्धि दर 7 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी, लेकिन इसके बाद सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि दर में गिरावट आ गई। 2000-01 में सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि दर मात्र 4 प्रतिशत वार्षिक थी।

भारत में आर्थिक सुधार और निर्धनता में कमी के सम्बन्ध में जो आंकड़े हैं, वह यह दर्शाते हैं कि भारत में गरीबी कम करने के प्रयास में 1983 से 1990-91 तक लगभग 3.1% की दर से वार्षिक कमी लाई गई। परन्तु 1990-91 और 1996-97 के बीच यह पलट कर केवल एक प्रतिशत हो गई। इन आर्थिक सुधारों को लागू करने के उपरान्त गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाली जो जनसंख्या थी, जिसका प्रतिशत 1983 में कुल 44.48% था, यह 1991 तक कम होकर 35.11 % हो गया।

1991 में जो आर्थिक सुधार लागू किये गये थे, वे मुख्यतः इस प्रकार थे:

1. तत्कालीन वित्तीय संशोधन।
2. बाजारों से जुड़ी ज्यादा यथार्थवादी विनियम दर का निर्माण करना।
3. व्यापार और औद्योगिक नियंत्रण का उदारीकरण करना।
4. आयातों में स्वतंत्रता देना।
5. औद्योगिक लाइसेंस पद्धति समाप्त करना।
6. एम.आर.टी.पी. की समाप्ति करना।
7. सार्वजनिक क्षेत्र में सुधार करने थे।
8. धीरे-धीरे निजीकरण को बढ़ावा देना।
9. पूंजी बाजारों का सुधार करना।
10. वित्तीय क्षेत्र में व्यापक सुधार करना।
11. बहुराष्ट्रीय निगमों और निवेश पर लगे प्रतिबंधों को हटाना।
12. विदेशी प्रत्यक्ष निवेश को बढ़ावा देना।
13. अर्थव्यवस्था को आंतरिक नियंत्रण से मुक्त करना, जो इसके विकास को अवरुद्ध कर रहे थे।
14. विश्वव्यापी वैश्वीकरण की प्रक्रिया को अपने लाभ के लिए ढालना।

जब ये सुधार लागू किये गये, तो आरंभिक वर्षों में इन सुधारों के लागू होने से सुधार की दिशा में अच्छी प्रगति हुई। हालांकि कुछ समस्याएँ और चुनौतियाँ अभी भी बनी हुई थीं। यह जो गहरा आर्थिक संकट भारत में छा गया था, अब भारत ने इससे तेजी से उबरना शुरू कर दिया था। वित्तीय स्थिति को आसानी से नियंत्रित किया गया।

बाहरी क्षेत्र में भी काफी सुधार हुआ। निर्यातों में 1991-92 के दौरान डॉलर के मूल्य में 1.5 प्रतिशत की गिरावट दर्ज की गई थी। इससे 1993-96 की अवधि के बीच तेजी से सुधार हुआ और लगभग 20% की औसत विकास दर बनाये रखी और एक महत्वपूर्ण सुधार यह हुआ कि भारत ने अब आत्मनिर्भरता इस हद तक प्राप्त कर ली थी कि जो आयात हो रहे थे, अब उनके भुगतान का काफी बड़ा हिस्सा निर्यात करके चुकाया जा सकता था।

इन आर्थिक सुधारों का प्रारूप इस प्रकार बनाया गया था कि ये भारत को उच्च विकास के मार्ग पर ले जा सकते थे और इसके साथ-साथ गरीबी के स्तर को भी कम करना था। इससे गरीबी पर क्या असर होगा यह भी सोचने वाली बात थी, क्योंकि स्थायित्व को भुगतान संतुलन और वित्तीय घाटे को कम करने के प्रयास के साथ लागू करना था। इससे यही आशा की जा रही थी कि सरकारी व्यय कम होगा जो गरीबी को खत्म करने के लिए जरूरी भी था। लेकिन भारत में जो प्रारंभिक स्थायीकरण कार्यक्रम लागू हुआ, वह सफल रहा और इसमें बहुत कम समस्याएँ सामने आईं। गरीबी के सम्बन्ध में आंकड़ों को देखने से लगता है कि 1993-94 में गरीबी की परिस्थिति में काफी सुधार हुआ। 1992 की तुलना में 1993-94 में गरीबी का स्तर दोनों ग्रामीण और शहरी गरीबी का स्तर काफी गिर गया था। इन सुधारों का गरीबी पर बहुत कम नकारात्मक प्रभाव पड़ा जैसे कि अनुमान लगाये जा रहे थे कि इन सुधारों के आने से गरीबी का स्तर बढ़ जायेगा। इन सुधारों ने गरीबों के लिए खतरा पैदा नहीं किया और वास्तव में अर्थव्यवस्था के विकास की पूर्ण सम्भावनाओं के स्वतंत्र हो जाने से उसकी स्थिति सुधरती ही है।

गरीबी का स्तर सुधारने में इस बात ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई कि 1993-94 में सरकार ने सामाजिक सेवाओं और ग्रामीण विकास का कुल व्यय बढ़ा दिया था।

इन सुधारों को लागू करने से विकास की दशा में अच्छे सुधार हुए परन्तु अभी और आगे इस विकास की दिशा को ले जाना था और इसके लिए लगातार आगे विकास की दिशा में काम किया जा रहा था, परन्तु राजनैतिक उथल-पुथल जिसमें केन्द्र में किसी एक राजनैतिक दल को बहुमत न मिलने से इन सुधारों की दिशा में थोड़ा अवरोध जरूर आया। क्योंकि कोई भी सरकार लोकवादी कदमों से हटकर कठोर लेकिन आवश्यक निर्णय लेने का साहस नहीं कर पा रही थी, इसलिए सार्वजनिक बचत में वृद्धि करने और सरकारी व्यय में कमी करने का कोई भी गम्भीर प्रयास नहीं किया गया। उच्च वित्तीय घाटे की जो समस्या थी, वह भी बनी रही। ■ ■

उदारीकरण की राजनीतिक अर्थव्यवस्था

15

प्रस्तावना

भारत के आर्थिक इतिहास पर पिछले कुछ दशकों पर यदि विचार किया जाता है, तो हमें अपने ध्यान में कुछ प्रश्नों को अवश्य रखना चाहिए और उन्हीं को अपने अध्ययन का केन्द्रबिन्दु मानकर उसके चारों ओर के तथ्यों को जानना और समझना चाहिए। ऐसे ही कुछ सवाल ये हैं :

- 1970 के दशक के संकट के कारण? इन संकटों से कैसे निपटा गया?
- आर्थिक गतिविधि की हिन्दू विकास दर जो 3.5 प्रतिशत थी, यह 1980 के दशक में 5.6 प्रतिवर्ष पर कैसे पहुंच पायी?
- उदारीकरण के साथ जुड़ी राजनीतिक अर्थव्यवस्था की आकृतियाँ कौन-सी हैं?
- इस आर्थिक इतिहास में जो परिवर्तन हुए, उन्होंने भारतीय भौतिक परिस्थितियों को किस प्रकार प्रभावित किया?
- इन परिवर्तनों से क्या समाज और राजनीतिक व्यवस्था में भी बदलाव आया?

उपर्युक्त प्रश्नों को यदि अध्ययन की दृष्टि से ध्यान में रखा जायेगा, तो हमें इस आर्थिक इतिहास को जानने और समझने में आसानी होगी। भारतीय आर्थिक इतिहास के इन परिवर्तनों को जानने के लिए इस अध्याय में चर्चा की जा रही है, जिसके मुख्य बिन्दु इन दिये गये प्रश्नों पर ही केन्द्रित हैं।

भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास और विस्तार

नीचे जो तालिका दी जा रही है, हम उसके आधार पर अलग-अलग वर्षों में सकल घरेलू उत्पाद और प्रतिव्यक्ति शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद को देख सकते हैं। यहाँ सकल घरेलू उत्पाद (G.D.P.) और प्रति व्यक्ति शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (N.N.P.) को 1993-1994 के स्थायी मूल्यों के आधार पर मापा गया है।

राष्ट्रीय आय की वार्षिक विकास की दरें

अवधि (अप्रैल से शुरू वर्ष)	सकल घरेलू उत्पाद	प्रति व्यक्ति शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद
1950-52 से 1960-62	3.9	1.8
1960-62 से 1970-72	3.5	1.2
1970-72 से 1980-82	3.5	1.0
1980-82 से 1990-92	5.6	2.9
1990-92 से 2000-02	5.6	3.5

उपर्युक्त तालिका से पता चलता है कि सकल घरेलू उत्पाद की दरें बाद के वर्षों में तेजी से बढ़ी हैं। इसका कारण प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि, जनसंख्या वृद्धि की दर में गिरावट आदि हैं। यह विकास कुछ संरचनात्मक परिवर्तनों के कारण भी सम्भव हो पाया परन्तु यह उतना अधिक नहीं था, जितना इसे होना चाहिए था। यह विकास और अधिक हो सकता था, परन्तु जितनी उम्मीद थी, उतना विकास नहीं हो पाया। समय के साथ-साथ अर्थव्यवस्था में निवेश तो बढ़ा लेकिन प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि धीमी ही रही। इसकी तेजी से वृद्धि की आशा की जा सकती थी, क्योंकि भारतीय अर्थव्यवस्था एक विकासशील अर्थव्यवस्था है और निवेश के साथ-साथ प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि होना स्वाभाविक-सी बात होती है। यह वृद्धि हुई तो, परन्तु इसकी गति धीमी ही रही। यदि हम निवेश की दरों को देखें, तो यह लगातार बढ़ती है।

भारतीय अर्थव्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तन

G.D.P. प्रतिशत

अवधि (अप्रैल निवेश दर से शुरू वर्ष)	प्राथमिक	द्वितीयक	तृतीयक
1950-52	15.5	59	13.4
1960-62	19.4	53.1	17.3
1970-72	23.8	46.6	20.4
1980-82	22.0	41.3	21.8
1990-92	26.0	34.4	24
2000-02	26.2	26.1	24.7

192 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

लेकिन अन्तिम दशक तक आते-आते इस निवेश दर में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ। प्राथमिक और द्वितीयक क्षेत्र को देखने से लगता है कि उनमें अधिक परिवर्तन नहीं हुए, परन्तु तृतीयक क्षेत्र का हिस्सा बढ़ा है और इसकी यह दर उस स्तर तक पहुँच जाती है, जब यह राष्ट्रीय आय के लगभग आधे हिस्से के बराबर हो जाता है। कृषि पर आधारित रोजगार में कमी आई और राष्ट्रीय आय में भी कृषि क्षेत्र का हिस्सा बना हुआ है। परन्तु कृषि में कार्य करने वाले श्रमिकों का अनुपात अभी भी 60 प्रतिशत से अधिक ही है। निवेश के कारण 2002 के अन्तिम दशकों के उद्योगों में बढ़ोतरी तो नहीं हुई, लेकिन यह सेवा क्षेत्रों पर अपनी पकड़ बनाता है।

आर्थिक नीति: पृष्ठभूमि

भारत में जिस आर्थिक नीति की स्थापना हुई, उसकी जड़ें स्वतंत्र संघर्ष से ही उपजी थीं। स्वतंत्रता से पूर्व की जो अर्थव्यवस्था थी उसमें ज्यादातर महानगरीय पूँजी और महानगरीय वस्तुओं का बोलबाला था। जब आजादी मिली, तो भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए नये आयामों का तय होना जरूरी था; जैसे

- इस महानगरीय प्रभुत्व से मुक्ति।
- राज्य को स्वतंत्र भारत में आधारभूत ढाँचे का निर्माण करना।
- अर्थव्यवस्था में जो उत्पादक आधार था, उसे विस्तारित और सुदृढ़ करना।
- नई वित्तीय संस्थाओं की स्थापना।
- आर्थिक गतिविधियों पर राज्य को अपना नियंत्रण बनाना।

उपर्युक्त बिन्दु एक सुदृढ़ और समन्वित अर्थव्यवस्था के लिए जरूरी थे और राज्य को इनको लागू भी करना था।

भारत को जब स्वतंत्रता प्राप्त हुई, तो राज्य को सकारात्मक रूप से काम करना था। पहले की बनी व्यवस्थाओं को प्रतिस्थापित करना था और नई व्यवस्थाओं को स्थापित करने का समय आ गया था। इस समय विकास की जो रणनीति बनाई गई, उसकी कई विशेषताएँ थीं, जिन्होंने विकास की इस संरचना को सकारात्मक रूप दिया। स्वतंत्रता के बाद ये परिवर्तन हुए तो परन्तु धीमी गति से; जैसे भूमि सुधार के सम्बन्ध में देखा जाये तो जोतदार को भूमि प्रदान करने, आर्थिक शक्ति के संकेन्द्रण को रोकने के साथ सम्पत्ति और आय की असमानता को ठीक करने के सम्बन्ध में ज्यादा कुछ परिवर्तन नहीं हो सके। भूस्वामित्व को खत्म किया गया, परन्तु अधिकांश ग्रामीण भारत में भूमि पर एकाधिकार वैसे का वैसे ही बना रहा। एकाधिकारवादी व्यवहारों पर अंकुश तो लगाये गये, परन्तु औद्योगिक क्षेत्र में सम्पत्ति के संकेन्द्रण को वास्तव में कभी चुनौती नहीं दी गई। भारत का जो एकाधिकार सम्पन्न वर्ग था, वह राज्य को अपने हित के लिए ऐसे साधन के रूप में इस्तेमाल करने में कामयाब रहा, जहाँ उसकी वह एकाधिकारवादी धारणा सुदृढ़ और विस्तारित हो सकती थी।

सम्पत्ति और आय में असमानता बनी रही। इसके पीछे कुछ ठोस कारण थे, जिनके कारण यह बनी रही; जैसे

- देश में उपभोक्ता वस्तुओं के बाजारों के विस्तार की सीमाएँ थीं।
- निजी क्षेत्र में रोजगार और आय में वृद्धि, सीमित थी।
- ज्यादातर किसान काश्तकारी की असुरक्षित परिस्थितियों में घिरे हुए थे।
- किसान अपने द्वारा उत्पादित हिस्से से बहुत थोड़ा हिस्सा ही पा रहे थे। इसी कारण उनके पास निवेश के साधन नहीं थे और न ही उन्हें प्रोत्साहन मिला था।
- ग्रामीण भारत में घरेलू मांगों को प्रोत्साहित नहीं किया जा रहा था, जिससे उत्पादकता और आय में वृद्धि हो सके।
- कृषि उत्पादन तो स्वतंत्रता से पूर्वकाल की अपेक्षा बढ़ा था, परन्तु यह उतना अधिक नहीं था, जितना अपेक्षाकृत होना चाहिए था।
- कृषि क्षेत्र में विकास के लिए जो कार्य हुए, वे एक सीमित वर्ग तक ही थे, जिन्होंने इसका लाभ उठाया; जैसे-पूँजीपति, भूस्वामी।
- इस समय तो औद्योगिक विकास भी उस स्तर का नहीं हो पाया था कि इस क्षेत्र को इसके द्वारा बढ़ावा मिलता।

उपर्युक्त परिस्थितियों को ध्यान में रखकर राज्य अपनी गतिविधियों का निर्धारण करता था। बाजारों के विकास के लिए राज्य लगातार काम करता था, क्योंकि जो भी क्रियाशीलता व्यवस्था में प्रदर्शित की गई थी, उसमें यह एक महत्वपूर्ण अवयव था। इसके अतिरिक्त सरकार के सामने यह चुनौती थी कि जो घरेलू औद्योगिक पूँजीपतियों की शक्ति और जुझारूपन था, उसे देखते हुए सरकार उन्हें एक हद तक ही अनुशासित कर सकती थी। स्वतंत्र भारत में प्रारंभिक वर्षों में विकास के लिए जो भी क्रियाकलाप हुए, उसमें राज्य की ही भूमिका थी। उसके प्रोत्साहन से ये विकसित हुए। इन विकासों को बढ़ावा देने के लिए राज्य ने व्यापार संरक्षण को विस्तृत किया। घरेलू बाजारों में जो वस्तुओं का आयात हो रहा था, उसे नियंत्रित किया गया। घरेलू बाजार के लिए जो घरेलू पूँजीपति अपनी मशीनों द्वारा उत्पादन कर रहे थे, उसके लिए एक बड़े बाजार की स्थापना की गई। इस बाजार को विस्तारित करने की दिशा में कदम उठाये। स्वतंत्रता के बाद जो रणनीति भारतीय सरकार द्वारा बनाई गई थी, उसके परिणाम अच्छे हुए और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी इस रणनीति को सराहा गया। भारत एक विविधीकृत औद्योगिक विकास के लिए आधारभूत सेवाओं, औद्योगिक कच्चे माल और पूँजीगत वस्तुएं उपलब्ध करा सका।

भारत ने स्वतंत्रता के बाद उद्योगों व बाजारों को प्रोत्साहन देने के लिए कदम उठाये। उनकी अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी सराहना की गई, क्योंकि यह एक मजबूत उभरती हुई अर्थव्यवस्था के लिए जरूरी थे।

आर्थिक डिरिजिस्म का संकट

आर्थिक डिरिजिस्म का संकट जानने से पहले हमें यह जानना जरूरी है कि डिरिजिस्म क्या होता है। यह फ्रांसीसी मूल की अभिव्यक्ति है, जो राज्य को आर्थिक और सामाजिक सम्बन्ध में निर्देश और नियंत्रण की नीति बताती है।

1950 के दशक में जो हस्तक्षेपवादी शासन प्रणाली स्थापित की गई, उसमें आन्तरिक अंतर्विरोध थे, जिसने इसके सामाजिक स्थायित्व के साथ-साथ आर्थिक व्यवहार्यता को भी समाप्त कर दिया। अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी बाजारों का जो विस्तार और विकास हुआ उसने और इसके कारण जो निजी पूंजी का आगमन हुआ, उसने भारतीय शासन व्यवस्था की समस्याओं को बढ़ा दिया, जो बंधनकारी विदेशी विनिमय के दबावों से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण पूर्वाभासों पर आधारित थी। इस तरह की परिस्थितियों के पीछे जो कारण थे, जिन्होंने नवउदारवादी आर्थिक सुधारों के पक्ष में नीति निर्माण की दिशा में स्पष्ट परिवर्तन करने को व्यवस्था को मजबूर किया वे थे परिवेश में परिवर्तन एवं पहले से चली आ रही व्यवस्था के अन्तर्गत घरेलू अन्तर्विरोधों का प्रभाव। 1990-91 की सट्टेबाजी द्वारा उत्पन्न संकट ने आर्थिक सुधारों की दिशा को बढ़ावा दिया।

प्राथमिक प्रतिरूप के जो उद्देश्य बनाये गये थे, वे तीन कारणों या इन्हें हम अंतर्संबंधों से जुड़े अंतर्विरोध कह सकते हैं, जो एक दूसरे को मजबूती प्रदान करते थे।

राज्य को दो भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ निभानी पड़ रही थीं, जिसका कारण था पहले की आर्थिक प्रणाली जो लम्बी अवधि से व्याप्त थी और असंगत भी थी। राज्य को बढ़ते व्यय को, निवेश व्यय को घरेलू बाजारों के विस्तार को बनाये रखना था लेकिन इसी के साथ-साथ राज्य का खजाना उस माध्यम का काम भी करता था जिसके द्वारा पूंजीपति और पूंजीपति जैसे समूहों को बड़े पैमाने के हस्तांतरण किये जाते थे जिससे राज्य प्रभावशाली रूप में घरेलू पूंजीपति वर्ग के विभिन्न प्रारूपों के लिए प्राथमिक संचय का सबसे महत्वपूर्ण साधन बन गया।

इन अन्तर्विरोधों से राज्य का वर्ग चरित्र भी प्रतिबिम्बित होता था, जो स्वतंत्रता के बाद प्रथम तीन दशकों में लेखकों के बीच चर्चा का मुख्य बिन्दु रहा। विभिन्न लेखकों ने राज्य की प्रकृति के बारे में अपने-अपने विचार रखे।

केलकी (1964) ने राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में कहा है कि यह एक मध्यवर्ती शासन प्रणाली है यानी उन्होंने इस प्रणाली को उस रूप में देखा जो कि शहरी निम्न मध्यम वर्ग और समृद्ध किसान वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करती है। वे आगे कहते हैं कि इस प्रकार की व्यवस्था में सामंतों भूस्वामी और अर्थव्यवस्था के बड़े पूंजीपतियों के बीच टकराव की स्थिति होती है। जो निम्न मध्यम वर्ग में सक्रिय उद्यमी होते हैं, उनकी योग्यता घटती है, के.एम. राज ने इस धारणा को भारतीय मामले में लागू किया, परन्तु उनकी इस व्याख्या पर मुख्य रूप से राज्य की प्रकृति के चरित्र-चित्रण पर विवाद हुआ। अन्य विद्वान राज्य की प्रकृति जिनमें पटनायक,

मिश्रा, चन्द्रा आदि महत्वपूर्ण विद्वान हैं, उन्होंने राज्य की प्रकृति को ग्रामीण भू-सम्पत्तिवान वर्गों और एक ऐसे बड़े औद्योगिक पूंजीपति वर्ग जो महानगरीय पूंजी के अन्तर्संबंधों से प्रभावित था, के गठबंधन के रूप में देखा।

कुछ अन्य विद्वान भारतीय अर्थव्यवस्था को संरक्षण और पुरुषकार के एक जटिल जाल के रूप में देखते हैं। वे इसकी विशेषता दबाव समूह बताते हैं। ऐसे विद्वानों में वर्धन का नाम अग्रणी है।

अन्य विद्वान जिनमें रूडोल्फ मुख्य हैं, वे राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में अपनी विचारधारा में राज्य को स्वायत्त तीसरे कर्ता के रूप में मानते हैं जिसका संसाधनों पर तो नियंत्रण होता है और इसी कारण उसके पास शक्ति होती है जिसमें वर्ग की राजनीति नहीं होती है और इस तरह की प्रकृति रखने वाले राज्य धर्म, भाषाई समुदायों के अधीनस्थ रहता है। भारतीय राज्य की प्रकृति और बाजारों की कार्यप्रणाली सामाजिक और ऐतिहासिक प्रक्रियाओं द्वारा निर्धारित होती है और इसने बाद के वर्ग-विन्यास को भी प्रभावित किया है।

ये अन्तर्विरोध प्रत्यक्ष रूप से औद्योगिक गतिविधियों को प्रभावित करते हैं। यह प्रत्यक्ष रूप से हमें 1950 के दशक और 1960 के आधे दशक में दिखाई पड़ते हैं। इन पन्द्रह वर्षों में औद्योगिक विस्तार हुआ और इसके बाद मशीन-निर्मित वस्तुओं के उत्पादन में गिरावट आय। 1970 के दशक के प्रारंभ में डिरिजिस्म शासन प्रणाली का संकट स्पष्ट हो चुका था और इससे पूर्व के दशकों में जो आयात को घटाने की प्रक्रिया शुरू हुई थी, उस पर दबाव पड़ रहे थे। 1973 में तेल मूल्यों के झटके ने मुद्रा स्फीति को बढ़ा दिया। 1973-75 की अवधि में मूल्यों में बढ़ोत्तरी हुई और देश में इस समय सामाजिक राजनीतिक असंतोष भी व्याप्त था। 1980 के दशक में मुद्रा स्फीति में कमी आती है और 1990 के दशक में यह और भी कम हो गई। इसीलिए 1980 के दशक में मुद्रास्फीति पर नियंत्रण आवश्यक रूप से भारतीय अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत होने वाले परिवर्तनों को प्रतिबिम्बित करता है।

1980 और 1990 के दशकों का आर्थिक पुनर्लाभ

1980 के दशक में विकास में जो अवरोध उत्पन्न हुआ, उसको सरकार ने व्यय द्वारा अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहन देकर तोड़ा और इसके लिए अत्यधिक बाह्य व्यापारिक उधार लिया और इस अवरोध को कम करने के लिए सरकार ने उन तैयार वस्तुओं के उत्पादन पर जोर दिया, जो पूंजीगत वस्तुओं और मशीनों से निर्मित थीं। यह आयात का उदारीकरण ही था, जिसके कारण बिना अधिक मुद्रास्फीति के सार्वजनिक क्षेत्र के नेतृत्व में विकास का प्रतिरूप कुछ और समय तक जारी रहा।

1970 के दशक के पूर्वार्द्ध में कृषि वस्तुओं के मूल्यों में बढ़ोत्तरी हुई इसे 1985 तक ही प्रभावशाली रूप से नियंत्रित किया जा सका। इस समय घरेलू व्यापार भी औद्योगिक विस्तार के अनुकूल बन गया पाया। इसके पीछे जो कारण थे, वे इस प्रकार थे :

194 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

- 1980 के दशक में कृषि मूल्य विश्व में कम हो रहे थे।
- 1980 के दशक में भारतीय अर्थव्यवस्था में अपेक्षाकृत कम रोजगार उत्पन्न हुए जिससे खाद्य की अपेक्षाकृत कम मांग का होना था। क्योंकि यदि ज्यादा रोजगार उत्पन्न होता है, तो स्थिति इसके ठीक विपरीत होती। अर्थात् यदि रोजगार बढ़ता है, तो खाद्य की मांग भी बढ़ जाती है।
- 1980 के दशक के मध्य से एक दशक तक भारतीय कृषकों ने प्राथमिक उत्पादों के उत्पादन से अलग अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जिन उत्पादों की मांग थी, उनके उत्पादन की ओर भी अपना रुझान बढ़ाया।
- 1980 के दशक में ही एक परिवर्तन यह भी हुआ कि आयातित मशीन-निर्मित वस्तुओं के उदारीकरण ने भी कुछ हद तक कृषि के लिए व्यापार की शर्तों को सुनिश्चित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

लेकिन 1980 के दशक के अन्त में यदि हम देखें तो व्यापार के उदारीकरण ने किसानों को गिरते अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों के सामने खुला छोड़ दिया जिससे दोबारा कृषि के घरेलू सापेक्ष मूल्यों की स्थिति बिगड़ गई।

1980 के दशक का यदि मूल्यांकन किया जाये, तो इस दशक में हम भारतीय अर्थव्यवस्था में सीमित उदारीकरण के होने के साथ-साथ भारतीय आर्थिक विकास अभी भी सरकार द्वारा व्यय के माध्यम से दिये गये प्रोत्साहन पर निर्भर करता था, न कि निर्यातों के विस्तार पर। ऐसे सरकारी व्यय के माध्यम से अतिरिक्त संसाधनों को गति देने और अन्य कदमों को एक साथ चलाने में सफल नहीं हो सकता। व्यापार के उदारीकरण द्वारा समर्थ किये गये आयातों के माध्यम से मुद्रा स्फीति को नियंत्रित करने के लिए और अधिक बाह्य उधार की जरूरत थी, ताकि बढ़ते चालू खाते के घाटे को पूरा करने के लिए वित्त उपलब्ध हो सके।

स्वतंत्रता के बाद पहले दो दशकों में जो आर्थिक विकास हुआ, उसमें सार्वजनिक निवेश की भूमिका अहम थी, जिसमें कृषि और उद्योग दोनों में निजी निवेश के साथ मजबूत सकारात्मक सम्बन्ध दिखाई देते हैं। 1980 के दशक में सार्वजनिक निवेश और सकल घरेलू उत्पाद के हिस्से के रूप में लगातार बढ़ता रहा। इस समय इसने निजी निवेश के प्रोत्साहन के लिए भी सकारात्मक रूप से कार्य किया। लेकिन 1990 के दशक के उत्तरार्द्ध में सार्वजनिक और निजी निवेश के रुझान अलग-अलग हो गये। जहाँ सार्वजनिक निवेश सकल घरेलू उत्पाद के हिस्से के रूप में तेजी से कम हुआ, वहीं निजी निवेश लगातार बढ़ता रहा। इस प्रकार यदि कुल निवेश की दर को देखा जाये तो वह स्थायी ही रही क्योंकि जब निजी निवेश कम था तो सार्वजनिक निवेश अधिक था। जब सार्वजनिक निवेश कम हुआ, तो निजी निवेश बढ़ा। कुल मिलाकर अर्थव्यवस्था में जो निवेश हो रहा था, वह स्थायी बना रहा।

कुछ अर्थशास्त्री इस सार्वजनिक निवेश के कम हो जाने वाली स्थिति की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि भारतीय उद्यमियों

की राज्य पर निर्भरता कम हो गयी और वे राज्य के चंगुल से निकल गये। आर्थिक उदारवाद का जो यह दौर आया, इसके कारण राज्य की गतिविधियाँ कम हो गईं और निजी निवेश को प्रोत्साहन मिला। यह विचार यह भी बताता है कि राज्य का नियन्त्रण हटा और व्यापार का जो उदारीकरण हुआ उसके द्वारा विकास का एक अच्छा मार्ग तैयार हो गया। इसके माध्यम से राज्य अपना व्यय घटा सकता था और निवेशकों को इस अन्तर को पूरा करने की अनुमति दे सकता था। अर्थात् राज्य ने अपना नियन्त्रण और व्यय कम करके विकास का एक अच्छा मार्ग अपनाया।

आयात के उदारीकरण का यह दौर शुरू हुआ, तो इससे मशीन-निर्मित वस्तुओं के उत्पादन की गतिविधियों में कुछ वृद्धि हुई, क्योंकि उपभोक्ता वस्तुओं की एक श्रेणी के लिए बढ़ी हुई मांग की बढ़े हुए आयात उत्पादन से पूरा करने का प्रयास किया गया। लेकिन यह घरेलू बाजार में एक बार फिर सबके लिए वृद्धि को दर्शाता था, जो समय के साथ कम हो गयी थी, क्योंकि इसमें इन क्षेत्रों में हुई रोजगार में वृद्धि को सम्मिलित नहीं किया गया था।

लेकिन यदि सार्वजनिक निवेश मात्र की बात की जाये, तो वित्तीय प्रोत्साहन का यह जो चरित्र सामने आता है, वह ठीक प्रकार से स्पष्ट नहीं हो पाता है। क्योंकि जो सरकारी व्यय हुआ, उसकी भूमिका को जानने और उससे अर्थव्यवस्था को क्या लाभ हुए, यह जानना भी जरूरी है। इस सार्वजनिक व्यय के कारण रोजगार में वृद्धि हुए और इसने निजी गतिविधियों को अधिक प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष मांग उत्पन्न करने के लिए भी प्रोत्साहित किया। यह सम्बन्ध हमें 1975 से 1986 तक ज्यादा देखने को मिलता है। इसी अवधि में सरकारी व्यय का हिस्सा भी तेजी से बढ़ा। 1980 के दशक में दिखाई देने वाली विकास की उच्च दरों से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि सार्वजनिक व्यय ने उस समय की अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण आर्थिक विकास को प्रोत्साहित किया।

1980 के दशक के उत्तरार्द्ध पर चर्चा की जाये, तो हमें इस समय सकारात्मक परिणाम नजर आते हैं, जो ग्रामीण भारत के लिए लाभदायक साबित हुए। इस समय जो सरकारी व्यय किया गया, उसके परिणाम विशेष रूप से ग्रामीण भारत में ही देखने को मिलते हैं। इस समय में सरकार द्वारा अनुदान और हस्तांतरणों में वृद्धि हुयी और ग्रामीण भारत के लोगों को इसका फायदा भी मिला। ये अनुदान और हस्तांतरण केन्द्र सरकार और राज्य सरकार दोनों के द्वारा दिये जा रहे थे और इनमें लगातार वृद्धि हो रही थी। इस राजनीतिक पहल ने ग्रामीण भारत को शक्ति सम्पन्न बनाने का महत्वपूर्ण प्रयास किया और इन सरकारी लाभों का ग्रामीण क्षेत्रों को लाभ मिला भी, जिससे वे शक्ति प्राप्त करने में सफल हुए और विकास की दिशा को पहचानने में भी कामयाब हुए। यह जो संसाधनों का वितरण केन्द्र सरकार और राज्य सरकार द्वारा किया जा रहा था, इसमें ग्रामीण क्षेत्रों के विकास की योजनाएँ भी शामिल थीं, जिसको ग्रामीण क्षेत्रों को लाभ पहुँचाने की दृष्टि से लागू किया जा रहा था। हाँ, इससे यह होना भी जरूरी था कि ग्रामीण क्षेत्रों में

जो आभिजात्य वर्ग निवास करता था, उसको अधिक लाभ मिलता, और ऐसा हुआ भी। इस वर्ग ने इसका अधिक लाभ उठाया। हालांकि ये कार्यक्रम और योजनाएं ग्रामीण भारत में पहुँचने में पूरी तरह सफल नहीं हो सके, परन्तु इनसे ग्रामीण भारत को चाहे कम मात्रा में ही मिला, लाभ अवश्य मिला और इन्होंने ग्रामीण क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के रोजगार पैदा किये, जिसका लाभ ग्रामीणों को मिला और यह आर्थिक विकास का ज्यादा विस्तृत रूप ग्रामीण भारत तक पहुँचा।

ग्रामीण भारत के सम्बन्ध में सरकार ने जो कदम उठाये थे, उनका पूरा-पूरा लाभ भले ही ग्रामीणों को न मिला हो परन्तु यह लाभ मिला जरूर, जिससे आर्थिक विकास विस्तृत हुए और ग्रामीण क्षेत्र शक्ति प्राप्त करने में कामयाब हुए। जैसा कि पहले भी कहा गया है कि 1985 के बाद में वित्तीय प्रोत्साहन कम होते चले गये। 1990 में सकल घरेलू उत्पाद में सरकारी व्यय का अनुपात कम हो गया। इसी दशक में वित्तीय उदारीकरण के कदमों ने सरकारी उधार लेने की लागत काफी बढ़ा दी, जिससे केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकार के कुल ब्याज के भुगतान और भी अधिक महत्वपूर्ण हो गये। वे इस दशक के अन्त तक सकल घरेलू उत्पाद के 7.3 प्रतिशत तक बने रहे।

अब प्रश्न यह उठता है कि 1980 के दशक के उत्तरार्द्ध और 1986 के पश्चात् वित्तीय प्रेरक शक्ति में जो गिरावट दर्ज की जा रही थी, उसके बावजूद भी इस अवधि में विकास की यह दर किस कारण बनी रही।

वित्तीय अवस्थिति को कम कर दिया गया था, परन्तु यह फिर भी इस समय तक काफी महत्वपूर्ण रही और 1993 के आसपास सकल घरेलू उत्पाद के 26 प्रतिशत से अधिक थी। 1990 के दशक के मध्य में आयात के उदारीकरण ने काफी उछाल पैदा किया और इस अवधि में विकास काफी ऊँचे स्तर पर बना रहा। इसके साथ-साथ निजी निवेश में भी उछाल आया था। सकल घरेलू उत्पाद के हिस्से के रूप में जो निजी निवेश हो रहा था, वह 1995 में अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया था। उसके बाद तो यह सकल घरेलू उत्पाद के 16 प्रतिशत के आसपास स्थिर हो गया। जो वित्तीय प्रोत्साहन दिया जा रहा था, वह 1998 में फिर बढ़ना शुरू हुआ परन्तु यह उस स्तर को प्राप्त नहीं कर सका जिस स्तर पर यह 1980 के दशक में पहुँच गया था। यह अभी भी उस स्तर से नीचे ही बना रहा। 1990 के दशक में विकास की जो गति धीमी हो गयी थी वह इसी कारण से हुई। यह इस बात को दर्शाता है कि अभी तक भारतीय अर्थव्यवस्था में उदारीकरण और निर्यात होने के बावजूद भी यह अर्थव्यवस्था सरकारी व्यय पर निर्भर करती थी।

1990 के दशक के आर्थिक सुधार

1990 के दशक से भारतीय अर्थव्यवस्था में जो नव-उदारवादी आर्थिक सुधार की प्रक्रिया अपनायी गई थी, उसके लक्ष्य इस प्रकार थे :

1. उत्पादन और मूल्यों के साथ-साथ निर्माण की क्षमता पर नियन्त्रण को समाप्त कर देना या इन्हें कम कर देना।
2. घरेलू और विदेशी निवेशकों के द्वारा हो रहे निवेश और कार्यप्रणाली सम्बन्धी निर्णयों को बाजार की शक्तियों से प्रभावित होने देना।
3. इन निवेशकों के निर्णयों को अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता और अन्तर्राष्ट्रीय सापेक्ष मूल्यों से प्रभावित होने की मंजूरी देना।
4. व्यापार और उत्पादन में राज्य की भूमिका और इसकी शाखाओं को कम करना, उन क्षेत्रों को छोड़कर जहाँ बाजार की असफलता राज्य के प्रवेश को आवश्यक बना दे।
5. बैंक व्यवस्था पर राज्य का नियन्त्रण कम करना।
6. वित्तीय क्षेत्र का उदारीकरण।
7. वित्तीय क्षेत्र में विदेशी शाखाओं को अनुमति देना।

यह सब कदम इसलिए उठाये जाने थे जिससे कि निजी कर्ता और बाजार की कार्यप्रणाली को अधिक स्वतंत्रता देने के ज्यादा सक्रिय और सकारात्मक परिणाम। सरकार अब चाहती थी कि उत्पादन की पुनः संरचना की जाये और इसको अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का बनाया जाये।

ये उद्देश्य विभिन्न क्षेत्रों में नियन्त्रण प्रारूप में क्रमिक परिवर्तन करने के साथ-साथ कुल वृहद् आर्थिक नीतियों में भी परिवर्तन का रूप धारण करते हैं।

इस शताब्दी के प्रारम्भ में भारतीय अर्थव्यवस्था में निम्नलिखित परिवर्तन हो चुके थे :

- प्रशासन-संचालित मूल्यों और आर्थिक गतिविधियों में राज्य का नियन्त्रण काफी कम हो गया।
- राज्य की जो परिसम्पत्तियाँ थीं, उनका निजीकरण किया गया, चाहे उन पर विवाद ही क्यों न हुआ हो।
- प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों में कमी की गई।
- वित्तीय घाटे को कम करने का प्रयास किया गया।
- सार्वजनिक उत्पादन, निवेश और सामाजिक व्यय में कमी करना।
- किसानों को दी जाने वाली सब्सिडी को कम करना।
- बाजारों द्वारा निर्धारित विनिमय दरों की दिशा में बढ़ना और चालू खातों के लेन-देन का उदारीकरण करना।
- पूँजी खाते में काफी हद तक उदारीकरण को स्वीकार करना।
- प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के नियमों को सरल बनाना।
- गैर-निवासी भारतीयों (NRIs) को घरेलू वित्तीय परिसम्पत्तियाँ रखने की अनुमति देना।
- घरेलू कम्पनियों को सरलता से विदेशों से व्यापारिक उधार प्राप्त करने की सुविधा देना।
- भारत में रहने वालों को भी विदेशी परिसम्पत्ति रखने की इजाजत देना।

196 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

- सीमा-शुल्क संरक्षण की औसत दरों को तेजी से कम करना और साथ-साथ निर्यात परिदान या आर्थिक सहायता खत्म करना।

यह जो उच्च आर्थिक विकास का पथ दिखाई पड़ रहा था इसमें 1980 के दशक में आयात उदारीकरण के परिप्रेक्ष्य में राज्य द्वारा प्रदान किये वित्तीय प्रोत्साहन से जुड़ी प्रक्रिया भी शामिल थी। 1990 के दशक में यह वित्तीय प्रोत्साहन कम हुआ और फिर यह 1997 में ही कुछ बढ़ सका। विकास का यह पथ असमानता से भरा रहा, क्योंकि कृषि उत्पादन के विकास में मंदी आने और मशीनों द्वारा निर्मित वस्तुओं के उत्पादन में उतार-चढ़ाव होता रहता था। 1990 के दशक में उदारीकरण की जो प्रक्रिया शुरू हुई थी, वह वस्तु उत्पादन वाले क्षेत्रों में उतनी सक्रियता नहीं ला सकी जितना कि उसने सेवाओं के क्षेत्र में सक्रियता दिखाई थी। जैसा कि नीचे दी गयी तालिका में दिखाया गया है कि तृतीयक क्षेत्र का हिस्सा अन्य दो क्षेत्रों के हिस्सों की अपेक्षा ज्यादा बढ़ा।

क्षेत्रों के अनुसार विकास दरें

वर्ष	प्राथमिक	द्वितीयक	तृतीयक
1971 से 1980	2.22	4.64	4.87
1981 से 1990	3.37	6.95	7.04
1991 से 2000	3.30	6.98	8.35

प्रस्तुत आंकड़े 1993-94 के आंकड़ों के आधार वर्ष पर आधारित हैं।

सार्वजनिक निवेश और सार्वजनिक व्यय दोनों के कमजोर हो जाने की वजह से ऐसा नहीं कि राज्य की कोई भूमिका न रह गयी हो और यह जो वित्तीय प्रोत्साहन कमजोर हो रहा था, इसने भी राज्य की भूमिका को कम कर दिया हो, ऐसा नहीं था। राज्य की भूमिका अभी भी महत्वपूर्ण बनी हुई थी, क्योंकि अभी भी कुछ ऐसे कार्य थे जो केवल राज्य द्वारा ही क्रियान्वित किये जा रहे थे; जैसे :

- करों में कमी करना।
- विनियमन और अन्य नीतियों की रूपरेखा बनाकर उन्हें क्रियान्वित करना, आदि।

इस विनियमन और अन्य नीतियों के माध्यम से राज्य ने छोटे और जनसंख्या के शहरी भागों के आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त किया, जो राज्य द्वारा निर्धारित किया जा रहा था। जनसंख्या के उपभोग के विस्तार में जो वृद्धि हुई, उसने विकास को बढ़ाया। कृषि और गैर-कृषि क्षेत्रों से होने वाली आय का अन्तर भी बढ़ा। यदि गैर-कृषि क्षेत्र में प्रति व्यक्ति घरेलू उत्पाद और कृषि क्षेत्र में घरेलू उत्पाद को 1950 के संदर्भ में देखा जाये तो यह 2 था, जो 1990 के दशक में बढ़कर 4 से भी ज्यादा हो गया था। 1990 के बाद के समय में रोजगार में कम वृद्धि हुई। यदि 1993 से 2000 तक की अवधि के मध्य रोजगार की दर को देखा जाये, तो यह बहुत कम बढ़ा, जो 0.6 प्रतिशत था। इसमें एक रोचक तथ्य यह भी रहा कि यह जो रोजगार की दर थी यह ग्रामीण जनसंख्या के विकास की दर से भी कम रही। इसी प्रकार शहरी क्षेत्रों में यदि

रोजगार की दर को इस अवधि में देखा जाये कि यह कितने प्रतिशत बढ़ी तो शहरी क्षेत्रों के लिए यह विकास दर 2.3 प्रतिशत रही, जिसको ज्यादा तेज नहीं कहा जा सकता। यह दर भी धीमी ही थी। श्रमिकों की संख्या की दृष्टि से देखा जाये तो रोजगार में गिरावट आयी और सीमान्त श्रमिकों (जिनके पास एक वर्ष में लगभग 183 दिन रोजगार होता है) की संख्या बढ़ी। रोजगार गुणवत्ता की स्थिति खराब हुई। नियंत्रित और स्थायी रोजगार की जगह अस्थायी और अंशकालिक रोजगार में वृद्धि हुई।

यह रोजगार में गिरावट और अंशकालिक रोजगार और सीमान्त श्रमिकों की संख्या में वृद्धि किन-किन क्षेत्रों में अधिक हुई-यदि यह देखा जाये तो इसमें कृषि सबसे ऊपर आती है। 1990 के दशक के दौरान कृषि में कार्यरत लोगों की संख्या में गिरावट आयी। लेकिन इसके पीछे क्या कारण थे, जो इस दशक में यह गिरावट दर्ज की गई? इसके पीछे जो कारण थे उनमें मुख्यतः इस प्रकार थे :

- कृषि तकनीकी में परिवर्तन।
- फसलों के उत्पादन के प्रारूप में बदलाव।

तकनीकियों और फसल उत्पादन के प्रारूप में बदलाव के कारण कृषि क्षेत्र में श्रम की मांग घट गयी।

1990 के दशक में रोजगार में गिरावट होना एक चिन्तापूर्ण विषय था क्योंकि औद्योगिक उत्पादन कई गुना बढ़ गया था। सेवा का क्षेत्र राष्ट्रीय आय के विकास में सबसे सक्रिय भूमिका निभा रहा था। लेकिन सार्वजनिक क्षेत्र में भी रोजगार उतनी तेजी से नहीं बढ़ा कि वह इस रोजगार गिरावट की क्षतिपूर्ति कर सकता।

रोजगार के सम्बन्ध में एक सकारात्मक बात इस समय यह रही कि सूचना प्रौद्योगिकी द्वारा बनाई गयी सेवाओं का विस्तार हुआ परन्तु यह शिक्षित समूहों, महानगर व अन्य शहरी क्षेत्रों को ही लाभ पहुँचा पाया। इस सूचना प्रौद्योगिकी ने अन्तर्राष्ट्रीय ध्यान तो आकर्षित किया और सेवाओं का विस्तार भी किया, परन्तु यह अभी उतना महत्वपूर्ण नहीं हो पाया था कि रोजगार में कोई खास परिवर्तन आ पाता।

एशिया के अन्य देशों की अपेक्षा भारत में अभी भी स्त्रियों की संख्या कार्य करने की दृष्टि से कम थी। इसमें एक महत्वपूर्ण बात यह है कि 1990 के दशक के दौरान उन स्त्रियों की संख्या में वृद्धि हुई, जो रोजगार के क्षेत्र में आगे आयीं। स्त्रियों में भी शहरी और ग्रामीण स्त्रियों के कार्य करने के क्षेत्र अलग-अलग थे। शहरी स्त्रियाँ रोजगार अधिकतर सेवा के क्षेत्रों में व उन कम्पनियों में जो घरेलू रूप में कार्य कर रही थीं और कम वेतन पर सेवाएँ लेती थीं, ऐसे क्षेत्रों में स्त्रियाँ की संख्या बढ़ी। ग्रामीण क्षेत्रों की स्त्रियाँ अधिकतर श्रम-गहन क्षेत्रों में कार्य करती हैं।

लेकिन 1990 के दशक में रोजगार में स्त्रियों की संख्या में जो वृद्धि हुई थी उससे रोजगार में वृद्धि नहीं हुई क्योंकि शहरी क्षेत्रों में भी विकास का यह प्रारूप ज्यादा रोजगार उत्पन्न नहीं कर सका। इसके पीछे चाहे जो कारण रहे हों, परन्तु आर्थिक सुधारों को क्रियान्वित करने के लिए जो कदम उठाये जा रहे थे, इनका

विपरीत असर हुआ और इनकी मार उन छोटे उत्पादकों पर पड़ी, जो शहरी उत्पादन के सबसे अधिक श्रम-गहन रूप के लिए उत्तरदायी थे। मशीन-निर्मित वस्तु उत्पादन में भी शहरी रोजगार का सबसे प्रमुख भाग था। इन आर्थिक सुधारों ने ऐसे ही उत्पादकों के हितों के विरुद्ध काम किया। कुछ अन्य ऐसे कदम भी उठाये गये जिनसे इन छोटे उत्पादकों के हितों को ठेस पहुँची, जिनमें प्रमुख रूप से

- प्राथमिक क्षेत्र में साख आबंटन में कमी की गई।
- छोटे स्तर के निर्यातकों को लाभ पहुँचाने के लिए बहुत-सी निर्यात सब्सिडीज हटा ली गई।
- निवेश के लिए धन जुटाया जा सके इसके लिए बैंकों से सट्टा बाजार पर बल देने की दिशा में परिवर्तन किया गया।

यह जो आयात प्रतियोगिता शुरू हुई इससे छोटे स्तर के उत्पादकों के लिए कठिनाई हुई क्योंकि बड़ी कम्पनियों का वितरण की इस प्रणाली पर अधिक नियन्त्रण था अपेक्षाकृत छोटे उत्पादकों के। ये छोटी कम्पनियाँ तो इन बड़ी कम्पनियों व बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा जो विज्ञापन अपने माल की बिक्री बढ़ाने के लिए कराये जा रहे थे, उसके बजट का मुकाबला करने लायक भी नहीं थीं। परिस्थितियों का सामना उन निर्यातकों को भी करना पड़ रहा था, जो मशीन द्वारा उत्पादित वस्तुओं का निर्यात करते थे। उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में प्रतियोगी बने रहने का प्रयास करना पड़ रहा था। वे अपने को इस परिस्थिति में बनाये रखने के लिए श्रम को पहले से अधिक लचीला बनाने के विभिन्न तरीके तलाशने में लगे थे और वे अब उन तकनीकियों को अपनाने को भी मजबूर हो रहे थे जिनमें अधिक पूँजी लगानी पड़ती थी, जो विश्व बाजार में उनकी गुणवत्ता को सुनिश्चित कर सके। इसका मतलब यह हुआ कि ये छोटे उत्पादक जो ज्यादा मात्रा में श्रम उपलब्ध कराते थे, अब तकनीतियों को अपनाने लगे थे। ये भी रोजगार को कम कर रहे थे।

1990 में प्रतिव्यक्ति खाद्यान्न उपभोग जो 476 ग्राम प्रतिदिन था, से कम होकर 418 ग्राम प्रतिदिन रह गया। प्रति व्यक्ति कुल कैलोरी उपभोग जो 1987-88 में 2200 कैलोरी था, यह कम होकर 1990-2001 में लगभग 2150 कैलोरी रह गया। सरकार द्वारा पूँजी व्यय में कमी हो रही थी। आधारभूत ढाँचे की अड़चनों के साथ और मौलिक सार्वजनिक सेवाओं के बिगड़ते प्रबंध के साथ जोड़ा गया। इन सभी विशेषताओं के साथ धीमा होते रोजगार के विकास से आम व्यक्ति के लिए खाद्यान्न पर्याप्तता भी कम हो रही थी।

बाह्य क्षेत्र, भुगतान सन्तुलन में कुल स्थायित्व और कई अन्य उभरते बाजारों में व्याप्त समृद्धि और मंदी जैसे चक्रों के अपेक्षाकृत अभाव के साथ बाद की अवधि में पूँजी खाते के सीमित उदारीकरण को प्रतिबिम्बित करता है और यह भी दर्शाता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था हाल के समय 2002 से पहले अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों और निवेशकों के लिए पसंदीदा जगह नहीं थी।

उदारीकरण की राजनीतिक अर्थव्यवस्था

राज्य पर बाहरी दबाव तो थे ही, फिर भी घरेलू बड़े पूँजीपति वर्ग के विभिन्न अवयवों के साथ-साथ पर्याप्त राजनीतिक शक्ति रखने वाले सामाजिक समूहों जिनमें मध्यम वर्गों के पहले सशर्त और बाद में बिना शर्त समर्थन के बिना नवउदारवादी सुधार प्रक्रिया सम्भव नहीं हो पाती। कुछ हद तक इसकी व्याख्या आयात पर नियन्त्रण और भारतीय पूँजीपति वर्ग में जो विस्तार हुआ था, के आधार पर की जा सकती हैं।

नये पूँजीपति वर्ग का जो उदय भारत में हुआ और जो अप्रवासी भारतीय थे उनकी भी विदेशों में गतिविधि एक महत्वपूर्ण कारण बनी। ये जो नये लोग उभरकर अर्थव्यवस्था में आये, वस्तुओं का उत्पादन मशीन द्वारा करने पर जोर देते थे, उन वस्तुओं का विविधीकरण भी करना चाहते थे। इसी कारण इन्होंने विनिमय का स्वागत किया और नयी तकनीकियों को इन्होंने अपनाया जिसके कारण ये लोग आयात में जो प्रतियोगिता बढ़ी थी, उसमें बने रहने में सफल हुए। इसने जो पहले से परम्परागत एकाधिकार चले आ रहे थे, उनके सामने खुली चुनौती पेश की जो राज्य द्वारा औद्योगिक और व्यापारिक नीति के कारण संरक्षण पा रहे थे अर्थात् अब जो नयी प्रक्रिया शुरू हुई उसने प्रतियोगिता का सामना करने के लिए अतीत से चले आ रहे एकाधिकार को तोड़ा। इस प्रकार जो बड़ी पूँजी अर्थव्यवस्था में लगाई गई थी, उसको समय के साथ अपनी स्थिति बिगड़ती दिखाई दी।

इस गिरावट को पूरा करने के लिए उपाय किये गये और इन उपायों में और इस प्रक्रिया को पलटने के लिए जो किया गया, वह कुछ इस प्रकार था कि नये क्षेत्रों की तलाश जहाँ कम पूँजी में अधिक लाभ मिल सके पूँजी निर्यात के माध्यम से विदेशों में भी विस्तार किया गया। अब ये बड़े पूँजीपति उन क्षेत्रों में भी प्रवेश करने लगे थे, जो पहले से ही छोटे उत्पादकों के लिए आरक्षित क्षेत्र थे। कुछ अन्य भागों में जैसे कृषि-आश्रित पूँजीपतियों ने आर्थिक नीति में परिवर्तन करना तो चाहा था, परन्तु कुछ शर्तों के साथ। समृद्ध किसान सब्सिडी वाले निवेशों और निर्देशित साख को हटवा देना चाहते थे। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में अनुकूल मूल्यों पर निर्यात हो, इस आशा को भी देखते थे। इससे यही तात्पर्य निकाला जा सकता है कि घरेलू पूँजी के काफी भाग महानगरीय पूँजी के साथ घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में छोटे हिस्सेदार के रूप में ही सही, अपनी स्थिति को सुधारने की आशा से समझौता करने के पक्ष में थे।

इस आर्थिक उदारीकरण का समर्थन अन्य भागों द्वारा भी किया गया जिसमें नये व्यापारी, नौकरशाही का एक भाग शहरी मध्यम वर्ग, समृद्ध ग्रामीण कृषि समूह आदि शामिल थे। इस समृद्ध ग्रामीण कृषि समूह की आय 1980 के दशक में उपभोग प्रेरित समृद्धि से बढ़ी थी। ये समूह सक्रिय रूप से अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा रखते थे और इन्होंने इसी कारण व्यापार

198 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

के उदारीकरण की मांग को शक्ति दी। कुछ अन्य माध्यम भी थे, जिससे इस उदारीकरण की मांग को बढ़ावा मिला, जिसमें शामिल थे

- तकनीकी
- मीडिया क्रांति
- उपग्रह दूरदर्शन का बढ़ता महत्त्व।

इस प्रतिक्रिया के कारण भारतीय समाज ने भी बढ़ते वैश्वीकरण की ओर अपना रुझान प्रदर्शित किया। अनिवासी भारतीयों का जो समूह था उसका महत्त्व दोहरे रूप में था। एक तो यह कि इसे पूँजी अंतर्प्रवाह के सम्भावित महत्त्वपूर्ण स्रोत के रूप में देखा जाता था और दूसरा यह कि इस वर्ग का सम्बन्ध उन घरेलू भारतीय निवासियों से था जो प्रभुत्वशाली समूहों से सम्बद्ध थे।

इन वर्षों में असन्तुलित और असमान आर्थिक विकास भले ही हुआ हो, परन्तु इसके बावजूद भी उच्च और मध्यम वर्गों के एक काफी बड़े भाग की भौतिक परिस्थितियों में निश्चित सुधार अवश्य हुआ। इसका कारण यह था कि इन समूहों की एक राजनीतिक शक्ति थी, जो जनसंख्या में सबसे अधिक थी अर्थात् ये समूह राजनीतिक दृष्टिकोण से अच्छी पकड़ रखते थे। इसी कारण ये आर्थिक रणनीति को अपने अनुरूप भौतिक लाभ के लिए ढालने में कामयाब हुए।

1990 के दशक में और 2002 तक जनसंख्या के लगभग 20 प्रतिशत शहरी उच्च वर्ग ने प्रति व्यक्ति उपभोग में वृद्धि का अनुभव किया, जो स्वतंत्रता के बाद के समय में सबसे अधिक था। अन्य समूहों में जिन्होंने अपना उपभोग बढ़ाया उसमें शहरी जनसंख्या का 40 प्रतिशत भाग था और ग्रामीण क्षेत्रों में उच्च वर्ग के लोग थे। इन्होंने भी अपना प्रति व्यक्ति उपभोग बढ़ाया। यह लगभग 20 प्रतिशत था। लेकिन इस प्रक्रिया में आधे से कुछ कम ग्रामीण जनसंख्या का प्रतिव्यक्ति उपभोग कम हो गया और जिस जनसंख्या का यह प्रतिव्यक्ति उपभोग कम हुआ, उसका प्रतिशत लगभग 40 था।

इस नवउदारवादी आर्थिक सुधारों ने सरकार के द्वारा अर्थव्यवस्था और शासन व्यवस्था के साथ पारस्परिक सम्बन्धों में आवश्यक बदलाव करने को मजबूर किया। एक प्रकार से देखा जाये तो यह राज्य का चरित्र परिवर्तन ही था। राज्य ने नागरिकों के भोजन, घर, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि उपलब्ध कराने के लिए अपने बहुत-से मूलभूत उत्तरदायित्वों को छोड़ दिया। लेकिन राज्य की गतिविधियाँ अभी भी सक्रिय रूप से बनी रहीं। यह बाजार किस रूप में कार्य कर रहे हैं, उसका निर्धारण करने व पूँजी द्वारा विभिन्न लक्ष्यों को प्राप्त करने की प्रतिक्रिया को बनाने या निर्धारित करने के लिए थी। इस आर्थिक कार्यप्रणाली में सरकार और नौकरशाही की भूमिका महत्त्वपूर्ण बनी रही। कुछ लोग यह मानते थे कि इस नवउदारवादी व्यवस्था के आने से और राज्य के हट जाने से अर्थव्यवस्था को बाजारों के अनुशासन का सामना करने के लिए खुला छोड़ देने से अर्थव्यवस्था में मनमाने ढंग से काम करने और भ्रष्टाचार को कम करने में मदद मिलेगी। लेकिन भारतीय अर्थव्यवस्था में इस नव-

उदारवादी संरचनात्मक समायोजन का विपरीत असर पड़ा और भ्रष्टाचार समाप्त नहीं हुआ, परन्तु उसका स्तर जरूर बढ़ गया और मनमानेपन की प्रवृत्ति भी बढ़ गयी।

इस अवधि में आय की जो असमानताएँ थीं, उसने भारतीय समाज की कुछ लम्बी अवधि की संरचनात्मक विशेषताओं को और अधिक प्रबल बना दिया, जिसका लाभ कुछ विशेषाधिकार रखने वाले समूहों ने उठाया और इन्होंने सीमित साधनों और अर्थव्यवस्था में आय उत्पन्न करने वाले जो स्रोत थे, उन पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया और इसे बढ़ाने व बनाये रखने की कोशिश भी वे लगातार करते रहे। इससे ग्रामीण भारत व छोटे शहरों के लोगों को नुकसान उठाना पड़ा। उनके आर्थिक अधिकार पर इन लोगों ने अपना कब्जा जमाने की कोशिश की। यह आर्थिक और वित्तीय संकेन्द्रण था और जो बढ़ी हुई आय की असमानता थी, इससे एक बड़ा नुकसान यह हो रहा था कि यह विभिन्न क्षेत्रीय विघटनकारी और समुदाय-आधारित तनावों को बढ़ावा दे रहा था। ये तनाव बहुत जटिल प्रकार के होते हैं और ये टकराव भौतिक अन्तर्विरोधों के कारण उभरते हैं। लेकिन इस प्रकार की स्थिति को हम न तो अनिवार्य कह सकते हैं और न ही यह स्थायी होती है।

2004 में भारत के आर्थिक परिदृश्य में ऐसा दिखाई पड़ रहा था कि इसमें कुछ बदलाव की जरूरत थी। पहले से जो नीतियाँ चली आ रही थीं, अब समय आ गया था कि समय के अनुसार उनको बदला जाये। उन पर पुनर्विचार किया जाये और इन नीतियों में संशोधन किया जाये। क्योंकि कृषि से जुड़ी जो नीति थी, उन्हें लगातार नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता था। रोजगार उत्पन्न करने वाले सार्वजनिक व्यय के प्रभाव पर गौर करना व संसाधनों को गतिशील बनाने के लिए ध्यान दिया जाना बहुत जरूरी हो गया था। आय की असमानता पर भी ध्यान केन्द्रित करना था।

सारांश

यदि 1980 के दशक से पहले के दशकों की तुलना करके हम देखें तो यह स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है कि इस दशक में वास्तविक राष्ट्रीय आय में ज्यादा तेजी से बढ़ोत्तरी हुई। लेकिन फिर भी संरचनात्मक परिवर्तन जिस प्रकार होने चाहिए थे जैसा कि आशा की गई थी उस तरह के संरचनात्मक परिवर्तन इस अवधि में दिखाई नहीं पड़ते। इस समय भी पहले से चले आ रहे अर्थव्यवस्था के कुछ लक्षण अभी भी बने हुए थे; जैसे

- पर्याप्त गरीबी।
- कृषि पर निर्भरता।
- अल्प रोजगार आदि।

स्वतंत्र भारत में आय की असमानता के बने रहने के कारणों में हमें उपभोक्ता वस्तुओं के बाजारों के विस्तार की कुछ निश्चित सीमाएँ नजर आती हैं, क्योंकि व्यवस्था के विकास के लिए लगातार सरकारी व्यय की आवश्यकता थी।

1980 के दशक में जो विकास की गति बनी वह बाह्य व्यापारिक उधार के कारण सम्भव हुई, क्योंकि सरकार इसको सरकारी व्यय के रूप में वित्तीय प्रोत्साहन के लिए इस्तेमाल करती

थी। इसके अलावा आयात, पूंजीगत वस्तुओं और वस्तुओं के मशीनी उत्पादन क्षेत्र के संघटकों का पर्याप्त मात्रा में उदारीकरण भी हुआ।

1990 के दशक में जो नवउदारवादी सुधार की अवधारणा आयी, वह निजी एजेंटों और बाजार की कार्यप्रणाली की अधिक स्वतंत्रता पर आधारित थी, जिसके कारण नतीजे ज्यादा कुशल और सक्रिय सामने आये।

अब वर्तमान सदी में देखा जाये, तो अर्थव्यवस्था में निम्नलिखित परिवर्तन हुए :

- प्रशासन-संचालित मूल्यों और आर्थिक गतिविधियों में राज्य की भूमिका का नियन्त्रण कम हुआ।
- राज्य की परिसम्पत्तियों का निजीकरण किया गया।
- करों की दरों में कमी की गई।
- सामाजिक व्यय में कमी की गई।
- व्यापार का उदारीकरण हुआ।
- चालू खातों और पूंजी खातों दोनों का उदारीकरण किया गया।

1990 के दशक में उदारीकरण भारतीय अर्थव्यवस्था में किसी नयी वस्तु उत्पादन के रूप में कोई सक्रियता तो नहीं बढ़ा सका, परन्तु इसके कारण इस समय सेवाओं का विस्तार आवश्यक हो गया।

प्रश्न-अभ्यास

प्रश्न 1. 1950 के दशक में स्थापित की गई हस्तक्षेपवादी प्रणाली को पंगु बनाने वाले अन्तर्विरोधों का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर-1950 में जो भारत में आर्थिक नीति स्थापित की गई, उसकी जड़ें तो स्वतंत्रता संघर्ष में ही निहित थीं। स्वतंत्रता मिलने के बाद आर्थिक नीति की स्थापना हुई और अब ऐसी नयी आर्थिक नीति की स्थापना होनी थी जो पहले से चली आ रही खामियों को दूर करती। अर्थव्यवस्था में जो पहले से कमियाँ थीं, अब उनको दूर करने का समय आ गया था। ऐसा ही भारतीय अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में भी हुआ, जब देश को आजादी मिली और आर्थिक नीति तय करने का समय आया तो पहले की कमियों को, बुराइयों को जो आर्थिक नीति और अर्थव्यवस्था पर बुरा असर डाल रही थीं, उनको दूर करने की तरफ विशेष रूप से ध्यान दिया गया।

स्वतंत्रता से पूर्व जो अर्थव्यवस्था थी, उसमें महानगरीय पूंजी और महानगरीय वस्तुओं का बोलबाला था। स्वतंत्रता मिलने के बाद इस महानगरीय दबाव को कम करना था। क्योंकि अब राज्य के सामने स्वतंत्र भारत के आधारभूत ढांचे का निर्माण भी करना था, राज्य के सामने निम्नलिखित चुनौतियाँ थीं, जिन्हें दूर करके आर्थिक नीति को तय करना था :

- महानगरीय वस्तु, पूंजी से मुक्ति।
- स्वतंत्र भारत का आधारभूत ढांचा तैयार करना।
- अर्थव्यवस्था में जो उत्पादक आधार था, उसको मजबूत और विस्तृत करना।

- नयी वित्तीय संस्थाओं की स्थापना करना।
- आर्थिक गतिविधियों को नियन्त्रित करके राज्य को बगैर किसी भूमिका के समन्वित करना।

इस आर्थिक नीति को लागू करने का एक और पहलू था स्वयं पूंजीवाद का निर्माण करना। हालाँकि कुछ लोग इससे सहमत नहीं थे वे अपनी विचारधारा में इसे समाजवाद के संक्रमण के रूप में देखते थे। परन्तु स्वायत्त भारतीय पूंजीवाद के विकास के लिए राजकीय पूंजीवाद और राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक उपकरण थे, जिन्होंने पहले से चली आ रही महानगरीय पूंजी जिसने अर्थव्यवस्था में अपनी अच्छी पकड़ बना रखी थी, को प्रतिस्थापित कर दिया।

भारत में स्वतंत्रता के बाद जो रणनीति बनायी गई, उसकी कई विशेषताएँ थीं। 1950 के दशक में जो हस्तक्षेपवादी शासन प्रणाली स्थापित की गई, उसमें गम्भीर आंतरिक अन्तर्विरोध थे, जिन्होंने इसके सामाजिक स्थायित्व के साथ इसकी आर्थिक व्यावहारिकता को भी समाप्त कर दिया।

अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी बाजारों का विकास और इसके कारण निजी पूंजी के आ जाने से शासन-व्यवस्था की समस्याएँ बढ़ीं, क्योंकि इनके कारण बाध्यकारी विदेशी विनिमय के दबावों को भी झेलना था। इस बदलते बाहरी परिदृश्य और पहले से चली आ रही भारतीय अर्थव्यवस्था की कमियों ने इन मुश्किलों को और भी बढ़ाया। इन्हीं कारणों ने नवउदारवादी आर्थिक सुधारों के पक्ष में नीति निर्माण की दिशा स्पष्ट करने का कार्य भी किया गया।

1950 के दशक में स्थापित की गई हस्तक्षेपवादी प्रणाली को पंगु बनाने वाले ये अन्तर्विरोध एक-दूसरे को सुदृढ़ करने वाले थे और अंतर्संबंधों से जुड़े हुए भी थे। आर्थिक नीति की जो प्रक्रिया थी, उसमें राज्य को दोहरी भूमिका अदा करनी पड़ती थी। एक तरफ तो सरकार के व्यय को बनाये रखना था जो कि घरेलू बाजारों के विस्तार के लिए आवश्यक था। ये अन्तर्विरोध भारतीय राज्य के वर्ग चरित्र को भी व्यक्त करते थे। स्वतंत्रता के बाद के तीन दशकों में इस पर बहुत बहस हुई। अलग-अलग विद्वानों ने राज्य की प्रकृति को अलग-अलग तरह से बताया है। कालेकी ने राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में अपनी व्याख्या में राज्य को 'मध्यवर्ती शासन प्रणाली' कहा है। अन्य विद्वानों में जिसमें हम मुख्यतः पटनायक, मिश्रा, चन्द्रा और बागची के विचारों को शामिल करते हैं, उन्होंने राज्य की प्रकृति की व्याख्या करते हुए इसको ग्रामीण भू-सम्पत्तिवान वर्गों और एक ऐसे बड़े औद्योगिक पूंजीपति वर्ग, जो महानगरीय पूंजी अंतर्संबंधों से प्रभावित होता था, के बीच एक गठबन्धन के रूप में देखते हैं। जबकि केलकी की अपनी व्याख्या मध्यवर्ती शासन प्रणाली में इसे शहरी निम्न वर्ग और समृद्ध किसान वर्ग की जो प्रतिनिधित्व प्रणाली कहते हैं, ऐसी शासन प्रणाली के रूप में व्याख्यायित करते हैं। कुछ अन्य विद्वान इन वर्गों की तरफ ध्यान न देकर राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में हित समूहों की ओर इशारा करते हैं। वे भारतीय अर्थव्यवस्था को संरक्षण और पुरस्कार के एक जटिल जाल के रूप में देखते हैं। वे राजनीति को दबाव समूह की राजनीति बताते हैं, जो इसकी विशेषता है।

200 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

कुछ अन्य विद्वान राज्य को एक तीसरे स्वायत्त कर्ता के रूप में देखते हैं। वे कहते हैं कि इस राज्य का संसाधनों के ऊपर नियन्त्रण हो, इसीलिए इसकी शक्ति अधिक है। इसके लिए वर्ग राजनीति गौण है। यह दूसरे वर्गों; जैसे-धर्म, जाति और भाषायी समुदायों के अधीनस्थ रहता है।

इन अन्तर्विरोधों ने औद्योगिक गतिविधियों को भी प्रभावित किया। 1950 के दशक और 1960 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में औद्योगिक विस्तार तेजी से हुआ, परन्तु अगले पन्द्रह वर्षों में मशीन निर्मित वस्तुओं के उत्पादन में गिरावट आयी।

प्रश्न 2. स्वतंत्रता के बाद की अवधि में आर्थिक विकास की दरों को बनाये रखने में राजकीय व्यय इतना महत्वपूर्ण क्यों रहा?

उत्तर—स्वतंत्रता के बाद जो विकास हुआ और उस विकास को बनाये रखने के लिए सरकार ने व्यय द्वारा अर्थव्यवस्था को दिये जाने वाले वित्तीय प्रोत्साहन से पूरा किया। इस विकास को बनाये रखने के लिए सरकार ने पूंजीगत वस्तुओं और मशीन-निर्मित उत्पादन के लिए आवश्यक उपकरणों के विशेष उदारीकरण के लिए नये आयातित निवेशों पर आधारित तैयार वस्तुओं के उत्पादन पर भी जोर दिया।

स्वतंत्रता के बाद आर्थिक विकास में मुख्य भूमिका सार्वजनिक निवेश ने निभाई। इसने कृषि और उद्योग दोनों क्षेत्रों में अपनी सकारात्मक भूमिका निभाई। हालांकि इन क्षेत्रों में निजी निवेश भी हो रहा था, परन्तु इस सरकारी निवेश और निजी निवेश के मध्य सम्बन्ध सकारात्मक था। यह सकल घरेलू उत्पाद के हिस्से के रूप में लगातार बढ़ता रहा और इसने इस अवधि में निजी निवेश के लिए भी सकारात्मक प्रोत्साहन के रूप में कार्य किया। लेकिन कुछ समय बाद जब सरकारी निवेश कम होना शुरू हुआ, तो निजी निवेश की दर बढ़ने लगी। इस प्रकार कुल निवेश की दरें स्थायी बनी रहीं।

सरकारी व्यय ने अधिक रोजगार उत्पन्न करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और जो निजी गतिविधियां हो रही थीं, उनके लिए इसने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष मांग उत्पन्न करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। सरकारी व्यय का हिस्सा सकल घरेलू उत्पाद में लगातार तेजी से बढ़ता है। विशेषकर 1975 से 1986 की अवधि में यह हिस्सा तेजी से बढ़ा और 1980 के दशक में जो विकास की उच्च गति दिखाई देती है, उसमें इसकी भूमिका महत्वपूर्ण थी। इस प्रकार के व्ययों ने अपनी सकारात्मक भूमिका आर्थिक विकास की दरों को बनाये रखने में निभाई। यह राजकीय भूमिका ग्रामीण भारत में भी महत्वपूर्ण रही। 1980 तक ग्रामीण क्षेत्रों में सरकारी व्यय तेजी से बढ़ा और इसी अवधि में ग्रामीण क्षेत्रों में सरकार द्वारा परिवारों को सभी प्रकार के पारितोषिक और हस्तांतरण तेजी से दिये गये। इसी समय में राज्य सरकार और केन्द्र सरकार दोनों के द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में किये जाने वाले व्यय में वृद्धि हुई, जिसका लाभ ग्रामीणों को मिला। इन व्ययों से ग्रामीण क्षेत्रों के हितों को

शक्ति मिली और इस सरकारी व्यय का ग्रामीण क्षेत्रों को निश्चित रूप से लाभ मिला, जो उसके विकास की गति को तेज करने में अपनी सकारात्मक भूमिका निभा रहा था। इस सरकारी व्यय के अन्तर्गत संसाधनों का विकास ग्रामीण क्षेत्रों में और ग्रामीण क्षेत्रों से सम्बन्धित योजनाओं को बनाने, उनका विस्तार करने, उनको क्रियान्वित करने के काम आया और ग्रामीण भारत के विकास को गति मिली। ग्रामीण क्षेत्रों में किए जाने वाले सरकारी व्यय का ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करने वाले समृद्ध ग्रामीण वर्गों ने अधिक लाभ उठाया। वह सरकारी व्यय जो ग्रामीण क्षेत्रों में किया जा रहा था, में विभिन्न सरकारी योजनाएँ शामिल थीं; जैसे

- ग्रामीण रोजगार
- आई.आर.डी.पी.
- स्वास्थ्य
- शिक्षा आदि।

हालांकि ये कार्यक्रम ग्रामीण क्षेत्रों में पूरी तरह से सफल नहीं हो सके, परन्तु इस सरकारी व्यय का ग्रामीण क्षेत्रों को लाभ अवश्य मिला। इसने ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार को बढ़ावा दिया और आर्थिक विकास के अधिक फैलाव में भी इसने अपनी सकारात्मक भूमिका प्रदर्शित की।

1990 के दशक में सकल घरेलू उत्पाद में इस राजकीय व्यय का अनुपात कम हो गया था।

बाजारों के विकास के लिए यह राजकीय व्यय आवश्यक था, क्योंकि शासन व्यवस्था द्वारा जो भी क्रियाशीलता प्रदर्शित की जा रही थी, उनमें यह सबसे महत्वपूर्ण था और सरकार के सामने यह भी समस्या थी कि वह घरेलू उद्योगपतियों, पूंजीपतियों की शक्ति और जुझारूपन को देखते हुए उन्हें एक सीमा तक ही प्रतिबंधित कर सकती थी।

स्वतंत्रता के बाद प्रारम्भिक वर्षों में विकास के लिए जो प्रोत्साहन मिला, वह राज्य की ओर से और सरकारी व्यय के रूप में मिला जिसने ग्रामीण स्तर पर भी विकास की गति को बढ़ाया। राज्य ने जो कार्य किये, जिससे आर्थिक विकास को बढ़ावा मिला, इस प्रकार हैं :

- इसने व्यापार संरक्षण को विस्तृत और गहन किया।
- घरेलू बाजारों में आयातित वस्तुओं को प्रतिस्थापित किया।
- घरेलू पूंजीपतियों द्वारा मशीनों निर्मित वस्तुओं के लिए एक बड़ा बाजार उपलब्ध कराया।
- चालू और पूंजी व्यय से बाजार का विस्तार किया।
- औद्योगिक विकास बैंकों का निर्माण किया।
- उन घरेलू पूंजीपतियों की सहायता की, जो घरेलू बचत का निवेश करना चाहते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह जो सरकारी व्यय स्वतंत्रता के बाद किया गया, इससे आर्थिक विकास को बढ़ावा मिला। इसने रोजगार को बढ़ावा दिया। निजी निवेश को भी इसने प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से अपना सकारात्मक सहयोग दिया। ग्रामीण क्षेत्रों में

कई योजनाएं लागू की गई जिससे ग्रामीणों को लाभ मिला। बाजारों के विकास में भी इस राजकीय व्यय ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जो कि बढ़ते औद्योगिक विकास के लिए जरूरी था।

प्रश्न 3. 1980 के दशक में आर्थिक पुनर्लाभ की प्रक्रिया की जांच कीजिए।

उत्तर—1980 के दशक में कृषि वस्तुओं के मूल्य विश्व में कम हो रहे थे, लेकिन यह बात भी उल्लेखनीय है कि 1980 के दशक में भारतीय अर्थव्यवस्था में विकास तो अवश्य हुआ, परन्तु इसने पहले की अपेक्षा कम रोजगार उत्पन्न किया। इसीलिए खाद्य पदार्थों की मांग कम हो गयी। यदि 1970 के दशक से 1880 के दशक की तुलना की जाये तो कृषि के लिए अन्तर्देशीय व्यापार की जो शर्तें थीं, वह नीचे के स्तर पर रही। वहीं 1980 के दशक में भारतीय कृषक प्राथमिक उत्पादों पर उतना ध्यान नहीं दे रहे थे। वे इस समय कृषि के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के उत्पादों के उत्पादन की ओर ध्यान दे रहे थे। 1880 के दशक के शुरू में ही मशीनों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के आयात ने भी कृषि की स्थिति सुधारने में अपना योगदान दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 1980 के दशक में कृषि क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। जहाँ एक ओर कृषक प्राथमिक स्तर के उत्पादों पर अब इतना ध्यान नहीं दे रहे थे, वे अब अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों के अनुरूप अपने उत्पादन करने में लगे थे और मशीनों द्वारा उत्पादित आयातित वस्तुओं ने भी कृषि की स्थिति सुधारने में अपना योगदान दिया।

1880 के दशक को यदि उदारीकरण के सम्बन्ध में देखा जाये कि इस दशक में उदारीकरण ने क्या परिवर्तन किये, इससे इस समय क्या लाभ हुए, इस समय उदारीकरण सीमित था परन्तु इसकी मात्रा सीमित होने के बावजूद भी भारत में जो आर्थिक विकास हो रहे थे, वे अभी तक सरकार द्वारा किये जा रहे राजकीय व्यय पर ही निर्भर थे, न कि निर्यातों के विस्तार पर। यह सरकारी व्यय वित्तीय सहायता पर निर्भर था। इसीलिए व्यवस्था में अतिरिक्त मांग से मुद्रा स्फीति या फिर चालू खाते में घाटा होना लाजमी थी। व्यापार के उदारीकरण के लिए आयातों का समर्थन किया गया और आयातों के माध्यम से मुद्रा स्फीति को नियंत्रित करने के लिए और अधिक बाह्य उधार की जरूरत थी, ताकि चालू खाते के बढ़ते घाटे को पूरा करने के लिए वित्त उपलब्ध हो सके।

आयात उदारीकरण की यह जो प्रक्रिया थी जो कि 1980 के दशक के मध्य से शुरू हुई थी और 1990 के दशक तक आते-आते यह प्रक्रिया तेज हो गयी थी, यह विशेष रूप से मशीन-निर्मित वस्तुओं के उत्पादन में कुछ और वृद्धि करने में सहायक सिद्ध हुई, क्योंकि इस समय उपभोक्ता वस्तुओं की मांग बढ़ गयी थी और इस बढ़ी हुई मांग को पूरा करने के लिए आयात-गहन उत्पादन द्वारा पूरा करने का प्रयास किया गया। यह घरेलू बाजार में सबके लिए वृद्धि वाली बात भी थी लेकिन यह समय के साथ-साथ कम होती चली गयी क्योंकि इसमें इन क्षेत्रों में रोजगार में भारी वृद्धि नहीं हो पायी थी।

1980 के दशक के मध्य से वित्तीय प्रेरक शक्ति में गिरावट दर्ज की जा रही थी लेकिन इस अवधि में भी विकास की दर बरकरार रही। यह किस कारण थी इसके पीछे जो कारण थे उनमें यह था वित्तीय अवस्थिति को कम कर दिया गया था। लेकिन फिर भी यह अभी तक भी काफी महत्वपूर्ण बनी हुई थी।

इस आर्थिक उदारीकरण को अन्य भागों का भी समर्थन मिला, जिसमें नये व्यापारी वर्ग भी शामिल थे जो मुख्यतः समान्तर बाजारों के लेन-देन में शामिल थे। ऊपरी नौकरशाही के एक भाग ने भी इसको प्रोत्साहन दिया। इन सबमें सबसे महत्वपूर्ण और राजनीतिक रूप से ज्यादा शक्तिशाली वर्ग भी शामिल था—शहरी मध्यम वर्ग। अन्य लोगों ने जिन्होंने इस आर्थिक उदारीकरण को बढ़ावा दिया, वह था समृद्ध ग्रामीण कृषि में लगा वह समूह जिसकी आय 1980 के दशक में उपभोग प्रेरित समृद्धि से बढ़ी थी। ये समूह अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा रखते थे, जिसके कारण उपभोक्ता वस्तुओं की मांग बढ़ गयी थी।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि पहले के दशकों की तुलना में 1980 के दशक से वास्तविक राष्ट्रीय आय ज्यादा तेजी से बढ़नी शुरू होती है। लेकिन इस आय के बढ़ने के साथ-साथ जैसा कि अपेक्षा की जाती है संरचनात्मक परिवर्तन भी होंगे, वह इस समय आशा के अनुरूप नहीं हो सके। आर्थिक पिछड़ेपन के कुछ लक्षण; जैसे—पर्याप्त गरीबी, कृषि पर सबसे बड़े रूप में निर्भरता और अर्थव्यवस्था में लगातार बने रहने वाला अल्प-रोजगार इस समय भी बना हुआ था। इस समय भी गरीबी में कोई ज्यादा गिरावट नहीं आयी थी न ही कृषि क्षेत्र पर जो पहले से ही निर्भरता का एक बड़ा भाग बना हुआ था। अर्थात् ज्यादातर जनसंख्या कृषि पर निर्भर करती थी। इस कृषि क्षेत्र पर निर्भरता 1980 के दशक तक कम नहीं हो सकी।

1980 के दशक की शुरुआत में विकास में जो अवरोध आये थे, उन्हें दूर करने के लिए सरकार ने सरकारी व्यय द्वारा प्रदत्त प्रोत्साहन में वृद्धि करके दूर किया और सरकार ने यह वित्त बाह्य व्यापारिक उधार की सुविधा से जुटाया गया। इसके अतिरिक्त इस दशक में आयात, पूंजीगत वस्तुएँ, मशीनी उत्पादन के क्षेत्र में पर्याप्त मात्रा में उदारीकरण हुआ। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 1980 के दशक में आयात के उदारीकरण के परिदृश्य में जो परिवर्तन हुए, वह राज्य द्वारा प्रदान किये गये वित्तीय प्रोत्साहन से जुड़ी प्रक्रिया थी।

प्रश्न 4. भारतीय अर्थव्यवस्था पर उदारीकरण के प्रभाव का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर—नव-उदारवादी सुधार क्रिया सम्भव बनाने के लिए घरेलू बड़े पूंजीपति वर्ग और पर्याप्त राजनीतिक शक्ति रखने वाले सामाजिक समूह ने सहयोग किया। इसकी व्याख्या आयात प्रतिस्थापन और बाद के वर्षों में उभरने वाले भारतीय पूंजीपति वर्ग के आधार पर भी की जाती है। इस प्रक्रिया में सहयोग करने वाले अन्य भाग भी थे। एकाधिकारवादी समूह के बाहरी व्यापार, वित्त और विभिन्न प्रकार की सेवाओं में काम कर रहे नये पूंजीपति वर्ग का उद्भव, अनिवासी भारतीय (NRI) की विदेशों में गतिविधियों ने इसमें सहयोग किया।

202 / NEERAJ : भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास

असन्तुलित और असमान आर्थिक विकास के बावजूद भी उच्च और मध्यम वर्गों के बड़े भाग की भौतिक गतिविधियों में सुधार हुआ। क्योंकि ये वर्ग जनसंख्या में अधिक थे और इसी कारण इनकी राजनीतिक शक्ति भी अधिक थी। इसी कारण ये वर्ग आर्थिक राजनीति को अपने अनुरूप ढालने में सफल हुए और इस उदारीकरण की मांग को जिन कारणों ने हवा दी, उनमें तकनीकी और संचार क्रान्ति विशेषकर उपग्रह दूरदर्शन का बढ़ते महत्व आदि थे।

नवउदारवादी आर्थिक सुधार कार्यक्रम के कारण सरकार को अर्थव्यवस्था और शासन व्यवस्था में परिवर्तन करने को मजबूर होना पड़ा, जो राज्य के चरित्र में परिवर्तन से ही सम्बन्धित था। राज्य ने अपने को कई मूलभूत कार्यक्रमों से हटा लिया, तो भी कई गतिविधियों में राज्य की भूमिका अभी भी बनी रही जिसमें मुख्य थे—बाजार किस प्रकार कार्य कर रहे हैं, उसका निर्धारण करना और पूंजी द्वारा विभिन्न लक्ष्यों का निर्धारण करना भी राज्य का अभी भी महत्वपूर्ण कार्य बना रहा। इस आर्थिक प्रणाली में नौकरशाही की और सरकार की भूमिका महत्वपूर्ण रही। वास्तव में देखा जाये तो यह परिदृश्य आर्थिक और वित्तीय शक्ति का संकेन्द्रण बन गया। बहुत-से लोग इसमें सोचते थे कि राज्य के हट जाने से लाभ हुए हैं। जैसे—अर्थव्यवस्था को बाजारों का सामना करने के लिए खुला छोड़ देने से मनमानापन कम हुआ है, भ्रष्टाचार कम हुआ है। लेकिन इस नवउदारवादी धारणा को लाने से भ्रष्टाचार कम नहीं हुआ। भारतीय अर्थव्यवस्था में इस व्यवस्था के आने से भ्रष्टाचार का स्तर बढ़ा और मनमानेपन की प्रवृत्ति भी पहले की अपेक्षा बढ़ी। उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं कि निजीकरण के कारण निजी पूंजी के प्राथमिक संचय का एक और साधन बना क्योंकि यह सार्वजनिक परिसंपत्तियों को प्राप्त कर रहा था। व्यवस्था में जो भ्रष्टाचार बढ़ा, उसके कारण बाजार का अनुशासन सही बात नहीं लगती है।

आय की जो असमानाएँ इस अवधि में बढ़ गयी थीं, उनके कारण विशेषाधिकार वाले समूहों ने सीमित संसाधनों और अर्थव्यवस्था में आय उत्पन्न करने वाले स्रोतों पर अपना नियन्त्रण बढ़ा लिया था। वे लगातार इसको बनाये रखने और बढ़ाते रहने की कोशिश में लगे हुए थे। इससे ग्रामीण क्षेत्रों के साथ-साथ छोटे शहरों में रहने वाले नागरिकों के अधिकारों का हनन होना लाजमी था। परन्तु यह स्थिति न तो आवश्यक थी और न ही स्थायी थी।

भारत का 2004 का आर्थिक परिदृश्य ऐसा बन गया था कि इसमें अतीत की कुछ आर्थिक नीतियों पर पुनः विचार करने, इसमें बदलाव लाने और कुछ संशोधन करने की जरूरत दिखाई पड़ रही थी। यह विशेष रूप से वित्तीय अनुशासन को कम करना, कृषि से जुड़ी महत्वपूर्ण नीतियों को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता था क्योंकि रोजगार उत्पन्न करने वाले क्षेत्रों में अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष रूप से कृषि महत्वपूर्ण क्षेत्र था। समृद्ध लोगों को संसाधनों को गतिशील बनाये रखने के मुद्दे पर ध्यान देने की जरूरत थी। इसके अलावा परिसम्पत्ति और आय की असमानता के मुद्दे पर भी ध्यान दिये जाने की जरूरत थी।

यह जो नवउदारवादी सुधार प्रतिक्रिया शुरू हो पायी थी इसमें अपना सशर्त समर्थन निम्नलिखित लोगों ने दिया था :

- घरेलू पूंजीपति वर्ग।
- पर्याप्त राजनीतिक शक्ति रखने वाले सामाजिक समूह।
- आयात प्रतिस्थापन।
- भारतीय पूंजीपति वर्ग का उद्भव।
- भारतीय अनिवासी आदि।

इस नवउदारवादी प्रक्रिया ने कई परम्परागत एकाधिकार वाले समूहों को प्रत्यक्ष चुनौती दी, जो कि अभी तक राज्य की औद्योगिक नीतियों और व्यापार की नीतियों के कारण संरक्षण प्राप्त थे। इस प्रकार इन्होंने जो एक बड़ी पूंजी जमा की थी। अब अर्थव्यवस्था में इनको अपनी स्थिति बिगड़ती नजर आ रही थी और इस प्रक्रिया को पलटने के लिए इन्होंने नये विकल्पों को तलाशना शुरू कर दिया, जिसमें पूंजी के माध्यम से निर्यात और विदेशों में विस्तार भी शामिल थे और ये इसके साथ-साथ उन क्षेत्रों में भी प्रवेश करने लगे, जो छोटे-स्तर के उद्यमियों के लिए आरक्षित किये गये थे और अब बड़े-स्तर के व्यापारी भी राज्य के नियन्त्रण से लाभ उठा रहे थे। एक अवस्था के बाद इस व्यवस्था पर झुंझलाना शुरू कर दिया गया। कृषि आश्रित जो पूंजीपति वर्ग था उसने आर्थिक नीतियों में परिवर्तन तो करना चाहा परन्तु अपनी शर्तों के साथ। समृद्ध किसान भी सब्सिडी वाले निवेशों और निर्देशित खाद्यान्नों को हटा लेने से नाराज जरूर हुए परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में अनुकूल मूल्यों पर निर्यात करने की आशा के कारण वे इसे स्वीकार करते दिखाई देते हैं।

प्रश्न 5. 1990 के दशक में जो आर्थिक सुधार हुए उनका विश्लेषण कीजिए।

अथवा

नवउदारवादी आर्थिक सुधारों की प्रक्रिया के लक्ष्यों को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—नवउदारवादी आर्थिक सुधारों की जो प्रक्रिया शुरू हुई, उसके लक्ष्य इस प्रकार थे :

1. उत्पादन और मूल्यों पर जो नियन्त्रण था, उसे समाप्त कर देना या इन्हें कम कर देना।
2. घरेलू और विदेशी निवेशकर्ताओं के कारण बाजार नीति व कार्यप्रणाली में जो परिवर्तन हो रहे थे, उनमें हस्तक्षेप न करना।
3. इन निवेशकों को अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता और अन्तर्राष्ट्रीय सापेक्ष मूल्यों से प्रभावित होकर चलने की मंजूरी देना।
4. राज्य का केवल उन्हीं क्षेत्रों में हस्तक्षेप, जहाँ इसकी उपस्थिति जरूरी है।
5. व्यापार और उत्पादन में राज्य की शाखाओं की उपस्थिति कम करना।
6. किंग व्यवस्था पर नियन्त्रण कम करना।
7. वित्तीय क्षेत्र का उदारीकरण करना।

8. वित्तीय क्षेत्र में विदेशी शाखाओं के प्रवेश की अनुमति देना।

उपर्युक्त लक्ष्यों को अपनाने के पीछे कुछ अच्छे परिणामों की आशा की जा रही थी, जिसमें निजी कार्यकर्ताओं और बाजार की कार्यप्रणाली को स्वतंत्र बनाने से कुशल और सक्रिय नतीजों की आशा की जा रही थी।

1980 के दशक में राज्य द्वारा जो वित्तीय प्रोत्साहन दिये जा रहे थे, वे 1990 तक आते-आते कम हो गये थे और यह इस दशक के शुरू में कम हुआ, परन्तु 1997 के बाद यह कुछ हद तक बढ़ा और इस समय आर्थिक विकास भी असमान था, जिसके पीछे कृषि विकास था। मशीनों द्वारा निर्मित वस्तुओं ने उत्पादन में उतार-चढ़ाव जैसे कारण मुख्य रूप से काम कर रहे थे। 1990 के दशक में जो उदारीकरण अर्थव्यवस्था में हुआ, उससे वस्तु उत्पादन करने वाले क्षेत्रों में कोई नयी सक्रियता प्रदर्शित नहीं होती, बल्कि इस दशक के अन्त में सेवाओं का विस्तार पहले की अपेक्षा कुछ अधिक हुआ।

इस दशक में सार्वजनिक निवेश और राजकीय व्यय दोनों कमजोर हो रहे थे। इस कारण क्या राज्य की भूमिका का महत्व कम हो गया था? क्या राज्य के लिए अब अर्थव्यवस्था में कोई भूमिका नहीं थी? इन प्रश्नों का उत्तर शायद नहीं होगा, क्योंकि सार्वजनिक निवेश और सरकारी व्यय कमजोर होने के बावजूद भी राज्य की भूमिका अभी भी महत्वपूर्ण बनी रही, क्योंकि कुछ ऐसे कार्य थे, जो सिर्फ राज्य द्वारा ही क्रियान्वित किये जा सकते थे, उनमें शामिल थे—

- करों में कमी करना।
- विनियम और अन्य नीतियों की रूपरेखा बनाना।

क्योंकि इन्हीं नीतियों के कारण आर्थिक विकास छोटे और प्रमुख जनसंख्या वाले शहरों में हो सकता था। इस दशक में हमें एक अन्तर यह भी दिखाई पड़ता है कि भारत के विभिन्न क्षेत्रों के बीच और क्षेत्रों के अन्दर भी विभिन्न आर्थिक और सामाजिक श्रेणियों के बीच असमानता थी। कृषि क्षेत्र में और गैर-कृषि क्षेत्र में भी आय का अन्तर बढ़ रहा था।

1990 के दशक में एक प्रमुख लक्षण यह रहा कि इस समय रोजगार बहुत कम संख्या में उत्पन्न हुआ अर्थात् रोजगार विकास की दर कम रही। 1993 से 2000 तक आंकड़ों को यदि देखा जाये, तो रोजगार की दर बहुत कम बढ़ी। यह सिर्फ 0.6 प्रतिवर्ष की दर से भी कम दर से बढ़ा जो कि ग्रामीण क्षेत्रों में जनसंख्या वृद्धि की दर से भी कम था। यदि शहरी क्षेत्रों को देखा जाये, तो यहां भी रोजगार बढ़ने की दर कम ही रही, जो कि 2.3 प्रतिवर्ष थी।

इसी अवधि में श्रमिकों की संख्या में गिरावट आयी, जबकि सीमान्त श्रमिकों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई। रोजगार की गुणवत्ता में भी कमी आयी। नियंत्रित काम के बजाय अनियंत्रित और अंशकालिक रोजगार में वृद्धि हुई। इन सबके अलावा कुछ अन्य परिवर्तन भी रहे, जो 1990 के दशक में सामने आये; जैसे

- कृषि रोजगार में तेजी से गिरावट आयी और इस क्षेत्र में काम करने वाले लोगों की संख्या में भी कमी आयी, जिसका कारण तकनीकी और फसलों के उत्पादन के प्रारूप में बदलाव के कारण श्रम की मांग का कम हो जाना था।
- 1990 के दशक और इसके बाद की अवधि में संगठित रोजगार क्षेत्र के विकास की गति धीमी हो गयी और इसमें गिरावट दर्ज की गई। इसका कारण था कि औद्योगिक उत्पादन तो कई गुना बढ़ गया था, परन्तु सेवा क्षेत्र जो राष्ट्रीय आय के विकास में महत्वपूर्ण अवयव के रूप में काम करता है, उसमें कोई बढ़ोत्तरी नहीं हुई थी।
- इस अवधि में भी स्त्रियों की रोजगार के क्षेत्र में संख्या थोड़ी बढ़ी। जैसा कि अन्य एशियाई देशों में रोजगार के क्षेत्र में स्त्रियों की संख्या बढ़ रही थी, उसके मुकाबले थोड़ी-बहुत वृद्धि हुई, जो कि अधिकतर शहरी क्षेत्रों में सेवाओं के क्षेत्र में थी या छोटी घरेलू कम्पनियों में स्त्री कामगारों की संख्या बढ़ी।
- 1990 के दशक के दौरान शहरी क्षेत्रों में विकास के अनुरूप रोजगार में वृद्धि नहीं दिखाई देती, क्योंकि कई आर्थिक सुधार कार्यक्रम छोटे उत्पादकों के हितों के विरुद्ध कार्य कर रहे थे, जो कि शहरी क्षेत्रों में सबसे अधिक श्रम वाले क्षेत्र थे और अधिक रोजगार भी उत्पन्न करते थे।
- इस समय छोटे उत्पादकों को अधिक प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा क्योंकि बड़ी कम्पनियों का वितरण प्रणाली पर नियन्त्रण बना हुआ था।

प्रश्न 6. उदारीकरण (Liberalisation) पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर—उदारीकरण—आर्थिक गतिविधियों को संचालित करने के दो तरीके होते हैं :

1. सरकारी नियन्त्रण।
2. बिना सरकारी नियन्त्रण।

यदि सरकारी नीतियों द्वारा इन आर्थिक गतिविधियों पर नियन्त्रण कायम किये जाते हैं, तो इसे प्रतिबंधन की नीति या प्रतिबंधित नीति कहते हैं। इसके विपरीत यदि सरकार आर्थिक गतिविधियों पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाती है, तो इस नीति को अबंध नीति कहते हैं। हालांकि यह तो निश्चित है कि कोई भी अर्थव्यवस्था प्रतिबंधों से मुक्त नहीं होती, उस पर कुछ न कुछ सरकारी प्रतिबंध अवश्य रहते हैं, फिर भी जब इनमें से कुछ प्रतिबंध हटा लिये जाते हैं या उनमें ढील दी जाती है, तो इसे उदारीकरण कहते हैं। ■■